ॐ

अथर्ववेद

चतुर्थ भाग

(अथर्ववेदके काण्ड ११ से १८ तक)

[मूल मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और सुभाषितोंका संग्रह
और उनके उपयोग करनेकी विधिके साथ]

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

★

मूल्य १०) रु.

अथर्ववेदके सुभाषित

सूक्ति-संग्रह

विभाग ४, काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण विभागसे ही काण्ड विभाग हैं। इसलिये सुभाषित भी प्रायः उसी क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार इधर उधर किये हैं। शेष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितं (११।७।२)— ईश्वरमें द्यु, पृथिवी तथा जो बना है वह सब विश्व रहा है।

ऋक्साम यजुरुच्छिष्टे (११।७।५)— ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः (११।७।१४)— नौ भूमियां, सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (११।७।१७)— सत्य, ऋत, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी, बलिष्ठका बल यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (११।७।२३)—जो प्राणसे जीवित है, जो आंखसे देखता है, जो द्युलोकमें वा अन्यत्र देव हैं वे सब परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं।

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२४)— ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२५)— प्राण, अपान, आंख, कान, भौतिक तथा अभौतिक पदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२६)— आनंद, मोद, विशेष आनन्द, प्रत्यक्ष आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे (११।७।२७)— देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सराएं ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान, स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु (१३।१।१)— जिस देवने यह सब उत्पन्न किया वह तुझे इस राष्ट्रके लिये उत्तम भरण-पोषण-पूर्वक धारण करे।

द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः (१३।२।२६)— द्यु और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते (१३।३।१)— जो द्यु और पृथ्वीको उत्पन्न करता है और जो सब भुवनोंको अपना चोगा बनाकर पहनता है।

यो मारयति प्राणयति, यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)— जो जीवित रखता है और मारता है, जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (१३।३।१५)— जिसने यह सब भुवन बनाया है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः (१३।३।२४)— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं ।

कीर्तिश्च यशश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च, य एतं देवं एकवृतं वेद (१३।५।१४)— कीर्ति, यश, अवकाश, ब्रह्मतेज, अन्न, खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (१३।५।१६)- वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है ।

स एष एक एकवृदेक एव (१३।५।२०)— वह देव एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है ।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति (१३।५।२१)— इसमें सब देव एकरूप होते हैं ।

महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् (१८।१।२)— बडे ईश्वरके द्युलोकका धारण करनेवाले वीर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुसंबंधका निषेध करते हैं ।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहन्तुमुग्रम् (१८।१।४०)— रथमें बैठनेवाले भयंकर उग्र शत्रुको समीपसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो- रुद्रदेवकी स्तुति करो ।

मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् (१८।१।४०)— हे रुद्र ! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर, हमसे भिन्न दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे ।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा । इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु, कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (११।१।२८)— यह मेरा परिपक्व तेजस्वी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है, यह धन मैं ब्राह्मणोंमें बांटता हूं । यह पितरोंमें स्वर्गीय मार्ग मैं करता हूं ।

एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागं (११।१।२९)— यह श्रेष्ठ घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं ।

अथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्— और यह विपत्तिका मार्ग है ऐसा जानते हैं ।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि (११।१।३१)— घीसे सब गात्र शुद्ध कर ।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वं (११।१।३३)— सब देव पके अन्नका रक्षण करें ।

धेनुं सदनं रयीणां (११।१।३४)— गौ धनोंका घर है ।

प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायुः रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम (११।१।३४)— संतान, अमरत्व, दीर्घ आयु, धन, पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं ।

इषं दधानो, वहमानो अश्वैः, आ स द्युमां अमवान् भूषति द्यून् (१८।१।२४)— अन्नका धारण करनेवाला, घोडोंके वाहनसे जानेवाला, तेजस्वी और बलवान् दिनोंको (अपने व्यवहारसे) सुशोभित करता है ।

पत्नी

एमा अगुर्योषितः शुम्भमानाः (११।१।१४)— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं ।

उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व— स्त्री उठ, बलसे भर ।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन ।

प्रजया प्रजावती— संतानसे संतानवाली हो ।

अयं यज्ञो गातुवित् नाथवित्, प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु— (११।१।१५)— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजा देनेवाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला, वीर पुत्र-पौत्र देनेवाला हो ।

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः (११।१।१७)— ये स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हैं ।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः—हमें संतान और बहुत पशु दे देवें ।

ब्रह्मणा शुद्धा, उत पूता घृतेन सोमस्यांशवः तण्डुला यज्ञिया इमे (११।१।१८)— ज्ञानसे पवित्र, घीसे शुद्ध, सोमके अंश ये चावल यज्ञके लिये योग्य हैं ।

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां (११।१।२१)— हे वेदि ! इसको उन्नत कर, प्रजासे इस स्त्रीको बढाओ ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर ।

प्रतरं धेह्येनाम्— इन स्त्रीको विशेष उन्नत कर ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्याम— संपत्तिसे हम सब समानोंसे विशेष हों ।
अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— द्वेष करनेवालोंको नीचे गिराते हैं ।
मा त्वा प्रापत् शपथो माभिचारः (११।१।२२)— तुझे शाप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे ।
अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनाम् (११।१।२२)— इस पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो ।
स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज— अपने क्षेत्रमें नीरोग होकर विराजो ।
असंद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि, तत्रौदनं सादय दैवानाम् (११।१।२३)— शुद्ध न टूटी थालीको, हे स्त्री ! चूलेपर रख, उसमें देवोंके लिये अन्न पकाओ ।
ते मा रिषन् प्राशितारः (११।१।२५)— इस अन्नको पीनेवाले नष्ट न हों । (अन्नमें दोष न हो ।)

दयाशील स्त्री

अहं पचामि, अहं ददामि, ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया, कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् (१२।३।४७)— मैं पकाता हूं, मैं देता हूं, मेरी पत्नी दयाके कर्ममें यत्न करती है, हमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है । उच्च अवस्था प्राप्त करता हुआ उच्च जीवन व्यतीत करे ।

दान

ददामीत्येव ब्रूयात् (१२।४।१)— देता हूं ऐसा ही कहना चाहिये ।

पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्त्वंहसः (११।६।१-२२)— वे हमें पापसे बचावें ।
न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम (१८।१।४)— जो पहिले किया नहीं वह अब कैसा करें, सत्य बोलनेवाले असत्य कार्य कैसे करें ?
न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति (१८।१।९)— देवोंके पास यहां जो चलते हैं, वे न ठहरते हैं न आंखें बंद करते है (वे पापीको पकडते ही हैं ।)

पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् (१८।१।१४)— बहिनके पास जाना पाप कहलाता है ।

पुत्रकामना

ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा (११।१।१)— पुत्रकी इच्छा करनेवाली माता ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है ।
अद्रोघाविता वाचमच्छ (११।१।२)— द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेकी भाषा बोल ।
पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त शत्रून् (११।१।२)— सेनाका पराभव करनेवाला उत्तम वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं ।
अजनिष्ठा महते वीर्याय (११।१।३)— बडे पराक्रम करनेके लिये जन्म लो ।
अस्मै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ— सब पुत्रपौत्रोंके साथ रहनेवाला धन इसको दो ।
विद्वान् देवान् यज्ञियां एह वक्षः (११।१।४)— हे विद्वान् पूजनीय देवोंको यहां ले आ ।
न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् (११।१।६)— द्वेष करनेवाले सपत्नोंको दूर कर ।
सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु (११।१।६)— सजातियोंको कर देनेवाले करे ।
उदुब्जैनां महते वीर्याय (११।१।७)— महान् पराक्रम करनेके लिये ऊंची प्रेरणा कर ।
गच्छेम सुकृतस्य लोकं (११।१।८)— पुण्यकर्म करनेवालेके लोकको हम जांय ।
ऊर्ध्वं प्रजामुद्धरन्त्युदूह (११।१।९)— प्रजाका उद्धार करनेके लिये ऊपर उठाओ ।
श्रिया समानानति सर्वान् स्याम (११।१।१२)— धनसे हम सब समानोंसे आगे बढेंगे ।
अधस्पदं द्विषतस्पादयामि— शत्रुको नीचे गिरा देते हैं ।

पशु पालन

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः (११।२।१)— हमारे द्विपाद, चतुष्पादोंकी हिंसा न करो ।

प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे (११।४।१)— जिसके अधीन सब है उस प्राणके लिये नमस्कार करता हूं ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्— प्राण सबका ईश्वर है और उसमें सब रहा है।

यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे (११।४।९)— हे प्राण! जो तेरे अन्दर औषध है वह दीर्घ जीवनके लिये मुझे दो।

प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न (११।४।१०)— जो जीवित है और जो अचेतन है, उस सबका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते (११।४।११)— प्राण मृत्यु है, प्राण शक्ति है, इस लिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं।

प्राणमाहुः प्रजापतिम् (११।४।१२)— प्राण ही प्रजापालक है।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा (११।४।१४)— आत्मा गर्भमें प्राण और अपानके कार्य करता है।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् (११।४।१५)— प्राणमें भूत, भविष्य सर्व प्राणमें रहता है।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि (११।४।१६) — आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानवी ये औषधियां तब कार्य करती हैं जब प्राण प्रेरणा देता है।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेत् नैवाद्य न श्वः स्यात्, न रात्री नाहः स्यात्, न व्युच्छेत्कदा चन (११।४।२१)— हंस जलसे ऊपर उठता हुआ एक पांव अंदर रखता है, यदि वह दूसरा पांव भी ऊपर उठावेगा तो आजकल, रातदिन कुछ भी नहीं होगा। अंधेरा भी नहीं होगा।

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि (११।४।२६)— हे प्राण! तू मुझसे पृथक न हो, मुझसे दूर न जा।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारीष्णन् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति (११।५।१)— ब्रह्मचारी उन्नतिकी इच्छा करता हुआ दोनों लोकोंमें चलता है, उसके लिये सब देव अनुकूल मनके साथ सहायक होते हैं।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे (११।५।२)— ब्रह्मचारीके अनुकूल पितर, देवजन, देव ये सब रहते हैं।

त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः। सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति— तैंतीस, तीन सौ, छः हजार इन सब देवोंको वह अपने तपसे प्रसन्न करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (११।५।३)— आचार्य उपनयन करके ब्रह्मचारीको अपने (विद्यामाताके) गर्भमें रखता है।

तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः— उस ब्रह्मचारीको वह आचार्य तीन रात्रीतक अपने उदरमें रखता है। जब वह बाहर आता है तब उसको सब देव देखनेके लिये आते हैं।

ब्रह्मचारी······लोकांस्तपसा पिपर्ति (११।५।४)— ब्रह्मचारी······लोकोंको अपने तपसे पूर्ण करता है।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् (११।५।६)— वह ब्रह्मचारी पूर्व समुद्रसे उत्तर समुद्रतक लोकसंग्रह करता है और उनको सदाचारका उपदेश देता है।

तद् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् (११।५।१०)— वह ज्ञानी केवल ज्ञानका प्रचार करता है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः (११।५।१६) —शिक्षक ब्रह्मचारी हों, और प्रजापालक ब्रह्मचारी हों।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति (११।५।१७) —ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी सुरक्षा करता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते— आचार्य ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिं (११।५।१८) —ब्रह्मचर्य पालन करके कन्या युवा पतिको प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (११।५।१९)— ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् (११।५।२२)— ब्रह्मचारीने धारण किया ब्रह्म उन सबकी रक्षा करता है।

मातृभूमि

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (१२।१।१)— सत्य, बृहत् ऋत, उग्र-वीरता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु— वह भूत और भविष्यकी पालन करनेवाली मातृभूमि हमारे लिये विशेष विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु (१२।१।२)— जिस मातृभूमिके मानवोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस कारण झगडे नहीं है।

पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः— हमारी मातृभूमि हमारे यशकी वृद्धि करे।

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः (१२।१।३)— जिस मातृभूमिमें किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजाते हैं।

सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय देवे।

सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु (१२।१।४)— वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों और अन्नमें धारण करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे (१२।१।५)— जिस मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे।

यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्— जिस मातृभूमिमें देवोंने असुरोंका पराभव किया था।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु— गौवें, घोडे, और पक्षियोंका जो स्थान है वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् (१२।१।७)— जिस मातृभूमिका संरक्षण देव प्रमाद न करते हुए सदा करते रहते हैं।

सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा— वह मातृभूमि हमें प्रिय मधुर रस देवे, और तेजसे युक्त करे।

यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः (१२।१।८)— जिस मातृभूमिकी कौशल्ययुक्त कर्मोंसे बुद्धिमान् लोग सेवा करते हैं।

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे।

विष्णुर्यस्यां विचक्रमे (१२।१।१०)— विष्णु जिस मातृभूमिमें पराक्रम करता रहा।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— शक्तिके स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिको शत्रुरहित किया।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् (१२।१।११)—अपराजित, अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृभूमिका अध्यक्ष होऊंगा।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२)— मेरी माता, भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूं।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१२।१।१३)— वह हमारी मातृभूमि बढाई जानेपर हमारा संवर्धन करे।

यो नो द्वेषत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासान्मनसा, यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि (१२।१।१४)— हे मातृभूमे! जो हमारा द्वेष करता है, जो हमपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास बनाना चाहता है, जो वध करता है, हे शत्रुनाश करनेवाली! उसका नाश कर।

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः (१२।१।१५)— तेरेसे उत्पन्न हुए मानव तेरे ऊपर संचार करते हैं। तू द्विपाद और चतुष्पादोंका धारण करती है।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये पांचों प्रकारके मानव तेरे ही पुत्र हैं।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृतां। शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा (१२।१।१७)— धर्मसे धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम सर्वदा सेवा करेंगे।

मा नो द्विक्षत कश्चन (१२।१।१८)— हमारा कोई द्वेष न करे।

त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु (१२।१।२१)— मातृभूमि मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण करे।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः (१२।१।२२)—भूमिमें मर्त्य मनुष्य धारक पोषक अन्न खानेसे जीवित रहते हैं।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु— वह हमारी मातृभूमि मेरे अन्दर प्राण और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाला करे ।

तेन मा सुरभिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमी उस सुवाससे मुझे सुगंधयुक्त करे ।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)- उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाले मातृभूमिके लिये मैं नमन करता हूं ।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल हमारे शरीरके लिये बहे ।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः— जो दुष्ट है उसको अप्रिय अवस्थामें रखते हैं ।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि— हे पृथिवी ! पवित्रसे मैं अपने आपको पवित्र करता हूं ।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशायें घूमनेवाले मुझे सुखदायक हो, भूमिपर रहनेवाले मुझे कोई न गिरावे ।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमे ! तू हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो ।

मा विदन् परिपन्थिनः— शत्रु हमें न जाने ।

वरीयो यावया वधम्— वध हमसे दूर जाय ।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी (१२।१।३४)— सबको आश्रय देनेवाली मातृभूमि ! मेरी हिंसा न कर ।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः (१२।१।३९)- प्राचीनकालका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने वाणीसे तेरी स्तुति गायी ।

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे (१२।१।४०) — वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं ।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः (१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए वीर जिस भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं ।

युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः— जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं, और जिसमें दुन्दुभि बजाता है ।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— वह मातृभूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे ।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रुरहित बनावे ।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३) — जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रमणीय बनावे ।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धनका खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न और सुवर्ण देवे ।

वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान् देवी मातृभूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे ।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसं (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलनेवाले, नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहनेवालोंके समान धारण करती है ।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती (१२।१।४५)—वह हमारी मातृभूमि, न हिलनेवाली गौके समान, हमें धनकी सहस्रों धाराएं देवे ।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण करनेवाला है उससे हमें सुख दे ।

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे । यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः तं पंथानं जयेम अनमित्रमतस्करं (१२।१।४७)— जो बहुतसे मार्ग जाने-आनेके और रथके हैं जिनपर सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और चोररहित हों ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्यां । अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशां आशां विषासहिः (१२।१।५४)— मैं विजयी और जयी मातृ-

भूमिपर श्रेष्ठ हूं। सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला, प्रत्येक दिशामें विजयी हूं।

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदामि ते (१२।१।५६)— जो ग्राम हैं, जो अरण्य हैं, जो सभाएं और समितियां होती हैं, जो युद्ध होते हैं उनमें मैं हे मातृभूमि! तेरे विषयमें उत्तम भाव रखनेवाला भाषण करूंगा।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि (१२।१।५८)— जो बोलूंगा वह मीठा ही बोलूंगा।

त्विषीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हन्मि दोधतः— मैं तेजस्वी हूं, और प्रगति करनेवाला हूं। जो हमारी भूमिको दुह लेते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूं।

यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य (१२।१।६१)— हे मातृभूमि! जो तेरे अन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णता सत्यका प्रथम प्रवर्तक प्रजापति करता है।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः (१२।१।६२)— हे मातृभूमि! तुम्हारे अन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः— हम ज्ञानी हों और हमारी आयु दीर्घ हो।

वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना बली देनेवाले हों।

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (१२।१।६३) — हे मातृभूमे! मुझे कल्याणसे संयुक्त कर।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्— प्रतिदिन जाननेवाली होकर तू मुझे पृथिवीमें संपत्तिमें रख (भरपूर संपत्ति दो।)

युद्ध

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि। सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरु उदारांश्च प्र दर्शय (११।९।१)— जो वीरोंके बाहु, बाण, धनुष्य, पराक्रम, तलवारें, कुल्हाडियां, आयुध, हृदयमें जो विचार हैं, हे सेनापते! तू यह सब शत्रुओंको दिखाओ और स्फोटक बम भी दिखाओ। (जो देखकर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो।)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२)— उठो, तैयार हो जाओ।

संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखे और सुरक्षित हों।

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्यां, अमित्राणां सेना अभि धत्तं (११।९।३)— उठो, आदान संदान करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको पकडो।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुद सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ (११।९।५)— हे देवजन सेनापते! तू सेनाके साथ उठो। शत्रुकी सेनाको अपनी पकडोंसे पकडकर नष्ट कर।

उत्तिष्ठ सेनया (११।९।६)— सेनासे उठो।

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते (११।९।७)— छाती पीटती, आंखोंमें अश्रुवाली, कानमें आभूषण न हों ऐसी, पुरुष मरनेपर बिखरे बालवाली शत्रु स्त्री आक्रोश करें।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः। पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव (११।९।१०)— हे सेनापते, तेरा आक्रमण होनेपर जो प्रेत रणक्षेत्रमें पडेंगे उनपर सब पशु, मक्खियां, क्रिमी तृप्त होते रहें।

मुह्यन्त्वेषां बाहवः चित्ताकूतं च यद्धृदि। मैषामुच्छेषि कश्चन रदिते अर्बुदे तव। (११।९।१३) — हे सेनापति! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुओंमें कोई न रहे, उनके बाहु मोहित हों, उनके मनमें जो हो वह भी भ्रान्त बने।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतां (११।९।१८)— शत्रुके सेनासमूहोंको कंपायमान् करो, शत्रुको जीतो, अपने वीर विजयी हों।

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरं वरं (११।९।२०)— प्रेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरको मारे।

अमित्रान् नो वि विध्यतां (११।९।२१)— शत्रुओंको बींधो।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं (११।९।२६) — उन शत्रुओंके तुम स्वामी हो, उठो, तैयार हो जाओ।

इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्— इस संग्रामको जीतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं उदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यनु धावत। (११।१०।१)— उठो, अपने ध्वजोंसे तैयार हो जाओ, हे सर्पों और इतर जनो! राक्षसोंपर हमला चढाओ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह (११।१०।५)— हे देवजन सेनापते! तू उठ, सेनाके साथ चढाई कर।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व (११।१०।१८)— शत्रुको जीत और अपने अधीन कर।

तमसा त्वममित्रान् परि वारय (११।१०।१९)— तू तमसास्त्रसे शत्रुका निवारण कर।

मामीषां मोचि कश्चन— उन शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणां अमूः सिचः (११।१०।२०) —इन शत्रुओंके सेनासमूहपर श्वेत पांववाली शक्ति गिरे।

मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां— शत्रुकी सेनायें मोहित हों।

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरं (११।१०।२१)— हे सेनापते! शत्रुसेना मूढ बनी है, इनके मुखिया वीरोंको मार।

अनया जहि सेनया— इस सेनासे जीतो।

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयाम् (११।१०।२२)— जो शत्रु कवचधारी है, जो कवचसे रहित है, जो रथपर बैठा है, वह शत्रु ज्यापाशोंसे, कवचपाशोंसे तथा रथके आघातसे मरा होकर सो जाय।

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्तानर्बुदे हतान् श्वानोऽदन्तु भूम्याम् (११।१०।२३)— जो कवचधारी अथवा कवचके बिना शत्रु हैं, ये सब युद्धमें मरें और भूमिमें पडे। इनके प्रेत कुत्ते खायें।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः। सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः (११।१०।२४)— जो रथी, जो रथके बिना, जो घोडोंवाले अथवा जो घोडोंके बिना शत्रु हैं, उन सबको युद्धमें मरनेपर गीध, श्येन आदि पक्षी खायें।

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानां। विविद्धा ककजाकृता (११।१०।२५)— युद्धमें मारी गयी, शस्त्रोंसे बींधी और विकृत आकारवाली होकर शत्रुसेना सहस्रों प्रेतोंमें युद्धभूमीपर शयन करे।

शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत। त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत (११।८।९)— इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा और धातासे धाता हुआ। (ये देव पुत्र शरीरमें आकर रहे हैं।)

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते (११।८।१०) —पूर्व समयमें दस देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न हुए। पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस लोकमें भला रहने लगे हैं?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्। सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१३) —सिंचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब संभार इकट्ठा किया। सब मर्त्यको जीवनरससे सिंचित करके ये सब देव शरीरमें आकर रहे हैं।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।१८)— मर्त्य घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं।

विद्याश्च वाऽविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः (११।८।२३) —विद्या, अविद्या (विज्ञान), और जो उपदेश करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ, वही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हैं।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (११।८।२९)— रेतका घी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२) —इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा मानता है।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते— सब देवताएं यहां, गोशालामें जैसी गौवें रहती हैं, वैसी रहती हैं।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि (१२।२।१)— यह सीस तेरा भाग्य है।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि— जो क्षयरोग गौओंमें और पुरुषोंमें होगा, उसको तुम दूर कर।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)- क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूं।

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिं अजामसि (१२।२।३) —हम मृत्यु, दुःख और शत्रुको दूर करते हैं।

यो नो द्वेष्टि तमद्धि अग्ने— जो हमारा द्वेष करता है, हे अग्ने! उसे खा।

त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)— ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे।

ते ते यक्ष्मं स वेदसो दूराद्दूरमनीनशन् (१२।२।१४) — वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें।

शुद्धा भवत यज्ञियाः (१२।२।२०)— शुद्ध और पूजनीय बनो।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)— यहां ये वीर बहुत हों।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य (१२।२।२२)— हमारी देव प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है।

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय (१२।२।२२)— नाचने और हसनेके लिये हम आगे बढें।

सुवीरासो विदथमा वदेम— उत्तम वीर बनकर युद्धका विचार करेंगे।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतं (१२।२।२३)— मानवप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है, जीव बनकर इस आयुरूपी धनका कोई नाश न करे।

शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन— सौ वर्षोंतक दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढके द्वारा) मृत्युको दूर रखें।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ (१२।२।२४)— वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो, एकके पीछे दूसरे सिद्धितक यत्न करो।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय— उत्तम जन्मवाला सत्याही त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे।

यथा न पूर्वं अपरो जहाति, धातरायूंषि कल्पयैषां (१२।२।२५)— जिस तरह पूर्व जन्मके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता! इनकी आयुकी योजना कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)— पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है, हे मित्रो! संभालो और वीरता धारण करो।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्— जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, हम पार होनेपर रोगरहित अन्न प्राप्त करेंगे।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयं (१२।२।२७)— उठो और तैरो। हे मित्रो! यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्— जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड दो, जब हम पार हो जायगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे।

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)— सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढानेके लिये प्रारंभ करो, तुम शुद्ध, पवित्र और मलरहित बनो।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम— पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आनंदसे रहेंगे।

मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन (१२।२।२९)— अपने आचरणसे मृत्युको दूर करते हैं।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः (१२।२।३०)— मृत्युके पांवको दूर करके, दीर्घ आयुको अति दीर्घ करके धारण करके चलो।

आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो, और यदि जीवेंगे, सभामें यज्ञकी बात करेंगे।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्तां। अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे (१२।२।३१)— ये स्त्रियां उत्तम पत्नीयां हों, विधवा न हों, अंजन और घी लगावें, रोगरहित, अश्रुरहित, उत्तम रत्न धारण करनेवाली स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे स्थानपर चढें।

दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि (१२।२।३२)— इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन् म्रियते पतिः (१२।२।३९)— जब स्त्रीका पति मरता है तब घर-पीडाओंसे युक्त होते हैं।

जीवानामायुः प्र तिर (१२।२।४५)— जीवितोंकी आयु दीर्घ कर।

एषां ऊर्जं रयिं अस्मासु धेहि (१२।२।४६)— इनका बल और धन हमें दे।

दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि (१२।२।५५)— मैं इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूं।

इमं जीवं जीवधन्याः समेत्य, तासां भजध्वममृतं यमाहुः (१२।३।४)— जीवनको धन्य करनेवालो! इस जीवदशाको प्राप्त होकर वहांका अमृत प्राप्त करो।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् (१२।३।१०)— श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचानपबाधमानः (१२।३।१५)— राक्षस और पिशाचोंको दूर करता हुआ यह वनस्पति दिव्य शक्तियोंसे हमारे पास आया है।

तेन लोकानभि सर्वान् जयेम— उससे सब लोकोंको जीतेंगे।

विवाह

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतां अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि (१४।१।२१)— यहां तेरी प्रजाके लिये समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पालक बनकर जागती रहे।

एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व— इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर।

इहैव स्तं, मा वि यौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (१४।१।२२)— यहीं रहो, मत पृथक् होओ, सब आयु होनेतक मिलकर रहो।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और नातोंके साथ खेलते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् (१४।१।३४)— कांटोंसे रहित सरल मार्ग हों जिनसे हमारे मित्र कन्याके घर जाते हैं।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं। पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्व अमृताय कम् (१४।१।४२)— उत्तम मन, संतान और सौभाग्यकी आशा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर अमरत्व प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो।

एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य (१४।१।४३)- वैसी तू पतिके घर पहुंचकर वहां सम्राज्ञी होकर रह।

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः (१४।१।४४)— श्वशुर, देवर, ननन्द, सास इनके साथ सम्राज्ञी होकर रह।

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु (१४।१।४७)— सविता तेरी दीर्घ आयु करे।

तेन गृह्णामि ते हस्तं, मा व्यथिष्ठा, मया सह प्रजया च धनेन च (१४।१।४८)— तेरा हाथ मैं ग्रहण करता हूं, मत घबरा, मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह।

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (१४।१।५०)— मैं तेरा हाथ पकडता हूं, मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव (१४।१।५१)- तू मेरी धर्मसे पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूं।

ममेयमस्तु पोष्या, मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् (१४।१।५२) —यह स्त्री मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो, बृहस्पतिने तुझे मुझे दिया है। मेरे साथ रहकर, प्रजावाली हो और सौ वर्ष जीवित रह।

शिवा स्योना पतिलोके वि राज (१४।१।६४)— कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पतिके घर विराज।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् (१४।२।२)-- इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष जीवित रहता है।

रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् (१४।२।४) — धन और पुत्रोंको तथा इस स्त्रीको अग्निने मुझे दिया।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः (१४।२।७)— औषधियां, नदियां, क्षेत्र और जो वन हैं, वे सब पतिके लिये प्रजावाली तुझे राक्षसोंसे सुरक्षित रखें।

यस्मिन्वीरो न रिष्यति, अन्येषां विन्दते वसु (१४।२।८)— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और अन्योंकी अपेक्षा अधिक धन मिलता है।

स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् (१४।२।९)— इस वधुके लिये सब पदार्थ सुखदायी हों, कोई लीया जानेवाले इस रथका नाश न करे।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतां अप द्रान्त्वरातयः (१४।२। ११)— जो शत्रु समीप प्राप्त होंगे वे इस दम्पतीको न जाने, ये वधूवर सुखसे दुर्गम प्रसंगोंके पार जांय, और इनसे शत्रु दूर हों।

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण (१४।२।१२)— मैं पुकारकर कहता हूं कि वधुके दहेजको ज्ञानपूर्वक मित्रकी दृष्टिसे देखें।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु (१४।२।१२)— जो कुछ अनेक रंगरूपवाला यहां इसमें बंधा है वह पतिके लिये सुखकर हो ऐसा सविता करे।

शिवा नारीयमस्तमागन् (१४।२।१३)— यह कल्याणी नारी अपने घरको आ रही है।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजासे इसको बढावे।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्, तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धं वृषभस्य रेतः॥ (१४।२।१४)— यह नारी आत्मबलसे युक्त, प्रजा उत्पन्न करनेवाली है, इसमें पुरुष बीज बोवे, वह आपके लिये संतान अपने गर्भाशयसे उत्पन्न करे, दूध और वीर्यवान् पुरुषका रेत धारण करे।

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः। वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना। (१४।२।१७)— प्रेमपूर्ण दृष्टिवाली, पतिका घात न करनेवाली, सुख देनेवाली, सुन्दर, सेवा उत्तम करनेवाली, घरोंके लिये सुखदायक, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, पतिको भाई रहे ऐसी इच्छावाली, उत्तम मनवाली ऐसी स्त्रीसे हम संपन्न हों।

अदेवृघ्नी अपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः। प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य। (१४।२।१८)— देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, पशुओंका हित करनेवाली, उत्तम नियमसे चलनेवाली, तेजस्विनी, संतानवाली, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, घरमें देवर रहें ऐसी इच्छावाली, कल्याण करनेवाली तू अग्निकी पूजा घरमें कर।

उत्तिष्ठ, इतः किमिच्छन्तीदमागाः, अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् (१४।२।१९)— हे दुर्गति! तू यहांसे उठ, यहां क्या चाहती है, यहां क्यों आ गई है? मैं तेरा पराभव करूंगी, अपने घरसे तुझे दूर करूंगी।

शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः— हे दुर्गति ! तू इस घरको शून्य करना चाहती है, यहांसे उठ, दूर जा, यहां न रममाण हो।

देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा (१४।२।२४)— अग्नि देव सब राक्षसोंको मारता है।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः— यहां संतान उत्पन्न कर, इस पतिके लिये यह श्रेष्ठ पुत्र बने।

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् (१४।२।२६)— उत्तम मंगल कामनावाली, घरोंका दुःख दूर करनेवाली, पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली, श्वशुरके लिये सुख देनेवाली, सासके लिये हितकर ऐसी अपने घरमें प्रविष्ट हो।

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव (१४।२।२७)— श्वशुरके लिये, पति और घरके लोगोंके लिये, सब प्रजाके लिये सुखकर हो और इनका पोषण करनेवाली हो।

सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन। (१४।२।२८) — यह वधू उत्तम कल्याण करनेवाली है, आओ और इसे देखो, इसको सौभाग्य देकर दुर्भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ।

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन। (१४।२।२९)— जो दुष्ट हृदयवाली तथा वृद्ध स्त्रियां हैं, वे इस वधुको तेजस्वी होनेका आशीर्वाद दें और अपने घरको जांय।

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै (१४।२।३१)— बिछौनेपर चढ, उत्तम मनवाली इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर।

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह (१४।२।३२)— हे स्त्री ! तू इस संसारमें सूर्यप्रभाके समान महत्त्वसे अनेक रंगरूपको प्राप्त होकर संतान उत्पन्न करके पतिके साथ आनंदसे रह।

मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् (१४।२।३७)— मर्दके समान स्त्रीके साथ रह, प्रजा उत्पन्न कर, और यहां धनको बढाओ।

प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु (१४।२।३९)— यहां प्रजा उत्पन्न करके आनंदसे रहो, आप दोनोंकी आयु सविता देव लंबी करे।

अदुर्मंगली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे (१४।२।४०)— दुष्ट भाव छोडकर पतिके घरमें प्रवेश कर, द्विपाद और चतुष्पादके लिये कल्याण करनेवाली हो।

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः (१४।२।४३)— हास्यविनोद करनेवाले, सुखदायी स्थानसे उठनेवाले, उत्तम इंद्रियों और गौवोंसे युक्त, उत्तम बालबच्चोंवाले, उत्तम घरवाले स्त्रीपुरुष ये दो जीव प्रकाशमान् उषःकालके समान प्रकाशते रहें।

मा वयं रिषामः (१४।२।५०)— हमारा नाश न हो।

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत। (१४।२।५२)— पिताके घरसे पतिके घर जानेवाली ये कन्याएं सदीक्षा धारण करें, दक्षतासे रहें।

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिः जीवाति शरदः शतम् (१४।२।६३) — यह स्त्री धानका हवन करती हुई यह कहती है, कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीवे।

चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् (१४।२।६४)— चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान ये दम्पती, ये उत्तम घरवाले प्रजाके साथ पूर्ण आयु प्राप्त करें।

अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् (१४।२।६७)— हम पूज्य और शुद्ध बने और हमारी आयु दीर्घ हो।

अंगादंगाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि (१४।२।६९)— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर करते हैं।

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै। (१४।२।७१)— मैं प्राण हूं तू शक्ति है, गान मैं हूं और ऋचा तू है, द्यु मैं हूं पृथिवी तू है, यहां हम इकट्ठे रहें और प्रजा उत्पन्न करें।

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१४।२।७५)— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके घरमें जागती रह, सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये यत्न कर।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु— घरमें जा, घरकी स्वामिनी होकर रह; सविता तेरी आयु दीर्घ करे।

व्रात्य

सोऽवर्धत, स महानभवत्स महादेवोऽभवत् (१५।१।४)— वह बढ गया, वह बडा हो गया, वह महादेव हुआ।

स देवानामीशां पर्यैत् स ईशानोऽभवत् (१५।१।५)—वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ, वह ईश्वर हुआ।

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति (१५।१।८)- नीलेसे वह अप्रिय दुष्टको घेरता है और लोहितसे द्वेषीको वींधता है ऐसा ब्रह्मवादियोंका कहना है।

शत्रु दूर करना

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् (१३।१।३)— हे उग्रवीर मरुतो! तुम भूमिको माता माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश करो।

सं ते राष्ट्रं अनक्तु पयसा घृतेन (१३।१।८)— तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर हो।

विशि राष्ट्रे जागृहि (१३।१।९)— प्रजामें तथा राष्ट्रमें जागते रहो।

गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१३।१।१२)— मुझे गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे।

सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् (१३।१।२०)— सब शत्रुओंपर आक्रमण कर और इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर।

तया वाजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम (१३।१।२२)— अनेक प्रकारके अन्न और बल जीतेंगे और उससे सब सैन्योंका पराभव करेंगे।

तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (१३।१।३३)— कवि प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं।

सपत्नानधरान् पादयस्मत् (१३।१।३१)— हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे (१३।१।५८)— दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पापोंको हम शुद्ध करते हैं।

सुदृढ शरीर

सर्वांग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद (११।३।३२)— सब अंगोंसे युक्त, सब पर्वोंसे युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान जानता है।

दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः, शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे। मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः (१६।१।१२-१३)— हे जलदेवता! शुभ दृष्टिसे मुझे देखो, शुभ स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो। मुझे तेज और क्षात्रबल धारण करो।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् (१६।२।१)— दुर्गति दूर हो, वाणी मीठी हो।

मधुमती स्थ, मधुमतीं वाचमुदेयम् (१६।२।२)— मीठी वाणी हो, मीठी वाणी हम बोलें।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम् (१६।२।४)— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें, मेरे कान कल्याणवचन सुनें, कल्याणकारक वचन मैं सुनूंगा।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां, सौपर्णं चक्षुः, अजस्रं ज्योतिः (१६।२।५)— उत्तम श्रवण

शक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति मुझे न छोडें, गरुडके समान दृष्टि और बडा तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (१६।३।१) धनोंका उच्च स्थान तथा समानोंमें मैं उच्च बनूं ।

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां (१६।३।२)— तेज और कान्ति मुझे न छोडे ।

मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् — उच्च स्थान और विशेष धर्म मुझे न छोडे ।

असंतापं मे हृदयं (१६।३।६)— मेरे हृदयको संताप न हो ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं, मा जने प्र मेषि (१६।४।५) —प्राण, अपान मुझे न छोडे, मनुष्योंमें मैं घातक न बनूं ।

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयं (१६।६।१)- आज हम विजय प्राप्त करेंगे, प्राप्तव्यको प्राप्त किया है, हम निष्पाप हुए हैं ।

द्विषते तत्परा वह, शपते तत्परा वह (१७।६।३)— द्वेष करनेवालेको दूर कर, गाली देनेवालेको दूर कर ।

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः (१६।६।४)— जिसका हम सब द्वेष करते हैं और जो हमारा द्वेष करता है, उसको नीचे पहुंचाते हैं ।

तेऽमुष्मै [illegible]ा वहन्तु अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः कुम्भीका दूषिकाः पीयकान् (१६।६।७-८)— वे निर्धनता, कष्ट, आपत्तियां, रोग, दोष, विपत्तियोंको दूर ले जांय ।

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि, पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि (१६।७।१)— उससे इस पापका वध करता हूं । दुर्गति, दारिद्र्य और रोगसे शत्रुको बींधता हूं । पराभवसे और अन्धकारसे शत्रुको पीडित करता हूं ।

जितमस्माकं उद्भिन्नमस्माकं ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं, यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् (१६।८।१)— हमारे विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, आत्मतेज, यज्ञ, पशु, प्रजा वीर हों । यह सब हमें प्राप्त हों ।

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि (१६।८।३)— वह शत्रु रोगके पाशोंसे न छूटें ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि, इदमेनमधरांचं पादयामि (१६।८।४)— इसके तेज, बल, प्राण, आयुको मैं घेरता हूं । इस शत्रुको नीचे गिराता हूं ।

वसुमान् भूयासं, वसु मयि धेहि (१६।९।४)— मैं धनवान् होऊं, धन मेरे पास रख ।

अभ्युदय

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसं । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितं । ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् । (१७।१।१) — सामर्थ्यवान्, बलवान्, विजयी शत्रुको दबानेवाले, शक्तिमान्, दिग्विजयी, स्वसामर्थ्यसे जीतनेवाले, भूमिको जीतनेवाले, धन जीतनेवाले प्रशंसनीय स्तुत्य इन्द्रकी हम भक्ति करते हैं, मैं दीर्घायु बनूं ।

प्रियो देवानां भूयासं (१७।१।२)— देवोंको मैं प्रिय बनूं ।

प्रियः प्रजानां भूयासं (१७।१।३)— मैं प्रजाओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः पशूनां भूयासं (१७।१।४)— मैं पशुओंको प्रिय बनूं ।

प्रियः समानानां भूयासं (१७।१।५)— मैं समानोंको प्रिय बनूं ।

द्विषंश्च मह्यं रध्यतु, मा चाहं द्विषते रधं (१७।१।६) — शत्रुओंको मेरे हितके लिये वशमें कर, परंतु मैं कभी शत्रुके अधीन न बनूं ।

सुधायां मा धेहि (१७।१।७)— अमृतमें मुझे रख ।

स नो मृड, सुमतौ ते स्याम (१७।१।८)— वह तू हमें आनंदमें रख, तेरी उत्तम संमतिमें हम रहें ।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् (१७।१।११)— हे इन्द्र ! तू विश्वको जीतनेवाला और सबको जाननेवाला है ।

सपत्नान् मह्यं रन्धयन् (१७।१।२४)— मेरे लिये शत्रुओंका नाश कर।

जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयं (१७।१।२७)— वृद्ध अवस्थातक वीर्यवान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु होकर विचरूंगा।

सरस्वती

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् (१८।१।४१)— देव बननेकी इच्छा करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, यज्ञ शुरू होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, उत्तम कार्य करनेवाली सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, सरस्वती-विद्या-धन देती है।

अनमीवा इष आ धेह्यस्मे (१८।१।४२)— नीरोग अन्न हमें दे।

सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि (१८।१।४३)— हजारों प्रकारका अन्नभाग और धनके साथ पुष्टि यजमानको दे।

पितृमेध

असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु (१८।१।४४)— जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने प्राणको प्राप्त किया है। अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं वे सत्य यज्ञको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी रक्षा करें।

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वासो अपरास ईयुः (१८।१।४६)— जो पूर्व और आधुनिक पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम (१८।१।५२)— हमने मनुष्य होनेसे जो पाप किया हो उसके लिये, हे पितरो! हमारी हिंसा न करो।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः (१८।२।२)— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज ऋषियोंको यह नमन करता हूं।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे (१८।२।३)— वह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ आयु देवे।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् (१८।२।१७)— जो शूर युद्धोंमें लड़ते हैं, युद्धोंमें जो अपना शरीर त्यागते हैं, तथा जो हजारोंका दान करते हैं उनके पास तू जा।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी। यच्छास्मै शर्म सप्रथाः (१८।२।१९)— हे पृथिवी! इसके लिये सुख देनेवाली हो, कांटोंसे रहित, रहनेके लिये स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और सुख दे।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे (१८।२।३४)— जो गाडे गये, जो बहाये, जो जलाये, जो ऊपर हवामें रखे, उन सब पितरोंको हवि खानेके लिये, हे अग्ने! ले आओ।

उदन्वती द्यौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते (१८।२।४८)— जलवाला द्युलोक सबसे नीचे है, नक्षत्र जिसमें है वह मध्य स्थानमें है, प्रद्यु नामक तीसरा द्युलोक है जिसमें पितर रहते हैं।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे। ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् (१८।२।५६)— प्राण जिसका गया है उसको ले जानेके लिये मैं दो बैल (गाडीको) जोडता हूं। उन दोनोंसे यमके घर जाते हैं, उनके साथ मंडली भी जाय।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत। (१८।३।१३)— जो मानवोंमें प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया, उस वैवस्वत यमराजको, जो जनोंका संगमन करता है, उसको हवि अर्पण कर।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रं, आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः। आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।३।१७)— ज्ञानसे पवित्र होकर नवीन आयु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बने।

वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् (१८।३।३९)— जैसा विद्वान् धर्ममार्गसे आता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुंचता है। यह सब अमर देव सुने।

रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।३।४३)— दानी मनुष्यके लिये धन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत तं इह ऊर्जं दधात (१८।३।४३)— हे पितरो! पुत्रोंके लिये उसका धन दो, वे यहां अन्न धारण करें।

रयिं च नः सर्ववीरं दधात (१८।३।४४)— सब वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र (१८।३।५१)— वे घर सुखदायी, घीसे भरे सर्वदा इसके लिये शरण जाने योग्य हों।

इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् (१८।३।६१)— यहां ये वीर पुत्र बहुत हों, गौओं और घोडोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (१८।३।६२)— मृत्यु दूर हो, अमरत्व हमारे पास आवे।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन (१८।३।६७) —हे ऋषिओ! उत्तम द्युलोकमें चढो, भयभीत न होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु (१८।४।३७)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है, उसके लिये बांधवोंसे युक्त घर करो।

पर्णो राजापिधानं चरूणां ऊर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय (१८।४।५३)— यह राजा पर्ण चरुपर रखनेका ढक्कन है। यह तेज, बल, ओजके साथ हमारे पास आगया है, यह जीवोंको आयु देता है, सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् (१८।४।६४)— अपने सब अंगोंके साथ पितर स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः (१८।४।७०)— हम सौ वर्ष जीवें, हे राजन्! तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुभाषित चतुर्थ विभागमें हैं। पाठक इनका योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

एकादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि० सूरत)
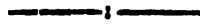
तृतीय वार

संवत् २००६, शक १८७१, सन १९५०

ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो।
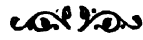
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

(अथर्व० ११।५।१७,—१९)

" ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है, ब्रह्मचर्यसे ही आचार्य ब्रह्मचारीको प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप तपसे ही देवोंने मृत्युको दूर किया, और ब्रह्मचर्यसे ही इन्द्रने देवोंमें तेज भर दिया।"

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

एकादश काण्ड ।

यह ग्यारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय विभागका चौथा काण्ड है। इसके अनुवाक, सूक्त, मंत्र और दशति इस प्रकार हैं।

अनुवाक	सूक्त	दशति+मंत्र	मंत्रसंख्या
१	१	३ + ७	३७
२	२	३ + ११	३१
	३	(३ पर्याय)	५६
	४	२ + ६	२६
३	५	२ + ६	२६
	६	१ + १३	२३
४	७	२ + ७	२७
	८	३ + १४	३४
५	९	२ + ६	२६
	१०	३ + ७	३७
५	१०		३१३ कुल मंत्रसंख्या

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द देखिये--

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३७	ब्रह्मा	ब्रह्मौदनः	त्रिष्टुप्, अनुष्टुब्गर्भाभुरिक्पंक्तिः; २, ५ बृहती—गर्भाविराट्; ३ चतुष्पदा शाक्वरगर्भा जगती; ४, १५—१६ भुरिक्, ६ उष्णिक्, ८ विराड् गायत्री; ९ शाक्वरातिजागतगर्भा जगती १० विराड् पुरोतिजगती विराड् जगती; ११ जगती; १७, २१, २४, २६ विराड् जगती, १८ अतिजगतीगर्भा परातिजागता विराड् जगती; २० अतिजागतगर्भा पराशक्वरा, चतुष्पदा भुरिग्जगती; २९, ३१ भुरिक्; २७ अतिजागतगर्भा जगती; ३५ चतुष्पदा ककुम्मती—उष्णिग्, ३६ पुरोविराड् व्याघ्रादि०; ३७ विराड् जगती।

२	३१	अथर्वा	रुद्रः	त्रिष्टुप्, १ परातिजागता विराड् जगती, २ अनुष्टुब्गर्भा पंचपदा पथ्या जगती; ३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्; ४, ५, ७, १३, १५, १६, २१ अनुष्टुप्, ६ आर्षी गायत्री; ८ महाबृहती; ९ आर्षी, १० पुरोकृति त्रिपदाविराट्; ११ पंचपदा विराड् जगतीगर्भा शक्वरी; १२ भुरिक्; १४, १७-१९, २३, २६, २७ विराड् गायत्री; २० भुरिग्गायत्री; २२ विषमपादलक्ष्म्या त्रिपदा महाबृहती; २४, २९ जगती, २५ पंचपदातिशक्वरी; ३० चतुष्पदा उष्णिक्; ३१ त्र्यव० विपरीतपादलक्ष्म्या षट्पदा जगती।
	५६	,,	ओदनः	१, १४ आसुरी गायत्री; २ त्रिपदा समविषमा गायत्री; ३, ६, १० आसुरी पंक्तिः; ४, ८ साम्नी अनुष्टुभ्; ५, १३, १५, २५ साम्नी उष्णिक्, ७, १९-२२ प्राजापत्यानुष्टुभ्, ९, १७-१८ आसुरी अनुष्टुभ्; ११ भुरिगार्ची अनुष्टुभ्; १२ याजुषी जगती, १६, २३ आसुरी बृहती; २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती २६ आर्ची अनुष्टुभ्; २७ (२८, २९) साम्नी बृहती, [२९ भुरिक्]; ३० याजुषी त्रिष्टुप्, ३१ अल्पापंक्तिः याजुषी।
	(१ पर्यायः ३१		बार्हस्पत्यौदनः)	
	(२ पर्यायः १८ ,,		ओदनः)	३२, १८, ४१ (प्र०), ३२-३९ साम्नी त्रिष्टुप्; ३२, ३५, ४२ (द्वि०), ३२-४९ (तृ०), ३३, ३४, ४४-४८ (पं०) एकपदा आसुरी गायत्री; ३२, ४१, ४३, ४७ (च०) दैवी जगती; ३८, ४४, ४६ (द्वि०), ३२, ३५-४३, ४९ [पं०] आसुरी अनुष्टुभ्; ३२-४९ [पं०] साम्नी अनुष्टुभ्; ३३-४९ [प्र०] आसुरी अनुष्टुभ्; ४२-४९ [पं० ; साम्न्यनुष्टुभः; ३३-४९ [प्र०] आर्ची-अनुष्टुभ्; ३७ [प्र०] साम्नीपंक्तिः, ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ [द्वि०] आसुरी जगती; ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ [द्वि०] आसुरी पंक्तिः ३४ (च०) आसुरी त्रिष्टुप्; ४५, ४६, ४८ (च०) याजुषी गायत्री, ३६, ४०, ३७ (च०) दैवी पंक्तिः; ३८, ३९ (च०) प्राजापत्या गायत्री, ३९ (द्वि०) आसुरी उष्णिक्; ४२, ४५, ४९ (च०) दैवी त्रिष्टुभ्; ४९ [द्वि०] एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती।
	[३ पर्यायः ७ ,,		,,]	५० आसुरी अनुष्टुभ्, ५१ आर्ची अनुष्टुभ्; ५२ त्रिपदाभुरिक्साम्नी त्रिष्टुप्; ५३ आसुरी बृहती; ५४ द्विपदा भुरिक् साम्नी बृहती, ५५ साम्नी उष्णिक्, ५६ प्राजापत्या बृहती।
	२६	भार्गवो वैदर्भिः	प्राणः	अनुष्टुप्; १ शंकुमती; ८ पथ्यापंक्तिः, १४ निचृत्; १५ भुरिक्; २० अनुष्टु० गर्भा त्रिष्टुप्, २१ मध्ये ज्योतिर्जगती; २२ त्रिष्टुभ्, २६ बृहती गर्भा।

५	२६	ब्रह्मा	ब्रह्मचारी	त्रिष्टुप्; १ पुरोतिजागतविराड्गर्भा; २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् शाक्वरी; ६ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ७ विराड्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराट् जगती ९ बृहती गर्भा; १० भुरिक् ११ जगती, १२ शाक्वरगर्भा चतुष्पदा विराडतिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६-२२ अनुष्टुप्, २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसाना आर्ची उष्णिक्, २६ मध्ये ज्योतिरुष्णिग्गर्भा ।
६	२३	शन्तातिः	चन्द्रमाः मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुप्; २३ बृहतीगर्भा ।
७	२७	अथर्वा	अध्यात्मं उच्छिष्टः	अनुष्टुभ्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्या बृहती ।
८	३४	कौरुपथिः	अध्यात्मं, मन्युः	अनुष्टुभ्; ३३ पथ्यापंक्तिः ।
९	२६	काङ्कायनः	अर्बुदिः	अनुष्टुभ्; १ सप्तपदा विराट् शक्वरी त्र्यवसाना; ३ परोष्णिक् ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् षट्पदातिजगती; ९, ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः; १५, २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; १६ त्र्यव० पंचप० विराड् उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ त्रिपदा गायत्री ।
१०	२७	भृग्वंगिराः	त्रिषन्धिः	अनुष्टुभ्; १ विराट् पथ्या बृहती, २ त्र्यव० षट्प० त्रिष्टु० गर्भातिजगती; ३ विराडास्तारपंक्तिः, ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुभ्, ९. पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्; १२ पंच पदा० पथ्यापंक्तिः; १३ षट्पदा जगती, १६ त्र्यव० षट्पदा० ककुम्मत्यनुष्टुप् त्रिष्टुब्गर्भा शक्वरी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद्बृहती, २५ पस्तार पंक्तिः ।

इस प्रकार इन दस सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं । इनमें अध्यात्म और युद्ध ये दो प्रकरण विशेष महत्वके हैं, अतः पाठक इनका अधिक मनन करें । इस काण्डके पश्चात् के बारहवें काण्डमें मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है और इस ग्यारहवें काण्डमें उसके पूर्व युद्धकी तैयारीका वर्णन है । इस तरह यह बडा मनोरंजक विषय इस काण्डमें है, इसका योग्य अभ्यास पाठक करें ।

———

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन-सूक्त

(१)

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥
कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥
अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (जायस्व) प्रकट हो। (इयं नाथिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीन माता (पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाती है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूतोंको बनानेवाले सात ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्थन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सखायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृणुत) धूवाँ करो, अग्निको प्रदीप्त करो। (अद्रोघ-अविता वाचं अच्छ) द्रोह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली भाषा बोलो। (अयं अग्निः पृतनाषाट् सुवीरः) यह अग्नि शत्रु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है। [येन देवाः दस्यून् असहन्त) जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने! हे जातवेद! तू [महते वीर्याय अजनिष्ठाः] बडा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है। [ब्रह्म-ओदनाय पक्तवे] और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है। (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूतोंकी उत्पत्ति करने-वाले सात ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है। (अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ-माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे। जगत्के निर्माण करने-वाले सप्त ऋषि उस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, यज्ञ कर, द्रोह करनेवाली भाषा न बोल, तेजस्वी बन, जिससे समरविजयी सुपुत्र होगा, जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बडा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है। उत्तम अन्न द्वारा पाकयज्ञ करके सप्त ऋषियोंको संतोष करनेसे वे सब प्रकारके वीर भावोंसे युक्त सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देंगे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः ।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥
त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम् ।
अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥
अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् ।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ॥ ६ ॥
साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय ।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥
इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना । अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समिधा समिद्धः सं इध्यस्व) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो । [यज्ञियान् देवान् इह आवक्षः] यज्ञके योग्य देवोंको तू यहां ले आ । हे जातवेद ! (तेभ्यः हविः श्रपयन्) उनके लिये हवि पकाता हुआ, [इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय] इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

[यः पुरा त्रेधा भागः निहितः] जो पहले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितृणां मर्त्यानां) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है । [अहं वः तान् विभजामि] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पण करता हूं । [अंशान् जानीध्वं] उन भागोंको समझो । (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस स्त्रीको आपत्तिसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है । अतः [द्विषतः सपत्नान् नीचः न्युब्ज] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा । [इयं मात्रा मीयमाना मिता च] यह परिमाण मापा हुआ परिमित प्रमाणमें [ते सजातान् बलिहृतः कृणोतु] तेरे सजातीय वीरोंको तुझे कर देनेवाला बनाये ॥ ६ ॥

[पयसा सजातैः साकं एधि] तू दूधके साथ स्वजातियोंके साथ बढ । [महते वीर्याय एनां उत् उब्ज] बडे पराक्रमके लिये इसको तैयार कर । [ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टपं अधि रोह] ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ । [यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[इयं मही पृथिवी देवी] यह बडी पृथ्वी देवता [सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु] शुभ विचारवाली होकर यह चर्मकी ढाल अपनी रक्षाके लिये लेवे । इससे [अथ सुकृतस्य लोकं गच्छेम] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—अग्नि प्रदीप्त कर, उसमें हविका हवन कर, इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अन्नमें होता है । अतः उनको वह भाग अर्पण करना उचित है ॥ ५ ॥

बलवान् और शत्रुका पराभव करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और वे तुझे कर देंगे ऐसा पराक्रम कर ॥६॥

बडा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो, दूध पीकर स्वजातियोंके साथ पुष्ट हो । इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके योग्य बन ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बडी देवी है, अपने मनको शुभसंकल्पयुक्त करके उसकी रक्षाके लिये तैयार रह जिससे पुण्यवानोंका लोक प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु ।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः ।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

अर्थ-[एतौ सयुजौ ग्रावाणौ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [चर्मणि युङ्ग्धि] चर्मपर रखो । [यजमानाय अंशून् निर्भिन्धि] यजमानके लिये सोमरसको कूटकर निकालो । [ये इमां पृतन्यवः] जो इस प्रजापर हमला करते हैं उनका [निजहि] नाश कर । [अवघ्नती उद्भरन्ती प्रजा ऊर्ध्वं उदूह] कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर [सकृतौ ग्रावाणौ हस्ते गृहाण] उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले । [यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आ अगुः] पूज्य देव तेरे यज्ञमें आजावें । [यतमान् त्वं वृणीषे] जो तू मांगता है वे [त्रयः वराः] तीन वर हैं । [ताः समृद्धीः ते इह राधयामि] उन संपत्तियोंको तेरे लिये सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा पानस्थान है, और [इदं उ ते जनित्रं] यह तेरा जन्मस्थान है । [शूरपुत्रा अदितिः त्वां गृह्णातु] शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे । [ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि] जो सेनावाले शत्रु इन लोगोंको कष्ट देते हैं उनको दूर कर और [अस्यै सर्ववीरं रयिं नि यच्छ] इसको सर्व वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

[यूयं द्रुवये उपश्वसे सीदत] तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो । हे [यज्ञियासः] याजको ! आप [तुषैः विविच्यध्वं] तुषोंको पृथक् करें। हम [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समान जनोंसे धनसे श्रेष्ठ बनेंगे । और मैं [द्विषतः अधः पदं आपादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं ॥ १२ ॥

भावार्थ- ये सोमका रस निकालनेवाले पत्थर हैं । इनसे सोमका रस निकालो । जो सेना लेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको इस यज्ञमें बुला । जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न होगा उन वरोंको तुम प्राप्त होंगे ; और उससे यथेष्ट समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहां यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको परास्त कर और सर्व वीरोंसे युक्त धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुषोंको दूर फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो, सजातियोंको धनसंपत्तिसे युक्त करो और शत्रुओंको दबा दो ॥ १२ ॥

२ (अ. सु, भा. कां० ११)

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद् भराय ।
तासां गृह्णीताद् यतमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वाऽऽगन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः ।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाऽध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ- हे नारि ! [परा इहि] दूर जा और [पुनः क्षिप्रं एहि] फिर शीघ्र आ जा। [अपां गोष्ठः भराय त्वा अधि अरुक्षत्] जलोंका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है । [तासां यतमाः यज्ञियाः असन्] उनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके लिये योग्य जल हैं, उनका [गृह्णीतात्] स्वीकार कर और [धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे इतरोंको पृथक् करके छोड दे ॥ १३ ॥

[इमाः योषितः शुम्भमानाः आ अगुः] ये स्त्रियाँ सुशोभित होकर यहां आगई हैं। हे नारि ! [उत्तिष्ठ तवसं रभस्व] उठ और बलसे प्राप्त हो । तू [पत्या सुपत्नी] उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो, [प्रजया प्रजावती] उत्तम संतानसे प्रजावाली हो, [यज्ञः त्वा आ अगन्] यज्ञ तेरे पास पहुंचा है, [कुम्भं प्रति गृभाय] घडेका ग्रहण कर ॥१४॥

हे [आपः] जलो ! [यः वः ऊर्जः भागः पुरा निहितः] जो आपका बलवान् भाग पहिले रखा गया है, [ऋषिप्रशिष्टाः एता आभर] ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ । [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ आपके लिये [गातुवित् नाथवित् प्रजावित्] मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, [उग्रः पशुवित् वीरवित् अस्तु] उग्रता देनेवाला, पशु देनेवाला, और वीर बढानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! [यज्ञियः शुचिः तपिष्ठः चरुः त्वा अधि आरुक्षत्] यज्ञके योग्य, पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त अन्न तुझे प्राप्त हुआ है, अतः तू [एनं तपसा तप] इसको अपनी उष्णतासे तपा । [आर्षेयाः दैवाः तपिष्ठाः] ऋषियों और देवोंसे उत्पन्न तपनसामर्थ्य [इमं भागं अभिसंगत्य ऋतुभिः तपन्तु] इस अन्नभागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल तपावें ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्त्री अपने घरकेपास सब ओर घूमकर देखे । जलका स्थान जहां हो वहांसे जल भर लावे । जो जल उत्तम हो वही ले आवे । अन्य जल दूर रखे ॥ १३ ॥

स्त्रियां सुंदर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहें। स्त्रियां उत्तम पति प्राप्त करें, सुपुत्र उत्पन्न करें, घरका सौंदर्य बढावें और उत्तम जलसे घडे भर रखें ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढानेवाला हो वही लाया जावे । घर घरमें यजन होता रहे । यही मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्रजाकी उत्पत्ति करनेवाला, बल बढानेवाला, पशुओंकी वृद्धि करनेवाला, वीरभाव बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजस्विता बढानेवाला है, यह अन्न देवताओंको अर्पण किया जावे और इससे संगठित होकर अपना तपःप्रभाव बढावें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः ।
अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ १९ ॥

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः ।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ-[इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पूजनीय स्त्रियाँ [शुभ्राः आपः चरुं अवसर्पन्तु] और स्वच्छ जल इस अन्नके पास आजावें। [नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः] हमें संतान और उत्तम पशु देवें। [ओदनस्य पक्ता सुकृतां लोकं एतु] अन्नका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः] ज्ञानसे पवित्र और जलसे या घीसे पुनीत हुए [सोमस्य अंशवः तण्डुलाः] ये सोमके भाग जैसे चावल हैं। हे [आपः] जलो! [प्रविशत] तुम अन्दर प्रविष्ट हो जाओ, [वः चरुः प्रति गृह्णातु] तुम्हें यह अन्न प्राप्त हो, (इमं पक्त्वा सुकृतां लोकं एत] इसको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[उरुः महता महिम्ना प्रथस्व] बडा होकर बडे महत्त्वके साथ फैल जा। [सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके] हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज। [पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाः] पितामह, पितर, संतानें और उनकी संतानें ऐसा क्रम चले। [अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि] मैं पकानेवाला पन्द्रहवां होऊं ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः शतधारः अक्षितः) हजारों पीठोंवाला सैकडों धारोंवाला अक्षय [ब्रह्मौदनः देवयानः स्वर्गः] ज्ञान बढानेवाले अन्नसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है। [ते अमून् आदधामि] तेरे लिये इनको मैं धारण करता हूं। [एनान् प्रजया बलिहराय रेषय] इनको संतानके साथ कर देनेके लिये सिद्ध कर। वे सब [मह्यं एव मृडतात्] मुझेही सुखी करें। २०

[वेदिं उदेहि] वेदिको उठाओ, [एनां प्रजया वर्धय] इसकी प्रजासे उन्नति कर। [रक्षः नुदस्व] शत्रुओंको भगा दो, [एनां प्रतरं धेहि] इसको विशेष रीतिसे धारण कर। [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम] सब समानोंसे धनसे अधिक हम हों। [द्विषतः अधः पदं पादयामि] शत्रुओंको नीचे गिराता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ- ये स्त्रियां शुद्ध और पवित्र संमानके लिये योग्य हैं, ये उत्तम अन्न तैयार करें। हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों। उत्तम अन्नका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल उनके साथ मिले। सब मिलकर पकाया जावे। सब लोग इससे आनंद प्राप्त करें। १८

बडा महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो। पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिक्रमसे अखंड वंशका विस्तार होता रहे। हरएकको अपने पंद्रह वंशपुरुषोंका ज्ञान हो और वह कहे कि मैं फलानेसे पंद्रहवां हूं ॥ १९ ॥

यह अन्नही स्वर्ग है इस अन्नसे इस सबका धारण पोषण होता रहे। ये सब सुखकी वृद्धि करें और उनकी संतानें अन्योंसे कर लेनेवाली वीर बनें ॥ २० ॥

यज्ञ करो, प्रजाकी वृद्धि करो, शत्रुओंको दूर भगाओ, स्त्रियोंको धारण करो, स्वजातियोंको धनसे समृद्ध करके उनसेभी अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे ।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥ २३ ॥
अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु ॥ २४ ॥
शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥
सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान् ।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान् ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ—[एनां पशुभिः सह अभि आवर्तस्व] इस स्त्रीको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और [एनां देवताभिःसह प्रत्यङ् एधि] इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष मिलो। [त्वा शपथः मा प्रापत्] तुझे शाप न मिले। [अभिचारः मा] वध न प्राप्त हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपनी भूमिमें नीरोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन तष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हिता] मनसे रखी, [एषा ब्रह्म- ओदनस्य वेदिः] यह ज्ञान बढानेवाले अन्नकी वेदी [अग्रे विहिता] आगे बनाई है। हे नारि! [शुद्धां अंसद्रीं उपधेहि] शुद्ध थालीको ऊपर रख, और [तत्र- दैवानां ओदनं सादय] वहां देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृतः सप्त-ऋषयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अदितेः हस्तां यां एतां द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्] अदिति-माताका दूसरा हाथ जैसा यह चमस बनाया है। [सा दर्विः ओदनस्य गात्राणि विदुषी] वह कडछी अन्नके भागोंको जानती हुई [एनं वेद्यां अधि चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[त्वा शृतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठें। [अग्नेः निः सृप्य पुनः एनान् प्रसीद] अग्निसे चलकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमेन पूतः ब्रह्मणां जठरे सीद] सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें जा, [ते प्राशितारः आर्षेयाः मा रिषन्] तेरा प्राशन करनेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम! [यतमे सुब्राह्मणाः त्वा उपसीदन्) जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठेंगे, [एभ्यः संज्ञानं आवप] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः अधिजातान् आर्षेयान् ऋषीन्] तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्र ऋषिजनोंको [ब्रह्मौ- दने सुहवा जो हवीमि] ज्ञान बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने योग्योंको भी बुलाता हूं॥ २६ ॥

भावार्थ-देवता और गौ आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रखो, शाप तुम्हें कष्ट न दें। वधसे तुम्हें दुःख न हो, अपनी मातृभूमिमें नीरोग होकर विराजते रहो ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥

जगत् बनानेवाले सप्त-ऋषियोंने यह कडछी निर्माण की है। इस कडछीसे बारंबार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥

अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर, उससे वे प्रसन्न हों, सोमके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और खानेवाले पुष्ट हों ॥ २५

जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको सोम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषिजनोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥
इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ २८ ॥
अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम् ।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम् ॥ २९ ॥
श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ॥ ३० ॥ (३)
बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

अर्थ– [इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं। इनको [ब्रह्मणां हस्तेषु पृथक् प्रसादयामि] ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूं। [यत्कामः अहं वः इदं अभिषिञ्चामि] जिस कामनासे मैं तुम देवताओंके उद्देश्यसे यह देता हूं, [मरुत्वान् सः इन्द्रः मे इदं ददात्] मरुतोंके साथ रहनेवाला वह इन्द्र मुझे वह देवे ॥ २७ ॥

[इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्वं अमृतं ज्योतिः] यह सुवर्ण मेरे खेतसे पका हुआ अमर तेज ही है । [एषा मे कामदुघा] यह मेरी इच्छाके अनुसार दुही जानेवाली गौ है । [ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूं [यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूं ॥ २८ ॥

[जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वप] जातवेद अग्निमें तुषोंको डाल, [कंबूकान् दूरं अपमृड्ढि] छिलकोंको दूर फेंक दो, [एतं गृहराजस्य भागं शुश्रुम] यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं। [अथो निर्ऋतेः भागधेयं विद्म] इससे विपरीत अधोगतिका भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[श्राम्यतः पचतः सुन्वतः विद्धि] परिश्रमी, अन्न पकानेवाले और औषधिरस निकालनेवालोंको तू जान। [एनं स्वर्गं पन्थां अधिरोहय] इसको स्वर्गके मार्गपर चढाओ। वह [येन परं वयः आपद्य] जिससे परम आयुको प्राप्त होकर [उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्] उत्तम स्वर्गरूप परम आकाशपर आ पहुंचे ॥ ३० ॥

हे अध्वर्यु ! [बभ्रेः एतत् मुखं विमृड्ढि] इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर। [प्रविद्वान् आज्याय लोकं कृणुहि] जानता हुआ घीके लिये स्थान बना। [घृतेन सर्वा गात्रा विमृड्ढि] घीसे सब गात्र स्वच्छ कर। [यः स्वर्गः पंथां पितृषु कृण्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थ– शुद्ध पवित्र संतानयोग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय। अर्थात् एक एक ब्राह्मण एक एक स्त्रीका पाणिग्रहण करे। जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह खेतमें पका हुआ उत्तम धान्य है। यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूं। यह स्वर्गका ही मार्ग है ॥ २८ ॥

अग्निमें तुषोंको रख और छिलकोंको दूर फेंक। केवल उत्तम धान्य घरका राजा है, उसको सुरक्षित रख। अन्यथा विनाशका समय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो, अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो, इससे स्वर्गसुख मिलेगा, आयु बढेगी और श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

बर्तन स्वच्छ करके उसमें घी भरकर रखो। घीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

वभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा य_मे त्वोपसीदान् ।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ १२ ॥
आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥ १३ ॥
यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ १४ ॥
वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ १५ ॥
समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् ।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ १६ ॥
येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ १७ ॥ (४)

अर्थ- हे [बभ्रे] बर्तन! [यत्र मे ब्राह्मणाः त्वा उपसीदान्] जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं [एभ्यः स-मदं रक्षः वापय] इन सबसे घमंडवाले राक्षसोंको भी दूर कर। [ते प्राशितारः पुरीषिणः] तेरेमेंसे प्राशन करनेवाले अन्नवाले [प्रथमानाः आर्षेयाः पुरस्तात् मा रिषन्] यशस्वी ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ॥ १२ ॥

हे [ओदन अन्न] ! [आर्षेयेषु त्वा निदधे] ऋषिपुत्रोंमें तुम्हें रखता हूं। [अनार्षेयाणां अपि अत्र न अस्ति] जो ऋषिसंतान नहीं हैं उनका भाग यहां नहीं है। [मे गोप्ता अग्निः] मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है। [सर्वे मरुतः विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु) सब मरुत् और सब देव इस परिपक्वकी रक्षा करें ॥ १३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदं इत्) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्ध; (रयीणां सदनं धेनुं) संपत्तिका घर ऐसी गौ है। (त्वा पुमांसं) तुझ पुरुषके पास (पोषैः प्रजाऽमृतत्वं उत दीर्घं आयुः) पुष्टियोंसे प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु (रायः च उप सदेम) और धन लेकर आते हैं ॥ १४ ॥

(वृषभः असि) तू बलवान् है, तू (स्वर्गः असि) सुखदायक है। (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा,(सुकृतां लोके सीद) पुण्यवानोंके स्थानमें रह। (तत्र नौ संस्कृतं) वह हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! (सं आ चिनुष्व) संगठन कर, (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर जा। (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर। (एतैः सुकृतैः सप्तरश्मौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ सात किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जायेंगे ॥ १६ ॥

[येन ज्योतिषा देवाः द्यां उदायन्] जिस ज्योतिसे देव स्वर्गको पहुंचे, (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) ज्ञान बढानेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [तेन स्वः आरोहन्तः] उससे स्वर्गपर चढते हुए (उत्तमं नाकं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेष्म) प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थ- जो ब्राह्मण आवेंगे उनसे शत्रुओंको दूर भगा दो। उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो, जिससे वे पुष्ट हों ॥ १२ ॥
ब्राह्मणोंको अन्न दो, यहां दूसरोंका काम नहीं है। इससे सबकी रक्षा होगी ॥ १३ ॥
गौ सब संपत्तियोंका घर है, इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ १४ ॥
बलवान् बनो, स्वर्ग प्राप्त करो, ऋषियोंके पीछे चलो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ १५ ॥
संगठन करो,अनुकूल बनो, देवमार्गोंसे जाओ, सुकृत करो, सूर्यकिरणोंके स्थानमें रहो,यज्ञ करो,यही सुखदायक मार्ग है१६
तेजके साथ पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्गपर चढो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ १७ ॥

ज्ञान बढानेवाला अन्न।

ब्रह्मका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको ब्रह्मौदन कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल, उत्तम दूध, सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिवर्धक औषधियों-के रस इसमें संमिलित होते हैं, इससे ज्ञानकी बुद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है, क्योंकि इससे वीर्यकी वृद्धि होनेके कारण गृहस्थसुखकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है.।

गृहस्थियोंको सुप्रजा निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। उसके लिये स्त्रियोंको "पुत्रकामा अदिति" का आदर्श पालन करना चाहिये। सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भाव हटाना चाहिये। घरमें और अपने राज्यमें अदीन होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्य-स्त्रियोंके संमुख है। उसमें केवल सत्पुत्रोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो, उनकी बुद्धि विकसित हो एतदर्थ वह पर्याप्त परिश्रम करती है। यही आदर्श आर्यस्त्रियोंको अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे सब जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्वोंके वाचक हैं जो सब विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विज्ञान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक बार आ गया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि यज्ञके लिये अग्नि प्रदीप्त करो, द्रोहरहित भाषण करो। यह वाग्यज्ञ है और दूसरा हवनयज्ञ है। इन दोनों यज्ञोंसे मानवोंकी उन्नति होती है। द्रोह न करना ही बडाभारी यज्ञ है। इन सब प्रकारके यज्ञोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो [पृतनाषाट् सुवीरः] समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

शत्रुओंको परास्त करना।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके बिना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारी-रिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसलिये वेद यहां शत्रुनिर्दलनपर इतना जोर दे रहा है। पाठक इसका विचार करें, और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय अजनिष्ठाः) मनुष्य बडा पुरुषार्थ करनेके लिये यहां उत्पन्न हुआ है। पुरुषार्थ कर-के अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे। और (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहां वेद-का महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेको नहीं कहता, परंतु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करनेको भी कहता है, क्योंकि वीरताके बिना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकेगा।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि यज्ञके योग्य देवोंको यज्ञमें बुलाओ। यहां सहायकोंको और सम्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है। जैसे (सातघ्नो देवान् निषेध। अथर्व. ३। १५। ५) लाभका नाश करनेवाले देवोंका निषेध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोध-कोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अन्नमें देवों, पितरों और मानवोंका भाग होता है। वह जिसका उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका भाग दूसरेको देना उचित नहीं, वही अन्याय और अधर्म है। मनुष्य अपने अन्नमेंसे इनका भाग इनको देवे और पश्चात् शेषका स्वयं भोग करे।

षष्ठ मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सहस्वान्) बलवान बने, सशक्त बने, [अभिभूः] शत्रुका पराभव करनेवाला बने । और [सपत्नान् नीचः न्युब्ज] शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे, उनको उठने न दे, इतनाही नहीं परंतु उनको [बलिहृतः] करभार देनेवाले बनावे । अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें । इतनी शक्ति इसको अपने अंदर बढानी चाहिये।

सप्तम मंत्रमे [महते वीर्याय] बडा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है। तृतीय मंत्रमें यही बात कही थी, वह फिर यहां दुहराई है। क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बडाही ऊंचा है। [पयसा] दूध पीकर बलवान् बनना और बडा पराक्रम करना हरएकको उचित है। इसी तरह स्वर्गलोकका मार्ग खुल जाता है।

आगेके तीन मंत्रोंमें पत्थरोंद्वारा सोमरस निकालनेका वर्णन है। यह सोमरस सब प्रकारसे मनुष्योंका स्वास्थ्य बढानेवाला और उत्साह बढानेवाला है। यज्ञाग्निमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं। यह रस पिया जाता है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और भुने आटेके साथ मिलाकर भी खाते हैं। अनेक रीतिसे इस रसका सेवन किया जा सकता है।

शूरपुत्रा स्त्री।

ग्यारहवें मंत्रमें आदर्श स्त्री ' शूरपुत्रा ' होती है, ऐसा कहा है। स्त्रियोंको यह बात स्मरण रखनी चाहिये। पुत्र बडे शूर होने चाहिये। भीरु और डरनेवाले नहीं होने चाहिये। गृहस्थियोंको इस बातका ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि [सर्ववीरा रयि] सब वीरताके गुणोंके साथ धन प्राप्त करना गृहस्थीका धर्म है। वीर पुत्र होनेपरही सर्ववीर युक्त धन प्राप्त होना संभव हो सकता है।

बारहवें मंत्रमें दो मंत्रभाग मुख्य हैं। [श्रिया सर्वान् अतिस्याम] संपत्तिसे सबसे बढकर हों और [द्विषतः पदं अधः आपादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूं। आगे २१ वे मंत्रमें भी यही कहा है। संसारी मनुष्यको यही उपदेश सदा ध्यानमें धारण करने चाहिये। हरएक समय यही मार्ग मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये।

स्त्रियोंका कर्तव्य।

घरमें पानी भरना प्रथम कर्तव्य है। उत्तमसे उत्तम पानी घरमें भरना चाहिये। घडा लेकर उत्तम जल भरनेका यत्न स्त्री करे, स्त्रियां मिलकर पानी भरनेके लिये जाय। उत्तम जल घरमें लाना यह (वः ऊर्जः भागः) बल देनेवाला भाग है। संतान, पशु आदिके लिये इसकी बडी आवश्यकता होती है। यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है।

सोलहवें मंत्रमें (चरुः) चावल आदि अन्न पकानेकी आयोजना करनेका उत्तम उपदेश है. (ऋतुभिः) ऋतुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय। जिसका सेवन करके सब आयुके लोग सुदृढ और दीर्घायु बनें।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावें और अन्न पकावें, यज्ञमें उपस्थित हों, सबका आतिथ्यसत्कार करें, पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और घरकी सब सुव्यवस्था करें। किसी तरह न्यूनता रहने न दें।

अठारहवें मंत्रमें चावल, घी, सोमरस आदिसे उत्तम पक्व अन्न तैयार करनेका उपदेश है। उत्तम अन्न पकाना स्त्रियोंका मुख्य गृहकृत्यही है।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि पितामह, पिता, पुत्र आदि १५ पुरुषोंतक अविच्छिन्न वंश हो। घरमें ऐसा खानपान रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि, वंश बीचमें न टूटे, पुरुष दीर्घायु हों और अटूट वंश हो। पंद्रह पुरुषोंतक कमसे कम वंश अटूट रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छाही है, परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे। यह सब ब्रह्मौदन अर्थात् ज्ञान बढानेवाले अन्नसे होता है। ब्रह्मौदनका अर्थ बुद्धिवर्धक अन्न है। इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे यह सीधा मार्ग दीखता है। इससे मनुष्य (रक्षः नुदस्व) राक्षसोंको दूर कर सकता है और अपने आपको आगे बढा सकता है।

आगे बाईसवें मंत्रमें कहा है कि (शपथः अभिचारः मा प्रापत्) शापों और हमलोंसे यह दूर रहे। शरीरमें रोग न हों। सब प्रकारसे कुशलता रहे। पाठक जान सकते हैं कि शरीरकी नीरोगिता शरीर शुद्ध रहनेसे होती है. वाणीकी नीरोगिता शाप गालियाँ आदि न होनेसे होती है और समाजकी नीरोगिता वधादिके अपराध न होनेसे हो सकती है। शरीर, वाणी और समाज निरोग रहने चाहियें। यदि यह इच्छा है तो सर्वत्र निर्दोषता रखनी चाहिये। कुपथ्यसे शरीरमें रोग होते हैं, अपशब्दोंसे वाणी रोगी होती है और अपराधकी वृत्तिसे समाज रोगी होता है।

पाठकोंको उचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखने का यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बतायी है । चोबीसवें मंत्रमें कडछीका उपयोग करके चावलोंको ठीक करनेको कहा है । पचीसवें मंत्रमें कहा है कि—

प्राशितारः मा रिषन् ।

अन्न भक्षण करनेवाले कृश या रोगी न हों। अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जांय । पकानेवालेका यही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खाय और हजम करें और पुष्ट हों । ऐसा अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाना चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । स्त्रियां (शुद्धाः पूताः योषितः यज्ञियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह वाक्य यहां बहुतही महत्त्व रखता है । स्त्रियोंकी निंदा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये। जहां इनकी पूजा होगी वहां पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उच्चता साध्य होगी । यह वर्णन स्त्रियोंका दर्जा समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन स्त्रियोंका विवाह ज्ञानियोंके साथ करना चाहिये । (ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि) ज्ञानियोंके हाथमें पृथक् पृथक् एक एकके हाथमें एक एककी देना योग्य है । एक पुरुष अनेक स्त्रियां न करें, एक स्त्री अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे । एक स्त्री एकही पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एकही स्त्री के साथ आनंदके साथ रहे । यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहां अति संक्षेपके साथ किया है । इस मंत्रका ' पृथक् ' शब्द बडा महत्त्वका है । इसी शब्दके कारन विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अठ्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें ' कामधेनु ' (कामदुघा) रखनी चाहिये यह आदेश है। घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है । घरमें छोटे बालक, वृद्ध और रोगी होंगे, उनका पालन इस गौके दूधसे होगा । इस गोमाताका यह महत्त्व है। गृहस्थियोंको तीन बातोंका ख्याल करना चाहिये । (ज्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है, गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पडता है । सबही दैनिक और सार्वकालिक व्यवहार धनसे साध्य होते हैं । अमृत नाम मोक्षका है, यही अमरत्व है। सब जगत् मृत्युसे घेरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोडकर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यहां व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृण्वे) स्वर्गीय मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पहलू हैं। धन यहांके सुखके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहांके सम्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वरूप यहां पाठक देखें ।

गृहराज ।

उनतीसवें मंत्रमें ' गृहराजस्य भागं ' गृहराजके कार्यभागका वर्णन है । गृहराज घरका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें कौनसा कार्य होना चाहिये ? तुषों और छिलकोंको अलग करके स्वच्छ चावलोंको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । छिलकोंको हटाना और सारद्रव्यको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम सिद्धिका यही एकमात्र नियम है। पढाईमें भी देखिये तत्त्वज्ञानको स्वीकारना चाहिये, कच्चे ग्रंथोंको दूर हटाना चाहिये ।

एक भाग निर्ऋतिका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिका होता है । विनाश करनेवाले भागको दूर करो और उन्नतिके भागको अपने पास रखो, यही सीधा सादा नियम है । जो इसको पकडेंगे वे उन्नत होंगे इसमें संदेहही नहीं है ।

(श्राम्यतः, पचतः, सुन्वतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले, पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं, इसको जानो । परिश्रम करनेसेही मानवोंकी उन्नति होती है, अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये, परिपक्व बनना भी चाहिये । हरएककी परिपक्व अवस्था उत्तम होती है, वही प्राप्त करनी चाहिये, तथा रसग्रहण करनेका यत्न करना चाहिये । वनस्पतिमें सारभूत रस होता है, उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये । यह उपदेश व्यापक

दृष्टिसे विशेषही उपयोगी है। स्वर्गपर चढनेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्त्वके हैं।

(घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि) घीसे सब गात्रोंकी मालिश करो। शरीरावयवोंकी सुस्थितिके लिये घीकी मालिश आवश्यक है। घीकी मालिश पावोंके तलोंपर करनेसे आंख उत्तम अवस्थामें रहते हैं, संधिस्थानोंपर मालिश करनेसे संधिरोग नहीं होते, सिरपर मालिश करनेसे मस्तिष्क शान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवयवोंपर मालिश करनेसे अनेक लाभ होते हैं। इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे घृतको सुसंस्कृत करनेसे घीके गुण बढ जाते हैं। जैसा ब्राह्मी घृत बनानेसे उसकी मस्तकपर मालिश बुद्धिसहायक और गर्मी हटानेवाली होती है इसी तरह आमलकयादि घृत तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। इनकी शरीरपर मालिश बडी लाभदायक है। यह बात इकत्तीसवें मंत्रमें कही है।

पोषक अन्न।

अन्न घर घरमें पकाना चाहिये, वह पोषक अन्न होना चाहिये (प्राशितारः मा रिषन्) उस अन्नको खानेवाले कभी दुखी नहीं होने चाहिये, कभी हिंसित नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये। ऐसा अन्न गृहस्थीके घरमें पकाया जावे यह सूचना ३२ वें मंत्रमें की है।

जो अन्न परिपक्क किया हो वह (आर्षेयेषु निदध्मे) ऋषि-प्रणालीके अनुसार चलनेवालोंके लिये समर्पित करना चाहिये। न कि (न अनार्षेयाणां) ऋषिप्रणालीको छोडनेवालोंको कुछ समर्पण करना है। ऋषिप्रणालीको संजीवित रखनेके लिये ही हरएकको प्रयत्न करना चाहिये।

घर कैसा हो !

घर ऐसा हो कि जहां (यज्ञं दुहानं) सदा यज्ञ होते रहें, (सदनं रयीणां) ऐश्वर्योंका स्थान हो, (प्रपीनं सदं) पुष्टि और समृद्धिका केन्द्र हो, (पांथैः प्रजाअमृतत्वं) अनेक पुष्टिके साधनोंके साथ प्रजाजनोंको अमृतत्व देनेवाला हो। जहां (धेनुं) गौ होती हो और धनसंपत्तियोंके साथ [दीर्घ आयुः] दीर्घायु लोग हों, घर ऐसा हो। घरमें ये बातें रहें। घरमें धनकी कमी न हो, ऐश्वर्य की समृद्धि हो, गौवें दूध देनेवाली हों, हरएक हृष्टपुष्ट हो, सत्कारसंगतिज्ञानात्मक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुखी कहीं न हो। यह उपदेश ३४ वें मंत्रमें है।

३५ वें मंत्रमें [वृषभः असि] तू बलवान् है, तू निर्बल नहीं है, तू (स्वर्गः असि) स्वर्गका अधिकारी है, तू सुखात्मक स्थानका अधिकारी है। अतः जिस मार्गसे ऋषिलोग गये और जिस मार्गसे ऋषियोंको सुखसे स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तू आ। वही सुकृतियोंका लोक है, वहां जाकर रह, हमारी संस्कृतिका वही ध्येय है।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुदृढ कर, वे ही मार्ग तुम्हारे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुकृतैः यज्ञं अनुगच्छेम) इन सुकृतोंके साथ हमको यज्ञकी ओर जाना चाहिये। सुकृत करते करते आगे बढना चाहिये। सुकृत करनेमें पीछे हटना उचित नहीं है। सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो। मनुष्य उससे पीछे न रहे।

आज जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे तेजस्वी बने हैं। अतः मनुष्यको इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठकोंको सन्मार्ग सुस्पष्ट रीतिसे दीख सकता है।

रुद्र-देव।

[२]

[ऋषिः— अथर्वा। देवता-भव-शर्व-रुद्र]

भवाशर्वौ मृडतं माऽभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥
शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त ॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥
पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥
मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥
अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायां आस्याय ते।। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे [भवाशर्वौ] भव और शर्व! हे उत्पादक और संहारक! आप दोनों [मृडतं] हम सबको सुखी करें। [माऽभियातं] हमपर हमला न करें। आप दोनों [भूतपती, पशुपती] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं। [वां नमः] आप दोनोंको नमस्कार है। [प्रतिहितां आयतां मा वि स्राष्टं] धनुषपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोडें, [नः द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं] हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंकी हिंसा न करें ॥ १ ॥

जो [कृष्णाः अविष्यवः] काले और हिंसक कृमि हैं, उन (शुने क्रोष्ट्रे) कुत्ते और गीदडोंके लिये तथा (अलिक्लवेभ्यः गृध्रेभ्यः) कहर शब्द करनेवाले गीधोंके लिये (शरीराणि मा कर्त) शरीरोंको मत काटो। हे [पशुपते] पशुओंके पालक! [ते मक्षिकाः ते वयांसि] तेरी मक्खियां और कौवे (विघसे मा विदन्त) खानेके लिये उन कटे शरीरोंको न प्राप्त करें, अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे (भव) सबके उत्पत्तिकर्ता देव! [ते क्रन्दाय प्राणाय] तेरे शब्दरूपी प्राणके लिये नमस्कार हो। [ते याः रोपयः] तेरे जो शक्तिभाव हैं, हे [अमर्त्य रुद्र] अमर रुद्रदेव! [सहस्राक्षाय ते नमः कृण्मः] सहस्र नेत्रवाले तुझ देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधरात् नमः कृण्मः) तुझे आगेसे ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं। [अभीवर्गात् दिवः परि-अन्तरिक्षाय ते नमः] सब ओरसे द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते! हे भव! (ते मुखाय नमः] तेरे मुखके लिये नमस्कार है। (यानि ते चक्षूंषि) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है। तेरे (त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय नमः) त्वचारूप, दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अंगेभ्यः उदराय जिह्वायै आस्याय) तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, (ते दद्भ्यः गंधाय नमः) तेरे दांतोंके लिये और गन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

अश्वा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना । रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः ।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्व१न्तरिक्षम् ।
तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमनु ॥ १० ॥ (५)

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन् ।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः ॥ १२ ॥

अर्थ(नीलशिखण्डेन वाजिना अश्वा) नील शिखावाले बलवान् अश्वसे (सहस्राक्षेण अर्धकघातिना रुद्रेण) हजारों आंखों-वाले सबके विनाशक रुद्रसे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(सः भवः विश्वतः नः परिवृणक्तु) वह उत्पत्तिकर्ता सब ओरसे हमें सुरक्षित रखे। (आप इव अग्निः) जल जैसे अग्निको घेरता है, वैसाही (भवः नः परिवृणक्तु) उत्पत्तिकर्ता हमें घेर रखे। (नः मा अभि मांस्त) हमे नष्ट न करे, (अस्मै नमः अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! (भवाय चतुः अष्टकृत्वः नमः) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार बार तथा आठ बार नमस्कार हो। [ते दशकृत्वः नमः] तेरे लिये दसवार नमस्कार हो।(इमेपञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पांच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गावः) गौवें, (अश्वाः) घोडे,(पुरुषाः) पुरुष, (अजावयः) बकरियां और भेडें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिशः) तेरी ये चारों दिशाएं हैं, (तव द्यौः, तव पृथिवी) तेरा द्यु और पृथ्वी लोक है, (तव इदं उग्र उरु अन्तरिक्षं) तेरा ही यह बडा तेजस्वी अन्तरिक्ष है। (इदं सर्वं आत्मन्वत् तव) तेराही यह सब चेतनावाला है, (यत् पृथिवीं अनु प्राणत्) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ (५)

(यस्मिन् इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह (वसुधानः अयं उरुः कोशः) वसुओंका निवासस्थानरूप यह विश्वरूपी बडा कोश (तव) तेराही है। हे (पशुपते) पशुपालक ! (सः नः मृड, ते नमः) वह तू हमे सुख दे, तेरे लिये नमस्कार हो। (क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः परः) सियार, गीदड, कुत्ते सब दूर हों। (अघरुदः विकेश्यः) बुरे स्वरसे रोनेवाली बालोंको खोलकर चिल्लानेवाली स्त्रियां भी दूर हों, अर्थात् ये शोकके प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

हे (शिखंडिन्) कलगी धारण करनेवाले ! तू [सहस्रघ्नि शतवधं हिरण्ययं हरितं धनुः बिभर्षि) हजारोंका नाश करनेवाला, सैकडोंका वध करनेवाला, सुवर्णमय धातुका धनुष्य धारण करता है। (रुद्रस्य इषुः देवहेतिः चरति) रुद्रका बाण देवोंका शस्त्र विचरता है, वह (इतः यतमस्यां दिशि) जिस दिशामें हो, (तस्यै नमः) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति । पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥१३॥
भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय । ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः ॥१४॥
नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥१५॥
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥
सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥१७॥
श्यावाश्वं कृष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं केशिनः पादयन्तम् । पूर्वे प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥१८॥
मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।
अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥
मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः । मा त्वया समरामहि ॥२०॥ (९)
मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु । अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥२१॥

अर्थ—हे रुद्र ! (यः अभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है, (विद्धस्य पदनीः इव) घायलके पदक्षेपके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुंक्षे) उसके पीछेसे तू उसका बदला लेता है ॥ १३ ॥

(भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ) उत्पत्ति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले ज्ञानी हैं। (उभौ उग्रौ वीर्याय चरतः) ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं। (इतः यतमस्यां दिशि) वे यहांसे जिस दिशामें हों वहां (ताभ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [आयते परायते तिष्ठते आसीनाय] आनेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ते नमः] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः] शामको सवेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [भवाय शर्वाय च उभाभ्यां नमः अकरं] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥

[सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं] सहस्रनेत्र ज्ञानी बहुत प्रकारसे शस्त्र फेंकनेवाले रुद्रको [पुरस्तात् अतिपश्यं] आगे देखता हूं। [ईयमानं जिह्वया मा उपाराम] उस गतिमान्‌को हम अपनी जिह्वासे वर्जित न करें ॥ १७ ॥

[श्यावाश्वं कृष्णं असितं मृणन्तं] अश्वयुक्त, आकर्षक, बन्धनरहित, दुःखदायी [भीमं केशिनः रथं पादयन्तं] किरणोंवालोंके बडे भारी रथको भी परास्त करनेवाले [पूर्वे प्रतीमः] पहिले प्राप्त करते हैं और [अस्मै नमः अस्तु] इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [मत्यं देवहेतिं नः मा अभिस्राः] जानबूझकर फेंका हुआ देवोंका शस्त्र हमारे पास न आवे। [नः मा क्रुधः, ते नमः] हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो। [अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु] हमसे दूर दिव्य शाखाको फेंक ॥ १९ ॥

[नः मा हिंसीः] हमारी हिंसा न कर, [नः अधि ब्रूहि] हमें उपदेश कर, [नः परिवृङ्ग्धि] हमारी रक्षा कर, [मा क्रुधः] क्रोध न कर, [त्वया मा समरामहि] तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥ (९)

हे [उग्र] उग्रवीर ! [नः गोषु पुरुषेषु अजाविषु मा गृधः] हमारी गौवें, मनुष्य, भेड, बकरियोंके विषयमें आक्रमण न कर। (अन्यत्र विवर्तय) दूसरे स्थानपर भयको लेजा। [पियारूणां प्रजां जहि] हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥ २१ ॥

यस्य॑ तुक्मा कासि॑का हेतिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः क्रन्द॒ एति॑ ।
अभिपूर्वं॑ निर्णयते नमो॑ अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

यो॒३॒ऽन्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन् दे॑वपी॒यून् । तस्मै॒ नमो॑ द॒शभि॒: शक्व॑रीभिः॥२३॥

तुभ्य॑मार॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ता हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि ।
तव॑ य॒क्षं प॑शुपते अ॒प्स्व१॒॑न्तस्तुभ्यं॑ क्षरन्ति दि॒व्या आपो॑ वृ॒धे ॥ २४ ॥

शिं॒शु॒मारा॑ अजग॒राः पु॑री॒कया॑ ज॒षा मत्स्या॑ रज॒सा येभ्यो॑ अस्य॑सि ।
न ते॑ दू॒रं न प॑रि॒ष्ठास्ति॑ ते भव स॒द्यः सर्वा॒न् परि॑
पश्यसि॒ भूमिं॒ पूर्व॑स्माद्धंस्युत्त॑रस्मिन्त्समु॒द्रे ॥ २५ ॥

मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा नः॒ सं स्रा॑ दि॒व्येना॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् वि॒द्युतं॑ पातयै॒ताम् ॥ २६ ॥

भ॒वो दि॒वो भ॒व ई॑शे पृथि॒व्या भ॒व आ प॑प्र उ॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम् ।
तस्मै॒ नमो॑ यत॒म यां दि॒शी३॒॑तः ॥ २७ ॥

अर्थ-[यस्य तक्मा कासिका हेतिः] जिसके हथियार क्षयज्वर और खाँसी हैं, [वृषणः अश्वस्य क्रन्दः इव एकं एति] बलवान् घोडेके हिनाहिनानेके स्वरके समान निःसन्देह एक पुरुषपर जिसका हथियार जाता है, [अभि पूर्वं निर्णयते] जो पहिलेही निश्चय करता है, [अस्मै नमः अस्तु] इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

[यः अन्तरिक्षे विष्टभितः तिष्ठति] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [अयज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्] यज्ञ न करनेवाले देवोंके द्वेषकोंका नाश करता है, (तस्मै दशभिः शक्वरीभिः नमः] उसको दश शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरण्याः पशवः वने हिताः मृगाः) अरण्यमें उत्पन्न जंगलोंमें रहनेवाले मृग आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि तुभ्यं) हंस गरुड शकुनि और अन्य पक्षीगण ये सब तेरेही है । हे पशुपते ! [तव यक्षं अप्सु अन्तः] तेरा पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है, (तुभ्यं दिव्याः आपः वृधे क्षरन्ति) तेरे लिये दिव्य जल बढाईके लिये गिरते हैं ॥२४॥

[शिंशुमाराः अजगराः पुरीकयाः] घडियाल, अजगर, कछुए, (जषाः मत्स्याः रजसा येभ्यः अस्यसि) मछलियाँ और जलजन्तु मलिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र फेंकता है । इनमेंसे (न ते दूरं, न ते परिष्ठाः) दूर कोई नहीं है, न कोई तेरेसे भिन्न स्थानपर है, तू तो (सर्वान् सद्यः परिपश्यसि) सबको एकही बार देखता है, और (पूर्वस्मात् उत्तरस्मिन् समुद्रे भूमिं हंसि] पूर्वसे उत्तर समुद्रतक व्यापनेवाली सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! (तक्मना नः मा संस्राः] ज्वरसे हमें पीडा न हो, (विषेण मा) विषबाधा न हो, [दिव्येन अग्निना मा] दिव्य अग्निसे कष्ट न हों। [अस्मात् अन्यत्र एतां विद्युतं पातय) हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

[भवः दिवः ईशे] भव द्युलोकका ईश्वर है, [भवः पृथिव्याः] भव पृथ्वीका स्वामी है। [भवः उरु अन्तरिक्षं आपप्रे] भव बडे अन्तरिक्षमें व्यापक है। वह (इतः यतमस्यां दिशि तस्मै नमः] यहांसे जिस दिशामें हो वहां हमारा नमस्कार उसके लिये है ॥ २७ ॥

भव॑ राजन् यज॑मानाय मृड प॒शूनां॒ हि प॑शु॒पति॑र्ब॒भूथ॑ ।
यः श्र॒द्दधा॑ति॒ सन्ति॑ दे॒वा इति॒ चतु॑ष्पदे द्वि॒पदे॒ऽस्य मृड ॥ २८ ॥
मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा नो॒ वह॑न्तमु॒त मा नो॑ वक्ष्य॒तः ।
मा नो॑ हिंसीः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॒ स्वां त॒न्वं॑ रुद्र॒ मा री॑रिषो नः ॥ २९ ॥
रु॒द्रस्यै॑लबका॒रेभ्यो॑ऽसंसूक्तगि॒लेभ्यः॑ । इ॒दं म॒हास्ये॑भ्यः॒ श्वभ्यो॑ अकरं॒ नमः॑ ॥ ३० ॥
नम॑स्ते घोषि॒णीभ्यो॒ नम॑स्ते के॒शिनी॑भ्यः । नमो॒ नम॑स्कृताभ्यो॒ नमः॑ संभु॒ञ्जतीभ्यः॑ ।
नम॑स्ते देव॒ सेना॑भ्यः स्व॒स्ति नो॒ अभ॑यं च नः ॥ ३१ ॥(७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ-हे [राजन् भव] उत्पादक देवराज ! [यजमानाय मृड] यजमानको सुखी कर, [पशूनां पशुपतिः हि बभूथ] तू पशुओंका स्वामी हो। [यः श्रद् दधाति) जो श्रद्धा रखता है, [देवाः सन्ति इति] देवताएं हैं ऐसा मानता है, [अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड) उसके द्विपाद और चतुष्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[नः महान्तं मा हिंसीः] हमारे बडोंकी हिंसा न कर, [नः अर्भकं मा] हमारे बालकोंकी हिंसा न कर, [नः वहन्तं मा] हमारे समर्थ पुरुषकी हिंसा न कर, [नः वक्ष्यतः मा) हमारे बलवान बननेवालोंकी हिंसा न कर । [नः पितरं मातरं च मा हिंसीः] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [नः स्वां तन्वं मा रीरिषः] हमारे शरीरोंको दुखी न कर ॥ २९ ॥

[रुद्रस्य ऐलबकारेभ्यः असंसूक्तगिलेभ्यः] रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले अस्पष्ट शब्द करनेवाले [महास्येभ्यः श्वभ्य] बडे मुखवाले कुत्तोंको [इदं नमः अकरं] यह नमस्कार करता हूं ॥ ३० ॥

हे देव ! [ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः] तेरी बडा शब्दघोष करनेवाली केश रखनेवाली, [नमस्कृताभ्यः संभुञ्जतीभ्यः] नमस्कारोंसे सत्कृत और उत्तम अन्नभोग करनेवाली [ते सेनाभ्यः नमः] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, [नः स्वस्ति अभयं च] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भयता हो ॥ ३१ ॥ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

भव और शर्वके सूक्तका आशय।

यह सूक्त " भव और शर्व " देवताके वर्णनपर है। कोई यहां यह न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं। ' भवाशर्वौ ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है, तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं। सर्व विश्वमें व्यापनेवाली एकही देवता है, वह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम ' भव ' है और वह सबका संहार करती है इसलिये उसी देवताका नाम 'शर्व' है।

पुराणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही रुद्र देवके हैं, वही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्यत्र भी जहां जहां भव शर्व आदिनाम आये हैं वहां ऐसाही अर्थ समझना योग्य है। इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व, पशुपति, आदि शब्द आये हैं, जो उस एकही परमेश्वरके वाचक हैं।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है। यहां सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एकही देवताके दो देव माने जा सकते हैं, तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरकी अनेक देवताएं मानना संभव है। वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर अधिष्ठित है। एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व करके यहां कहा है, यह देवता अपना मारण, हिंसन अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करती है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है — कुत्ते, गीदड, सियार, मक्खियां, कौवे, अन्न, शस्त्र, धनुष्य, बाण विद्युत्, अग्नि, ज्वर, क्षय ये मारणसाधन हैं। मक्खियोंको रुद्रके मारक साधनोंमें रखा है, यह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें। मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है। अतः रोगोंसे बचनेके लिये चारों ओर स्वच्छता करनी चाहिये जिससे मक्खियां न होंगी, और मनुष्य रोगोंसे बचेंगे। इसी तरह अन्यान्य मारणसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये। [मंत्र २ देखो]

आगे मंत्र ७ तक रुद्रके अंगप्रत्यंगोंको नमस्कार कहा है। यह एक मृत्यु देवताका उपासना प्रकार है। सातवें मंत्रमें रुद्रसे विरोध न हो ऐसी इच्छा प्रकट की है। यही भाव आगेके कई मंत्रोंमें है (मा समरामहि) येही शब्द आगेके कई मंत्रोंमें वारवार आगये हैं।

नवम मंत्रमें अनेकवार रुद्रके लिये नमन किया है। दशम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीनही संपूर्ण विश्व है। इसी कथनसे विश्वनियामक देवही मारकभावके मिषसे इस नाम से यहां कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एकही है।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं। यहां द्विवचन देखनेसे ये दो देव परस्पर भिन्न हैं। ऐसी कईयोंको शंका हो सकती है, परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न परंतु स्वरूपतः एक हैं, इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है। आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवको नमनही किया है। आगे तीन मंत्रोंमें मृत्यु दूर करनेकी प्रार्थना है।

तेईसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कहकर देवविरोधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है। यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है। आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारसे रहते हैं, वह देव सबको समदृष्टीसे देखता है और विघातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है।

सत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्का ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। यह मंत्र पढनेसे ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता। आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त (देवाः सन्ति) दैवीशक्तियां इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा जो (यः श्रद्धाति) श्रद्धापूर्वक मानता है वही सुखी होता है, यह कथन विशेष महत्त्वका है। इस जगत् का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियां इस विश्वमें कार्य कर रही हैं। यदि यह कल्पना पाठकोंको ठीक तरह हो जायगी, तो मनुष्यके दिव्य बन जानेमें कोई संदेह ही नहीं है।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है। इस प्रकार इस सूक्तका आशय है।

विराड् अन्न ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्वा । देवता--ओदनः)

(१) तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम् ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥ ७ ॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ॥ ८ ॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

अर्थ— (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उस अन्न का बृहस्पति सिर है, [ब्रह्म मुखं) ब्राह्मण मुख है ॥ १ ॥ (द्यावापृथिवी श्रोत्रे) द्यु और पृथ्वी कान हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्र आंखें हैं, (सप्तऋषयः प्राणापानाः) सात ऋषि प्राण और अपान हैं ॥ २ ॥ (मुसलं चक्षुः, उलूखलं कामः) मुसल दृष्टि है और उलूखल काम है ॥ ३ ॥ (दितिः शूर्पं) विभाग छाज है, [अदितिः शूर्पग्राही] अविभक्तता सूपको पकडनेवाली है, [वातः अपाविनक्] वायु तुषोंको पृथक् करनेवाला है ॥ ४ ॥ [कणाः अश्वाः] अन्न के कण घोडे हैं, [तण्डुलाः गावः] चावल गौवें हैं, [तुषाः मशकाः] तुष मशक मच्छर हैं, ॥ ५ ॥ [फलीकरणाः कब्रु] टुकडे ये रङ्ग हैं, [अभ्रं शरः] मेघ ही ऊपरका छिलका है ॥ ६ ॥ [श्यामं अयः अस्य मांसानि] काला लोहा इसके मास हैं, [लोहितं अस्य लोहितं] लाल लोहा इसका रक्त है ॥ ७ ॥ (त्रपु भस्म) टीन-कथिल इसका भस्म है, (हरितं वर्णः) हरा इसका वर्ण है, [पुष्करं अस्य गन्धः] पुष्कर इसका गन्ध है ॥ ८ ॥ (खलः पात्रं) खल इसका पात्र है, (स्फ्यौ अंसौ) दोनों स्फ्य नामक यज्ञपात्र कंधे हैं, [ईषे अनूक्ये] ईषा नामक साधन हंसली की हड्डी हैं ॥ ९ ॥ [जत्रवः आन्त्राणि] पसलियां आंतें हैं और [वरत्राः गुदाः] बैल जोतने के चर्म गुदा हैं ॥ १० ॥

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम् ॥ ११ ॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम् ॥ १२ ॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्योपसेचनम् ॥ १३ ॥
ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥
ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते ॥ १७ ॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे ॥ १८ ॥
ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥
तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥
यावद् दाताभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

अर्थ- [राध्यमानस्य ओदनस्य] पकाये जानेवाले चावलोंकी [इयं एव पृथिवी कुंभी भवति] यही भूमि देगची होती है, और [द्यौः अपिधानं] द्युलोक ढक्कन होता है ॥ ११ ॥ [सीताः पर्शवः] हल पसुलियां और [सिकताः ऊबध्यं] रेत और मलस्थान है ॥ १२ ॥ [ऋतं हस्तावनेजनं] सत्य ही हाथ धोनेवाला जल है, [कुल्या उपसेचनं] नहरें जलसिंचन हैं ॥ १३ ॥ [ऋचा कुंभी अधिहिता] ऋग्वेदमंत्र द्वारा देगची रखी गई है, [आर्त्विज्येन प्रेषिता] यजुर्वेदद्वारा हिलाई गई ॥ १४ ॥ [ब्रह्मणा परिगृहीता] अथर्ववेद द्वारा पकडी गई और [साम्ना पर्यूढा] सामवेदसे ढांकी गई है। ॥ १५ ॥ [बृहत् आयवनं, रथंतरं दर्विः] बृहत्साम मिलानेवाला है और रथन्तर साम कडछी है ॥ १६ ॥ [ऋतवः पक्तारः, आर्तवाः समिन्धते] ऋतु पकानेवाले हैं और ऋतुके दिन आग प्रदीप्त करते हैं ॥ १७ ॥ [पञ्चबिलं उखं चरुं घर्मः अभीन्धे] पांच मुखवाले देगचीमें रहनेवाले चावलको गर्मी उबालती है ॥ १८ ॥ इस [ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः] ओदनसे यज्ञद्वारा मिलनेवाले सब लोक प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥ [यस्मिन् समुद्रः द्यौः भूमिः त्रयः] जिसमें समुद्र द्युलोक भूमि ये तीनों [अवरपरं श्रिताः] ऊपर नीचे आश्रित हुए हैं ॥ २० ॥ [यस्य उच्छिष्टे षट् अशीतयः देवाः] जिसके शेष भागमें छः गुणा अस्सी देव [अकल्पन्त] समर्थ बने हैं ॥ २१ ॥ [त्वा ओदनस्य तं पृच्छामि] तुझसे मैं इस अन्नकी उस महिमा को पूछता हूं [यः अस्य महान् महिमा] जो इसका महान् महिमा है ॥ २२ ॥ [सः यः ओदनस्य महिमानं विद्यात्] वह जो इस अन्नकी महिमाको जानता है ॥ २३ ॥ वह [अल्पः इति न ब्रूयात्] थोडा है ऐसा न कहे, [अनुपसेचन इति न] जलके बिना है ऐसा भी न कहे, [इदं च किं इति न] यह थोडा है ऐसा भी न कहे ॥ २४ ॥ [यावत् दाता अभिमनस्येत तत् न अतिवदेत्] जितनी दाताकी इच्छा हो उसे अधिक न कहे ॥ २५ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् ।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा० । सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।० ०
॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजा मरिष्यती-
त्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥
ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैनं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा । अग्नेर्जिह्वया । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० ।०।०॥ ३६ ॥
ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा०।
ऋतुभिर्दन्तैः । तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम् । एष वा ० । ० ॥ ३७ ॥
ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह।
तं वा ० । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं ०। ०।० ॥ ३८ ॥
ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह
। तं वा ०। अन्तरिक्षेण व्यचसा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ।०।०॥ ३९ ॥
ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ॥
तं वा ०। दिवा पृष्ठेन । तेनैनं ०।०।०॥ ४० ॥

अर्थ - [याभ्यां च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिनसे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया था, उनसे भिन्न [ततः च एनं अन्याभ्यां अक्षिभ्यां प्राशीः] दूसरी आंखोंसे तूने इसका सेवन किया तो [अंधः भविष्यसि इति एनं आह] अन्धा हो जायगा ऐसा इसे कहे। [तं वा०... सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्यां ताभ्यां एनं० ...] उसका मैंने सूर्यचन्द्रमारूपी आंखोंसे सेवन किया है० ॥ ३४ ॥
[येन च एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्] जिससे इसका पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [ततः च एनं अन्येन मुखेन प्राशीः] दूसरे मुखसे प्राशन करेगा तो [मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति एनं आह] मुखसे तेरी संतान मरेगी ऐसा इसे समझा दो। [तं वा०... ब्रह्मणा मुखेन तेन एनं प्राशिषं तेन अजीगमं] उसका... मैंने ज्ञानके मुखसे सेवन किया और उससे इसको प्राप्त किया० ॥ ३५ ॥ (यया एतं पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्) जिससे पूर्वके ज्ञानियोंने प्राशन किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यया जिह्वया प्राशीः] दूसरी जिह्वासे इसका सेवन करोगे तो [जिह्वा ते मरिष्यति इति एनं आह] तेरी जिह्वा मरेगी ऐसा इसे कह। [तं वा० ... अग्नेः जिह्वया प्राशिषं०] उसका मैंने अग्निकी जिह्वासे प्राशन किया० ॥ ३६ ॥

जिनसे पूर्व ऋषियोंने उसका सेवन किया था उससे भिन्न [ततः च एनं अन्यैः दन्तैः प्राशीः] दूसरे अन्य दांतोंसे तूने इसका सेवन किया [दन्ताः ते शत्स्यन्ति इति०] तेरे दांत टूट जायंगे ऐसा इसे कहो। [तं०... ऋतुभिः दन्तैः०] उसका मैंने ऋतुरूपी दांतोंसे प्राशन किया था ॥ ३७ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्यैः प्राणापानैः प्राशीः] प्राण अपानोंसे तूने इसका स्वीकार किया तो तेरे प्राण और अपान तुझे छोड देंगे ऐसा कह। उसे मैंने [सप्तर्षिभिः प्राणापानैः०] सप्तऋषिरूप प्राण अपानसे मैंने सेवन किया था० ॥ ३८ ॥

जिससे इसको पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन व्यचसा प्राशीः] दूसरे अन्य प्राणोंसे प्राशन करोगे तो [राजयक्ष्मः त्वा हनिष्यति] राजयक्ष्मा तेरा नाश करेगा ऐसा इससे कह, [तं वा०... अन्तरिक्षेण व्यचसा तेन एनं प्राशिषं०..] उसे मैंने अन्तरिक्षरूप अन्तःप्राणसे सेवन किया और उससे प्राप्त किया० ॥ ३९ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने प्राशन किया उससे भिन्न दूसरे [पृष्ठेन०] पृष्ठभागसे तू प्राशन करेगा तो [विद्युत् त्वा हनिष्यति] बिजली तेरा नाश करेगी, ऐसा इसे कहो। [तं वा०... दिवा पृष्ठेन० ...] उसको मैंने द्युलोकरूपी पीठसे प्राशन किया० ॥ ४० ॥

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह । तं वा० पृथिव्योरसा ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४१॥

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा०। सत्येनोदरेण ॥ तेनैनं ०।०।० ॥४२ ॥

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येनं चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्सु मरिष्यसीत्येनमाह॥ तं वा०। समुद्रेण वस्तिना । तेनैनं ०।०।० ॥ ४३ ।

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा ०। मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् ॥ एष वा ०।०।० ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। स्रामो भविष्यसीत्येनमाह ॥ तं वा० । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् ॥ ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह । तं वा ० । अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।० ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा ० । सवितुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामेनं ०।०।०॥ ४७ ॥

अर्थ- जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उससे भिन्न [अन्येन उरसा] छातीसे सेवन करोगे तो [कृष्या न रात्स्यसि इति० ...] खेतीसे समृद्ध न होगा। [तं वै० ... पृथिव्या उरसा० ...] उसे मैंने पृथ्वीरूप छातीसे सेवन किया० ॥ ४१ ॥

जिसका पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन उदरेण०] दूसरे पेटसे तुम सेवन करोगे तो [उदरदारः त्वा हनिष्यति इति] पेटको फाडनेवाला अतिसाररोग तेरा नाश करेगा ऐसा इसे कहो। [तं वा० ... सत्येन उदरेण०।...] उसे मैंने सत्यरूप पेटके द्वारा सेवन किया० ... ॥ ४२ ॥

पूर्व ऋषियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्येन वस्तिना प्राशीः० ...] दूसरी बस्तिसे तूने सेवन किया तो तू [अप्सु मरिष्यसि] जलमें मरेगा । [तं वै० ... समुद्रेण वस्तिना० ...] उसका मैंने समुद्ररूपी बस्तिसे सेवन किया० ... ॥ ४३ ॥

जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः] दूसरी जंघाओंसे उसका सेवन करोगे तो [ते ऊरू मरिष्यतः] तेरी जंघाएं नष्ट हो जायगी, [तं वै० ... मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां प्राशिषं० —] उसका मैंने मित्रवरुणकी जंघाओंसे सेवन किया० — ॥ ४४ ॥ पूर्व ऋषियोंने जिससे इसका सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां अष्ठीवद्भ्यां प्राशीः] दूसरी जानुओंसे सेवन करोगे, तो तू [स्रामः भविष्यसि] लंगडा हो जायगा ऐसा इसे कहो। [तं वै० ... त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्यां] उसे मैंने त्वष्टाकी जानुओंसे सेवन किया० ... ॥ ४५ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां पादाभ्यां] दूसरे पावोंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] तुम्हें बहुत चलना पडेगा । [तं वै० ... अश्विनोः पादाभ्यां० ...] उसका मैंने अश्विदेवोंके पावोंसे सेवन किया० ... ॥ ४६ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया था उससे भिन्न [अन्याभ्यां प्रपदाभ्यां०] दूसरे पंजोंसे तूने सेवन किया तो [सर्पः त्वा हनिष्यति०] सांप तुझे मारेगा । [तं वै सवितुः प्रपदाभ्यां० ...] उसे सविताके पंजोंसे मैंने सेवन किया० ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा०। ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं०।०।०। ४८ ॥

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (९)

[२] एतद् वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते ॥ ५५ ॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)

अर्थ - जिनसे पूर्व ऋषियोंने सेवन किया उनसे भिन्न [अन्याभ्यां हस्ताभ्यां० ...] दूसरे हाथोंसे यदि तूने इसका सेवन किया तो [ब्राह्मणं हनिष्यसि०] तू ब्राह्मणका घात करेगा [तं वै० ... ऋतस्य हस्ताभ्यां० ..] इसे मैंने ऋतके हाथोंसे सेवन किया० ... ॥ ४८ ॥ जिससे पूर्व ऋषियोंने इसका सेवन किया था उससे [अन्यया प्रतिष्ठया प्राशीः० ...] दूसरी प्रतिष्ठासे तूने सेवन किया, तो [अप्रतिष्ठानः अनायतनः मरिष्यसि] तू प्रतिष्ठारहित आधाररहित होकर मरेगा ऐसा कहो। [तं० वै... सत्ये प्रतिष्ठाय तया एनं प्राशिषं०] सत्यमें प्रतिष्ठा प्राप्त होनेके लिये सेवन किया जिससे मैं सब अंगों और अवयवोंसे युक्त हुआ। जो यह जानता है वह भी सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होगा ॥ ४९ ॥ (९)

[यत् ओदनः एतत् वै ब्रध्नस्य विष्टपं] जो अन्न है वह सचमुच स्वर्गधाम है ॥ ५० ॥ [यः एवं वेद] जो ऐसा जानता है वह [ब्रध्नलोको भवति] स्वर्गलोकके लिये योग्य होता है, [ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते] स्वर्गलोकमें रहता है ॥ ५१ ॥ [एतस्मात् ओदनात् प्रजापतिः त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत] इस अन्नसे प्रजापतिने तैंतीस लोकोंका निर्माण किया ॥ ५२ ॥ [तेषां प्रज्ञानाय यज्ञं असृजत] उनके ज्ञानके लिये यज्ञका निर्माण किया ॥ ५३ ॥ [सः य एवं विदुषः उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि] वह जो इसको जाननेवालोंका निंदक होता है वह प्राणका नाश करता है ॥ ५४ ॥ [न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते] न केवल प्राणका ही नाश होता है, परंतु सब जीवनका नाश होता है ॥ ५५ ॥ (न च सर्वज्यानिं जीयते) सर्वस्वनाश [illegible] होता है ऐसा ही नहीं परंतु (जरसः पुरा एनं प्राणः जहाति) बुढापेके पूर्व इसको प्राण छोड जाता है ॥ ५६ ॥ (१०)

अन्नका महत्त्व।

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूक्तमें काव्यकी आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गधामका सुख देनेवाले हैं। संपूर्ण विश्व अन्नमय है। यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विश्वरूप है।

अन्न सेवन करना हो तो जैसा ऋषिलोग उसका सेवन किया करते थे वैसाही करना चाहिये, अन्यथा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूक्तमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें। इस सूक्तके प्रारंभमें तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय हैं। २७ वे मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

त्वं ओदनं प्राशीः त्वां ओदनः इति ? (२०)

"तूने इस अन्नका प्राशन किया अथवा इस अन्नने तेरा भक्षण किया ?" यह प्रश्न बडा ही विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं ? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा उपभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं ? कितना गंभीर प्रश्न है ! हरएक मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। क्या हो रहा है? मनुष्य भोगोंको खा रहे हैं। उन भोगोंको खानेमें कितनी शक्ति व्यय हो रही है ? इतनी शक्तिका व्यय करके मनुष्य भोगोंको भोग रहे हैं या वे भोगही मनुष्योंके जीवनको खा रहे हैं इसका कोई विचार नहीं करता ! कितना आश्चर्य है?

मनुष्यके अन्न वस्त्र गृह स्त्री राज्य धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके आनंद प्राप्त करे। परंतु होता है यह कि मनुष्य दुःखही बढ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण आशय है। पाठक विचार करें कि वेदने एक छोटे प्रश्नमें कितनी महत्त्वपूर्ण विचारधाराको चालना दी। जो विचार करेंगे और सोचेंगे उनके लिये यह प्रश्न जीवनका परिवर्तन करनेवाला है।

इस प्रश्नका उत्तर कैसा होना चाहिये, यह बात इसी सूक्तने कही है। मंत्रही उत्तर देता है—

न एव अहं ओदनं न मां ओदनः। (३०)

"न मुझे अन्नने खाया, न मैंने अन्नको खाया।" अर्थात् हम दोनोंने (मैंने और अन्नने) आपसमें एक दूसरेके साथ आनंदसे मिलके रहनेसे किसीका दूसरेपर बुरा प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा खाकर कम किया, अर्थात् आवश्यकताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पास भोग्य वस्तुओंका संग्रह करके दूसरोंसे वंचित रखा। और न ही अन्नने मुझे खाया, अर्थात् न अन्नही मेरे ऊपर सवार होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न साथसाथ रहे, एक दूसरेको सहायक हुए, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा बढाते रहे, एक दूसरेकी महिमा बढाते हुए जगत् का उपकार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उत्तरका विचार करें। क्या यह उत्तर पाठकोंके विचारमें सार्थ हो सकता है? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर घट रहा है या नहीं, इसका विचार पाठक ही करें। भोग और भोग लेनेवाला एक दूसरेके पास आवें, तो परस्परके उपकारक होने चाहिये, यह नियम यहां बना है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये। कितना उत्तम उपदेश है, इसका मनन पाठक करें। यही इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र सबकी एकरूपता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राशीत्। (३१)

"अन्नने ही अन्नको खाया है।" अर्थात् भोक्ता और भोग्य एकही तत्त्व है। जैसा भगवद्गीतामें कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्॥ (गी० ४।२४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।

मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गी० ९।१६)

"ब्रह्मही अर्पणद्रव्य है और ब्रह्मही अर्पणकर्ता है।" यह जो गीतामें कहा वह इसी मंत्रके आशयसे कहा, अथवा हम यों कह सकते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यहां समान हैं।

हम खानेवाले भी अन्नही हैं और हम जो खाते हैं वह भी अन्नही है। पाठक विचार करेंगे तो उनको यह बात समझमें आ सकती है कि मनुष्य भी अन्नही है। मनुष्यका शरीर किमिप्राणियोंका अन्न तो है ही, परंतु उच्छ्वाससे जो वायु मनुष्यादि प्राणी बाहर फेंकते हैं वह अंदर वनस्पतियां पुष्ट हो सकती हैं। इस तरह यह विचार अनेक रीतियोंसे अनुभवमें आ सकता है।

एकतत्त्वका अध्यात्म इस तरह यहां वेदमंत्र पाठकोंको बता रहा है। आशा है इस तरह विचार करके पाठक इस सूक्तसे बोध ले सकते हैं।

प्राणकी विद्या।

(४)

(ऋषिः-- भार्गवो वैदर्भिः। देवता--प्राणः)

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥
यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः । प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः । सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् । पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् । आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यस्य वशे) जिसके आधीन (इदं सर्वं) यह सब जगत् है उस (प्राणाय नमः) प्राणके लिये मेरा नमस्कार है (यः सर्वस्य ईश्वरः) वह प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) उसमें सब जगत् रहा है ॥ १ ॥

हे प्राण ! (क्रन्दाय ते नमः) गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है, (स्तनयित्नवे) मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! (विद्युते) चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! (वर्षते) वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है ॥ २ ॥

हे प्राण ! (यत् स्तनयित्नुना ओषधीः क्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा ओषधियोंके सन्मुख बडी गर्जना करता है, तब औषधियां (प्रवीयन्ते) तेजस्वी होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

हे प्राण ! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आते ही जब तू (ओषधीः अभिक्रन्दति) औषधियोंके उद्देशसे गर्जना करने लगता है; (तदा यत् किं च भूम्यां अधि तत् सर्वं प्रमोदते) तब सब जगत् आनंदित होता है, जो कुछ इस पृथ्वी-पर है ॥ ४ ॥

(यदा प्राणः) जब प्राण (वर्षेण महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्) वृष्टिद्वारा इस बडी भूमिपर वर्षा करता है, (तत् पशवः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब (नः वै महः भविष्यति) हम सबकी वृद्धि होगी ॥ ५ ॥

(अभिवृष्टाः ओषधयः) औषधियों पर वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियां (प्राणेन समवादिरन्) प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण ! (नः आयुः वै प्रातीतरः) तूने हमारी आयु बढा दी है और हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुत (अकः) किया है ॥ ६ ॥

(आयते ते नमः अस्तु) आगमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है, (परायते नमः अस्तु) गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है । हे प्राण ! (तिष्ठते) स्थिर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमों अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥१०॥
प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते। प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥१२॥
प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥१५॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण ! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है, (अपानते) अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है। (पराचीनाय) आगे बढनेवाले और (प्रतीचीनाय) पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [या ते प्रिया तनूः] जो मेरा [प्राणमय] प्रिय शरीर है, [या ते प्रेयसी] और जो तेरे [प्राणापानरूप] प्रिय भाग हैं, तथा [अथो यत् तव भेषजं] जो तेरा औषध है वह [जीवसे नः धेहि] दीर्घजीवनके लिये हमको दे ॥ ९ ॥

[पिता प्रियं पुत्रं इव] जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार [प्राणः प्रजाः अनुवस्ते] सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है। [यत् प्राणिति] जो प्राण धारण करते हैं और [यत् च न] जो नहीं धारण करते, [प्राणः सर्वस्य ईश्वरः] उन सबका प्राणही ईश्वर है ॥ १० ॥

[प्राणः मृत्युः] प्राण ही मृत्यु है और [प्राणः तक्मा] प्राणही जीवनकी शक्ति है। इसलिये [प्राणं देवाः उपासते] सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। [प्राणः ह सत्यवादिनं] क्योंकि सत्यवादीको प्राणही [उत्तमे लोके आदधत्] उत्तम लोकमें पहुंचाता है ॥ ११ ॥

प्राण [वि-राट्] विशेष तेजस्वी है, और प्राण ही [देष्ट्री] सबका प्रेरक है, इसलिये [प्राणं सर्वे उपासते] प्राणकी ही सब उपासना करते हैं। सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी (प्राणं आहुः) प्राणही है॥ १२ ॥

(प्राणापानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है। (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण रखा है और (व्रीहिः अपानः उच्यते) चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

(पुरुषः गर्भे अन्तरा) जीव गर्भके अंदर (प्राणति अपानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है। हे प्राण ! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तब वह (अथ सः पुनः जायते) जीव पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिश्वानं आहुः) प्राणको मातरिश्वा कहते हैं, और (वातः ह प्राणः उच्यते) वायुका नामही प्राण है। (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत, भविष्य और सब कुछ वर्तमान कालमें जो है वह सब प्राणमें (सर्वं प्रतिष्ठितं) ही रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण ! (यदा) जबतक तू [जिन्वसि] प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यकृत [ओषधयः] औषधियां [प्र जायन्ते] फल देती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥१७॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥१८॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः॥१९॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ [१२]
एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥२१॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥२२॥
यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ[यदा प्राणः महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्] जब प्राण इस बडी पृथ्वीपर वृष्टि करता है तब [ओषधयः वीरुधः याः काश्च प्रजायन्ते] औषधियां और वनस्पतियां बढ जाती हैं ॥ १७ ॥

हे प्राण ! [यः ते इदं वेद] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, [तस्मै सर्वे बलिं हरान्] उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही सत्कारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [यथा] जिस प्रकार ये [तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः] सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं कि [यः] जो [सुश्रवाः] उत्तम यशस्वी है और [त्वा] तेरा सामर्थ्य [शृणवत्] सुनता है [तस्मै बलिं हरान्] उसके लिये भी बली देते है ॥ १९ ॥

[देवतासु आभूतः] इंद्रियादिकोंमें जो व्यापक प्राण है वह ही [अंतः गर्भः चरति] गर्भके अंदर चलता है । जो [भूतः] पहिले हुआ था [सः उ] वह ही [पुनः जायते] फिर उत्पन्न होता है । जो [भूतः] पहिले हुआ था [सः] वह ही [भव्यं भविष्यत्] अब होता है और आगे भी होगा । पिता [शचीभिः] अपनी सब शक्तियोंके साथ [पुत्रं प्रविवेश] पुत्रोंमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[सलिलात् हंस उच्चरन्] जलसे हंस ऊपर उठता हुआ [एकं पादं न उत्खिदति] एक पांवको उठाता नहीं । [अंग] हे प्रिय [यत् स तं उत्खिदेत्] यदि वह उस पांवको उठावेगा [न एव अद्य स्यात्, न श्वः न रात्रिः न अहः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन] तो आज, कल, रात्री, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त,(सहस्राक्षरं) अक्षरोंसे व्यक्त (एकनेमि वर्तते) मिलता है, ऐसा वह प्राणचक्र (प्र पुरः नि पश्चा)आगे और पीछे चलता है । (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अस्य अर्धं) जो इसका आधा भाग शेष रहा है (कतमः सः केतुः) वह किसका चिन्ह है ?॥ २२ ॥

हे प्राण ! [अस्य विश्व-जन्मनः] सबको जन्म देनेवाले और इस सब (विश्वस्य चेष्टतः) हलचल करनेवाले (यः ईशे) जगत्का जो ईश है, उस (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्र-धन्वने नमः) शीघ्र शक्तिवाले तेरे लिये नमन है ॥ २३ ॥

प्राणका महत्व।

प्राणकी जो विद्या होती है, उसको "प्राण-विद्या" कहते हैं। मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अभौतिक अनेक शक्तियां हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंके अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती है, परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये रह नहीं सकती। इससे प्राणका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें "प्राण" शब्दसे परमेश्वरकी विश्वव्यापक जीवन-शक्ति (Life energy) कही है। इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधीन यह सब संसार है, इसीके आधारसे रहा है और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है। समष्टि दृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। व्यष्टि दृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणका ही आधिपत्य है। प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियां हैं, तथा विभिन्न अवयव और इंद्रिय हैं, सब ही प्राणके वशमें हैं। प्राणके आधीनही सब शरीर है। शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है, क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके बिना इस शरीरकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अर्थात् प्राणके वश होनेसे सब शरीर सुदृढ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है। इसलिये प्राणको स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वास उच्छ्वास रूप प्राण चल रहा है और जन्मसे मरणपर्यंत यह कार्य करता है। सब इंद्रिय और अवयव मरजानेके पश्चात्भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है, इसलिये सबमें प्राणही मुख्य है और वह सबका आधार है। अपने प्राणको केवल साधारण श्वासरूप ही समझना नहीं चाहिये, परंतु उसको श्रेष्ठ दिव्यशक्तिका अंश समझना उचित है। मनकी इच्छाशक्तिसे प्रेरित प्राण सबही शरीरका आरोग्य संपादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है। इसके महत्त्वको समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिये। "अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण यह स्थिर रहा है और उसकी सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे होती है इस प्रकारके प्राणकी मैं उपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा। प्राणायामसे उसको प्रसन्न करूंगा और वशीभूत प्राणसे अपनी इच्छानुरूप अपने शरीरमें कार्य करूंगा।" यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा बाहर भी है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखने योग्य है।

इस द्वितीय मंत्रमें केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम 'कंद' है, बडी गर्जना और विद्युत्पात जिनसे होता है उन मेघोंका नाम 'स्तनयित्नु' है, जिनसे बिजली बहुत चमकती है उनको 'विद्युत्' कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है 'वर्षन'। ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणवायुको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमंडल पर आता है। और वृक्षवनस्पतियोंमें संचारित होता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि अंतरिक्ष स्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औषधिवनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है। प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखने योग्य है।

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियां प्रफुल्लित होतीं हैं, परंतु अन्य जीव जंतु और प्राणी भी बडे हर्षित होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं। यह तृतीय मंत्रका कथन है।

अंतरिक्षस्थ प्राणका कार्य इस प्रकार चतुर्थ और पंचम मंत्रमें पाठक देखें और जगत्में इस प्राणका महत्त्व कितना है, इसका अनुभव करें। पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य स्वरूप वर्णन किया है, उसकी अंतरिक्षस्थानीय एक विभूति यहां बता दी है। अब इसीकी वैयक्तिक विभूति सप्तम और अष्टम मंत्रोंमें बतायी जाती है।

श्वासके साथ प्राणका अंदर गमन होता है और उच्छ्वासके साथ बाहर आना होता है। प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध "आवत्, परावत्" इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (तिष्ठत्) रहनेवाले प्राणसे कुंभकका बोध होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान 'आसीन' पदसे होता है। "(१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक और (४) बाह्य कुंभक ये प्राणायामके चार भाग हैं। ये चारों मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है।

इनका वर्णन इस मंत्रमें "(१) आयत्, (२) तिष्ठत्, (३) परावत्, (४) आसीन," इन चार शब्दोंसे हुआ है। जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, उसको " आयत् प्राण " कहा जाता है, यही पूरक प्राणायाम है। आने जानेकी गतिका निरोध करके प्राणको अंदर स्थिर किया जाता है, उसको "तिष्ठत् प्राण" कहते हैं, यही कुंभक अथवा अंतःकुंभक प्राणायाम होता है जो अंदरसे बाहर आता है, उसको "परावत्प्राण" कहते हैं, यही रेचक प्राणायाम है। सब प्राण रेचकद्वारा बाहर निकालनेके पश्चात् उसको बाहर ही बिठलाना "आसीन प्राण" द्वारा होता है, यही बाह्य कुंभक है। प्राणायामके ये चार भाग हैं। इन चारोंके अभ्याससे प्राण वश होता है। यही इस प्राणदेवताकी प्रसन्नता करनेका उपाय है। यही प्राणोपासनाकी विधि है।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिकाद्वारा छातीमें पहुंचता है। अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे गुदाके द्वारतक कार्य करता है। इन्हींके दो अन्य नाम " प्राचीन " और "प्रतीचीन" प्राण हैं। प्राणके स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है। अपानकी स्वाधीनतासे मल-मूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्वाधीनतासे रुधिरकी शुद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है। इस प्रकारकी प्राणकी स्वाधीनता होनेसे प्राणके अधीन सब शरीर है, इसका अनुभव होता है। इसी उद्देश्यसे मंत्र कहता है कि " सर्वस्मै त इदं नमः " अर्थात् 'तू सब कुछ है, इसलिये तेरा सत्कार करता हूं'। शरीरका कोई भाग प्राणशक्तिके बिना कार्य नहीं कर सकता, इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सदाही सत्कार करना चाहिये। हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने प्राणकी इस शक्तिका ध्यान करे, विश्वास पूर्वक इस शक्तिका स्मरण रखे, क्योंकि निज आरोग्यकी सिद्धि इसीपर निर्भर है। इस प्राणशक्तिका इतना महत्त्व है कि इसकी विद्यमानतामें ही अन्य औषध कार्य कर सकते हैं। परंतु इस शक्तिके कमजोर होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता। प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है, इस विषयमें नवम मंत्र देखनेयोग्य है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये पांच कोश हैं। इनको पांच शरीर भी कह सकते हैं। इन पांच शरीरोंमेंसे "प्राणमय शरीर" का वर्णन इस मंत्रमें किया है। "प्रिया तनू" यह प्राणमय कोश ही है। सब ही इसपर प्रेम करते हैं, सब चाहते हैं कि यह प्राणमय शरीर सदा रहे। प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं। प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विषको दूर करके स्वास्थ्यका संरक्षण होता है। प्राणके अंदर एक प्रकारका " भेषज " अर्थात् औषध है, दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दोष-घ) औषध अथवा भेषज होता है। शरीरके सब दोष दूर करना और वहां शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना, प्राणकाही धर्म है। प्राणका दूसरा नाम "रुद्र" है और रुद्र शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है।

इस प्राणमें औषध है, यह वेदका कथन है। इसपर अवश्य विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि यह विश्वास अवास्तविक नहीं है, अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेके समान ही यह वास्तविक विश्वास है। मानस-चिकित्साका यह मूल है। पाठक इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करें। अपनी प्राणशक्तिसे अपनी ही चिकित्सा की जा सकती है। 'मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगोंका निवारण अवश्य करूंगा,' यह भाव यहां धारण करनेसे बडा लाभ होता है।

दशम मंत्रमें ऐसा कहा है कि जिस प्रकार पुत्रका संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है। सब प्रजाओंके शरीरोंमें नसनाडियोंमें आकर, वहां रहकर सब प्रजाका संरक्षण यह प्राण करता है। न केवल प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका, परंतु जो प्राण धारण नहीं करते हैं, ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राणही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि श्वासोच्छ्वास करनेवाले प्राणियोंमें ही प्राण है, परंतु वनस्पति, पत्थर आदि पदार्थोंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है। प्राणको पिताके समान पूज्य समझना चाहिये और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक जानना चाहिए।

शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होती है और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतक ही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है, यह ग्यारहवें मंत्रका कथन है। इस प्रकार एकही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। 'देव' शब्दसे इस मंत्रमें इंद्रियोंका ग्रहण होता है। सब इंद्रियां प्राणकी ही उपासना करती हैं अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वहही कार्यक्षम होता है, परंतु जो इंद्रिय प्राणसे वियुक्त होता है, वह मर जाता है। यही प्राण उपासना और यही रुद्र उपासना है। सब देवोंमें महादेवकी शक्ति कैसी कार्य करती है, इसका यहां अनुभव हो सकता है। प्राणही महादेव, रुद्र, शंभु आदि नामोंसे

जीवित होता है। क्योंकि शरीरमें प्राणही उसकी विभूति है। सब जगत्‌में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणशक्ति ही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवतागण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर रहा है व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रिया रहतीं हैं और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं, वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचता है। अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति।

कई लोग यहां पूछेंगे कि 'सत्यवादिताका प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बडा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

द्वादश मंत्रका अब विचार करिये। प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक ही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतकही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका साहचर्य छोड देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसेही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है, तो प्रयत्नसे उपासना ही उपासना करनी चाहिये। प्राणायामका यही फल है। इस जगत्‌में सूर्यचंद्र ये आकाशीमें सूर्यकिरणोंके द्वारा वायुमें प्राण रखा जाता है और चंद्र अपनी किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत आदि अपने अपने कार्यद्वारा जगत्‌को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है उसका वर्णन तेरहवें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एकही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिसे ही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें "अनड्वान्" यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यहांका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूप खेती यहां चल रही है। वेदमें अनड्वान शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बडा अर्थका अनर्थ किया है।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्॥ (अथर्व. ४।११।१)

"प्राणका पृथिवी और द्युलोकको आधार है," यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और द्युलोकको आधार है, ऐसा भाव कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनड्वान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहां अनड्वान् अर्थ केवल बैल ही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनड्वान् कहा है। यव प्राण है और चावल अपान है, यह कथन आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियां व्याप्त हैं; धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव उत्तम कार्य करते हैं।

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहीं गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है। और इसीलिये वहां उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें "सः पुनः जायते" यह वाक्य पुनर्जन्म की कल्पनाका सूत्र वेदमें बता रहा है, जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, यह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें "मातरिश्वा" शब्दका अर्थ 'माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम 'मातरिश्वा' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं।

'मातरिश्वा' का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमान का सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसे ही सब रहता है। प्राणके बिना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्वजन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते हैं।

औषधियोंका उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में "प्राणही औषधि है कि जो जीवनका हेतु है," ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वे मंत्रके साथ करना उचित है।

इस मंत्रमें "(१) आथर्वणीः, (२) आंगिरसीः, (३) दैवीः और (४) मनुष्यजाः" ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। इसका विचार निम्न प्रकार है-(१) मनुष्यजाः ओषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् काढा, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कल्प, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इससे श्रेष्ठ दैवी विधि है। (२) दैवीः ओषधयः-आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह दैवी-चिकित्सा है। जलचिकित्सा, सौरचिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब दैवी चिकित्साके प्रकार हैं। सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आरोग्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसकी योग्यता बडी है। इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है। देवयज्ञद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है। (३) आंगिरसीः ओषधयः = अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाती है। मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है। मानसिक चित्तैकाग्र्यका इसमें विशेष संबंध है। अन्य अवयवको संबोधित करके नीरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगीको निज अंगरस शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है। निज आरोग्यके लिये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं। (४) आथर्वणीः ओषधयः='अ-थर्वा' नाम है योगीका। मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला योगी अथर्वा कहलाता है। इस शब्दका अर्थ (अ-थर्वा) निश्चल, स्तब्ध, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी-चिकित्सा होता है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है। यह आथर्वणी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्माकी शक्तिसे होता है, इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी वृष्टि।

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन अच्छीतरह सुनता है, प्राणके बलको विचारसे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें तत्पर होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका ही सब सत्कार करते हैं उसकी स्थिति

उत्तम लोकमें होती है और उसीका यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायामद्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढता है। इस उन्नीसवें मंत्रमें 'बलि' शब्दका अर्थ सत्कार, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है। सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है। नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करते हैं और उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। वे ही आंख, नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानसे रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण पूर्व देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् एकबार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। आत्माकी शक्तियोंका नाम शची है। इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है। धर्मपत्नीका भाव यहाँ निजशक्ति ही है। इंद्र जीवात्माका है और उसकी शक्तियां शची नामसे प्रसिद्ध हैं। पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है। पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग अवयव और इंद्रिय होते हैं। स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशोंमें मिलते हैं। इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है। गृहस्थी लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है। मातापिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है।

इक्कीसवें मंत्रमें "हंस" नाम प्राणका है। श्वास अंदर आनेके समय "स" की ध्वनि होती है और उच्छ्वास बाहर आनेके समय "ह" की ध्वनि होती है। 'ह' और 'स' मिलकर "हंस" शब्द प्राणवाचक बनता है। उसीके अन्य रूप 'अ-हंसः, सोऽहं' आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं। इनमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है। उलटा शब्द बनानेसे इसीका "सोऽहं" बन जाता है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोऽहं' बन जाता है।

स-ह ह-स

ओ-म् म्-अ ओ (अः)

सोऽहं हं सः

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं। सांप्रदायिक झगडोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा। 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणका वाचक है। आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है। आत्मा ब्रह्माका वाचक है और ब्रह्माका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकमें आत्माका प्राणके साथका अखंड संबंधही वर्णन किया है। यह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणस्थानीय मानससरोवरमें क्रिडा कर रहा है। हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है—

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस–वाहन	प्राण–वाहन
कमल-आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आगया है, उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें "असौ अहं (यजु० ४०।१७)" कहा है। "असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा हूं।" यह भाव उक्त मंत्रका है। वही भाव उक्त स्थानमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राण ही 'हंस' है। वह (सलिलं) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें गोता लगाता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उडता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण बाहर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें बताया है। जिस प्रकार हंस पक्षी एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पांव ऊपर उठाता है, उसीप्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयके सरोवरमें स्थिरतासे रखता है और दूसरे पांवको ही बाहर उठाता है। कभी दूसरे पांवको हिलाता नहीं।

तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि यह अपने दूसरे पांवको भी बाहर निकालेगा तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। ' हंस ' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ ' स ' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ ' हं ' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र ही साध्य होती है। वही " सो " अक्षरका श्रवण श्वासके साथ और " हं " का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे ' हंस ' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इनपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाएं रचीं हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर झगडोंसे दूर रहना ही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये —

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य करता है यह बात २२वें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, क्रमशः गुदासे लेकर सिरके उपरले भाग तक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है, इस बातका अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रार चक्रका स्थान है। वही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र आरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। पाठकोंको उचित है कि वे इन बातोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बडा कठिन है। आधे भागके साथ सब भुवनको बनाया है, जो इसका दूसरा अर्ध है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण सबका ही ईश है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें गतिमान और सबमें मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण ' अतंद्र ' अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रखा है। यही भाव पचीसवें मंत्रमें कहा है।

सब इंद्रियां आराम लेती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिरजाती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन खडा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खडा रहकर पहरा करता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यसे कभी पीछे नहीं हटता। सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए किसी आलंबनपर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकती हैं और विश्राम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। विना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अत्यंत महत्त्व है। तथा अब इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि—

" हे प्राण! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुष्यसे युक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ।" यह भावना उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्नमय मन है और आपोमय प्राण है। इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहा है। उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ भाव चाहिए और कभी अकाल मृत्युका विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मापर विश्वास रखनेसे उक्त भावना दृढ हो जाती है। इस प्राण सूक्तमें निम्न भाव है-

प्राणसूक्तका सारांश।

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ है, प्राणही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और द्युलोकमें है।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है,और पृथ्वीपरका प्राण यहां सदा ही वायुरूपसे रहता है।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनंद होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषध आरोग्य रह सकता है।

(७) प्राण ही दीर्घ आयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है। सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रिय प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष प्राणको वशमें करके बल प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवताएं हैं। सबको प्रेरणा करनेवाला प्राण ही है।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीरमें आकर शरीरका बल बढाता है।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब गुण कर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आती हैं।

(१४) प्राण ही हंस है और वह हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। जब वह चलाजाता है तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

(१५) शरीरके आठ चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है। वह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। भीति और संकोच नहीं होता। क्योंकि इसका ब्रह्म अथवा आत्माके साथ संबंध है।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ खडा पहरा रखता है। अन्य इंद्रिय थकते,रुकते और सोते हैं; परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता। इसका विश्राम होनेपर मृत्यु ही होती है।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। और उसकी शक्तिसे बलवान होना चाहिये।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राण विषयक जो जो उपदेश है उसका विचार करते हैं।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश.

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं,उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है।—

प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० १०।९०।१३, अथ. १९।६।७

"परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है।" यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना क्षणमात्र भी जीवन रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है।

यह वायु हमारे फेंफडोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर आती है, और उससे हमारा जीवन होता है। यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये। प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये-

आयुर्न प्राणः ॥ ऋ. १।६६।१

"प्राण ही आयु है।" जबतक प्राण रहता है तब तक ही जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेंफडोंमें होता है। फेंफडे बलवान् करनेसे प्राणमें बल आजाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु—नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान "असुनीति" शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त होता है, इसी प्रकार "असु" अर्थात् प्राणका व्यवहार करनेकी रीति "असुनीति" शब्दसे व्यक्त होती है Guide to life, way to life अर्थात् "जीवनका मार्ग" इस भावको "असु—नीति" शब्द व्यक्त कर रहा है, यह प्रो॰ मोक्षमुल्लर, प्रो. रॉथ आदिका कथन सत्य है। देखिये-

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगं॥
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥
ऋ. १०।५९।६

"हे असुनीते! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु, प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सकें। हे अनुमते! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।"

"असुकी नीति" अर्थात् "प्राण धारण करनेकी रीति" जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है, प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अशक्यता होनेपर भी भोग भोगनेकी अशक्यता हो सकती है। मृत्यु पास आनेके कारण सूर्य-दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है। प्राण—नीतिके अनुकूल मति रखनेसे यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्रतिरा न आयुः ॥
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व-
॥ ऋ. १०।५९।५

"हे असुनीते! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बडी दीर्घ करो। सूर्यका दर्शन हम करें। तू घीसे शरीर बढा।"

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योगसाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इसप्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये। मनकी दृढ शक्तिपर ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत करनेपर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको उचित है कि वे अपने भोजनमें घी अधिक सेवन करें।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणकी वृद्धि

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आगया है-

प्राणस्त आप्यायताम् ॥ यजु॰ ६।१५

"तेरा प्राण संवर्धित हो।" प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है-

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निदीध्यदैन्द्र उदानो अंगे अंगे निधीतः ॥ य॰ ६।२०

(ऐदः प्रणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा है, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रखा है। " इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होगी, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूक्तोक्त "आंगि-रस—विद्या" है। अपने किस अंगमें प्राणकी न्यूनता है, इसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छा शक्ति द्वारा प्राणको पहुंचाना चाहिये यही अपना आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो "आंगिरस विद्या" है वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये-

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि ॥

य० १४।८; १७

" मेरे प्राण, अपान, व्यानका संरक्षण करो। " इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं ते शुंधामि ॥ यजु. ६।१४

प्राणं मे तर्पयत ॥ यजु. ६।३१

" प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति करो। " तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है। अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है, और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नित्यतृप्त वृत्तिसे व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि-

प्राणं न वीर्यं नसि। य० २१।४९

" नाकमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ। " प्राणशक्ति नासिकाके साथ संबंध रखती है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान् होती है, तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणसाधनकी सिद्धि होती है। तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियम पूर्वक करते हैं उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसी-का किसी कारणवश प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको शीघ्र और सहजसिद्धि होती है। परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता, उसको यह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राण-शक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है।

गायन और प्राणशक्ति।

साम प्राणं प्रपद्ये। ३६।१

' प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूं। ' सामवेद गायन और उपासनाका वेद है। ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है। केवल गानाविद्यासे भी मनकी एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है। इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनोंमें न फसेंगे तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनसे उपासनामें अत्यंत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है। यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले आजकलके स्त्रीपुरुषोंने अपने आचरण बहुत ही गिरा दिये हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है, यह उन मनुष्योंका दोष है। तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी तल्लीनता प्राप्त करें।

मयि प्राणापानौ। य० ३६। १

' मेरे अंदर प्राण और अपान बलवान रहें। ' यह इच्छा हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है। जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न हो नहीं सकता। प्रस्तुत प्राणका प्रकरण है, इसका संबंध बाहरके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका संबंध नासिका आदि

श्वासके साथ है इसलिये कहा है-

वातं प्राणेन अपानेन नासिके। य० २५। २

"प्राणसे वायुकी प्रसन्नता और अपानसे नासिकाकी पूर्णता करनी चाहिए।" बाह्य शुद्ध और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरोंमें आता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बाह्य वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है-

प्राणकी प्रतिष्ठा।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय॥ य० १३।१९; १४।१२; १५।६४

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ॥ य० १३।२४; १४।१४; १५।२८

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा॥ य० २२।२३; २३।१८

"प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंको तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये त्याग करो।"

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका बल बढ रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोंकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है; अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटी है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इसका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्यका स्वरूप "स्वाहा" शब्दद्वारा व्यक्त हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है!! क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके! देखिए-

राजा मे प्राणः॥ य० २०।५

"मेरा प्राण राजा है" सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथी आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उसके नौकरोंकी तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा शुश्रूषा अधिक करनी चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चलागया तो एकभी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा।

आजकल इंद्रियोंके भोग बढानेमें सब लोग लगे हैं, प्राणकी शक्ति बढानेका कोई खयाल नहीं करता। इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्र ही इस शरीरको छोड देता है। जब प्राण छोडने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियां भी उसके साथ इस शरीरको छोड देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोडे लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसको अर्पणकरके प्राणकी शक्ति बढानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये। अपने प्राणको बुरे कार्योंमें समर्पित करनेसे बडी ही हानि होती है। कितने दुर्व्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनमें लोग अपने

प्राण अर्पण करनेके लिये आनंदसे प्रवृत्त होते हैं !! वास्तवमें सत्कर्मके साथ ही अपने प्राणोंको जोडना चाहिये । देखिये वेद कहता है-

सत्कर्म और प्राण ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां ॥

य० ९।२१,१८।२९,२२।३३

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे असुश्च मे
यज्ञेन कल्पंताम् ॥

य० १८।२

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पंताम् ॥

य० १८।२२

" मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्थ हो । मेरा प्राण, अपान, व्यान और साधारण प्राण यज्ञद्वारा बलवान बने। मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो ।"

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है । जिस कर्मके साथ बडोंका सत्कार होता है, सबमें विरोध हटकर एकताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है वह यज्ञ हुआ करता है । यज्ञ अनेक प्रकारके हैं, परंतु सूत्ररूपसे सब यज्ञोंका तत्त्व उक्त प्रकारकाही है । इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध आनेसे प्राणमें बल बढने लगता है । स्वार्थ तथा खुदगर्जोंके कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्तिका संकोच होता है, और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है । आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करके अपने प्राणको विशाल करेंगे । वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहां वर्णन आया है वहां उनका प्राणरक्षक गुण भी वर्णन किया है । क्योंकि जो देवता प्राणरक्षक होगी उसकी ही उपासना करनी चाहिये । देखिये-

प्राणदाता अग्नि ।

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥

य० १७।१५

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ॥
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥

य० २०।३४

" तू प्राण, अपान, व्यान, तेज और स्वातंत्र्य देनेवाला है। तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है, मेरी वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है ।"

प्राणका सत्कर्ममें प्रदान करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाचाके दोष दूर करने और मनकी पवित्रता करना, यह कार्य सूक्ष्मरूपसे उक्त मंत्रमें कहा है । इतना करनेसे ही मनुष्यका बेडा पार हो सकता है । मन और वाणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती । मन, वाणी, इंद्रियां और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं । इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस कर्तव्यकी ओर अपना ख्याल सदा रखना चाहिये । अब प्राणकी विभूति बतानेवाला अगला मंत्र है, देखिये-

अयं पुरो भुवः। तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ॥ य० १३।५४

" वह आगे भूवर्लोक है, उसमें रहता है इसलिये प्राणको भौवायन कहते हैं । वसन्त प्राणायन है । "

भूर्लोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक भूवर्लोक है । यह प्राणका स्थान है, इस अवकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और प्राणका एक ही स्थान है । अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं । वसंत प्राणका ऋतु है । क्योंकि इस ऋतुमें सब जगतमें प्राणशक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंको नवजीवन प्राप्त होता है । यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिये । प्राणके संचारसे जगतमें कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव यहां दिखाई देता है । इस ऋतुमें सब वृक्ष आदि नूतन पल्लवोंसे सुशोभित होते हैं, फलोंसे युक्त होनेके कारण पूर्णताको प्राप्त होते हैं । फल, फूल और पल्लव ही सब सृष्टिके नवजीवनकी साक्षी देते हैं । इसी प्रकार जिनको प्राण प्रसन्न होता है उनको भी स—फल—ता—प्राप्त होती है । जिसप्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको वश करनेसे अपने अभीष्टमें सफलता प्राप्त कर सकता है ।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास ।

सोनेके समय अपने इंद्रिय कैसे लीन होते हैं । और फिर जागृतिके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए । इससे अपने

आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है। इसका प्रकार देखिए—

> पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥
>
> य० ४।१५

" मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे । "

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियां वैसी थककर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण ।

> सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् ॥ य० ६ । १८
>
> सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् ॥ य० ६ । १०

" अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो। " तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिये। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है, उसमेंसे थोडासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरका जीवन दे रहा है, श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर आ रहा है, इत्यादि भावना मनमें धारण करनी चाहिये। तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एककी उन्नति है, समष्टिकी उन्नतिमें व्यष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिये। यह उक्त प्रकारसे हो सकती है। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लडनेवाला प्राण ।

> अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
>
> सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥
>
> य० १९।९०

" (मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रहता है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है। "

स्पर्धा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लडता है। इसका नाम " अविः " है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अवनके अन्य अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं--रक्षण, गति कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण स्वामित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अव् धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक " अवि " शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और कर्म जाननेका यत्न करें।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रहा है। नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें उक्त कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग " अमृत " मय है। अर्थात् इस मार्गमें मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। " श्वास और उच्छ्वास "

ये दो ग्रह इस प्राणका संरक्षण कर रहे हैं। सबको स्वाधीन रखनेवाले, सबका ग्रहण करनेवाले ग्रह होते हैं। श्वास और उच्छ्वासोंसे सब शरीरका उत्तम ग्रहण हो रहा है इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कार्यसे प्राणका मार्ग मरण रहित हुआ है, जबतक श्वास और उच्छ्वास चलते हैं, तबतक मरण होता ही नहीं, इसलिये श्वासोच्छ्वासके अस्तित्व तक शरीरमें "अमृत" ही रहता है। परंतु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है।

" इडा, पिंगला और सुषुम्ना " ये तीन नाडियां शरीरमें हैं। इन्हींको क्रमसे " गंगा यमुना और सरस्वती " कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमें प्राणकी प्रेरक शक्ति है। स्थिर चित्तसे जो उपासना करते हैं, अर्थात् दृढ विश्वाससे जो परमात्मभक्ति करते हैं, उनके अंदर सुषुम्नाद्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बताता है। तात्पर्य उपासनाके साथ ही प्राणका बल बढता है। व्यान प्राण वह है कि जो शरीरमें व्यापक है, और अन्य नस अर्थात् नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले प्राण हैं। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा उक्त सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी प्रकट होता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुतसी गुह्य बातें सरल शब्दोंद्वारा लिखी हैं, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए—

> अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यं ॥
> वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ य० २०।८०

" अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राण शक्तिके साथ वीर्य देती है, इंद्र (इंद्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रियशक्ति अर्पण करता है। "

इसमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है। यह सरस्वती शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना नाडीका वाचक है। अश्विनौ शब्द धन और ऋण शक्तियोंका वाचक है। इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं। पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है। इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है। कई लोग सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर विलक्षण अर्थ करते हैं, उनको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वैदिक आध्यात्मिक शक्तियोंके वाचक मुख्यतः हैं, पश्चात् अन्य पदार्थोंके वाचक हैं। अस्तु अब प्राणविषयमें और दो मंत्र देखिए—

भोजन और प्राण।

> धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां ॥ य० १।२०
> प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ॥ य० ७।२७

" तू धान्य है। देवोंको धन्य करो। प्राण, उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूं। आयुष्यके लिये दीर्घ मर्यादा धारण करता हूं॥ मेरे प्राण, व्यान और उदानके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बनो। "

सात्विक धान्यका आहार इंद्रियादिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रसन्न करता है। सात्विक भोजनसे प्राणका बल बढता है और आयुष्य बढता है। शुद्धतासे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। इत्यादि बहुत उत्तम भाव उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। तथा और एक मंत्र देखिए—

सहस्राक्ष अग्नि

> अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
> त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ य० १७।७१

" हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने ! तेरे सैकडों प्राण, सैकडों उदान और सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनोंपर तेरा प्रभुत्व है। इसलिये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं। "

इस मंत्रका " सहस्राक्ष अग्नि " आत्मा ही है। शतक्रतु, इंद्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं। सहस्र तेजोंका धारण करनेवाला आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है। प्राण, उदान, व्यान आदि सब प्राण सैकडों प्रकारके हैं। प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है। हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रांतमें अपान है। नाभिस्थानमें समान है, कंठमें उदान है और सर्व शरीरमें व्यान है, प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अवयव हैं, और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं। प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेदमें उस उस प्राणकी अवस्थिति है, तात्पर्य प्रत्येकके प्राणके सैकडों और सहस्रों भेद हो सकते हैं। इस

प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंसे सब शरीर भर हुआ से सूक्ष्म अंशमें हुआ है। यही कारण है, कि प्राण-शक्ति वश होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके वश होनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रिया-प्रधान होता है। इसलिये पाठक इस उपदेश की ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें डालनेका यत्न करें।

सामवेद उपासनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कई उसको उक्त कारणसे "प्राण वेद" भी सम-झते हैं। उपासना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उतनीही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्यवेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहां इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है, उसको प्राण-शक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें॥ अब अथर्व-वेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं।

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा॥ (अ. ३।१६।१)
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः॥ (अ. २।२८।३)

"प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें॥ प्राण अपान इसको न छोडें।" इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राण वशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रसन्नता करनी चाहिये। देखिये-

> प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड॥
> निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुंच॥ ४॥
> वातः प्राणः॥ ५॥ (अ. १९।४४)

"हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण कर। हे जीवन। हमारे जीवनको सुखमय कर। हे अनियम! अनियमके पाशोंसे हमें बचा।"

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके जालोंसे बचाना चाहिये। "ऋति" का अर्थ — "प्रगति" उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता" इतना है। अर्थात् निर्ऋतिका अर्थ-अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, असन्मार्ग, टेढीचाल, घातपातकी रीति, अपवि-त्रता यह होता है। निर्ऋतिके साथ आनेवाला निःसंदेह अधोगतिको चला जाता है। इसलिये इस टेढेमार्गके भ्रमजाल-से बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य 'जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निर्ऋतिके जाल प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकवार फंसता है, उनको उठना बडा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन, भ्रम, आलस्य, छल, कपट आदि सबही इस निर्ऋतिके जालके रूप हैं। जो लोक इस जालमें फंसते हैं उनको उठना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले सज्जनोंको उचित है कि, वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योगसाधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है-

मैं विजयी हूँ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अंतरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ (अ. ५।९।७)

"सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्षस्थ तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूं।"

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपनी आंतरिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं, और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको निकृष्ट और हीन दीन समझना नहीं चाहिए, परंतु (अहं अस्तृतः अस्मि (I am invincible) मैं पराजित हूं, मैं अजिंक्य हूं, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए।

देखिये वेदका कैसा उपदेश है, और साधारण लोग क्या समझ रहे हैं। जैसे जिसके विचार होंगे वैसीही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणायाम करनेवाले सज्जनको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। अपनी भावना जैसी दृढ होगी वैसाही अनुभव आ सकता है। वेदमें—

पंचमुखी महादेव।

प्राणापानौ व्यानोदानौ ॥ (अ. ११।८।२६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि नाम आये हैं। उपप्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य रूपसे होंगे तो पता नहीं। यदि किसी विद्वान्को इस विषयमें ज्ञान हो तो उसको प्रकाशित करना चाहिए। पंच प्राणही पंचमुखी रुद्र है, रुद्रके जितने नाम हैं वे सब प्राणवाचकही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजय कैसा है, इसका यहां निर्णय होता है। शतपथमें एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः॥
(शत० ब्रा० १४।५)

"कौनसे रुद्र हैं? पुरुषमें दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है। ये ग्यारह रुद्र हैं।" अर्थात् प्राणही रुद्र है, और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब सूक्त अपने अनेक अर्थोंमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द प्राणवाचक माननेपर पशु शब्दका अर्थ इंद्रिय ऐसा ही होगा। इंद्रियोंका घोडे, गौवें पशु आदि अनेक प्रकार से वर्णन कियाही है। इस रीतिसे वेदमें अनेक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देगी। आशा है कि पाठक इस प्रकार वेदका विचार करेंगे। इस लेखमें रुद्रवाचक सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बतानेके लिये स्थान नहीं है, इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शनही किया है। अग्नि शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। पंचप्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र आदि शब्दोंद्वारा प्राणकी अग्निरूपता सिद्ध है। इस भावको देखनेसे पता लगता है कि, अग्निदेवताके मंत्रोंमें भी प्राणका वर्णन गौणवृत्तिसे है, मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं प्रमुख हैं। वायु देवताकी प्राणरूपता सुप्रसिद्धही है। स्थान साम्यसे इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्र देवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणशक्तिका वर्णन है। किसी स्थानपर व्यष्टि दृष्टिसे है और किसी स्थानपर समष्टि दृष्टिसे है। यह सब प्राणका वर्णन एकत्र करनेसे ग्रंथविस्तार बहुत हो सकता है, इसलिये यहां केवल उतनाही लेख लिखा जाता है कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आगया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक।

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः। यत एति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥ माताऽऽदित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः। हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥ (अथर्व ९।१)

"(अस्याः) इस पृथिवीकी और समुद्रकी बडी (रेतः) शक्ति तू है ऐसा सब कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ मीठा—चाबुक चलता है वही प्राण और वही अमृत है। आदित्योंकी माता, वसुओंकी दुहिता, प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मीठा—चाबुक है। यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु गर्भः) मर्त्योंके अंदर संचार करनेवाली है॥

इस मंत्रमें "मधु—कशा" शब्द है। "मधु" का अर्थ मीठा, स्वादु है। और "कशा" का अर्थ चाबुक है। चाबुक घोडा गाडी चलानेवालेके पास होता है। चाबुक मारनेसे गाडीके घोडे चलते हैं। उक्त मंत्रोंमें "मधु—कशा" अर्थात् मीठा—चाबुकका वर्णन है। यह मीठा—चाबुक अश्विनी देवोंका है। अश्विनी देव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं, प्राण अपान, श्वास उच्छ्वास, दांये और बांये नाकका श्वास यह अश्विनीदेवोंका प्राणमयरूप शरीरमें है। इस शरीरमें अश्विनीरूप प्राणोंका 'मीठा—चाबुक' कार्य कर रहा है और शरीररूपी रथके इंद्रियरूप घोडोंको चला रहा है। इस चाबुकका यह स्वरूप देखनेसे वेदके इस अद्वितीय और विलक्षण

अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है, इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है। इतनाही नहीं परंतु सब जगत्में यह 'मीठा--चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है। मंत्र कहता है कि "इस मीठे चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है, जहांसे यह मीठा चाबुक चलाया जाता है वहीं प्राण और अमृत रहता है।" प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तबतक मरणकी भीति नहीं होती। और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसलिये उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें कही है क्योंकि शरीररूपी रथके घोडे चलानेका कार्य यही चाबुक कर रहा है। दूसरे मंत्रमें कहा है कि "यह चाबुक शरीरस्थ वसु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य यही है। यह प्राण मर्त्योंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है।" यह वर्णन उत्तम अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है। तथा—

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता।

असोः प्राणः ॥ (अ. १९।६०)

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ ५ ॥ (अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥ (अ० १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे ॥ मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे ॥ मैं, अपना आत्मा, चक्षु श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान आदि मेरी सब शक्तियां पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें ॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा उक्त मंत्रमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

अहं अयुतः

अहं सर्वः अयुतः

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने योग्य समर्थ, किसी कष्टसे बलवली न मचने योग्य दृढ हूं।" यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितनी बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। मेरी इंद्रियां, मेरे प्राण तथा मेरे अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है परंतु मैं यहां कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं, तथा—

प्राणकी मित्रता।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधातु ॥ (अ० १३।१।१७)

"यहीं प्राण हमारा मित्र बने! हे परमेष्ठिन्! हमें वह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो।" प्राणके साथ मित्रता का तात्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी अल्प आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिये। परमात्मा सर्व श्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे परमात्मचिंतन द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है उसके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह उपासनाका और मानवी उन्नतीका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको बढाता है उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे हो सकती है। देखिए—

तस्य व्रात्यस्य ॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चंद्रमाः ॥ योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम

स इमे पावकः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ (अ. १५।१५।१-९)

"उस (व्रात्यरूप) संन्यासी सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान, सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व-प्रौढ, अभ्यूढ, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं। और उसके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप पशु और प्रजा हैं।" इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है। वहांही उसको पाठक देखें। विस्तार होनेके भयसे उस सबको यहां नहीं लिया है। मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है। मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमित रूपमें बढा सकता है वही अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है, जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है वह अग्निके समान तेजस्वी होता है। इस प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए। तथा—

समयकी अनुकूलता।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नंदन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥ (अ० १९।५३)

"कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाओंको आनंद होता है।"

कालका नियम पालन करना चाहिये। पुरुषार्थके साथ कालकी अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है। कालका धिक्कार नहीं करना चाहिये। जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करें, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
(अ० ५।३०।१०)

"बोध और प्रतिबोध अर्थात् स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। वे दोनों तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए दिनरात जागते रहें।"

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं। "स्फूर्ति और जागृति" ये दो ऋषि हैं। एक उत्साहकी प्रेरणा करता है और दूसरा सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी योग्यता उस मनुष्यकी हो सकती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं, और यदि ये दिन रात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भीति नहीं होगी, यह साधारण नियम समझिये।

जो लोग असावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं; उनको इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना उचित है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण करके मृत्युके वशमें होवे। वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनताकी आयुष्यवृद्धि और आरोग्यवृद्धि करना है। इसीलिये स्थान स्थानके वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुत्वके अनेक उपदेश आते हैं। पाठक इन बातोंको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण करें।

वृद्धताका धन।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥ आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥ (अ० ७।५३)

"जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें। वृद्धावस्थाका जो खजाना है वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे। तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूं और बीमारीको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे।"

बैल शामके समय वेगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं। उस प्रकारके बलयुक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें। जब प्राण और अपान बलवान बनकर अपना अपना कार्य करेंगे तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्य रूपी धन प्राप्त कर सकता है। सब धनोंमें आयुष्यकी धन

ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धनोंका उपयोग इसके होने-पर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें-

अरिष्टाः संवाचिः इह वर्धताम् ॥ (अ० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं। "वृद्ध आयुका खजाना यहां बढता रहे।" अर्थात् इस लोकमें आयु बढती रहे, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रत्युत बढनेवाली है। जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहेगा वह उस प्रकारके आयुष्यवर्धक सुनियमोंका पालन करके आयु बढा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परंतु कई वैदिक धर्मी समझते ही हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका कथन स्पष्ट है, उन बातोंमें कमसे कम भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंको धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, ऐसा कहा ही है। वही भाव थोडेसे फरकसे निम्नलिखित मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ (अ० ८।१।१३)

"उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।"

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और खबरदारी ये गुण संरक्षण करने-वाले हैं इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धि-की इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करें। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है तुलना करके देखें। अब निम्नलिखित मंत्र देखिये-

उन्नति ही तेरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि। आ हि रोहेममसृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ (अ० ८।१।६)

"हे मनुष्य! तेरी गति (उत् यानं) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये। कभी भी (अव यानं न) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरी दीर्घ आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोह) चढो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदथं) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण करोगे।"

अपना अभ्युदय करनेका यत्न करना चाहिये, कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है, जिसको इंद्रियरूपी घोडे जुते हैं। इस रथमें प्राण-रूपी अमृत है। इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरूढ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढो। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुम-को बडी बडी सभाओंमें अवश्य ही संभाषण करना होगा, क्यों-कि दूसरोंका सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए। जीवनार्थ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हारा ही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए। प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, अद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करने-मात्रसे मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता, परंतु जब एक "नर" अपने आपको उन्नत करनेके पश्चात् "वैश्वा—नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व-मेध-यज्ञ है। अस्तु। इस प्रकार उक्त मंत्रने योगी मनुष्यके सम्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। आशा है कि, सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिक आदर्शको अपने सम्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका यत्न करेंगे। अब अन्य बातोंका विचार यहां करना है। योगी जनोंका अधिकार कहांतक पहुंचता है, इसका पता निम्न मंत्रोंसे लग सकता है--

यमके दूत।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोप सेधामि सर्वान्॥ ११॥ आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पि-शाचान्। रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि॥ १२॥ अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः। यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥ १३॥ अ. ८।२

" मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदि स्थापना करता हूं वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं ढूंढ ढूंढ कर दूर करता हूं ॥ (अराति) अदावन, (निर्ऋति) नियमविरुद्ध व्यवहार, (ग्राहिं) देरसे चलनेवाले रोग, (क्रव्यादः) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी, (पिशाचान्) रक्तका निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि, (रक्षः=क्षरः) सब क्षयके कारण, (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं । जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनेगा, (सजूः) मित्रभावसे संतुष्ट रहेगा और तुझे कष्ट न होगा उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ "

इन मंत्रोंमें प्राणसाधन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घ आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है। परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती हैं। इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ नहीं सकती। इस अवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठान की रीतिसे प्राणका बल बढावेंगे, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि-दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं। दुष्टभाव, बुरा आचार, विधिनियमोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा " जात-वेद अग्नि " है। वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान है। इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो उसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारसे साधनसंपन्न योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं। यही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं।

योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम " अ-थर्वा " होता है। ' अचंचल ' यह अथर्वा शब्दका भाव है। एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद सर्वसामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेद योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥ तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो ...

अन्नमयो मनः ॥ २७ ॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (अ० १०।२)

" (अ—थर्वा) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने(पवमानः)प्राणको भेज देता है ॥ वही अथर्वा का सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है। उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं॥ वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोडते नहीं, जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं ॥ आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। इस देदीप्यमान, मनोहर, यशस्वी और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।"

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कको एक रूप बनावे। हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों कुछ विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विशेषतः मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता, उस धर्ममें बडे दोष होते हैं। शिक्षाविभागमें भी मस्तिष्क और हृदयका समविकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिए। जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढती है उस शिक्षा प्रणालीसे नास्तिकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति बढती है उस प्रणालीसे अंधविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे। यही भाव " मूर्धा और हृदयको सीने" के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति।

"मस्तिष्कके ऊपर के स्थानमें प्राणको प्रेरित करना" यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणायामद्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुंचता है और ब्रह्मरंध्रतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसलिये इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश।

अ-थर्वा अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहती हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ दैवी शक्तियोंका निवास उसके शरीरमें होता है इसलिये उसका देह देवताओंका सच्चा मंदिर है। इस देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण, मन और अन्न हैं। बलवान प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सद्गुणी और सत्यनिष्ठ मन अपने सुविचारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। मनकी प्रबल इच्छा शक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर—"प्राण, मन और अन्न"—

परस्परोंका संवर्धन करते हुए, सब मिलकर दोनोंकी सहायता करते हैं। यही प्राणायामका यश है।

ब्रह्मकी नगरी।

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है। वह अमृत देव प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं। अर्थात् हृदय स्थानीय रुधिर ही सब इंद्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रहता है। इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुरीके सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है, अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियां चक्षु, प्राण और प्रजा देती हैं। चक्षु शब्दसे सब इंद्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रजाशब्द सुप्रजाका बोध करता है और प्राणशब्दसे सामर्थ्ययुक्त जीवनका ज्ञान होता है। तात्पर्य इस अपने हृदयकी शक्तियोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं। हृदयको तथा अपने आंतरिक इंद्रियों और अवयवोंको जानना, प्राणायामसे जो चित्तकी एकाग्रता होती है तब कई अज्ञात शक्तियोंका विज्ञान होता है, उसी अवस्थामें आंतरिक उपकरणोंका विज्ञान होता है इसी रीतिसे हृदयादि अंतरंगोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्ति कैसे अद्भुत रीतिसे कार्य कर रही है, इसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार अपने आत्माकी शक्ति विदित होते ही उक्त फल प्राप्त होता है। सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ आयु और बलवान इंद्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहांकी आत्मशक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेवालेको होते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी बनता है वह अकाल मृत्युसे नहीं मरता, पूर्ण आयुष्यकी समाप्तिके पश्चात् स्वकीय इच्छासे वह मरता है। आयुष्यकी समाप्तितक उसके संपूर्ण इंद्रिय, अवयव और अंग बलवान् और कार्यक्षम रहते हैं। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। कई यहां शंका करेंगे कि ब्रह्मज्ञानका यह फल कैसा प्राप्त होता है? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मज्ञानसे आत्मिक शांति होती है और उस कारण उसको उक्त फल प्राप्त हो सकते हैं। तथा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसका आचार-विचार शक्ति क्षीण करनेवाला न होनेके कारण उसकी शक्ति कभी क्षीण होती ही नहीं, प्रत्युत उसकी शक्ति विकसित होती है। जिसकी शक्तिकी अभिवृद्धि होती है, उसको उक्त बातें प्राप्त करनी सहज ही है।

अयोध्या नगरी।

आठचक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवताओंकी नगरी है, इसका नाम "अयोध्या" है। जिसमें देवभावना और आसुरीभावनाओंका संग्राम नहीं होता, अर्थात् जहां दैवी वृत्ति ही सदा शांतिके साथ निवास करती है। इसलिये उसका नाम "अ-योध्या" नगरी है। जबतक यह नगरी देवोंके आधीन होती है तबतक उसमें शांतिका रामराज्य हो जाता है। इंद्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। इस नगरीमें हृदयस्थानमें प्रकाशमय स्वर्ग है। यही प्राणायामादि साधनोंके द्वारा प्राप्तव्य स्थान है। प्राप्तव्यका अर्थ स्वकीय इच्छासे प्राप्तव्य है, अन्यथा यह स्थान सभी प्राणिमात्रके पास है ही, परंतु बहुत ही थोडे लोग हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं। आत्मशक्तिका प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साथ उसमें निवास करना योगसाधनसे साध्य है।

अयोध्याका राम।

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वही आत्माराम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही जानते हैं। अन्योंको उसका पता नहीं लग सकता।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है। जीवात्मा जब आसुरी भावनाओंपर विजय प्राप्त करता है तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है। यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है। इसका पराजय आसुरी भावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका नाम ही "अपराजित अयोध्या" है। अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिये। मैं अपराजित हूं। दुष्टभावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं सदा विजयी ही रहूंगा। मेरा नाम ही "विजय" है। इत्यादि भाव उपासकको अपने अंदर धारण करने चाहिये। 'मैं हीनदीन दुर्बल और अधम हूं' इस प्रकारके भाव कदापि मनमें धारण नहीं करने चाहिये। ये अवैदिक भाव हैं। इस मंत्रमें आत्माका विजयी स्वरूप बताया है, आशा है कि वैदिक धर्मी सज्जन इस भावको धारण करेंगे।

अपना आत्माका ही यह वर्णन है। आत्मा किस प्रकारके भावसे पराजित होती है और किस भावनाके धारण करनेसे

विजयी होता है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है। आत्मा ही ब्रह्मा है, वह हृदयकमलमें निवास करती है, हंस अर्थात् प्राण उसका वाहन है, आदि वर्णन पूर्व स्थलमें आ चुका है। यह ब्रह्माकी नगरी है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है, यही सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूं, जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है, इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्य प्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायाम की शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये भेद हैं तथा अन्य उप प्राणभी उसीके प्रभेद हैं।

(८) संतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है। इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिये, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करनी नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखनी चाहिए। इससे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किस प्रकार आत्मामें लीन होती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगतीं हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है।

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ, प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अकाल मृत्यु होती है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रवि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहतीं हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपको उक्त भावनारूप ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित विजयी और शक्तिका केंद्र मानना उचित है।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राणवाचक हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूंगा, ऐसा दृढ निश्चय करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कभी हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए।

(२६) जगत्‌में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी। मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना। उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना। कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर न करना। आजका कर्तव्य कलके लिये न रखना।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बडा धन है, उसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षण की भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनताकी उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवन का यही उद्देश है।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजय संपादन करनी चाहिए।

(३५) हृदयकी भक्ति और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिये।

(३६) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है।

(३७) अपने ही हृदयमें ब्रह्मनगरी है, वही स्वर्ग और वही अमरावती है। यही देवोंकी अयोध्या है। ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है वही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है।

(३९) प्राणको अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिए। जहां विचारोंकी गति नहीं है वहां पहुंचना चाहिए, वही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इसप्रकार वेदमंत्रोंका आशय है। पाठक इसका वारंवार विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध लेलें। तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट है। परंतु इसके अतिरिक्त अन्य देवताओंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए। आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उक्त खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे।

स्वयं अनुभव लेनेके विना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर वहांका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्याकी खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। हरएकके थोडे थोडे प्रयत्नसे महान कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बतलाई है। अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमे प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। वह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांशरूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है।

प्राणकी श्रेष्ठता।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते। प्राणेन जातानि जीवंति। प्राणं प्रयंत्यभि सं

वि शंतीति ॥ तै० उ० ३।३

'प्राणही ब्रह्म है,क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमेंही जाकर मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति है, सब अन्य शक्तियां प्राणपरही अवलंबित रहती हैं। जबतक प्राण रहता है तबतक अन्य शक्तियां रहती हैं, प्राण जाने लगता है तो अन्यशक्तियां प्रथम चली जाती है और पश्चात् प्राण निकल जाता है। न केवल प्राणियोंकोही प्राणका आधार है परंतु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ, इन सबको भी प्राणशक्तिकाही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये-

स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं च ॥४॥ आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥ प्रश्न. उ० १

"परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगतमें आदित्य ही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान जगत् जिसमें दृश्य और अदृश्य पदार्थ मात्र हैं रयि है।"

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये-

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगतमें इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि है, शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है देहमें सीधी बगल प्राण है और बांई बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है;इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ बृ. ३।९।९

"एक देव कौनसा है ? प्राण है।" अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये-

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ छां. ५।१।१ बृ. ६।१।१

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ बृ. ५।१४।४

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ बृ. १।६।३

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ बृ. २।१।२०

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ बृ १।२।६

"(१) प्राणही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है, (३) प्राणही सत्य है, (४) प्राणही यश और बल है।" इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपंतम् ॥ सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ प्रश्न. उ १।६-८

"सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुंचता है ॥ यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) धनोंका उत्पादक, एक, श्रेष्ठ तेजसे युक्त, सैंकडों प्रकारोंसे सहस्रों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।"

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके बिना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण

*

वेदमंत्रमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं। विषरूप दवाइयां पीते हैं, उनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है? परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है, और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है इतना सस्ता आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुंचे हैं कि अनंत संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। वह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ है, वहांसे सूर्यकिरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे खूनमें जाकर हमारा जीवन बढाता है। जो प्रणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और वर्णन देखिये—

देवोंका घमंड।

"एक समय ऐसा हुआ कि बाह्य सृष्टिमें पृथिवी, आप, तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वाचा, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही इस जगतको धारण करते हैं, और हमारेसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है। इन देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो! ऐसा घमंड न कीजिये, मैं ही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके इसकी धारणा कर रहा हूं। परंतु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, उस समय मुख्य प्राण वहांसे हटने लगा, तब सब देव कांपने लगे। फिर जब प्राण आगया तब देव प्रसन्न हुए। इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं, हमारी ही केवल शक्तिसे हम इस कार्यको चलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं।" इसप्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा विदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति निम्न मंत्रोंमें है—

प्राणस्तुति।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥६॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे ॥ तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रति तिष्ठसि॥ ७ ॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ॥ ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥ इंद्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ॥ त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ यदा त्वमभि वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः आनंदरूपास्तिष्ठंति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः॥ वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ॥ या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥ मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३॥ प्रश्न.उ.२

"यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी, रयि आदि सब है। जिस प्रकार रथ नाभीमें आरे जुडे होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है। ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सबही प्राणके आधारसे हैं। हे प्राण! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजायें तेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्वकीय धारण शक्ति है। अथर्वा आंगिरस ऋषियोंका सत्य तपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है। तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है, तू ही तेजसे तेजस्वी हो रहा है जब तू वृष्टि करता है तब सब प्रजायें आनंदित होती हैं क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है। तू ही व्रात्य एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है। हम दाता हैं और तू हम सबका पिता है। जो तेरा शरीर वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याण रूप कर और हमारेसे दूर न हो। जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है। माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें दो।"

यह देवोंका बनाया प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

पहिली बात जो इसमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगतमें देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं। प्राणकी शक्ति इनके अंदर आती है और इनके द्वारा कार्य करती है। जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है। इसलिये आंखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगतमें अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याकाभी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका "प्राण" अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये-

प्राणरूप अग्नि ।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ॥
यशसं वीरवत्तमम्॥ ऋ. १।१।३

"(अग्निना) प्राणसे (रयिं) शोभा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है। और वीर्ययुक्त यश भी मिलता है।"

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा बढेगी और न शरीरकी पुष्टि होगी, फिर यश मिलना तो दुरापास्त ही है। इसप्रकार बहुत विचार हो सकता है, यहां उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्योंका इसप्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात् कोई कठिनता नहीं होगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दोंके गूढ अर्थोंसे प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिए-

(१) देवानां वह्नितमः असि = प्राण "इंद्रियोंको" चलानेवाला है, सूर्यादिकोंको" चलाता है, प्राणायाम द्वारा "विद्वान्" उन्नति प्राप्त करते हैं।

(२) पितृणां प्रथमा स्वधा असि = संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) पहिले दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मत्वकी धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं असि =(अ-थर्वा, अंगिरसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इसप्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूं। (१) अग्निः- गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य-प्रेरणा करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्य (पर-जन्य) पूर्णता करनेवाला, (४) मघवान्- महत्त्वसे युक्त; (५) वायुः= हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला, (६) पृथिवी-विस्तृत, आधार देनेवाली (७) रयिः- तेज, संपत्ति, शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवः- क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-पतिः = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितमः = अत्यंत प्रेरक; (१२) इंद्रः = ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला, (१३) रुद्रः = (रुत्-रः) शब्दका प्रेरक, (रुद्-रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) व्रात्यः = (व्रत) नियमके अनुसार आचरण करने वाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी किस शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दोंके गूढ आशय

देखनेसे ही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है । आशा है कि पाठक उक्तप्रकार उक्त सूक्तका विचार करेंगे ।

अस्तु । इसप्रकार प्राणकी मुख्यता और श्रेष्ठता है और यह प्राण सूर्य किरणोंके द्वारा प्राणियों तक पहुंचता है। सूर्य किरणोंसे वायुमें आता है। वायु श्वाससे अंदर जाता है, उससमय मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है प्राणायामके समय इसप्रकार इस प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए ।

प्राणका प्रेरक ।

केन उपनिषद्‌में प्राणके प्रेरकका विचार किया है । प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है ? जिसप्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसीप्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है । परंतु राजाकी प्रेरणासे दिवान कार्य करता है उस प्रकार यहां प्राणका प्रेरक कौन है, यह प्रश्नका तात्पर्य है ।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केन उ० १।१

" किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है ? " अर्थात् प्राणकी प्रेरक शक्ति कौनसी है ? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥ केन उ० १।२

"वह आत्मा प्राणका प्राण है" अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है । इसका और वर्णन देखिए-

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ केन उ० १।८

" जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तू समझ । यह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है ।"

अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है इसलिये प्राणका प्रेरक शक्ति आत्मा ही है । इस विषयमें ईशोपनिषद्‌का मंत्र देखने योग्य है–

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईश० १६
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ वा० यजु० १७

" जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है वह मैं हूं ।" मैं आत्मा हूं, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूं । मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और इन इंद्रियोंकी शक्तियोंको उत्तेजित कर रहा है। इसप्रकार विश्वास रखना चाहिए और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिए । इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्‌का वचन देखिए–

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः ॥
ऐ० उ० १।१।४॥ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥
ऐ० उ० १।२।४

"नासिका रूप इंद्रिय खुल गये, नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु हो गया ।" अर्थात् प्राणसे वायु हो गया । आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद ले लूं। इस इच्छाशक्तिसे नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये, ये ही नासिकाके दो छेद हैं । इसप्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है । आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है उसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है । इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वही आत्मा है, इस को इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इदं-द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखती है । इसकी प्रबल इच्छाशक्तिसे विलक्षण घटनायें यहां सिद्ध हो रही हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है । जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है वही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है यह प्राण वायुका पुत्र है क्योंकि ऊपर दिये मंत्रमें कहा है कि "वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है।" इसलिये वायुका यह प्राण पुत्र है। यही "मारुती" है, मारुतीका अर्थ 'मरुत्' अर्थात् वायुका पुत्र । विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है उसका एक अंश शरीरमें अवतार लेता है, इसलिये इसको 'पवनात्मज' कहते है । यही हनुमान, मारुती, राम-सखा है । अवतारकी मूल कल्पना यहां व्यक्त हो सकती है। विश्वव्यापक शक्तियां अवतारूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करती हैं। वायु के पुत्रोंकी जो कल्पना पौराणिक साहित्यमें है वह यहां है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस लेखमें पूर्व स्थलमें बताया ही है । प्राणके अमरत्वके साथ इसका चिरंजीवत्व सिद्ध होता है। इसप्रकार यह हनुमानजीका रूपक है । इसका संपूर्ण वर्णन किसी अन्य स्थानमें किया जायगा । यहां संक्षेपसे सूचना मात्र लिखी है। अर्थात् हनुमानजीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है । यह "दशरथके राम" का सहायक है, दश इंद्रियोंके रथमें जो आनंद रूप आत्मा है उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है, तथा " दशमुखकी लंका " को जलानेवाला है, दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रवृत्तियां होती है उनका प्राणायामके अभ्याससे दहन होता है ।

इत्यादि विचारोंसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है और उक्त इतिहासमें "वायुपुत्रका प्रेरक दशरथी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूक्ष्म वाचक विचारके द्वारा इसके मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं, "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही भाव बृहदारण्यक के निम्न वचनमें है-

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरो यमयति,एष त आत्मा अंतर्याम्यमृतः

बृ० ३।७।१६

जो प्राणके अंदर रहता है,प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) वह तेरा अंतर्यामी अमर आत्मा है।"

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्य संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूं, प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर हैं, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सच्चा सम्राट् बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है-

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमंते ॥

बृ० ५।१२।१

प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यंते ॥२॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यंचि॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ॥४॥

बृ० उ०५।१३

"प्राण 'र' है क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है क्योंकि प्राणमें सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतों अर्थात् कष्टोंसे बचाता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यह सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग-रूढीका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आशा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वकी है इसलिये यहां लिखी है।

अंगोंका रस।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है--

आंगिरसोऽगानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ... तस्माद्यस्मात्कस्माच्चांगात् प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यति।

बृ० १।३।१९

"प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

वृक्षोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग-रसका महत्त्व है। जीवात्माकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है,प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छा शक्तिका नियमन होता है, इच्छासे रुधिरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये-

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्॥ छां उ० ६।८।६

"पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये-

> प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति, प्राणमेव वागप्येति,प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान् संवृंक्ते ॥ ३ ॥ छां० ४।३।३

" जब वह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संवारक है।"

जिसप्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरणें फैलतीं हैं और अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसीप्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है। उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलतीं हैं और निद्राके समय फिर उसीमें लीन होतीं हैं। इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग।

> स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बंधनमेवोपश्रयत; एवमेव खलु, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा, प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्य मनः ॥ छां० उ० ६।८।२

" जिसप्रकार पतंग, डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूम कर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल स्थानपर ही आजाता है; इसीप्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य! यह मन अनेक दिशाओंमें घूम घाम कर, दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणका ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रियशिष्य! मन प्राणके साथ ही बंधा है।"

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चंचलता से मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होतीं हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम, और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश होना स्वाभाविक ही है। इसप्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं। यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है—

वसु रुद्र आदित्य।

> प्राणा वाव वसव, एते हीदं सर्वं वासयंति ॥ १ ॥
> प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयंति ॥ २ ॥
> प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥
> छां० ३।१६

" प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं, प्राण रुद्र हैं क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्यों कि ये सबको स्वीकारते हैं।"

इस स्थान पर " प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदनं द्रावयन्ति " अर्थात् " प्राण रुद्र है क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं।" ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःख निवारक कार्य व्यक्त हो सकता था। परंतु उपनिषद्में " एते हीदं सर्वं रोदयन्ति।" अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सब को रुलाते हैं, इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है। शतपथादिमें भी रुद्रका रोदन धर्मही वर्णन किया है, परंतु दुःख निवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है। इसका पाठक विचार करें। इसप्रकार प्राणका महत्व होनेसे ही कहा है—

> प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥
> छां० उ० ७।१५।१

" प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि है " ये शब्द प्राणका महत्व बता रहे हैं। [१] माता पिता-मान्यहित करनेवाला; [२] पिता- पालक, संरक्षक, [३] भ्राता—भरण पोषण करनेवाला; [४] स्वसा-[सु असा] उत्तम प्रकार रखनेवाला; [५] आचार्य-आत्मिक गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये, [६] ब्राह्मणः—यह ब्रह्मके पास लेजानेवाला है।

ये शब्दोंके मूलभाव यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राण का वर्णन है, इतना प्राणका महत्व है इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह स्वर्ग प्राण ही है। देखिये—

तीन लोक।

वागेवायं लोकः मनो अन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥
(बृ० १।५।४)

" यह वाणी पृथिवीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण स्वर्गलोक है। "

इसीलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है। देखिये प्राणकी कितनी श्रेष्ठता है !! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहां किया है। इससे उपनिषदोंकी प्राणविद्याकी कल्पना हो सकती है। जो पाठक इसकी और अधिक गहराई देखना चाहते हैं वे स्वयं उपनिषदोंमें इसको देख सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होती हैं ऐसा प्राणके विविध शास्त्रोंमें लिखा है। प्राणायामका अभ्यास किए बिना ही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति होना असंभव है। अभ्यासके विना उन्नति की प्राप्ति सर्वथा ही असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी शक्तिकी कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है। यह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस लेखका उपयोग हो सकता है। इन सूक्तोंको अच्छी प्रकार पढनेके पश्चात् मननद्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकलन करना चाहिये। अपने प्राणका यह स्वरूप है उसका यह महत्व है और इसकी उपासनासे इस प्रकार लाभ हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस सूक्तके अभ्याससे होगी। इतनी कल्पना दृढ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है।

इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य ।

(५)

(ऋषिः–ब्रह्मा। देवता–ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) पृथिवी और द्युलोक इन दोनोंको (इष्णन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चरति) चलता है, इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (भवन्ति) रहते हैं। (सः) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) द्युलोकका धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपर्ति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीको अनुसरते हैं। (त्रयः त्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्-सहस्राः) छः हजार देव हैं। (सर्वान देवान्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपर्ति) पालन करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—[१] पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यन्त जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है, [२] इससे उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं, [३] इस प्रकार वह पृथिवी और द्युलोकको अपने तपसे धारण करता है, और [४] उसी तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर आदि सब ब्रह्मचारीके सहायक होते हैं। और ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका सहायक बनता है ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥
इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

अर्थ ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पास करनेवाला आचार्य उसको (अंतः गर्भं) अपने अंदर करता है। उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें (तिस्रः रात्रीः) तीन रात्रितक रखता है, जब वह ब्रह्मचारी (जातं) द्वितीय जन्म लेकर बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विद्वान् (अभि संयन्ति) सब प्रकारसे इकट्ठे होते हैं॥३॥

(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पहिली (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है। इस (समिधा) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी (पृणाति) पूर्णता करता है। समिधा, मेखला, श्रम करनेका अभ्यास और तप इनके द्वारा वह ब्रह्मचारी सब (लोकान् पिपर्ति) लोकोंको पूर्ण करता है ॥ ४ ॥

[ब्रह्मणः पूर्वः] ज्ञानके पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है। [घर्मं वसानः] उष्णता धारण करता हुआ तपसे (उत्+अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। उस ब्रह्मचारीसे [ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान[जातं]प्रसिद्ध होता है॥ तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं ॥५॥

(१) (समिधा समिद्धः) तेजसे प्रकाशित (कार्ष्णं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) व्रतके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ-श्मश्रुः) बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है। (२) (सः) वह (लोकान् संगृभ्य) लोगोंको इकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और (मुहुः) वारंवार उनको (आचरिक्रत्) उत्साह देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सद्यः एति) शीघ्र ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—[१] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखता है, वह उसको अपने अंदर ही प्रविष्ट करता है। [२] मानो वह शिष्य उस गुरुके पेटमें तीन रात्रि रहता है और उस गर्भसे उसका जन्म हो जाता है। [३] जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सन्मान सभी विद्वान् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और द्युलोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी पूर्णता करता है। तथा ब्रह्मचारी श्रम और तप आदि करके सब जनताको आधार देता है ॥ ४ ॥

ज्ञानप्राप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यमें श्रम और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है। इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

(१) समिधा कृष्णाजिन आदिसे सुशोभित होता हुआ, बडी बडी दाढी मूंछ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमानुकूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है। (२) अध्ययन समाप्तिके पश्चात् धर्मजागृति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें उत्साह उत्पन्न करता है और वारंवार उनमें चेतना बढाता है। (३) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ८ ॥
इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥ (१४)

अर्थ- जो (अमृतस्य योनौ) ज्ञानामृतके केंद्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (ब्रह्म)ज्ञान, (अपः) कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराजं परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इंद्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निश्चयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

[इमे] ये (उर्वी गंभीरे) बडे गंभीर (उभे नभसी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक आचार्यने [ततक्ष] बनाये हैं। ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है। इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) द्युलोककी (भिक्षां आजभार) भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधौ कृत्वा) उनको दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है। क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें सब भुवन (आर्पिताः) स्थापित हैं ॥ ९ ॥

[अन्यः अर्वाक्] एक पास है और [अन्यः दिवः पृष्ठात् परः] दूसरा द्युलोकके पृष्ठभागसे परे है। ये दोनों [निधी] कोश [ब्राह्मणस्य गुहा] ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहितौ) रखे हैं। [तौ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है। तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [तत् केवलं ब्रह्म] वह केवल ब्रह्मज्ञान [कृणुते] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

भावार्थ जो एक समय आचार्यके पास विद्यामाताके गर्भमें रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्याध्ययनके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राजाके धर्म, और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रुनिवारक वीर बनकर शत्रुओंका नाश करता है ॥ ७ ॥

आचार्य ही पृथिवीसे लेकर द्युलोकतक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, मानो वह अपने शिष्यके लिये ये लोकही बना देता है। ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है। अतः उस ब्रह्मचारीमें सब देवता रहते हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें द्युलोक और पृथिवीलोकको प्राप्त किया। इन दो लोकोंमें ही सब अन्य भुवन स्थापित हुए हैं, दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब उक्त दोनों लोकोंको दो समिधायें बनाकर [illegible] उपासना करता है ॥ ९ ॥

स्थूल शरीर और मन ये दो कोश मनुष्यमें हैं ॥ १० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥
अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥
अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥
आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ १४ ॥
अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—(अर्वाक् अन्यः) इधर एक है और [इतः पृथिव्याः अन्यः] इस पृथिवीसे दूर दूसरा है। ये [अपि] दोनों अग्नि [इमे अंतरा नभसी] इन पृथिवी और द्युलोकके बीचमें [समेतः] मिलते हैं। [तयोः दृढाः रश्मयः] उनकी बलवान् किरणें [अधि श्रयन्ते] फैलती हैं। ब्रह्मचारी तपसे [तान् आतिष्ठति] उन किरणोंका अधिष्ठाता होता है ॥११॥

[अभिक्रंदन् स्तनयन्] गर्जना करनेवाला [अरुणः शितिंगः] भूरे और काले रंगसे युक्त [बृहत् शेपः] बड़ा प्रभावशाली [ब्रह्मचारी] ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जानेवाला मेघ [भूमौ अनु जभार] भूमिका योग्य पोषण करता है। तथा [सानौ पृथिव्यां] पहाड और भूमिपर [रेतः सिञ्चति] जलकी वृष्टि करता है। [तेन] उससे [चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) चारों दिशायें जीवित रहतीं हैं॥ १२ ॥

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, [अप्सु] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है। उनके तेज पृथक पृथक् [अभ्रे] मेघोंमें संचार करते हैं। (तासां) उनसे (वर्षं) वृष्टि (आपः) जल और (आज्यं) घी और पुरुषकी उत्पत्ति होती है॥ १३ ॥

आचार्य ही मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि तथा पयरूप है। उसके जो (सत्वानः) सात्विक भाव हैं, वे(जीमूताः) मेघरूप हैं, क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं स्वः आभृतं) वह स्वत्व रहा है ॥ १४ ॥

(अमा) एकत्व, सहवास (केवलं घृतं) केवल शुद्ध तेज करता है। आचार्य वरुण बनकर (प्रजा-पतौ) प्रजापालकके विषयमें (यत् यत् ऐच्छत्) जो जो चाहता है (तत्) उसको मित्र ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे (अधि प्रायच्छत्) देता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— दो अग्नि हैं जो इस त्रिलोकीमें कार्य कर रहे हैं, उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥
मेघ ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की शांति करता है। ब्रह्मचारी उससे यह बोध लेवे ॥ १२ ॥
ब्रह्मचारीका अग्निहोत्रके समय अग्निमें आहुति डालना जगत्को तृप्त करना है॥ १३ ॥
आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके सत्वकी उन्नति करता है ॥ १४ ॥
गुरुशिष्यके सहवाससे ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है। आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

आ॒चा॒र्यो॑ ब्रह्म॒चारी॑ ब्रह्म॒चारी॑ प्र॒जाप॑तिः। प्र॒जाप॑ति॒र्वि रा॑जति वि॒राडिन्द्रो॑ऽभवद् व॒शी ॥१६॥

ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण॒ तप॑सा॒ राजा॑ रा॒ष्ट्रं वि र॑क्षति। आ॒चा॒र्यो॑ ब्रह्म॒चर्ये॑ण ब्रह्म॒चारि॑णमिच्छते ॥ १७ ॥

ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण क॒न्या॒ ३॒ युवा॑नं विन्दते॒ पति॑म्। अ॒न॒ड्वान् ब्र॑ह्म॒चर्ये॒णाश्वो॑ घा॒सं जि॑गीर्षति ॥१८॥

ब्र॒ह्म॒च॒र्ये॑ण॒ तप॑सा दे॒वा मृ॒त्युमपा॑घ्नत। इन्द्रो॑ ह ब्र॒ह्मच॒र्ये॑ण दे॒वेभ्यः॒ स्व॑१॒राभ॑रत् ॥१९॥

ओष॑धयो भू॒तभ॒व्यम॑होरा॒त्रे वन॒स्पतिः॑। सं॒व॒त्स॒रः स॒हर्तुभि॒स्ते जा॒ता ब्र॑ह्म॒चारि॑णः ॥२०॥

पार्थि॑वा दि॒व्याः प॒शव॑ आर॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये।
अ॒प॒क्षाः प॒क्षिण॑श्च॒ ये ते जा॒ता ब्र॑ह्म॒चारि॑णः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, [प्रजापतिः] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। इस प्रकारका प्रजापति [विराजति] विशेष शोभता है। जो [वशी] संयमी [वि-राड्] राजा होता है, वही इंद्र कहलाता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मचर्यरूप तपके साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष संरक्षण करता है। आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारीकी ही इच्छा करता है ॥ १७ ॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तरुण पतिको (विंदते) प्राप्त करती है। [अनड्वान्] बैल और (अश्वः) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घास खाता है ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यरूप तपसे सब देवोंने मृत्युको (अप अघ्नत) दूर किया। इंद्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंको (स्वः) तेज (आभरत्) देता है ॥ १९ ॥

औषधियां, वनस्पतियां, (ऋतुभिः सह संवत्सरः) ऋतुओंके साथ गमन करनेवाला संवत्सर, अहोरात्र, भूत और (भव्यं) भविष्य ये सब ब्रह्मचारी (जाताः) हो गये हैं ॥ २० ॥

(पार्थिवाः) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्या ग्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपक्षाः पशवः) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्याः पक्षिणाः) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी (जाताः) बने हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ— सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये, सब राज्याधिकारी—प्रजापालनके कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये। जो योग्य रीतिसे प्रजाका पालन करेंगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो जितेंद्रिय राजपुरुष होंगे वेही इंद्र कहलावेंगे ॥१६॥

राजा राजप्रबंधद्वारा सब लोगोंसे ब्रह्मचर्य पालन कराके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है। अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारी की इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है। बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इसलिये घास खाकर उसे पचा सकते हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं। तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इंद्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है ॥ १९ ॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यसे युक्त है ॥ २० ॥

सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥
देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ २५ ॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥ [१६]

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर प्राणोंको (बिभ्रति) धारण करते हैं। (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रहा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवोंका (एतत्) यह (परि—षूतं) उत्साह देनेवाला (अन् अभ्यारूढं) सबसे श्रेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है। उससे (ब्राह्मणं) ब्रह्मसंबंधी (ज्येष्ठ ब्रह्म) श्रेष्ठ ज्ञान हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर अमृतके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(भ्राजत् ब्रह्म) चमकनेवाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है। इसलिये उसमें सब देव (अधि समोताः) रहे हैं। वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान (आत्) और मेधा (जनयन्) प्रकट करता है ॥ इसलिये हे ब्रह्मचारी! (अस्मासु) हम सबमें चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितं) रुधिर और (उदरं) पेट (धेहि) पुष्ट करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [तानि] उनके विषयमें [कल्पत्] योजना करता है। [सलिलस्य पृष्ठे] जलके समीप तप करता है। इस ज्ञानसमुद्रमें [तप्यमानः] तप्त होनेवाला यह ब्रह्मचारी [स स्नातः] जब स्नातक हो जाता है तब [बभ्रुः पिंगलः] अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥
ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥
ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५ ॥
ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

—०—

ब्रह्मचर्य-सूक्त ।

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्तव्यकर्म व्यक्त कर रहा है । ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बडा होनेके लिये (चारी) पुरुषार्थ करता रहता है । " ब्रह्म " शब्दका अर्थ-वृद्धि, महत्त्व बडप्पन, ज्ञान, अमृत आदि है । " चारी" शब्दका भाव-आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है । इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं-' अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुरुषार्थ करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये परम पुरुषार्थ करना ।' यह मुख्य भाव " ब्रह्मचारी " शब्दमें है । उक्त पुरुषार्थ करनेकी शक्ति शरीरमें वीर्यकी स्थिरता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है-इसलिये ब्रह्मचारीको वीर्यरक्षण करनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि " ब्रह्मचारी उभे रोदसी इष्णन् चरति । " अर्थात् " अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुरुष पृथिवी और द्युलोकको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है ।" पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है । यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी शक्ति बडी होनेके कारण हमाराही घात होगा । परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; हम उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तब हम सबका अभ्युदय हो सकता है । यही भाव इस मंत्रभागमें कहा है ।

जब ब्रह्मचारी सृष्टिका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबको आधार देती है; यह देखकर, वह निराश्रितोंको आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है । जलदेवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चसे नीच स्थानमें पहुंचती है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके घमंडमें रहना उचित नहीं है, इसलिये मैं नीचसे नीच अवस्थामें रहनेवाले पतित जनोंके उद्धारके लिये तथा उनके आत्माओंको शांत करनेके लिये अवश्य यत्न करूंगा । अग्निदेवताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंको प्रकाश देनेके लिये मुझे इस प्रकार जलना चाहिये और सीधा होना चाहिये । वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता संपादन करूंगा । सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊंगा । चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभाका निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसी प्रकार अमृतरूपी शांतिका स्रोत बन जाऊंगा । इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है । मानो अग्न्यादि देव उसके लिये आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसको उपदेश देते हैं ।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन किये हैं उसका यही तात्पर्य है । ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनका धारण करनेका यत्न करता है । इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंकोही अपने अंदर बढाता है ।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका उस ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ जाता है । हरएक मनुष्यकी उन्नतिका यही वैदिक मार्ग है । आजकल दोष देखनेकाही भाव बढ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरताही जाता है । इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक धर्मके मार्गमेंही आकर सब जगत्‌में शांतिस्थापना द्वारा अपने अपने आत्माकी शांति बढानी चाहिये । शतपथब्राह्मणमें कहा है कि—

यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि । (शत० ब्रा० ६।३।२६) अर्थात् " जो देव करते आये हैं वह मैं करूंगा । " यही बात उक्त स्थानपर कही है । इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण

करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका यत्न करता है, । इस तपस्यासे देव भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर उसके साथ अथवा वास्तविक रीतिसे उसके शरीरमेंही निवास करने लगते हैं। इसका वर्णन आगेके मंत्रभागमें है —

देवताओंकी अनुकूलता।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण और गुण-ग्रहण करता है, उसमें अंशरूपसे निवास करनेवाले देवता उसके साथ अनुकूल बनकर रहते हैं। मंत्र कहता है कि-

"तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ति।" अर्थात् "उस ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं।" उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास निम्न प्रकारसे होता है, देखिये-

१ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
२ वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
३ आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
४ दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्,
५ ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्,
६ चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
७ मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्,
८ आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्,

(ऐतरेय उ० २।४)

(१) "अग्नि वक्तृत्वका इंद्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षुका रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया, (४) दिशाएं श्रोत्र बनकर कानमें रहने लगीं, (५) औषधिवनस्पतियां केश बनकर त्वचामें रहने लगीं, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपानका रूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगी।"

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चंद्र, मृत्यु, आप इन आठ देवताओंका निवास उक्त आठ स्थानोंमें हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि, इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहरके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है, तथा इसी आत्माकी शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्न-लिखित मंत्र देखने योग्य हैं—

१ दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
या वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ३
२ ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते १०
३ संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १३
४ यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् १८
५ अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् २९
६ या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ३०
७ सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ३१,
८ तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ३२

(अथर्व. ११।८)

"(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हो गये। जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा, वह (अद्य) आजही (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। (२) जो पहिले देवोंसे दस देव हुए थे, पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं? (३) सिंचन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामग्री एकत्र करते हैं। (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरणधर्मी शरीरको सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (त्वष्टुः पिता) कारीगर जीवका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) हड्डियोंकी समिधाएं बनाकर, रेतको घी बनाकर (अष्ट आपः) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवताएं

हैं, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट् है ब्रह्माही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ है। (७) सूर्य चक्षु बना; वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इसके इतर आत्माको देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इसलिये इस पुरुषको (विद्वान्) जाननेवाला ज्ञानी (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं उस प्रकार इकट्ठे रहते हैं, कि जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करती हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका थोडा थोडा अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका "अंशावतरण" है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशको जानता है, वह अपनी आत्माकी शक्ति जान लेता है। और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

> ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
> यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
> ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभमनुसंविदुः ॥
> (अथर्व. १०।७।१७)

"जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानते हैं, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं, वे स्कंभको उत्तम प्रकार जानते हैं।"

अपने शरीरके अंदर ब्रह्मका अनुभव करनेका यह फल है। परमात्माके साक्षात्कारका यही मार्ग है। इसलिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंका अधिष्ठाता जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिए। पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्‌के वचनमें प्रत्येक देवताका भिन्न भिन्न स्थान कहा है। उस उस स्थानमें उक्त देवताके अंशका स्थान समझना चाहिए।

बाहरकी सृष्टिमें अग्नि वायु आदि देवता विशाल रूपमें हैं। उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं. और इस प्रकार यह जीवात्माका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि ये सब देवता मनके साथ हैं, वा मनविहीन हैं ? इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रने ही दिया है, कि "तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति" अर्थात् 'उस ब्रह्मचारीमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं।" इस मंत्रके "सं-मनसः देवाः" ये दो शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं। इनका अर्थ देखिये—

सं-मिले हुए, अनुकूल, मनसः-मनसे युक्त,

देवाः— अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश।

"जो ब्रह्मचारी सूर्यान्तर्गत अग्नि वायु आदि विशाल देवताओंका निरीक्षण और अनुकरण करके उन्नत होता है, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उस ब्रह्मचारीके अंदर वे ही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मचारीके मनके साथ अपना मन मिलाकर उक्त देव निवास करते हैं।"

प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है। इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियशक्तियां उसके वशमें रहती हैं, इतनाही है। प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न ही होता है। अर्थात् प्रत्येक इंद्रियस्थानीय उस देवताके अंशका भी मन भिन्न भिन्न होता है। आंख, नाक, कान, मुख, हृदय, नाभी, शिश्न, हाथ, पांव आदि प्रत्येक इंद्रिय और अवयवका मन विभिन्न है, परंतु सबके विभिन्न मनोंको अपने अधीन रखनेवाला "जीवात्माका मुख्य मन" होता है। ब्रह्मचर्यके नियमानुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है। उसके शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं। परंतु जो नियम छोडकर जैसा चाहे व्यवहार करता है, उस स्वच्छंद पुरुषके इंद्रियस्थानीय देवतागण भी स्वेच्छाचारी होते हैं। और प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे अंतमें इस मनुष्यकाही नाश होता है। इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि, वह नियमानुसार आचरण करके इंद्रियस्थानीय सब देवताओंको अपने आधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहे।

देवताओंका साम्राज्य

अपने शरीरको इस प्रकार "देवताओंका साम्राज्य" समझना और सब देवताओंका अधिष्ठाता मैं हूं, इस विचारको अपने मनमें दृढ करना चाहिये। अपनी मनकी शक्ति शरीरकी

प्रत्येक इंद्रियमें आकर वह कैसा विलक्षण कार्य करती है, यह विचारपूर्वक देखनेसे अपनी आत्मशक्तिका अनुभव हरएकको प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवसे इंद्रियशमन और इंद्रियदमन सुगम होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंशका बना है। इन देवताओंमें भूस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं। सब देवताओंका निवास शरीरमें है, ऐसा कहने मात्रसे उक्त त्रिलोकीका ही निवास इस शरीरमें है, यह बात स्पष्ट ही हो गई। क्योंकि भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहते हैं। जब उक्त तीनों लोकोंके एक एक पदार्थका अंश शरीरमें आता है, तो मानो त्रैलोक्यका ही थोडा अंश लेकर यह मानवदेह बनाया गया है। इस विषयका स्पष्टीकरण निम्न स्थानमें दिये कोष्टकसे हो सकता है—

इस प्रकार बाहरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि यह ब्रह्मचारी त्रैलोक्यका आधार है। देखिये — "स दाधार पृथिवीं दिवं च" अर्थात् यह पूर्वोक्त संयमी ब्रह्मचारी पृथिवी और द्युलोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकका भी आधार देता है। यह बात उक्त कोष्टकसे अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग अनुभवकी बात ही बता रहा है। यहां किसी अलंकारकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे मंत्रोक्त बातको अपने अंदर ही देख सकता है। केवल काल्पनिक बातें वेदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष देखनेकी बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसको प्रत्यक्ष देखनेकी रीतिसे ही देखना चाहिये। जो रीति यहां बताई है, उससे प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही मंत्रोक्त बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

त्रिलोकीका कोष्टक।

लोक — बाह्य स्थानकी त्रिलोकी (समष्टि)	देवता		मनुष्यके इंद्रिय — शरीरमें त्रिलोकी (व्यष्टि)
स्वर्ग लोक	द्यौः	सिर	सिर
[द्युलोक	सूर्य		आंख
स्वः]	दिशा		कान
	अग्नि		मुख, वागिन्द्रिय
[भुवर्लोक	इंद्र	छाती, पेट	आत्मा
अंतरिक्षलोक]	चंद्र		मन
भुवः	वायु और मरुत		मुख्य और गौण प्राण
भूलोक	मृत्यु	नाभि, शिश्न, पांव	अपान
[पृथिवी लोक	आप, जल		रेत, वीर्य
भूः]	भूमि		पांव

अब मंत्रका अंतिम भाग रहा है। वह यह है " स आचार्यं तपसा पिपर्ति । " अर्थात् उक्त प्रकारका " ब्रह्मचारी अपने तपसे अपने आचार्यका पालन और पूर्णत्व करता है । " जो तप ब्रह्मचारीको करना है उसका स्वरूप मंत्रके तीन चरणोंमें कहा ही है । सूर्यके अग्नि आदि देवताओंका निरीक्षण करना, उनको अपने अनुकूल बनाना, उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करना, तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहते हैं, उनको अपने मनके अनुकूल चलाना, यह सब तप ही है। इस प्रकारका तप जो ब्रह्मचारी करता है, वही आचार्यको परिपूर्ण बनाता है। अर्थात् नियम विरुद्ध आचरण करनेवाले विद्यार्थी गुरुजी की पूर्णता तो क्या करेंगे, परंतु वे उसमें न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं, यह बात स्पष्ट ही है ।

उक्त मंत्रभागमें " पिपर्ति" पद है । इसका अर्थ "(१) पालन करता है और (२) परिपूर्ण करता है " यह है । तात्पर्य यह कि आचार्यके पालनपोषणका भार विद्यार्थियोंपर [किंवा विद्यार्थियोंके पालकोंपर] होता है, तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका भार भी विद्यार्थियोंपर ही रहता है ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और मनुष्य ये चारों वर्णोंके लोग ब्रह्मचारीका अनुसरण करते हैं । यह मंत्रका प्रथम कथन है । ब्रह्मचारी जैसा आचरण करता है वैसा ही व्यवहार इतर लोग करने लगते हैं । यह बात ब्रह्मचारीको अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए। इससे ब्रह्मचारीपर एक विलक्षण जिम्मेवारी आजाती है । यदि कोई दोष ब्रह्मचारीके आचरणमें होगा, तो उसका अनुकरण अन्य लोग करेंगे ।

विशेषतः गुणोंकी अपेक्षा दोषोंका अनुकरण अधिक होता है। श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, वैसा अन्य लोग करते हैं ऐसा कहते हैं। परंतु यह नियम सदाचारके अनुकरणकी अपेक्षा दुराचारके अनुकरणके विषयमें अधिक सत्य प्रतीत होता है !! यदि बड़ा आदमी अच्छा आचरण करेगा, तो उसके अनुसार छोटे आदमी आचरण करेंगे, यह निश्चित नहीं है, परंतु यदि बड़ा आदमी बुरा कार्य करेगा, तो बहुधा उसका अनुकरण अन्य लोग करने लगेंगे । इसलिये बड़े आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक शुद्ध रखना चाहिये । यही जिम्मेवारी ब्रह्मचारीपर भी रहती है, क्योंकि अपने अपने स्थानपर ब्रह्मचारीकी प्रशंसा होगी, वहाके छोटे मोटे लोग उसको देखकर उसके समान बननेका यत्न करेंगे । जो बाहरसे विशेष विद्या पढकर आता है, उसपर इसी प्रकार जिम्मेवारी होती है, इसलिये सब विद्वानों को अपनी जिम्मेवारी समझकर ही व्यवहार करना उचित है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है, वह ब्रह्मचारीके देहमें भी है । अर्थात् इसके देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिल जुलकर रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं । शरीरके अंदर ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानसंचय करनेवाले जो भाग हैं उनको देव किंवा ब्राह्मण समझिये । देहमें विरोधी दोषोंको हटानेवाले जो सूक्ष्म संरक्षणविभाग होते हैं, उनको क्षत्रिय मानिये । जो पोषक अंश होते हैं उनको वैश्य कह सकते हैं, और जो स्थूल भारवाहक अंश होंगे उनको शूद्र कहिये । शरीरमें मज्जा ब्राह्मण है, वीर्य क्षत्रिय है, रस वैश्य है और अस्थि शूद्र है. इनको आप चाहे अन्य शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं । यहां केवल उक्त कथनका भाव ध्यानमें रखना चाहिये । चातुर्वर्ण्यके चार शब्द जो इस मंत्रमें आगये हैं, वे भी गुणकर्मबोधक तथा भावबोधक ही हैं ।

मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये सब ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर चलते हैं अर्थात् अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यव्यवहार करते हैं । यह जितना बाह्य समाजमें सत्य है, उससे कई गुना अधिक शरीरके शक्तिकेंद्रोंके अंदर सत्य है । शरीरके अस्थि–रस–वीर्य— मज्जा आदि मूलभूत आधार तत्त्व ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहते हैं। ब्रह्मचारीके शरीरकी सब शक्तियां उसके अनुकूल रहती हैं। क्योंकि वह संयमी पुरुष होता है । शरीरमें अंगों, अवयवों, इंद्रियों और तत्त्वोंका चातुर्वर्ण्य है, वह सभी उसको अनुकूल होता है, यह बात अब पाठकोंके मनमें आगई होगी । उक्त रीतिसे विचार करनेपर इस वैदिक भावका प्रकाश पाठकोंके मनमें पड सकता है और वैदिक विचारकी सूक्ष्मता भी ज्ञात हो सकती है ।

तीन और तीस देव ।

अग्नि वायु इन्द्र आदि बाह्य देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, इतना कहनेमात्रसे शरीरके अंदरके देवताओंमें चातुर्वर्ण्य है, यह बात सिद्ध हो ही चुकी है; क्योंकि संपूर्ण देवताओंके अंश अपने शरीरमें विद्यमान हैं । अर्थात जो उनके गुणधर्म बाहर हैं, वे ही अंदर हैं; इसमें विवाद नहीं हो सकता । अब हम देवताओंकी संख्या कितनी है इसका उत्तर इस मंत्रने निम्नप्रकार दिया है।

त्रयः	—तीन	३
त्रिंशत्	—तीस	३०

त्रिशताः —तीन सौ ३००
षट् सहस्राः —छः हजार ६०००

पहिले मंत्रके स्पष्टीकरणके के प्रकमें बताया ही है कि, नाभिसे निचला भाग पृथिवी स्थानीय, नाभिसे गलेतक का भाग अंतरिक्षस्थानीय और सिर द्युस्थानीय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें बाहरके तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदमें अन्यत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें ग्यारह ग्यारह देवता हैं, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

सिरमें मस्तिष्क है उसकी देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसकी देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तथा जठरमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य हैं। प्रत्येक देवताके आधीन दस गौण देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मिलकर ३३ देवता होती हैं। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके आधीन ३३ अंग हैं। इस भावको लेकर निम्नमंत्र देखिये—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ॥ १३ ॥
(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे ॥
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥
(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥
(अथर्व० १०।७)

" (१) जिसके अंगमें तैंतीस देव रहते हैं। (२) जिसके अंगोंके गात्रोंमें तैंतीस देव विशेष सेवा करते हैं, उन तैंतीस देवोंको ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही केवल जानते हैं। (३) तैंतीस देव जिसका कोश सदा रक्षण करते हैं, उस निधिको आज कौन जानता है ? "

यह वर्णन परमात्मामें पूर्णरूपसे और जीवात्मामें अंशरूपसे लगता है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थलमें कही ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपसे परमात्माके साथ जगतमें हैं और अंशरूपसे जीवात्माके साथ शरीरमें है। परमात्माका व्यापकत्व और महत्त्व तथा जीवात्माका अव्यापकत्व और अणुत्व छोड दिया जाय, तो तत्त्वरूपसे दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकार के वर्णन सहस्रों स्थानोंमें हैं।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है। ये तैंतीस देव मेरुपर्वतमें रहते हैं। " मेरुपर्वत " पृष्ठवंश ही है, जिसको रीढ मेरुदंड आदि कहा जाता है। इस पृष्ठवंशमें छोटी छोटी हड्डियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं और बीचके प्रत्येक पर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। योगमें जिस " ग्रंथिभेदन " का माहात्म्य वर्णन किया है, वे ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधनोंद्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इस प्रत्येक स्थानका अत्यंत महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर मेरुपर्वत अथवा मेरुदंडके सबसे ऊपरके भागमें, मस्तकके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थितिको " ब्रह्मलोककी प्राप्ति " कहते हैं।

ये तैंतीस देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्मचारीके आधीन होती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रममें वीर्यरक्षणपूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वाधीन ही करना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्य-सूक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तृप्त और स्वाधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्राणोंसे भरना और पूर्ण विकसित करना है।

उक्त तैंतीस देवोंसे भिन्न (त्रिशताः) तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये " शिवजीके त्रि-शतगण " होते हैं। साथ साथ (षट् सहस्राः) छः हजार भी हैं। पृष्ठवंशके साथ साथ छः चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, (२) नाभिस्थानके पास स्वाधिष्ठानचक्र और (३) मणिपूरकचक्र (४) हृदयस्थानके पास अनाहतचक्र; (५) कंठस्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों भौंहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तियोंके अंश केंद्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानोंमें छः हजार शक्तियां बंट गयी हैं। यहां " तीन सौ " और छः हजार " यह संख्या गिनतीकी है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवी योगी ही इस विषयमें कह सकता है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्राह्मणोंमें ३; ३३; ३३० इसी प्रकार बढाई है। सहस्रों, लाखों और करोडों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मज्जातंतुओंका मुख्य केंद्र है, उसके आधीन मस्तक, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीस बनके और उनमें सौ सौ विभाग मिलकर तीनसौ, इस प्रकार

सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग अगणित हुए हैं। इनको करोडोंमें बांटना अथवा अब्जोंमें बांटना यह केवल कल्पनामात्र ही होगा, प्रत्यक्ष गिनतीका कदापि न होगा। परंतु इस विषयमें यथार्थ निर्णय विशेष अभ्यासी पुरुष ही कर सकता है।

इस प्रकार (१) तीन, (२) तीन, (३) तीन सौ और (४) छः हजार देवताओंका स्वरूप, स्थान और माहात्म्य है। ब्रह्मचर्यके आधीन ये सब देव रहते हैं। जो ब्रह्मचर्य नहीं रखता और योगादि साधन नहीं करता उसके आधीन उक्त देव रह नहीं सकते। जब ये देव स्वाधीन नहीं रहते, स्वेच्छासे अपना व्यवहार करने लगते हैं, तब बडी भयानक अवस्था हो जाती है। प्रत्येक इंद्रिय स्वच्छंद होनेसे मनुष्यकी अवस्था कितनी गिर सकती है, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, सद्ग्रंथपठन, सत्समागम, उच्च विचारोंका धारण यम नियम, ईश्वरोपासना आदि सब साधना से यही करना है कि, अपने शरीरमें विद्यमान देवताओंके अंश अपने आधीन हो जांय, अर्थात् अपने अंदरकी संपूर्ण शक्तियां स्वाधीन होकर आत्माकी शक्ति पूर्णतासे विकसित हो जाय।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी परम सिद्धिका वर्णन इस मंत्रमें हुआ है। पाठक इस मंत्रके अर्थकी अधिक खोज करें और जहांतक हो सके वहांतक प्रयत्न करके इस दृष्टिसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करें।

अब अगले तृतीय मंत्रमें, ब्रह्मचर्याश्रममें करने योग्य "तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण" बताया है। साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अंधकारोंमें रहता है, उन तीनों अज्ञानोंका निराकरण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है।

गुरुशिष्य-संबंध।

इस तृतीय मंत्रके पहिले अर्धभागमें कहा है कि, "जब आचार्य ब्रह्मचारीको शिष्य मानकर अपने पास रखता है तब वह उसको अपने अंदर कर लेता है।" यहां अंदर करनेका तात्पर्य केवल अपने परिवारमें अथवा कुलमें संमिलित करना इतना ही नहीं है, प्रत्युत उस विद्यार्थीको अपने हृदयमें रखना है। हृदयमें अथवा अपने गर्भमें रखनेका भाव यह है कि, उससे छिपाकर कुछ भी नहीं रखना है। जिसका प्रवेश अपने घरमें अथवा परिवारमें होता है, उससे कोई बात छिपी नहीं रहती। परंतु इस ब्रह्मचारीका प्रवेश तो अंदरके गर्भमें होता है, इसलिए हृदयकी कोई बात उससे छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका संबंध है। गुरु अपने शिष्यसे कोई बात छल कपटसे छिपाकर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है, उसे पूर्ण रीतिसे शिष्यको पढावे, तथा शिष्य भी आचार्यके पेटमें रहकर भी उस गुरुको किसी प्रकार क्लेश न देवे।

तीन रात्रिका निवास।

इस मंत्रका दूसरा कथन है कि "वह आचार्य अपने पेटमें उस ब्रह्मचारीको तीन रात्रिका समय व्यतीत होनेतक धारण करता है।" उदरमें ब्रह्मचारीको धारण करनेका तात्पर्य पूर्वस्थलमें बताया ही है। यहां तीन रात्रिका भाव देखना है। मंत्रमें "तीन दिन" ऐसा नहीं कहा है, परंतु "तिस्रः रात्रीः (तीन रात्रियां)" ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अंधकारका भाव बताता है और अंधकार अज्ञानका बोधक स्पष्ट ही है। अर्थात् तीन रात्रियोंका तात्पर्य तीन प्रकारका अज्ञान है। इसलिये तीन रात्रि गुरुके पास रहनेका आशय स्पष्ट विदित होता है, कि तीन प्रकारका अज्ञान दूर होनेतक गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान स्थूलसूक्ष्म सृष्टिविषयक होता है, दूसरा अज्ञान आत्माके विषयमें होता है और तीसरा आत्मा अनात्माके संबंधके विषयमें अज्ञान होता है। इन तीनों अज्ञानोंको दूर करना ही विद्याध्ययनका उद्देश्य है। उक्त तीनों प्रकारके गाढ अज्ञान अंधकारकी रात्रिमें जीव सोते हैं। आचार्यकी कृपासे ज्ञानसूर्यका उदय होनेके कारण वह प्रबुद्ध शिष्य रात्रिका समय व्यतीत करके स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है।

यह तीन रात्रियोंका विषय कठोपनिषद्में भी आया है। पाठक विस्तारपूर्वक वहीं देखें। यहां थोडासा दिग्दर्शन किया जाता है।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिर्नमस्यः॥
(कठ उ० १।९।)

यह नचिकेतासे कहता है कि "तू नमस्कार करने योग्य ब्राह्मण अतिथि मेरे घरमें तीन रात्रि रहा है" इसलिये—

त्रीन् वरान् वृणीष्व॥ (कठ १।९)

"तीन वर मांग ले।" तत्पश्चात् नचिकेताने तीन वर मांग लिये। उनमें यम महाराजने (१) आत्मविद्या, (२) अग्निविद्या और दोनोंका संबंध बतानेवाली (३) कर्मविद्या ही बतायी है। इस उपनिषद्में नचिकेताको विद्या देनेवाले गुरुका नाम "यम" है, इस ब्रह्मचर्य-सूक्तके १४ वें मंत्रमें भी "आचार्यो मृत्युः" अर्थात् "आचार्य मृत्यु है" ऐसा

स्पष्ट कहा है। इसलिये प्रतीत होता है कि, इस ब्रह्मचर्य-सूक्तके साथ कठोपनिषद्का संबंध है और कठोपनिषद्की कथा का स्पष्टीकरण इस ब्रह्मचर्यसूक्तके स्पष्टीकरणसे होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

मंत्रका तीसरा कथन है कि, "जब वह ब्रह्मचारी जन्म लेकर गुरुके उदरसे बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब विद्वान् इकट्ठे होते हैं।" पूर्वोक्त तीन रात्रि समाप्त होने-तक अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह ब्रह्मचारी गुरुके पास रहता है किंवा गुरुके आधीन रहता है। जब तीन प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतासे जगत्में संचार करने योग्य होता है। मंत्रमें अंतिम चरणमें "जातं" पद है। इसका अर्थ "जिसने जन्म लिया है" ऐसा होता है। गुरु पिता है और विद्या माता है। इस विद्यारूपी मातासे इस समय जन्म होता है। यह दूसरा जन्म है, इस विषयमें कहा है—

स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः॥
(आप० ध० सू० १।१।१५—१७)

"वह आचार्य विद्यासे उस ब्रह्मचारीको उत्पन्न करता है। यह श्रेष्ठ जन्म है। मातापिता केवल शरीर ही उत्पन्न करते हैं।" इस प्रकार आचार्यद्वारा जो द्वितीय जन्म होता है, वही श्रेष्ठ जन्म है। इस जन्मको प्राप्त करनेसे ही द्विज बनते हैं। द्विज बननेसे सर्वत्र सन्मान होना योग्य ही है। गुरुकु-लोंसे इस प्रकार द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होना योग्य ही है। गुरुकुलोंसे इस प्रकार द्विज बननेके पश्चात् स्नातक जब अपने अपने घर वापस आ जाते हैं, तब वहांके लोग उनका बहुत सन्मान करते हैं।

इस चतुर्थ मंत्रमें पृथिवीकी प्रथम समिधासे "भोग" और द्युलोककी द्वितीय समिधासे "ज्ञान" का तात्पर्य यहां अभीष्ट है। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओंके द्वारा अंतरिक्षस्थानीय हृदयकी संतुष्टि और पूर्णता करना ब्रह्मचारीका उद्देश्य है। इस मंत्रके "पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः" ये तीनों शब्द बाह्य लोकोंके वाचक नहीं है, क्योंकि द्युलोक तो हमको अप्राप्य ही है। इस कारण अपने अंदरके स्थानोंका ही भाव यहां लेना उचित है। सभी शिक्षाप्रणाली हृदयकी शुद्धताके लिये ही होनी चाहि-ये। केवल भोगोंकी समृद्धि अथवा केवल ज्ञानसमृद्धि होनेसे भी कार्य नहीं होगा। केवल उदरपोषण अथवा केवल ग्रंथाव-लोकन होनेसे कार्यभाग नहीं हो सकता, परंतु जब हृदयकी शुद्धि, पवित्रता और निर्मलता होगी, तभी जीवनोद्देश्यकी पूर्ति होती है। इस उद्देश्यकी स्पष्टता करनेके लिये यह मंत्र है। भूमिके भोग और द्युलोकका ज्ञान इन दोनोंका उपयोग अंतःकरणकी शुद्धि करनेके लिये ही होना चाहिये। जगत्में शांति स्थापित होनेका यही एक साधन है। साधारण लोग केवल ज्ञानविज्ञा-नका प्रचार करते हैं अथवा भोग बढानेमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु वेद यहां सबको सावधान कर रहा है और स्पष्टतासे बता रहा है कि, इन "भोग और ज्ञान" का समर्पण जब हृदयकी पूर्णताके लिये होगा, तभी मानवजातिकी सच्ची उन्नति हो सकती है। इस मंत्रभागसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं।

श्रमका तत्त्वज्ञान।

अब अगले मंत्रभागमें कहा है कि, "ब्रह्मचारी अपनी समिधा, मेखला, परिश्रम और तपसे सब लोगोंको सहारा देता है" समिधा शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है "मेखला" कटिबद्ध होनेकी सूचना दे रही है। जनताके हितके कार्य तथा सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अभ्युदयनिःश्रेय-सके साधन करनेके लिये ब्रह्मचारीको सदा "कटिबद्ध" रहना चाहिये। "श्रम" का तात्पर्य परिश्रम है। सब प्रकारके पुरु-षार्थ करना परिश्रमसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही है कि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥ (ऋ० ४।३३।११)

'श्रम किये बिना देव सहायता नहीं करते' तथा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। पापो नृषद्वरो जन
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥ १॥
पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरे अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः।
चरैवेति चरैवेति॥ २॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः॥
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः
चरैवेति चरैवेति॥ ३॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥ ४॥

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥५॥

(ऐत० ब्रा० ७।१५)

"(१) श्रम किये बिना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती। सुस्त मनुष्य ही पापी है। पुरुषार्थीका मित्र ईश्वर है। इसलिये प्रयत्न करो पुरुषार्थ करो॥ (२) जो चलता है उसकी जांघें पुष्ट होती हैं, फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला आत्मा प्रभावशाली होता है। प्रयत्न करनेवालेके पापभाव मार्गमें ही मर जाते हैं। इस कारण प्रयत्न करो और श्रम करो॥ (३) जो बैठता है, उसका दैव बैठता है; जो खडा होता है उसका दैव खडा होता है, जो सोता है उसका दैव सो जाता है, तथा जो चलता है उसका दैव भी पास आ जाता है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो॥ (४) सो जाना कलियुग है, आलस्य छोडना द्वापरयुग है, उठना त्रेतायुग है और पुरुषार्थ करना कृतयुग है। इसलिये पुरुषार्थ करो॥ (५) मधुमक्खी चलकर मधु प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही मीठा फल प्राप्त करते हैं। सूर्यकी जो शोभा है, वह उसके निरलस भ्रमणके कारण ही है। इसलिये प्रयत्न करो, परिश्रम करो॥"

इस प्रकार परिश्रम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है। तथा—

श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः॥

(ऋ० १।७२।२)

"(श्रम-युवः) परिश्रम करनेवाले, (पद-व्यः) मार्गपर चलनेवाले, (धियं-धाः) धारणावती बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषार्थी लोग ही (अग्नेः परमे पदे) आत्माग्निके सुंदर परम स्थानको प्राप्त करते हैं।" तथा—

श्रान्ताय सुन्वते वरूथमस्ति। (ऋ० ८।६७।६)

"परिश्रम करके यज्ञ करनेवालेके लिये ही [ईश्वरका] संरक्षण प्राप्त होता है।" इस प्रकार परिश्रमका महत्त्व वेद वर्णन करता है। परिश्रम करनेवाला पुरुषार्थ, प्रयत्न करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अभ्युदय कर सकता है। अब तपके विषयमें थोडासा लिखना है। देखिये, तपका स्वरूप कितना व्यापक है-

ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥

(तै० आ० १०।८)

"ऋत, सत्य, अध्ययन, शांति, इंद्रियदमन, मनोविकारोंका शमन, दान, यज्ञ, (भूः) उपस्थित, (भुवः) ज्ञान, (स्वः) आनंद आदि सब तप ही हैं।" विचार करनेसे पता लग जाता है कि जन्मसे लेकर मरनेतक हरएक योग्य प्रयत्न तप ही है। तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुंचते हैं और तपसे ही अपना तथा जनताका अभ्युदय साध्य किया जाता है इसी लिये वेदने इस मंत्रमें कहा है कि, "ब्रह्मचारी श्रम और तपसे सब लोगोंको पूर्ण उन्नत करता है।" यदि ब्रह्मचारी श्रम न करेगा और तप न आचारेगा, तो न उसकी उन्नति ही हो सकती है और न वह दूसरोंका भला ही कर सकता है। (१) आत्मशक्तिकी समिधा अर्पण करनी है, (२) सदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये परम पुरुषार्थ करना है, (३) आनंदसे परिश्रम करके प्रारंभ किया हुआ शुभ कर्म समाप्त करना है, तथा (४) सत्यनिष्ठापूर्वक सब योग्य श्रेष्ठ कार्य करते हुए जो कष्ट होंगे, उनको शांतिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होनेतक प्रारंभ किये हुए शुभ कार्यको बीचमें ही न छोडना, ये बोध इस मंत्रद्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता।

इस मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥

(अथर्व० ६।१३३।३)

"(मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूं। इसलिये (भूतात्) मनुष्योंमेंसे यमके लिये और एक पुरुषकी (याचन्) इच्छा करता हूं। [जो पुरुष आयेगा] उसको भी मैं (ब्रह्मणा) ज्ञानसे, तपसे, परिश्रमसे और इस मेखलासे (सिनामि) बांधता हूं।"

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस आशयका कथन इस मंत्रमें भी है। ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूं, परन्तु मृत्युको समर्पित हो चुका हूं अर्थात् घरके प्रलोभन दूर हो चुके हैं। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु होनेके पूर्व दूसरा जन्म प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जो "द्वि-जन्मा" होते हैं, उनको "द्विज"

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचार्यही मृत्युका कार्य करता है। मातापिताने प्राप्त शारीरिक और मानसिक स्थितिमें योग्य परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोपनिषद्में भी इसी हेतुसे गुरुके स्थानमें मृत्युको ही माना है, ब्रह्मचर्यसूक्तमें भी " आचार्यको मृत्यु " ही कहा है। तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि " मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूं। इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलका विद्यामृत पान करता हुआ आनंदसे कह रहा है कि " मैं जनतासे और भी पुरुष-इसी प्रकार मृत्युको (आचार्यको) समर्पित करने की इच्छा करता हूं। " अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह भावना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आकर्षित करे। इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वहां आवें ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी " ज्ञान, तप, परिश्रम, " आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये। एक ब्रह्मचारीका दूसरे सहपाठीसे यही संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानता है, वह दूसरोंको समझावे। दूसरोंके हितार्थ परिश्रम करे और दूसरेका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

जब ब्रह्मचारी अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझें, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझें कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही हो चुका है! वह अब केवल माता पिताओंका ही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उसका पिता है!! इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है!!! जो आनंदसे मृत्युको ही स्वीकारनेके लिये कटिबद्ध होता है, जो अपनी अस्थियोंकी समिधा बनाने के लिये सिद्ध हो चुका है, जो अपने वीर्य, बल, पराक्रम के आज्यसे राष्ट्रीय नरमेधमें आहुतियां देनेके लिये उत्सुक है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसको अन्य क्लेश सता नहीं सकते, परिश्रमोंके भयसे वह स्वकार्यसे पराङ्मुख नहीं हो सकता। यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम।

तपसे उन्नति।

पंचम मंत्रमें तपका महत्त्व कहा है। ब्रह्मचर्यमें "घर्म और तप"का जीवन व्यतीत करना चाहिये। गर्मी-उष्णताका नाम घर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो क्लेश होते हैं, उनको आनंदसे सहन करनेका नाम तप है। इन दोनोंकी सहायतासे ही हरएक की उन्नति होती है। शीत उष्ण सहन करनेसे शरीरका आयुष्य बढता है, हानिलाभका ध्यान छोडकर कर्तव्यतत्पर होनेसे फलसिद्धितक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इसी प्रकार अन्य द्वंद्व सहन करनेसे अपना बल बढ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक बल बढनाही उच्चता प्राप्त होनेका फल है। यही बात " घर्म वसानः तपसा उदतिष्ठत्। " अर्थात् " उष्णता धारण करके कष्ट सहन करनेसे उच्च होता है। " इस मंत्रभागमें स्पष्टतासे कही है।

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार होता है, यह भाव " तस्मात् ज्येष्ठं ब्रह्म जातं" इस मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है। सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक, वैतनिक हों अथवा अवैतनिक हों, परंतु वे उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्यकी पूर्णता करनेवाले चाहिये। उक्त प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके श्रम और तपसे अपनी उच्चता जिन्होंने प्राप्त की है उस प्रकारके धर्मोपदेशोंसे ही ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुष्ठानी ब्रह्मचारी " देवाः अमृतेन साकं " सब देवोंको अमरपनके साथ मिला देता है। यहां 'देव' शब्दसे व्यवहार करनेवाले सज्जन लेना युक्त है। " भूदेव " ब्राह्मण हैं, वीरोंका नाम "क्षात्रदेव" है, वैश्योंको " धनदेव " कहते हैं, तथा शूद्रोंको " कर्मदेव " कहते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निषाद आदि पंचम " वनदेव " भी उक्त ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना, इस प्रकार सुयोग्य सुज्ञ धर्मज्ञानी उपदेशकको ही साध्य हो सकता है, इसलिये वेदमें अन्यत्र कहा है-

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् । तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामा विशत, तां प्रविशत । सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥
(अथ० १९।१९।८)

" ब्रह्मचारियोंसे ही ज्ञानकी उत्क्रांति होती है । उस ज्ञानकी नगरीमें आपको मैं ले जाता हूं । उसमें प्रवेश कीजिये, उसमें घुस जाइये । वह ज्ञानकी नगरीही आपको सुख और संरक्षण देवे । "

यह ज्ञानका महत्त्व है । पूर्वोक्त प्रकारके सच्चे ब्रह्मचारीही इस ज्ञानकी उन्नति करते हैं। अन्य बनने-झुक उपदेशकोंसे यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता । यह ज्ञानकी नगरी ज्ञानियोंके विचारक्षेत्रमें हुआ करती है । जो सज्जन उस विचार क्षेत्रमें पहुंच जाते हैं, उसमें घुस जाते हैं और वहां निवास करते हैं, उन्हेंही सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम ही है। कोई दूसरा मार्ग इस नगरीतक नहीं जाता ।

वास्तविक रीतिसे हरएकको इस पवित्र भूमिमें जाना चाहिये। जो इसमें प्रविष्ट होता है वह देवताका अंश बन जाता है, देखिये—

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ॥
(ऋ० १०।१०९।५, अथ० ५।१७।५)

" ब्रह्मचारी (विषः) सत्कर्मोंको (वेविषत् चरति) करता हुआ चलता है, इसलिये वह देवोंका एक अंग बन जाता है ।"

ब्रह्मचारी नियमानुकूल व्यवहार करता है तथा सत्कर्म दक्षतापूर्वक करता है, इसलिये वह देवोंका अवयव, भाग किंवा अंग समझा जाता है । कोई उसको साधारण मनुष्य न समझे। ब्रह्मचारी साधारण मनुष्य नहीं है वह देवोंका अंग है । परंतु जो नियमानुकूल चलनेवाला होता है वही इस प्रकार श्रेष्ठ है, न कि नकली ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है।

षष्ठ मंत्रके पूर्वार्धमें ब्रह्मचारीका रहना सहना अत्यंत सीधा साधा होनेकी सूचना दी गई है । काली कंबल अथवा कृष्णाजिनही उसका ओढनेका वस्त्र है, शीत निवारणार्थ अग्नि जलानेका साधन समिधायें सिद्ध हैं, हजामत आदिका झंझट नहीं है । इस प्रकारका सीधा साधा ब्रह्मचारी होना चाहिये । जहांतक सीधेसाधेपनका अवलंबन होना संभव होगा, उतना होना आवश्यक है खादीका लंगोट, खादीकी धोती, उत्तरीय और कुडता, काला कंबल यही ब्रह्मचारीका पोशाक है । इसप्रकार सादगीके साथ ब्रह्मचर्य नियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन करता हुआ, अपने आपको पवित्र बनानेके कर्ममें दत्तचित्त होकर, विद्याध्ययन बडी महनतसे करता है और सुफलताके साथ सफलता प्राप्त करता है । इस रीतिसे विद्याध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् वह जनपदमें भ्रमण करता है और लोकसंग्रह करता है। एकविचारसे लोगोंको एकत्रित करके, उनको महान् कार्यमें प्रवृत्त करना "लोक-संग्रह" का तात्पर्य है। जनता की उन्नति करनेके लिये इस प्रकार वह कार्य करता है, वारंवार भ्रमण करके व्याख्यानादि द्वारा वह सर्वत्र जागृति कर देता है । पूर्वसे उत्तर समुद्र तक वह प्रचार करता करता पहुंच जाता है, अर्थात् पूर्व अवस्थासे उच्चतर अवस्थातक वह स्वयं पहुंचता है और जनताको पहुंचाता है । इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रमरूपी पूर्व अवस्थासे गृहस्थाश्रमरूपी उत्तर अवस्थाको वह प्राप्त करता है ।

"समुद्र" (सं+उत्+द्रु) शब्द हलचलका वाचक है (सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्रु) गति अथवा हलचल करनेका नाम समुद्र है । इस समुद्रमें अब वह अपनी नौका चलानेको सिद्ध होता है । जनताकी उन्नति करनेके लिये जो जो हलचल करना आवश्यक है वह हलचल अब वह करने लगता है ।

ब्रह्मचारीकी हलचल ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि प्रथम अवस्थामें ब्रह्मचारी माता-पिता और घरबारके मोहजालको तोडकर, अपने आपको मृत्युके लिये समर्पित समझ कर, सब प्रकारके कष्ट और क्लेश सहन करनेके दृढ निश्चयके साथ, गुरुकुलमें निवासकर विद्याप्राप्तिके कार्यमें लगा हुआ था । इसी अवस्थामें वह विद्यासमाप्तितक रहा, सीधा साधा रहना सहना और उच्चविचार करना यही स्वभाव उसका बन गया था। जब वह विद्याके गर्भसे बाहर आ गया अर्थात् जब वह द्विज बना, तब वह (ब्रह्म) सत्यज्ञानका प्रचार करने लगा, सत्यज्ञानके प्रचारसे लोगोंको (अपः) सत्कर्मोंका उपदेश उसने दिया । सत्यज्ञान तथा सत्कर्मोंका ज्ञान जनतामें और होनेसे जनतामें स्वकर्तव्य जागृति उत्पन्न हो गई स्वकीय परिस्थितिकी जागृतिसे (लोकं) लोगोंको अपने वास्तविक स्थानका पता लगा । हमारा जन्मसिद्ध अधिकार यह है, यह हमारी योग्यता है, हमारी उन्नति इस रीतिसे हो सकती है, इत्यादि बातोंका ज्ञान जनतामें हुआ । इतनाही करके वह ब्रह्मचारी चुप न रहा, परंतु उसने (प्रजापतिं) प्रजाके पालन करनेवालेके धर्म भी बताये । राजाको इस

प्रकार बर्ताव करना चाहिये, अधिकारियोंके ये कर्तव्य हैं, इत्यादि सब उत्तम प्रकारसे बताया। साथ साथ परमेष्ठी परमेश्वरका स्वरूप भी लोगोंको बताया। जगत्का सच्चा नियंता वह एक ही परमेश्वर है, उसके सन्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यका खडा रहना है. वही सबका सच्चा न्यायकारी है, इसलिये उसीको सर्वोपरि मानना उचित है, इत्यादि सत्य व धर्मानुकूल तत्वोंका उन्होंने उपदेश किया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीके द्वारा जो जागृति हो गई, उससे राष्ट्रके सब लोगोंको पता लगा कि, ये सुर हैं और ये असुर है। असुरोंको दूर करना और सुरोंके अधिष्ठानृत्वमें राष्ट्र रहे बिना सत्य-धर्मकी स्थिरता नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय होते ही सब जनताने उसी को अपना इंद्र अर्थात् प्रमुख बनाया। और अब वह असुरोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा है। पहिले जो केवल ज्ञान प्रचारके कार्य करता था, वही अब क्षात्रधर्मका पुरस्कार करने लगा है। "इन्द्र" शब्द "(इन्) शत्रुओंका (द्र) विदारण करनेवाला" इस अर्थमें यहां है। इस मंत्रसे ज्ञात होता है और अनुमान होता है कि, ब्रह्मचर्य अवस्थामें जो अध्ययन होता है, उसमें ब्रह्मवर्चस् के साथही क्षात्रतेजका भी संवर्धन होना आवश्यक है। इसलिये ब्रह्मचारीको ब्रह्म-क्षात्रत्वका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। जनताका हित करते समय जो जो कार्य आवश्यक होंगे, उनको उत्साहके साथ करनेका बल और ओज उसमें चाहिये। यह आशय यहां इस मंत्रमें प्रतीत होता है,

अब वही ब्रह्मचारी इंद्र अर्थात् क्षात्र दलका मुखिया बन कर (असुरान् ततर्ह) असुरोंको भगा देता है। "ततर्ह" शब्द विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। असुर वे होते हैं कि, जो संपूर्ण जनताको त्रास देनेवाले होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें अ० १६, श्लो० ६ से १८ तक असुरोंके लक्षण कहे हैं। 'अनीश्वरवादी, नास्तिक गर्विष्ठ, घमंडी, स्वार्थी, दुष्ट, भोगी, कामी, क्रोधी अत्याचारी, क्रूर" आदि असुरोंके लक्षण वहां दिये हैं। सब चालक प्रयत्नके लोग असुर होते हैं। सब जनता इनसे त्रस्त होती है, इसलिये उक्त ब्रह्मचारी जनताका मुखिया बनकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शांति देता है। यही ब्रह्मचारीका आरम्भक है।

आठवें मंत्रमें कहा है कि, "आचार्य ततक्ष" अर्थात् "आचार्य आकार बनाता है।" "तक्ष्' धातुका अर्थ तक्षणसे हथियारोंसे काम करना, आकार बनाना, लकडीसे विविध पदार्थ बनाना, कल्पनासे नवीन यंत्रादिक की रचना योग्य रीतिसे बनाना" है। इस धातुसे 'तक्षक, तक्षन्' ये शब्द बने हैं, जिसका अर्थ "बढई, लकडीका काम करनेवाला, लकडीसे विविध आकार बनानेवाला" ऐसा होता है। "तक्षण" शब्दका भाव काटना ही है. तथा बढईके औजार हथियार आदिका नामही 'तक्षणी' है। इससे पाठकोंको विदित होगा कि, "ततक्ष" शब्दका भाव "आकार घडना है।" गुरु आचार्य का भाव "परमेश्वर" भी है, योगदर्शन में भगवान् पतंजली महामुनिने कहा ही है कि—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ (यो. द.)

'वह ईश्वर प्राचीनोंका भी आचार्य है क्योंकि वहां कालकी कोई मर्यादा नहीं है।' इस कथनसे आचार्योंका आचार्य और गुरुओंका गुरु परमेश्वर है। और वह पृथिवीसे लेकर द्युलोक तकके संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है। भाव स्पष्ट ही है। जो कार्य परम गुरु परमेश्वर करता है, वही कार्य यहां शिष्यकी मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है। संपूर्ण सृष्टिकी यथावत् कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना, यह काम अध्यापकका ही है इस दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गुरु शिष्यके लिये पृथ्वी और द्युलोक बनाता है। सृष्टिकी कल्पना हमारे ज्ञानमें ही है, सृष्टिविषयक जितना ज्ञान हमें होता है, उतनी ही सृष्टि हमारे लिये होती है। जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता, उन पदार्थोंका अस्तित्व भी हमारे लिये नहीं होता। अर्थात् ज्ञान-पूर्वक ही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिये हुआ करता है। इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ वे पदार्थ भी देता है। आचार्य पृथ्वीसे लेकर द्युलोकपर्यंत सभी पदार्थोंका ज्ञान देता है इसलिये उक्त लोकही शिष्यको समर्पित करता है।

जो इस समय आचार्य है, वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था। उस समय उसके गुरुने त्रिभुवनविषयक जो जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके स्वयं आचार्य बननेके पश्चात् वही ज्ञान अपने शिष्यको दिया। ज्ञान देनेसे संरक्षण सफल होता है। इसी प्रकार इस शिष्यको भी उचित है की वह गुरुसे प्राप्त त्रिभुवन और उसका ज्ञान अपने पास रक्षित रखे। इसी मंत्रमें कहा है कि "तं रक्षति तपसा ब्रह्मचारी" अर्थात् "ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका रक्षण करता है" आचार्य जो जो बात शिष्यके लिये घडता है, बनाता है तैयार

कर देता है अथवा ज्ञानरूपसे देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये। ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति गुरुशिष्योंके मनमें है, यह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं।

मंत्रके अंतिम भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके " ब्रह्मचारीमें उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं।" प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार होही चुका है। इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीकी सब इंद्रियां और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयमी हो जाता है। मन आदि आंतरिक इंद्रियोंका दमन और सब बाह्य इंद्रियोंका शमन होनेसे वह दान्त और शान्त होता है, यही संयम है। जिसको पूर्ण रीतिसे ' सं-यम " सिद्ध होता है, उसीका नाम " यम " है और उत्तम यमका नामही"सं-यम" है। इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही आगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व " यम" अथवा "सं-यमी" बनता है। आचार्यका ही नाम "यम" होता है।

ब्रह्मचारीकी भिक्षा।

नवम मंत्रका कथन अब देखिये ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उससे दोनों लोकोंकी भिक्षा लेता है। भूलोककी भिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और द्युलोककी भिक्षासे उसको आत्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथिवी और द्युलोकका संबंध शारीरिक और आत्मिक अभिवृद्धिके साथ है, यह पूर्व स्थलमें बात दी है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कहां रहते हैं, यह भी पहिले बताया ही है। आचार्यके पाससे वह ज्ञानमय भिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पृथिवीसे लेकर द्युलोकपर्यंत संपूर्ण विश्वकी भिक्षा अर्पण करता है। पृथिवी और द्युलोकके अंदर संपूर्ण विश्व आगया है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके संपूर्ण साधन इस भिक्षासे उस ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ।

अब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोंसे संपन्न हो जाता है, तब वह ब्रह्मचारी उक्त दोनोंसे लोकोंकी दो समिधायें बनाकर हवन करता है। इस ज्ञानयज्ञमें उस ब्रह्मचारीको अपनी सब भिक्षा अर्पण करनी होती है। यही उसका सर्वस्व-त्याग है। जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी भलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियोंका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णाहुति देकर, इस आत्मयज्ञकी समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी भलाई के लिये करनेका नामही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण व्यक्तिकी अंतिम सफलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिये अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, वही पूजा और उपासना है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका व्यय संपूर्ण समाजके उदयके लिये करनाही उस शक्तिका सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

दो कोश।

दसवें मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोकका कोश है और दूसरा द्युलोकका कोश है। दोनों कोश ब्राह्मणकी बुद्धिमें रहते हैं। ब्राह्मण अर्थात् गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी भिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान्की बुद्धिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक तथा सब अन्य विश्व रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्यको उपदेशद्वारा उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और द्युलोक वास्तवमें ज्ञानीकी बुद्धिमें हैं, बुद्धिमें ही संपूर्ण जगत्का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छानुसार दूसरोंको उक्त विश्वका दान करता है।

कोशरक्षक ब्रह्मचारी।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कोश शिष्यकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यंतका संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजानोंका किस रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें ही कहा है कि, "तपसे" संरक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व सहन करनेकी शक्ति बढाता है, वही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता है। तपके बिना, द्वंद्व सहन करनेके बिना उनका रक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे कही है।

दो अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें अग्नियोंका वर्णन है। पृथिवीपर एक अग्नि है और द्युलोकमें दूसरी अग्नि सूर्यरूपमें है। ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अन्तरिक्षमें मिल जाती हैं। इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिकारी होता है। पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होगा कि-(१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) बुद्धिमें रहनेवाले दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंकी दो अग्नि ये सब एकही मुख्य बातको बता रहे हैं।

शरीरमें मूलाधारीय जाठर अग्नि और द्युस्थानीय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है। जाठर अग्नि और मस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इनका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है। वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं। इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी।

बारहवें मंत्रमें मेघोंका ब्रह्मचर्य कहा है। वृष्टि करनेवाले मेघ बडी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं। दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहीन होते हैं परंतु बडी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताको केवल कष्टही होते हैं। इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलसे भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वीर्य) जलहीन होते हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादके समान अपनी बडी विशाल आवाजसे व्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें " नवजीवन " फैलाता है। परंतु दूसरे कई निर्वीर्य उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो व्याख्यानोंका घटाटोप करते हैं, परंतु उनके पोकले व्याख्यानोंसे किसीका भी काम नहीं होता। इसका कारण पहलेमें वीर्यके साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते।

बडे ब्रह्मचारीका कार्य।

तेरहवें मंत्रमें सबसे बडा ब्रह्मचारी परमात्मा है। वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधा डाल देता है। उस समिधासे उक्त देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्माके बलसे बहता है, जल उसीकी शांतिसे दूसरोंको शांति दे रहा है। अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिरूप समिधा इनमें रखता है, इस कारण अग्न्यादि देव अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इकट्ठा होता है। इससे वृष्टि और जल होता है, जलसे वृक्षवनस्पतियां, उससे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुरुष किंवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। यह बडे ब्रह्मचारीका जगत्में कार्य होता है।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये। छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है और यमनियमादिकोंका पालन करके विद्याध्ययन करता है। परमात्मा में जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु, (५) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस ब्रह्मचारीमें क्रमशः (१) वाक्, (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) वीर्य आदि है। यह छोटा ब्रह्मचारी अपनी समिधा इनमें डालता है और इनको प्रज्वलित करता है। वक्तृत्वशक्ति, दृष्टि, विचारशक्ति जीवनकी कला, और वीर्य तथा अन्यान्य शक्तियोंका विकास करना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है। अपनी स्वकीय आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी उक्त अग्नियोंमें डालता है और उनको प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है। जब उक्त शक्तियां बढ जाती हैं, तब उनकी ज्वालायें अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकरणमें किंवा हृदयमें मिल जाती हैं। वाणी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकरणमें हो जाता है। उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुरुषकी प्रसिद्धि होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र शांति फैलती है।

छोटे और बडे ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं। इन कार्योंको देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता व्यक्त होती है। यही समानता देखने योग्य है। आत्मा परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुणसाधर्म्य इस प्रकार देखने योग्य है।

आचार्यका स्वरूप।

चौदहवें मंत्रमें आचार्यको ही मृत्यु कहा है। क्योंकि उसकी कृपासे दूसरा जन्म प्राप्त होता है और शिष्य, 'द्वि-ज' बनता है। पहिला जन्म मातापितासे मिलता है। पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारके समय होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है, विद्या और आचार्यके गर्भमें नियत समय अर्थात् १२, २४, ३६, ४८ वर्षतक रहकर उस गर्भसे बाहर आता है वह उसका दूसरा जन्म है। परमात्माका नाम मृत्यु है। इसलिये कि वह पहिले जीर्ण शरीरको छुडवाकर दूसरा कार्यक्षम नवीन शरीर

देता है। आचार्य भी वही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारकको कहते हैं। पापसे निवारण करता है, और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वरण्य अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही यह है कि (आचारं ग्राहयति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है। चंद्रके समान शांति और आल्हाद देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिष्यके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कारणीभूत होती है। "सोम" शब्दका दूसरा अर्थ (स+उमा) ज्ञानी ऐसा भी है। "उमा" शब्द संरक्षक विद्या अथवा ज्ञान किंवा मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। वहां उमा शब्दका 'ब्रह्मविद्या' अथवा 'मूलशक्ति' ऐसा अर्थ होता है। (अवति इति उमा) जो रक्षक विद्या किंवा शक्ति होती है, उसका नाम "उमा" है, इस प्रकारकी संरक्षक विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः सोमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द "दोषधी" शब्दसे निरुक्तकार (निरु० दै० ३।३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वास्थ्य प्राप्त करनेका काम औषधिका है। वही कार्य आचार्य करता है शिष्यके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्थ-ता) स्वावलंबन अर्थात् अपनी शक्तिसे खडा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूध है। "पयः" शब्दका अर्थ "दूध, जल, वीर्य, अन्न, बल, उत्साह" इतना है। इन सब अर्थोंका भाव "पुष्टिका साधन" इतना ही है।

पंद्रहवें मंत्रमें गुरुशिष्यके सहवासका महत्त्व कहा है। जो लाभ विशेषतः शिष्यको होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहवास, अर्थात् साथ रहनेका भाव बता रहा है। सूर्यचंद्रके सहवासके अहोरात्रका नाम "अमा" अथवा "अमावास्या है। यहां सूर्य स्वयंप्रकाशक होनेसे गुरु किंवा आचार्य है और चंद्र परप्रकाशक किंवा सूर्यके तेजसेही प्रकाशनेवाला होनेसे उसका शिष्य है। यह जो सूर्यचंद्रका सहवास "अमा-वास्या" के दिन होता है, वही सहवास गुरुशिष्यके विषयमें यहां "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्यरूपी सूर्यके विद्यातेजसे शिष्यरूपी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यचंद्र विद्याध्ययनकी समाप्तितक इकट्ठे रहते हैं। इतनाही नहीं परंतु यहां का "अमा" शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिष्यका सहवास विद्याध्ययनकी समाप्तितक अवश्यही होना चाहिये। नियत समयपर पढानेके लिये गुरुका आना और पढाईके पश्चात् चले जाना, अध्यापनका यह ढंग ठीक नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिष्यको अत्यंत लाभ पहुंचता है। इसी उद्देश्यसे गुरुकुलवासकी प्रणाली वेदने बताई है। गुरुके घरमें उसके पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समय में वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरुशिष्यके नित्य सहवाससे अत्यंत लाभ है और इस समय सब लोगोंको सबही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें "घृत" शब्द है। "घृ क्षरण-दीप्त्योः" इस धातुसे यह शब्द बना है। (१) प्रवाह चलना और (२) तेज फैलना ये दो अर्थ "घृ" धातुके हैं। घृत शब्दमें भी ये दोनों भाव हैं। गुरु-शिष्यका सहवास घृत करता है, यह मंत्रका कथन है अर्थात् गुरुशिष्यके सहवाससे विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञानतेज फैलता है। इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरु-शिष्यसंबंधसे ही हमारे पास पहुंचा है। और यही ज्ञान मनुष्योंका तेज बढा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुरु अपने शिष्यसे किस प्रकारकी गुरुदक्षिणा मांगता है? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बतानेवाला शब्द इस मंत्रमें "प्रजापते" यह है। यह गुरुदक्षिणा "प्रजाके पालन करनेके विषयमें" होती है। प्रजाके पालनके विषयमें अथवा जनताके हितके संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, अथवा आचार्य ऐसी दक्षिणा मांगता है कि जिससे सब जनताके पालनसंबंधी कुछ भाग बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। इस प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको बता रहा है कि संपूर्ण प्रजाजनोंके पालनके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपको समर्पित करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, और राष्ट्रीय शिक्षाका यही आदर्श है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनात्मक कर्तव्यका अपना हिस्सा करके अपने आपको उत्तम नागरिक सिद्ध करे।

स्वराज्यमें संपूर्ण नागरिक जन प्रजापालनात्मक कार्य करनेवाली " प्रजा-पतिसंस्था " के अंशभूत ही होते हैं, इसलिये प्रत्येक अंशभूत नागरिकको संपूर्ण अंशी राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अपने कर्तव्यपालनकी पराकष्ठा करना अत्यंत आवश्यकही है।

सोलहवें मंत्रमें कहा है कि "आचार्यः ब्रह्मचारी" अर्थात् "राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये।" ब्रह्मचारीका अर्थ यहां विवाह न किये हुए सज्जन, ऐसा नहीं समझना चाहिये। विवाह करनेके पश्चात् भी ऋतुगामी होनेसे तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव है। छोटे मोटे सबही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि नागरिक कार्य करनेमें लगे होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये। कामी, भोगी, लोभी तथा स्वार्थी नहीं होने चाहिये। जब ब्रह्मचर्यका महत्त्व सब अध्यापकोंको ज्ञात होगा, तभी वे अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार जो बात अध्यापकों द्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें स्थिर की जाती है, वह राष्ट्रमें द्दमूल हो जाती है।

आदर्श राज्य शासन।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहिये। राजा, महाराजा, सम्राट्, प्रधान, मंत्री, सेनानायक, सैनिक, प्रमाधिकारी तथा सब अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही होने चाहिये। यहां ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है, परंतु आगे गृहस्थी बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब राज्याधिकारी होने चाहिये। जहां ऐसे अधिकारी ब्रह्मचारी न होंगे वहांका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजापालनका कार्य जो जो अधिकारी करता है, उसे उचित है कि वह ब्रह्मचर्यके पालनके साथ संयमी बनकर अपना कार्य करे। राज्यके प्रधान अधिकारियोंको भी यहां सूचना मिलती है कि ओहदेदार नियत करनेके समय वे उसकी अन्य योग्यता देखनेके साथ यह भी बात अवश्य देखें कि वे ब्रह्मचारी और धार्मिक हैं या नहीं।

जिस राज्यमें ज्ञानप्रचार करनेवाले विद्याधिकारी और संरक्षणका कार्य करनेवाले क्षात्राधिकारी उत्तम ब्रह्मचारी होंगे वहां की राज्यव्यवस्था का क्या कहना ? यही " आदर्श राज्य-व्यवस्था " वेदको अभीष्ट है। इस समय जो राज्य इस भूमंडलपर चलाये जा रहे हैं, वे भोगी लोग चला रहे हैं। भोगी लोग ही आसुरी संपत्तिवाले हुआ करते हैं। भोगी असुरोंसे प्रजाको कष्टही कष्ट पहुंचते हैं। इसलिये मंत्र ७ में कहा है कि, " ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर असुरोंको दूर किया।" भोगी असुरोंको दूर करके त्यागी संयमी जितेंद्रिय ब्रह्मचारियोंको ही अधिकारपर लाना ब्रह्मचारीका राजकीय हलचलका कार्य होता है।

ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण।

राजा, राजपुरुष आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक आदि ब्राह्मण, स्वयं ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहिये, इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है। अब इस १७ वें मंत्रमें कहा है कि राजप्रबंधसे तथा पाठशाला, गुरुकुल आदिके प्रबंधसे राष्ट्रके ब्रह्मचर्यका पालन होवे।

राजा अपने राज्यमें ऐसा उत्तमताका प्रबंध रखे कि सब अधिकारी ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले हों और वे अपने अधिकार क्षेत्रमें रहनेवाली जनतासे ब्रह्मचर्यका पालन करावें। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी व्यवस्था करेगा तो संपूर्ण राज्य ब्रह्मचर्यपालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य यहां संयमसे है। राज्यमें बालविवाह न हो, विवाह योग्य समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और व्यभिचार न हो, संयम और त्यागवृत्तिसे व्यवहार किया जावे इस प्रकार मरनेतक ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है। इस प्रकारका ब्रह्मचर्य राज्य-शासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके राजा राष्ट्रका विशेष रीतिसे संरक्षण कर सकता है।

सर्वसाधारण जनता अज्ञानी होनेके कारण सुनियमोंका पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधसेही सुनियमोंका पालन होता है, तब वे लोग भी उन नियमोंके पालन करनेका लाभ प्राप्त कर सकते हैं। समाजकी उन्नति अवनति की अवस्थाके अनुसार नियममें परिवर्तन हो सकता है। परंतु यहां ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, बलसंवर्धन, ओजःस्थापन, ज्ञानसंपादन, उपासना आदिका संबंध है। राजप्रबंधसे ही सब लोग इनको करें और राजा सबसे इनका पालन कराके जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

कन्याओंका ब्रह्मचर्य।

पूर्व मंत्रमें सूचित हो गया है कि राजा प्रबंधद्वारा सब जनतासे ही ब्रह्मचर्यका पालन कराके प्रजाका विशेष पालन करता है।

इस मन्त्रमें जैसे पुरुषोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये। पुरुषोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें किसीको शंका नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुल्लिंगमें होनेसे पुरुषोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा वेदसे सिद्ध हो गई है। इस अठारहवें मंत्रमें 'कन्या' शब्दने कन्याओंके ब्रह्मचर्यकी सूचना हो गई है। अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रबंधद्वारा ही होना चाहिये।

पशुओंका ब्रह्मचर्य।

घोडे बैल आदि पशु सचमुच ब्रह्मचारी ही रहते हैं। अति कामभाव उनमें नहीं होता। कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें कामुकता नहीं होती। मनुष्योंकी अपेक्षा पशुओंमें स्त्रीसंबंध न्यूनही होता है, इसलिये वे आयुभर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है।

अपमृत्युको हटानेका उपाय।

उन्नीसवें मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य आयुष्य वृद्धि करनेवाला और रोग दूर करनेवाला है। जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है। इसी रीतिसे देव अमर बने हैं। जो देवोंको साध्य हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी साध्य कर सकते हैं। देवोंका राजाधिराज इंद्र भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उसने सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। जो इसप्रकार ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सब अधिक तेजस्वी हो सकता है। ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिखाई देता है। ब्रह्मचारी जितेंद्रिय पुरुषका मुख कमलके समान तेजस्वी, उत्साही और स्फूर्तियुक्त होता है। इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य।

सूर्य ब्रह्मचारी है क्योंकि वह ब्रह्मके साथ संचार करता है किंवा ब्रह्मके साथ रहता है। इस ब्रह्मचारी-सूर्यसे संवत्सर अर्थात् वर्ष, ऋतु, मास, दिन, रात्रि तथा भूत वर्तमान और भविष्य ये तीनों काल प्रगट हो रहे हैं। यह सूर्यके ब्रह्मचर्यकी महिमा है।

औषधि वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके कारण ब्रह्मचारिणी हैं। औषधि वनस्पतियोंका जनक मेघ किंवा पर्जन्य है। यह मेघ भी ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह "ऊर्ध्व-रेताः" है। "ऊर्ध्व" अर्थात् ऊपर धारण किया है, "रेतः" अर्थात् उदक जिसने, ऐसा मेघ है, इसलिये वह "ऊर्ध्व-रेता" है और इसी हेतुसे ब्रह्मचारी भी है। इसी ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है। वहां कहा है कि यह "ब्रह्मचारी मेघगर्जना करता हुआ पहाडोंपर और भूमिपर (रेतः) उदकका सिंचन करता है, उससे सब दिशायें जीवित रहती हैं।" ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जो ऊर्ध्वरेता होगा उसमें भी पालन करनेकी शक्ति आ सकती है। सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकरूपी रेतको ऊपर खींचता है। मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे वीर्यको अपने ऊपर खींच सकता है। इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है।

पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य।

पहिले बैल और घोडेके विषयमें मंत्र १८ में कहा ही है कि वे ब्रह्मचारी हैं। प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं। बंदर आदिमें वीर्यके नाश करनेका अभ्यास दिखाई देता है, परंतु साधारणतः पशु ऋतुगामी होते हैं। ऋतुकालसे भिन्न समयमें न तो वे स्त्रीके पास जाते हैं और न स्त्री उनको अपने पास आने देती है। सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशुओंमें तो यह ब्रह्मचर्य और एकपत्नीव्रत विशेष ही तीव्र है। परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको ऋतुकालको छोडकर अन्य समयमें स्त्रीपुरुषाभिलाष भी नहीं होता। कई पशुपक्षी इस नियममें अपवाद भी हैं, परंतु वह अपवाद पूर्वोक्त नियम ही सिद्ध कर रहा है। पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बोध लेना चाहिये। पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषधिवनस्पतियां आदि भी ऋतुकालमें ही पुष्पवती होनेके कारण ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी हैं। संवत्सर भी ऋतुओंमें ही गमन करता है, इसलिये वह भी ऋतुगामी होनेसे ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारीका ज्ञान सबका संरक्षण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है। क्यों कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होता है, यह बाईसवें मंत्रमें कहा है।

देवोंका तेज ।

तेईसवें मंत्रमें देवोंके तेजका वर्णन है। जो उत्साह और स्फुरण देता है, जो सबसे श्रेष्ठ भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है। राष्ट्रमें विद्वान् देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चैतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं। शरीर में ज्ञान-इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव हैं कि, जो जड शरीरमें रहकर उससे भी विलक्षण स्फूर्तिका कार्य करा रहे हैं। तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यचंद्रादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चेतना दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होते हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विलक्षण उत्साह उत्पन्न करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति ब्रह्मचारीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करती है तथा अमरपन भी देती है।

उपदेशका अधिकारी ।

चोवीस और पचीसवें मंत्र में ब्रह्मचारीके विशेष ज्ञानका उल्लेख है। ब्रह्मचारी विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये उसका अद्भुत तेज फैलता है। इस हेतुसे उसके अंदर सब देवताएं ओतप्रोत होकर रहती हैं। उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती। अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्तिके साथ वह अपना कार्य चलाता है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, अपान, व्यान आदि सब प्राणोंको अपने आधीन करता है। प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है, क्यों कि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं। यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चंचलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदयकी दिव्य शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियमबद्ध होनेसे मेधाबुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बढने लगता है। अब उसकी योग्यता होती है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशकके वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है। क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है।

इस कारण लोग चाहते है कि अपने उद्धारका कोई सदुपदेश उससे प्राप्त हो। जहां उक्त ब्रह्मचारी पहुंचता है वहांके सज्जन उससे कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी! हमें उपदेश दो! चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नीरोग और प्रभावशाली करनेकी रीति बताओ! कोई कहते हैं कि अन्नकी न्यूनता बडा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विपुल अन्न कैसे प्राप्त होगा? कोई महाजन पूछते हैं कि पेट ठीक करनेका उपाय क्या है! हाजमा ठीक नहीं है, इसका कोई उपाय कहो। वे पूछते हैं कि हमारा वीर्य स्थिर नहीं रहता और खून भी खराब हो गया है; इसके लिये क्या उपाय करने चाहिये।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथायोग्य-उत्तर ब्रह्मचारी देता है, योजना और युक्तिपूर्वक सबकी शंकाओंका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर चलाता है। इतनी योजना होनेपर भी अपनी आत्मिक शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्मशक्तिका विकास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्याके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मशक्तिसे युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इस पृथिवीपर उसकी शोभा अत्यंत बढती है। यह ब्रह्मचर्यका तेज है, इसलिये हरएकको ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये।

पापसे बचानेकी प्रार्थना।

(६)

(ऋषिः—शंतातिः । देवता—चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥
ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा । विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥
वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ॥ ६ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चन्तु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः । शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥
भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः । इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, औषधि, (वीरुधः) लता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते) वे (नः अंहसः) हम सबको पापसे (मुञ्चन्तु) बचावें ॥१॥

राजा, वरुण, मित्र (अथो) और भग, अंश, विवस्वान्० ॥ २ ॥ सविता देव, धाता, पूषा, (अग्रियं त्वष्टारं) मुख्य त्वष्टा० ॥ ३ ॥ गंधर्व और अप्सरागण, अश्विनी देव, ब्रह्मणस्पति, (यः अर्यमा नाम देवः) और जो अर्यमा नामक देव है० ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र ये (उभा) दोनों, (विश्वान् आदित्यान्) सब आदित्य० ॥ ५ ॥ (वातः) वायु पर्जन्य, अन्तरिक्ष, (अथो) और दिशा, (आशाः) उपदिशाकी (ब्रूमः) हम सब प्रार्थना करते हैं कि (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएं (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझे शपथसे मुक्त करें, (यं चन्द्रमा इति आहुः) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है, वह सोमदेव (मा मुञ्चतु) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

(पार्थिवाः दिव्याः पशवः) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी (उत ये आरण्या मृगाः) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भव और शर्व (यः पशुपतिः रुद्रं) जो पशुपालक रुद्र है, (या एषां इषूः) जो इनके बाण (सं विद्मः) हमें विदित हैं (ताः) वे (नः सदा शिवाः सन्तु) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्। समुद्रा नद्यो॑ वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१०॥
सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्। पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥११॥
ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये। पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १२ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः। आङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १३ ॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥
पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्। मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१६॥
ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्। समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥
एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥
विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृधः विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१९॥

अर्थ- (दिवं) द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियां, (वेशन्ताः) जलाशय, ॥१०॥ सप्तर्षिगण, (आपः देवी) जल, प्रजापति, (यमश्रेष्ठान् पितॄन्) पितर और उनका आधिपति यम० ॥ ११ ॥

(ये दिविषदः देवा) जो द्युलोकमें रहनेवाले देव हैं, (च ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्राः) जो समर्थ देव (पृथिव्यां श्रिताः) पृथिवीका आश्रय किये हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आदित्य, रुद्र, वसु (दिवि अ-थर्वाणः देवाः) द्युलोकमें जो निश्चल देव हैं, तथा (मनीषिणः अंगिरः) मननशील अंगिरस हैं (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, [ऋचः] ऋग्वेद, साम, [भेषजा] वैद्यके साथ [यजूंषि] यजुर्वेद, [होत्राः] होमहवन कर्म० ॥ १४ ॥

[वीरुधां सोमश्रेष्ठानि पञ्चराज्यानि] जिसमें सोम श्रेष्ठ है ऐसी औषधियोंके पांच राज्य, दर्भ [भङ्ग] भांग [यवः] जौ, और [सहः] बलशाली धान को [ब्रूमः] हम कहते हैं कि [ते] वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

[अरायान् रक्षांसि] अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों [एकशतं मृत्यून्] एक सौ मृत्युओंको० ॥ १६ ॥

ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, [आर्तवान् हायनान्] ऋतुओंसे बननेवाले अयनों [समाः संवत्सरान् मासान्] सम वर्ष, संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो! (दक्षिणतः एत) दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् (प्राञ्चः उदेत)पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ, (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्तात् उत्तरात् समेत्य) समक्ष उत्तर दिशामें इकठ्ठे होकर (ते नः०) हम सबको पापसे बचाओ ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृधः) सत्यको बढानेवाला (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वाभिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (नः०) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

*

सर्वा॑न् दे॒वानि॒दं ब्रू॑मः स॒त्यसं॑धानृता॒वृधः॑ । सर्वा॑भिः॒ पत्नी॑भिः स॒ह ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥२०॥
भू॒तं ब्रू॑मो भूत॒पतिं॑ भू॒ताना॑मु॒त यो व॒शी । भू॒तानि॒ सर्वा॑ सं॒गत्य॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥२१॥
या दे॒वीः पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ ये दे॒वा द्वाद॑श॒र्तवः॑ । सं॒व॒त्स॒रस्य॒ ये दंष्ट्रा॒स्ते नः॑ सन्तु स॒दा॑ शि॒वाः ॥२२॥
यन्मात॑ली रथक्री॒तम॒मृतं॒ वेद॑ भेष॒जम् । तदिन्द्रो॑ अ॒प्सु प्रावे॑शय॒त् तदा॑पो दत्त भेष॒जम् ॥२३॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(यः वशी) जो सबको वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतिको तथा (भूतं) भूतको हम (ब्रूमः) कहते हैं कि (सर्वा भूतानि संगत्य) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

(याः पञ्च देवीः प्रदिशः) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं, (ये द्वादश ऋतवः देवाः) जो बारह ऋतु देव हैं, [ये संवत्सरस्य दंष्ट्राः] जो वर्षके दाढोंके समान हैं [ते नः सदा शिवाः सन्तु] वे हम सबको सदा शुभ हों॥ २२ ॥

[मातलिः] मातलि [यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद] जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपन देनेवाले औषधको जानता है [इन्द्रः तत् अप्सु प्रावेशयत्] इन्द्रने उस औषधको जलोंमें प्रविष्ट किया है, हे [आपः] जलो ! [तत् भेषजं दत्त] उस औषधको हमें दीजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जावे ॥१-२३ ॥

इस सूक्तका विचार।

इस सूक्तमें मानवोंको पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है ।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सार्वजनिक अर्थात् सांघिक है । सब लोगोंसे मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ते नो मुञ्चन्तु अंहसः - वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पापसे मुक्त करें, ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है। सांघिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक सारस्वतमें विशेष है, क्योंकि उससे संघशक्ति बढती है ।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है-

पृथ्वीस्थानीय देवता।

१ अग्नि १
२ वनस्पति १
३ ओषधि १
४ वीरुधः १
५ अहोरात्र ५, ७
६ शपथ्य ७
७ उषाः ७
८ पार्थिवाः पशवः ८
९ आरण्याः मृगाः ८
१० भूमि १०

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

द्युस्थानीय देवता।

५ मित्र २
६ विष्णु २
७ भग २
८ अंश २
९ विवस्वान् २
१० सवितादेव ३
११ धाता ३
१२ पूषा ३
१३ त्वष्टा ३
१४ अश्विनौ ४
१५ ब्रह्मणस्पति ४
१६ अर्यमा ४
१७ विश्व आदित्याः (द्वादश) ५, १३
१८ दिव्याः पशवः (पक्षिणः) ८
१९ द्युः १०
२० नक्षत्राणि १०
२१ सप्तर्षयः ११
२२ देवीः आपः ११
२३ प्रजापतिः ११
२४ दिविषदः देवाः १२, १३

यहां तीन स्थानोंमे देवताओंको बांटकर रखा है। देवतानामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवताएं अन्तरिक्ष स्थानमें अथवा द्युस्थानमें रखने योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध आनेके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है। इतना भेद विचार की सुबोधताके लिये किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें ४८
अन्तरिक्षस्थानमें २०
द्युस्थानमें २३

मिलकर कुल ९१ इतनी देवताएं हुई ।

इनमें ८वसु, ११रुद्र, १२आदित्य, ७मरुद्गण, १००मृत्यु, १२मास, १२ऋतु, ६ऋतु, २अयन, ६ऋतुपति, ४दिशा, ४ उपदिशा, ये १८४ देवताएं अधिक होती हैं। इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनेसे कम किये जायं तो शेष १७२ रह जाती हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवताएं होती हैं।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध आता है यह देखकर पापसे बचनेका यत्न साधक को करना उचित है।

इसमें कई देवताएं पापके लिये साधकभी होती हैं। जैसे भूमि, जल, वनस्पती, पशु, पक्षी, इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते आये हैं, आपसमें झगडते रहे हैं, भूमिके कारण कितने युद्ध हुए हैं और कितने मानव काटे गये हैं, यह इतिहास में देखने योग्य है। मानवोंमें राक्षसभाव इनके कारण ही आता है। बचना तो इसी राक्षसभावसे है। व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राक्षसभाव दूर हो जाय और उनमें दैवी भाव स्थिर हो जाय। इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्तु सदा शिवाः । २१ । ९

'ये सब देव हमारे लिये सदा शुभमार्ग बतानेवाले हों।' इस प्रार्थनामें अशुभवृत्ती होनेकी संभावना सूचित होती है। मन वश में रखकर किसी प्रकारभी अशुभवृत्ती मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये।

इसतरह मनुष्य पापसे बच सकता है। मन ढीला रहेगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और पवित्रात्मा होकर यशस्वी बने।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त।

(७)

(ऋषिः–अथर्वा। देवता– अध्यात्मं, उच्छिष्टः)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥
उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥
सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥३॥
दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश। नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥
ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥५॥
ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्। उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भ इव मातरि ॥६॥

अर्थ—(उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप, (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं। (उच्छिष्टे इन्द्रः च अग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उसके अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे द्यावापृथिवी) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं, (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमाः वातः आहितः) जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब उसीमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

(सत् असत् च उभौ उच्छिष्टे) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें है, (मृत्युः वाजः प्रजापतिः) मृत्यु, अन्न अथवा बल और प्रजापालक, (लौक्याः व्रः च द्रः च) लोकोंके संबंधमे सब धन तथा स्वीकारने योग्य और नाश करने योग्य सभी पदार्थ (उच्छिष्टे आयत्ताः) उच्छिष्टमें ही संबंधित हुए हैं। (श्रीः मयि) शोभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(दृढः दृंह स्थिरः न्यः) सुदृढ, दृढतासे स्थिर रहनेवाला और गतिमान् (ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः) ज्ञान, विश्वकी उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (नाभिं चक्रं इव सर्वतः) नाभिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (उच्छिष्टे श्रिताः) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, उद्गीथ, (प्रस्तुतं स्थितं) स्तुति और स्तवन, हिंकार, स्वर, (साम्नो मेडिः) सामगानके आलाप यह सब उच्छिष्टमें हैं, (तन्मयि) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(ऐन्द्राग्नं पावमानं) इन्द्र, अग्नि और पवमान, वायुके सूक्त, (महानाम्नीः महाव्रतं) महानाम और महाव्रतवाले मंत्र-भाग ये सब (यज्ञस्य अंगानि उच्छिष्टे) यज्ञके अंग उच्छिष्टमे स्थित हैं जैसे (मातरि अन्तः गर्भः इव) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः ॥७॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥८॥

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥११॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥१३॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥१४॥

अर्थ- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, (तत् अध्वरः) वह हिंसारहित यज्ञ, अर्क-अश्वमेध, (मदिन्तमः जीवबर्हिः) आनन्द देनेवाला जीवोंका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(अग्न्याधेयं अथो दीक्षा) अग्न्याधान, दीक्षा, (छन्दसा सह कामप्रः) छन्दके कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, उत्सन्नाः यज्ञाः सत्राणि) उत्सन्न यज्ञ और सब सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्रीः, प्रक्रीः उक्थ्य ये सब यज्ञ और (यज्ञस्य अणूनि) यज्ञके अन्य अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओतं निहित) विद्याके साथ उच्छिष्टमें ओतप्रोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्री, पांच रात्री, छः रात्री, (उभयः) उभय अर्थात् आठ, दस और बारह रात्रीवाला, (षोडशी) सोलह, (सप्तरात्र) और सात रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टमें बने हैं और (अमृते हिताः) वे अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न अतिरात्र, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं। यह सब ज्ञान मुझमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता संनतिः) सत्य भाषण, नम्रभाव, (क्षेमः स्वधा ऊर्ज) कल्याण, स्वधा, बल (अमृतं सहः) अमरपन, सहन शक्ति, ये (सर्वे कामाः कामेन तातृपुः) सब काम जो कामनाएं तृप्त करनेवाले हैं, (उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और (दिवः) द्युलोक भी (उच्छिष्टे अधिश्रिताः) उच्छिष्टमें आश्रित हैं। सूर्य उच्छिष्टमें ही (आ भाति) प्रकाशता है, जिससे अहोरात्र होते हैं। यह सब ज्ञान (मयि) मुझमें रहे ॥ १४ ॥

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥
पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः । उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥
अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)
शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥
राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः । अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥
यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

अर्थ—उपहव्य, विषुवान् और (ये च गुहा हिताः यज्ञाः) जो गुहामें आश्रित यज्ञ हैं, इनको (विश्वस्य भर्ता जनितुः पिता) विश्वका पोषक और पिताका भी पिता (उच्छिष्टः बिभर्ति) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

(उच्छिष्टः जनितुः पिता) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है यह (असोः पौत्रः पितामहः) प्राणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य ईशानः क्षियति) वह विश्वका ईश्वर होकर सर्वत्र रहता है वह (वृषा भूम्यां अतिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी, (बले बलं) बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समृद्धि, (ओजः) शक्ति, (आकूतिः) संकल्प, क्षात्र, राष्ट्र, (षट् ऊर्व्यः) छः भूमियां, संवत्सर, (इडा) अन्न, (प्रैषाः ग्रहाः) प्रैष ग्रह और हवि यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १८ ॥

चतुर्होता, आप्रिय, चातुर्मास्य, नीविद, यज्ञ, होत्रा, पशुबन्ध और उनकी इष्टियां उच्छिष्टमें रहती हैं ॥ १९ ॥

(अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) महिने, (आर्तवाः ऋतुभिः सह) ऋतुओंके साथ ऋतुसंबंधी पदार्थ, (स्तनयित्नुः) मेघ (महीश्रुतिः) बडी गर्जना और (घोषणी आपः) घोष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

(शर्कराः सिकताः अश्मानः) पथरीली बालू, बालू, पत्थर (ओषधयः वीरुधः तृणा) औषधियां वनस्पतियाँ और घास, [अभ्राणि विद्युतः वर्ष] मेघ बिजलियां और वृष्टि [उच्छिष्टे संश्रिताः श्रिताः] उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

[राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिः] सिद्धि, प्राप्ति और समाप्ति, [व्याप्तिः महः एधतुः] व्याप्ति, महत्त्व और वृद्धि, [अत्याप्तिः, भूतिः] अतिशय प्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें [आहिता निहिता हिता] रखे हैं ॥ २२ ॥

[यत् च प्राणेन प्राणिति] जो प्राणसे प्राण धारण करता है और [यत् च चक्षुषा पश्यति] जो आंखसे देखता है, यह सब उच्छिष्टसे [जज्ञिरे] निर्माण हुआ है [दिवि-श्रितः देवा दिविः] जो देव द्युलोकमें हैं वे सब द्युलोकमें रहे हैं और उच्छिष्टमें ही हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे० ॥२६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

अर्थ— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, [क्षितिः अक्षितिः] भौतिक और अभौतिक पदार्थ, आनन्द, मोद, प्रमोद, [अभीमोदः मुदः] प्रत्यक्ष आनंद, देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा, द्युलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [उच्छिष्टात् जज्ञिरे] उच्छिष्टसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥

उच्छिष्ट सूक्तका आशय।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भावार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उच्छिष्टका अर्थ।

" उच्छिष्ट " अर्थात् ' ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट,' जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है। विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम ' उच्छिष्ट ' है। पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
(ऋ. १०।९०।४)

'त्रिपात् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यहां इस विश्वमें पुनः पुनः होता है।' एक अंशका वह विश्व बनता और बिगडता है, परंतु जो त्रिपात् पुरुष अवशिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है। इस तरह परब्रह्मका एक अल्पसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है। इसीका नाम उच्छिष्ट है। यही ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इसी परब्रह्ममें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है। जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा वहां कुछ भी नहीं है। संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है। हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आंख के सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैसे घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक घटाकार होकर हमारे सामने आती है। इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विश्वाकार होकर, विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका विश्वरूपदर्शन जो भगवद्गीताके ११वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके ३२ अध्यायमें वर्णित हुआ है।

उच्छिष्टमें रूप।

'उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं,' यही मंत्रभाग मुख्य है, आगे इसी का स्पष्टीकरण ही है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, अग्नि विश्व, द्यावापृथिवी, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र१—२) नौ भूमियां, सूर्य (मं० १४), बालु, पत्थर, शिला, ओषधिवनस्पतियां, घास, अभ्र, विद्युत्, वृष्टि, (मं० २१), जो प्राणसे जीवित रहता है, जो आंखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं०२३), देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा(मं० २७)विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४)। यह सब उच्छिष्टमें है, ये सब रूपवाले पदार्थ हैं। इनका आश्रय उच्छिष्ट—परमात्माही है।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, हिंकार, स्वर, सामके आलाप, (मं० ५), इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त, महाव्रतादिसूक्त, (मं०—६) छन्द, पुराण, (मं० २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं।

उच्छिष्टमें कर्म।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देखनेके पश्चात् ' कर्म ' कहां रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यज्ञ उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं, देखिये—'राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अध्वर, अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान, दीक्षा, यज्ञ, सत्र, (मं० ८) अग्निहोत्र, व्रत, तप, दक्षिणा; इष्टापूर्त (मं० ९), एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्रीः, प्रक्रीः उक्थ, (मं० १०) चतूरात्र, पंचरात्र, षड्रात्र, सप्तरात्र, अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशाह, षोडशी, (मं० ११), विश्वजित्, अतिरात्र, (मं० १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और ये सब

इसी उच्छिष्टमें रहते हैं, इसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रची गयी है। अर्थात् सब कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है।

उच्छिष्टमें काल।

' काल ' भी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है, अतः कहा है कि- ' अर्ध मास (पक्ष), मास (महिना), ऋतु (मं० २०), अयन, वर्ष, संवत्सर (मं० १८) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है। भूत, भविष्यत् (मं० १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टियां छोटे कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दीर्घकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं। अर्थात् जैसा नामरूपका परस्परसंबंध है इसी तरह काल और कर्मका परस्परसंबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

श्रद्धा, तप, व्रत, दीक्षा (मं० ९), सूनृत, नम्रभाव, कल्याण, स्वधा--अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, सहनसामर्थ्य, कामना, वासना (मं० १३), ऋत, सत्य, श्रम, धर्म, वीर्य--पराक्रम, लक्ष्मी शोभा, (मं० १७), समृद्धि, संकल्प, क्षात्रबल (मं० १८), सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, वृद्धि (मं० २२) आनंद, मोद, प्रमोद (मं० २५) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर रहते हैं।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्मसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। (मं० २३)

सत् असत्, जीवन मृत्यु, व्र और द्र (वरण और द्रावण), यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे पृथक् अस्तित्त्व किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विशद किया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड यजुर्वेद का विषय है।

जो विश्वरूपदर्शन का विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भगवद्गीताके ११ वें अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक तुलना करके वेदका तत्त्व जानें।

शरीरकी रचना।

(८)

(ऋषिः—कौरुपथिः । देवता—अध्यात्मं, मन्युः)

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि । क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥
दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः । इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे । तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ- (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब उत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि आवहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके अपने घर ले आया, उस समय (के जन्याः) कौन कन्या- पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बडे महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, (ते जन्याः ते वराः आसन्) वे ही कन्यापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो निश्चयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महत् वदेत्) वही निश्चयसे आजही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है ॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अभौतिक और भौतिक शक्ति, (व्यान-उदानौ वाङ्मनः) व्यान उदान और वाणी तथा मन, (ते वै आकूतिं आवहन्) ये ही निश्चय संकल्पशक्तिको धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(ऋतवः अथो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विनौ) ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ ये देव (अजाताः आसन्) नहीं बने थे, (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे ॥ ५ ॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे आस्तां) बडे संसार सागरमें थे । (कर्मणः तपः ह जज्ञे) कर्मसे तप उत्पन्न हुआ, (ते तत् ज्येष्ठं उपासते) वे सब उस श्रेष्ठकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत । कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताऽजायत ॥८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥१०॥
यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥
कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत् ।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥१२॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् । सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥
ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम् । पृष्टीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत् समदधादृषिः ॥१४॥

(या इतः पूर्वा भूमिः आसीत्) जो इससे पूर्वकी भूमि थी, (यां अद्धातयः इत् विदुः) जिसको बुद्धिमान् लोगोंने जान लिया था, (यः वै तां नामथा विद्यात्) जो उसे अलग अलग नामसे जानता है, (सः पुराणवित् मन्येत) उसे पुराणवित् कहा जाता है ॥ ७ ॥

(कुतः इन्द्रः, कुतः सोमः कुतः अग्निः अजायत) किससे इन्द्र, सोम और अग्नि उत्पन्न हुआ ? (कुतःत्वष्टा समभवत्) किससे त्वष्टा उत्पन्न हुआ और (कुतः धाता अजायत) किससे धाता बना है ॥ ८ ॥

(इन्द्रात् इंद्रः, सोमात् सोमः) इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, (अग्नेः अग्निः अजायत) अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ।(त्वष्टा ह त्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टासे त्वष्टा उत्पन्न हुआ तथा (धातुः धाता अजायत) धातासे धाता हुआ है ।। ९ ॥

(ये ते दश देवाः) जो वे दस देव (पुरा देवेभ्यः जाताः आसन्) पूर्व समयमें देवोंसे उत्पन्न हुए थे, वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्वा) अपने पुत्रोंको स्थान देकर, (ते कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें रहने लगे ? ॥ १० ॥

(यदा केशान् अस्थि स्नाव) जब केशों हड्डियों, स्नायुओं [मांसं मज्जानं आभरत्] मांस और मज्जाको इस देहमें भर दिया, और [शरीरं पादवत् कृत्वा] शरीरको पांववाला किया, तब वह भरनेवाला [कं लोकं अनुप्राविशत्) किस लोकमें अनुकूलताके साथ प्रविष्ट हुआ ? ॥ ११ ॥

[कुतः केशान् कुतः स्नाव] किससे केशोंको और किससे स्नायुओंको [कुतः अस्थीनि आभरत्] कहांसे हड्डियोंको इसने भर दिया ? [कः अंगा पर्वाणि मज्जानं] किसने अवयवों पर्वों और मज्जाको तथा [मांसं कुतः आभरत्] मांसको कहाँसे भर दिया ? ॥ १२ ॥

[ते देवाः संसिचः नाम] वे देव ' संसिच् ' अर्थात् सींचनेवाले इस नामके है [ये संभारान् समभरन्] जो संभारको भर देते हैं, [सर्वं मर्त्यं संसिच्य] सब मरण धर्मवाले शरीरको सींच कर [देवाः पुरुषं आविशन्] ये देव पुरुषके प्रति प्रविष्ट हुए हैं ॥ १३ ॥

(कः ऋषिः) कौनसा ऋषि है जिसने (ऊरू अष्ठीवन्तौ पादौ) जांघों और जानुवाले पावोंको (शिरः हस्तौ मुखं) सिर हाथ और मुखको (पृष्टीः बर्जह्ये पार्श्वे) पीठ हंसली और पसलियोंको (तत् समदधात्) वह सब जोड दिया है ? ॥ १४ ॥

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत् संधा समदधान्मही ॥१५॥
यत्तच्छरीरमशयत् संधया संहितं महत्। येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमाभरत् ॥१६॥
सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती। ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्१७
यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः। गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥
स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः।जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन्॥१९॥
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२०॥
भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः। क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च। शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन्२२
विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्। शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥२३॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥२४॥

(शिरः हस्तौ अथो मुखं) सिर हाथ और मुख, (जिह्वां ग्रीवाः च कीकसाः) जीभ गर्दन और हड्डियां (तत् सर्वं त्वचा प्रावृत्य) इस सबपर चर्मका वेष्टन करके (मही संधा समदधात्) बडी जोडनेकी शक्तिने जोड दिया है ॥ १५ ॥

(यत् तत् महत् शरीरं) जो यह बडा शरीर (संधया संहितं) संधा नाम जोडनेकी शक्तिद्वारा जोडा गया, (येन इदं अद्य रोचते) जिससे आज यह प्रकाशता है, (अस्मिन् कः वर्णं आभरत्) इसमें किसने वर्णको भर दिया है ? ॥ १६ ॥

(सर्वे देवाः उपाशिक्षन्) सब देवोंनें शिक्षा दी, (तत् सती वधूः अजानात्) उसे सती वधूने-अर्थात् बुद्धिने जान लिया। (या वशस्य ईशा जाया) जो सबको वशमें रखनेवाले की ईश-शक्ति नाम भार्या है (सा अस्मिन् वर्णं आभरत्) उसने इसमें वर्णको भर दिया है ॥ १७ ॥

(यः त्वष्टुः पिता उत्तरः त्वष्टा) जो त्वष्टाका पिता उच्चतर श्रेष्ठ त्वष्टा है उसने (यदा व्यतृणत्) जब इस शरीरमें छिद्र किये, (मर्त्यं गृहं कृत्वा) तब मरणधर्मवाला घर करके (देवाः पुरुषं आविशन्) देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

(स्वप्नः तन्द्री, निर्ऋतिः) निद्रा, आलस्य, पापभावना ये (पाप्मनः देवताः वै नाम) पापी मनकी देवताएं हैं तथा (जरा खालत्यं पालित्यं) वृद्धावस्था, गंजापन और श्वेत बाल होना ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

(स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं) चोरी, दुराचार और कुटिलता (सत्यं यज्ञः बृहत् यशः) सत्य, यज्ञ और बडा यश (बलं च क्षत्रं ओजः च) बल, क्षात्रतेज और सामर्थ्य ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

(भूतिः च अभूतिः च) ऐश्वर्य और दारिद्य, (रातयः याः अरातयः च) दान और कंजूसी, (क्षुधः च सर्वाः तृष्णा च) भूख और सब प्रकारकी तृष्णा (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुई॥ २१ ॥

(निन्दाः च वै अनिन्दाः च) निन्दा और स्तुति (यत् च हन्त इति न इति च) जो हां और ना करते हैं, (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) श्रद्धा, दक्षता और अश्रद्धा ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

(विद्याः च वै अविद्याः च) विद्या और अविद्याएं (यत् च अन्यत् उपदेश्यं) जो अन्य उपदेश करने योग्य है, वह (ऋचः साम अथो यजुः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और ब्रह्मवेद शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(आनन्दाः मोदाः प्रमुदः ये अभीमोदमुदः च) आनन्द, मोद, प्रमोद और हास्यविनोद ये सब (हसः नरिष्टा नृत्तानि) हास्य, चेष्टा और नृत्य (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हो गए ॥ २४ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये । शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते २६
आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः । चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥
आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः। गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् २८
अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥
या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥३०॥
सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥३३॥
अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥ ८

(आलापाः च प्रलापाः च ये अभीलापलपः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप, तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) आयोजना प्रयोग और योग ये (सर्वे शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च या क्षितिः) अभौतिक और भौतिक शक्तियां (व्यानोदानौ वाङ्मनः) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आशीर्वाद और घोषणा, (संशिषः च विशिषः च याः) संमतियां और विशेष अनुशासन (चित्तानि सर्वे संकल्पाः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना, (त्वरणाः याः कृपणाः च) त्वरा और कृपणता, (गुह्याः शुक्राःस्थूलाः, ताः अपः बीभत्सौ) गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा बीभत्स भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे हैं ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डी की समिधा बनाकर (अष्ट आपः असादयन्) आठ प्रकारके जलोंने सब शरीरकी बनावट की है, (रेतः आज्यं कृत्वा) रेतका घी बनाकर (देवाः पुरुषं आविशन्) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

(याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवताएं (या विराट् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब (ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुआ है,(शरीरे अधि प्रजापतिः) शरीरमें वही प्रजापति नामक अधिष्ठाता है॥३०॥

(पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुषकी आंख सूर्य (प्राणं वातः वि भेजिरे) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं (अथ अस्य इतरं आत्मानं) और इसकी अन्य आत्मा (देवाः अग्नये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्मात् वै विद्वान्)इसलिये निश्चयसे ज्ञानी विद्वान्(पुरुषं इदं ब्रह्म इति मन्यते) पुरुषको यह ब्रह्म ऐसा मानता है। (हि सर्वाः देवता अस्मिन् आसते) क्योंकि सब देवताएं इसमें निवास करती हैं(इव गावः गोष्ठे) जैसे गौवें गोशालामें रहती हैं॥३२॥

(प्रथमेन प्रमारेण) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विष्वङ् विगच्छति) तीन प्रकारसे सर्वत्र जाता है । (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है, (अदः एकेन गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकेन निसेवते) यहां एकसे सेवन करता है॥३३॥

(स्तीमासु अप्सु वृद्धासु)गीला करनेवाले जलोंकी वृद्धि होनेपर उसमें(अन्तरा शरीरं हितं)अन्दर शरीर रखा गया है।(तस्मिन् अन्तरा अधि शवः) इसके बीचमें यह शवरूपी शरीर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उसे शव कहते हैं॥३४॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

(सूचना-यह सब अर्थ सरल है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है ।)

शरीरकी रचना और योग्यता।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है। उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषही विलक्षण है। मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। इस मानवी शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है।

एक संकल्प था, उसकी कन्या 'संकल्पशक्ति' थी। इस-शक्तिका विवाह होना था। दूसरा आत्मा था उसका मन्यु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिके साथ करनेका निश्चय हुआ। इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें मुखिया था, उसीका नाम 'ज्येष्ठवर' था, वही 'मन्यु' भी कहा जाता था। (मंत्र १)

इस महान् अमर्याद संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे। एक पक्ष तप करनेवाले संयमियोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था। कर्म करनेवालोंमें भी एक सकाम कर्म-वाले और दूसरे निष्काम कर्मवाले थे। इसतरह ये दो पक्षके लोग थे। इनमें वधूके पक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे। इनमें ब्रह्मही सबसे मुखिया वर था। (मं० २)

दस बडे देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस होते हैं। ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानते हैं उनको ही बडे ब्रह्मका ज्ञान होता है और वेही उसका उपदेश कर सकते हैं। अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। (मं० ३)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, आंख, कान, (क्षितिः = भूमितत्त्व-से उत्पन्न) नाक, वाणी, मन और (अ-क्षिति = अभौतिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, वेही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं। और बुरेभले विचार मनुष्य करता रहता है। (मं० ४) इनमें प्राण, अपान, व्यान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करनेवाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए अभ्याससे कष्टकर मनुष्यंस कर्म करते हैं। इस कारण इनको तप करनेवाले ऋषि कह सकते हैं। दूसरे देव आंख, नाक, कान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दत्तचित्त रहते हैं, कर्म करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विश्राम देना पडता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं। इनको अन्न देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं, अन्न न मिला तो ये कृश होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं। प्राणोंके समान ये भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते। आंख, नाक आदिको विश्राम चाहिये, निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये। यहां 'संकल्पशक्ति' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है। इस वधूपक्षके साथ ये आंख, नाक, कान आदि भोगाभिलाषी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अपान आदि तपस्वी लोग हैं। इसतरह विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और वहां यह बडी धूमधामसे विवाहसंस्कार होना है।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बडे देव इस विश्वमें हैं। इनकी शक्ति बडी भारी है। इन बडे देवोंसे अंशरूप छोटे देव, आंख, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं। इनमें कई वधूपक्षवाले और कई वरपक्षवाले हैं। दोनोंका यहां मेल हुआ है। इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है।

ऋभु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें जब रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहां विविध रूपमें नहीं उतरे थे, तब वे कहां रहते थे? अर्थात् किस श्रेष्ठ देवके साथ रहते थे? इसी श्रेष्ठ देवताका नाम 'ज्येष्ठ ब्रह्म' है। इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बडे विश्वमें कार्य करते थे। परंतु वहांसे इस छोटे विश्वमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास नहीं हुआ था। (मं० ५) अर्थात् यह समय शरीररचनाके पूर्वका है। शरीररचना के समय सब देवताओंके अंश यहां इस पिण्डदे-हमें उतरे और निवास करने लगे, कई अपना तप करते रहे और कई अपने कर्म करने लगे। इसतरह यहांका संसार चलने लगा। इसीका नाम शरीरनिर्मिति है।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया। यहां ध्यानमें रखना चाहिये कि कर्मसेही तप होता है, कर्म न

किया जाय तो सब बनता है। नहीं, अतः कर्म मुख्य है, श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। (मं० ६) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिये।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतिकी भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अंशरूपसे यहां आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, आदिके नाम तथा उसके धर्म जो जानता है, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं। (मं० ७) जो पहिले था और जो फिर नया बनता है उसको पुराण (पुरा अपि नवं) कहते हैं। इसको यथायोग्य जानना चाहिये।

ये जो देव इस पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहांसे आये हैं? मूल-देव कहां थे और ये कहांसे यहां आये और किस स्थानपर आकर बसे? इसकी खोज करनी चाहिये। (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वष्टा, धाता इन बडे देवोंसे छोटे अंशरूप देव उत्पन्न हो गये, उनके भी ये ही नाम हैं। जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किसी न किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहां इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। (मं ९) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वात्माके विश्वरूपी देहमें रहनेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डदेहमें रहनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र हैं। इसतरह दस बडे देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको इस पिण्डदेहमें यथायोग्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। (मं० १०) विश्वमें बडा सूर्य है, उसका अंशरूप पुत्र 'नेत्रेंद्रिय' बसे नेत्रके स्थानमें रखकर सूर्यदेव अपने द्युलोकके स्थानमें ही विराजता है। इसी तरह अन्यान्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये हरएक देवताके नामका उच्चार करके यहां वारंवार वही बात लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो देवोंके अंशावतार की कल्पना पुराणग्रन्थमें है वह यही है। हरएक देवका अंशरूप अवतार मानव-देहमें (अथवा प्राणीके देहमें) हुआ है। इस अंशरूप देवको ही अवतार कहा जाता है। बडे देवका एक छोटासा अंश यहां उतरा है और इस पतनशील देहका तारण करनेके लिये यहां रहा है। जब ये अंशावतार यहांसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है, फिर यह देह उठता नहीं, जलाया जाता है अथवा त्यागा जाता है। देवोंसे पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके अभाव होनेके समय इसे कोई छूता भी नहीं।

अब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहां केश, हड्डियां, स्नायु, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरको हस्तपादादि अवयवोंसे युक्त किया, तब वे देव कहां गये? (मं ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहां रहे अथवा यहांसे चले गये? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करके रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही ये जाते हैं। इस देहमें कौनसा देव कहां रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारसे इस तरह है—

विश्वके देव	शरीरमें देवतांश
परब्रह्म	जीव, आत्मा
सूर्य	नेत्र (आंख)
भूमि	नासिका (नाक)
आपः	रसना (जिह्वा)
अग्नि	वाणी (वाक्) मुख
दिशा (आकाश)	कान
वायु, रुद्र	प्राण, त्वचा
ओषधि वनस्पतयः	केश (बाल)
लोहिनीः आपः	रक्त, रुधिर
द्यौः	मस्तक, मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, छाती
पृथ्वी	पाद (पांव)
पर्वत (पर्ववान्)	पर्व (जोड, संधी)
मृत्यु-आपः	वीर्य [रज]
अश्विनौ	श्वास-उच्छ्वास

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहां शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवताओंके अंशावतार हैं। इसका वर्णन उपनिषदोंमें विस्तारसे किया है-विशेषतः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, स्नायु, हड्डी मज्जा, पर्व-जोड, मांस

कहांसे किसने और किस तरह भर दिये गये, ऐसा प्रश्न [मंत्र १२ में] पूछा गया है। पूर्वोक्त कोष्टकके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है।

इन देवताओंका नाम ' संसिचः ' है। सम्यक् सिंचन करनेवाले, सींचनेवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले, जीवनमय करनेवाले ये देव हैं। इन सब देवोंने (सर्व मर्त्यं संसिच्य) सब मरणधर्मवाले अंगोंको अथवा देहको जीवनधर्मसे युक्त किया है। इसी कार्यके लिये ये सब देव (पुरुषं आविशन्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इस शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रहे हैं। (मं० १३)

किस ऋषिने ऊरु, पांव, जानु, सिर, हाथ, मुख, पीठ, हंसली पसलियां, जिह्वा, गर्दन, गर्दनकी हड्डियां, त्वचा ये सब भाग बनाये और जोड दिये? (मं० १४-१५) अन्यान्य देवोंने अपने अपने कार्य किये, अपने अपने अवयव बना दिये और ' संधा ' नामक देवता है जिसने इनको जोड दिया और जिस जोडनेसे यह शरीर अखण्ड एक जैसा बन गया है। इसमें रंग, शोभा और कान्ति भरनेवाली भी एक देवता है। (मं० १६)

ये सब देव संमिलित हुए, इन देवोंका यहां संमेलन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली। यही सती देवी सब अवयवोंको अपने वशमें रखनेवाले आत्मदेवकी भार्या है। यही भार्या यहांकी कान्ति, शोभा और रमणीयता रखनेवाली है। (मं० १७) इसी वधू और वरकी शादी होनेका वर्णन इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें है।

ये सब देव बडे कारीगर हैं। अतः त्वष्टा नाम कारीगर देवताका होता है। जो छोटे अंशरूप देव इस शरीरकी कारीगरी करनेके लिये यहां आये होते हैं, उनमें जो सबका अधिष्ठाता देव होता है, उसको सब कारीगरोंका कारीगर होनेसे ' त्वष्टा ' कहते हैं। इसका पिता, परमात्मा, सब देवोंका देव, सब कारीगरोंका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह भी बडा ' त्वष्टा ' ही है। उससे शक्ति पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें सुराख करते हैं, तब एक एक सुराखसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थानमें विराजता है। इस [मर्त्यं गृहं कृत्वा] मर्त्य घरकी सुयोग्य रचना करके [देवाः पुरुषं आविशन्] सब देव मनुष्यके देहमें घुसकर अपने स्थानमें रहते हैं। [मं० १८] यह घर वास्तविक मरनेवाला है, परंतु यहां देवोंकी अमर शक्तियां रहनेके कारण यह मरनेवाला देह अमरसा बना है। जब देव यहांका वास समाप्त करके चले जाते हैं, उस समय यह देह मर जाता है। देवोंकी अमर शक्ति इस तरह अनुभवमें आती है।

इस शरीरमें निद्रा-जागृति, तन्द्री (सुस्ती)-उत्साहिता, निर्ऋति (पापवासना)- पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा-(वृद्धत्व)- तारुण्य, खालित्य (गंजापन)- बहुकेश होना, पालित्य (श्वेतत्व)- कृष्णत्व, बालोंका श्वेत होना और काले होना, स्तेय (चोरी)- अस्तेय, दुष्कृत-सुकृत, वृजिनं (कुटिलता) सरलता, यश- अयश, यश-अयश, बल-बलहीनता, क्षात्र-निर्बलता, ओज (शारीरशक्ति) अशक्ति, भूति (ऐश्वर्य) अभूति (निर्धनता), (राति) दान-(अराति) कंजूसी, क्षुधः (भूख)-भूख न लगना, तृष्णा-प्यास न लगना, निन्दा-स्तुति (अनिन्दा), हां और ना करना (हन्त इति न इति), श्रद्धा-अश्रद्धा, दक्षिणा-अदाक्षिण्य, विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, आनन्द-दुःख, मोद-कष्ट, हास्य-रोदन, नरिष्ट (अनाश)- नाश, नृत्य- अनृत्य, आलाप प्रलाप-मौन, प्रयोग-वियोग, ये सब भाव शरीरमें होने लगे हैं। ये भाव शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। (मं० १९-२५)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, चक्षु श्रोत्र, क्षिति, अक्षिति, वाणी, मन ये दस ही शक्तियां शरीरमें रहती हैं और उक्त कार्य करती हैं। (मं० २६)

आशीर्वाद-क्रोधके शब्द, अनुकूल- प्रतिकूल शब्द, संकल्प-विकल्प, स्थिरता-चपलता, त्वरा-शान्ति, कृपणता- उदारता, गुप्त-प्रकट, शुक्र-निर्वीर्य, स्थूल-कृश, बीभत्स- सभ्य ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। (मं० २७-२९) इस यज्ञके हवनके लिये रेतका घी बनाकर उस रेतकी आहुति स्त्रीके गर्भाशयमें डलनी होती है। उस रेतके साथ सब देव शरीरमें घुस जाते हैं। वीर्यके प्रत्येक अणुमें पिताके संपूर्ण शरीरका अर्थात उस शरीरके हरएक इंद्रियका सत्त्वांश रहता है और उस सत्त्वांशके साथ पिताके शरीरके देवताका अंश भी रहता है, अथवा देवतांशको ही सत्त्वांश समझ लीजिये। पिताके सदृश पुत्रके शरीरके अंग प्रत्यंग होते हैं, इसका यही कारण है। इस रेतमें शरीरका सब सत्त्व होता है, इस लिये पुत्र बढकर पिता जैसा होता है। इससे रेतका घी बनाकर

सब देव शरीरमें किस रीतिसे घूमते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है।

जो सब देवताएं हैं और जो पानी है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, वे सब देव रेतके साथ शरीरमें घुसे हैं। [मं० ३०] जल तो प्रवाही पदार्थ-रूपसे गर्भाशयमें रहता है। उसमें वीर्यके साथ सब देवतांश पहुंचते हैं, सब विराट् पुरुष का सत्व वहां पहुंचता है, स्वयं ब्रह्मका अंश जीवभावसे वहां पहुंचता है। इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवयव अपने रहने योग्य बना देते हैं। हरएक स्थानमें योग्य सुख बनाते हैं और वहां ठीक रीतिसे रहते है। जो ब्रह्मका अंश जीवभावसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमे प्रजापति-संज्ञक जीवात्मा होकर सबका पालन करता है। जब तक यह इस शरीरमे रहता है, तभीतक अन्य देवोंका निवास यहां रहता है। जब यह ब्रह्मांश शरीरको छोड देता है, तब अन्य देव भी छोडकर उसके साथ चले जाते हैं। इसलिये इनका पालक होनेसे शरीरमें वही प्रजापति कहलाता है।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आंख बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रहे हैं। यहां सबको उष्णता देनेका कार्य अग्नि कर रहा है। [मं० ३१] जब अग्निदेव अपना कार्य स्थगित करता है, तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अन्यान्य देव यहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

जैसी गौवें गोशालामें यथाक्रम रहती हैं, उसी तरह सब देवताएं इस शरीरमें यथाक्रम रहती हैं। जहां जिस देवताने रहना योग्य है वहीं वह देवता रहती है। ये सब देवताएं मानो गौवें हैं और ये सब गौवें इस शरीररूपी गोशालामें रहती हैं। इन सब देवतारूपी गौवोंका एक गवालिया है, उसका नाम आत्मा है, जो ब्रह्मका अंश यहां रहा है। इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म
इन्द्र, वरुण, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव।

बडी गोशाला—विश्व--विराट्।

जीवात्मा
देवतांश मन, आंख, प्राण, वाणी आदि देवोंके अंश।

छोटी गोशाला--देह।

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है। यह गोशाला अपना शरीर ही है। इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गोरूपी हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका गवालिया, गोपाल, भगवान् है। वही अंशरूपसे यहां आया है और सबका तारण कर रहा है। इसी कारण इस पुरुषको [इदं ब्रह्म] 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं। क्योंकि सब देवताएं इसके आधीन रहती हैं। [मं० ३२]

यहां गौओं और गोपालका विचार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं। एक भागसे यहांके पार्थिव भोग भोगे जाते हैं, दूसरे भागसे दिव्य सुख प्राप्त किया जाता है और तीसरे भागसे ज्ञानोंका संबंध जोडा जाता है। [मं० ३३] ये तीन भाग स्थूल सूक्ष्म कारण नामसे प्रसिद्ध हैं।

जब गर्भाशयमें वीर्यबिंदु चला आता है, तब वहां रजमें वह स्थिर होकर गर्भ बढने लगता है। वहां बुद्बुदावस्था होनेसे जलमें शव तैरनेके समान वहां गर्भ बढने लगता है। उसके चारों ओर एक प्रकारका जल रहता है। इस जलसे उसकी रक्षा होती है, इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको शव अथवा [के-शव] उदकमें शवरूप कहा जाता है। [मं० ३४]

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है। यह अद्भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यही देवोंका मन्दिर है और यहां सप्त ऋषियोंका आश्रम है। हरएक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है। इसको अपनी तपस्यासे उन्नत करें और साधक अपना जीवन सफल करें।

युद्धकी तैयारी।

[९]

(ऋषि—कांकायनः। देवता- अर्बुदिः)

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च। असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि॥
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥
उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्। संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥
उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम्। अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥३॥
अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः। याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥
सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्। तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

अर्थ—हे (अर्बुद) शत्रुका नाश करनेवाले ! (ये बाहवः) जो बाहुएं हैं, (याः इषवः) जो बाण हैं, जो (धन्वनां वीर्याणि) शस्त्रधारियोंके पराक्रम हैं, तथा (असीन् परशून् आयुधं) तलवारों, फरसों और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संकल्प हैं, (तत् सर्वं) उस सबको (त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बडे बडे स्फोटक अस्त्र शत्रुओंको दिखा॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो ! और हे देवजनो ! (यूयं उत्तिष्ठत) तुम उठो, (सं नह्यध्वं) तैयार हो जाओ। हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टाः गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुविनाशक ! (उत्तिष्ठतं आरभेथां) उठो, युद्धका प्रारंभ करो, (आदान--संदानाभ्यां) धरपकड करके (अमित्राणां सेनाः अभिधत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो॥ ३ ॥

(यः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक सेनाध्यक्ष है, और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है। (याभ्यां अन्तरिक्षं आवृतं) जिन्होंने अन्तरिक्ष घेरा हुआ है, (इयं च मही पृथिवी) यह बडी पृथिवी भी व्याप्त हुई है। (ताभ्यां इन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं इति अहं अन्वेमि) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनासे शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पश्चात् मैं जाता हूं ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुविध्वंसक ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ उठ। (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (भोगेभिः भञ्जन् परिवारय) अपनी पकडोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुविध्वंसक ! (उदाराणां सप्त जातान् समीक्षयन्) स्फोटक अस्त्रोंके सात प्रकारोंको देखकर (आज्ये हुते) घृतकी आहुति देते ही (तेभिः सर्वैः सेनया त्वं उत्तिष्ठ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ तू उठ॥ ६ ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु । विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥
संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं भ्रातरमात्स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥
अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥
अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥(२५)
आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥
उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज । उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥
मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि । मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥
प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- हे (अर्बुद) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमणमें (पुरुष हते) शत्रुके वीर मरनेपर, उसकी स्त्री (विकेशी कृधुकर्णी) बालोंको खोलकर आभूषणरहित कानोंसे (अश्रुमुखी प्रतिघ्नाना) आंसुओंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई (क्रोशतु) बडा आक्रोश करे ॥ ७ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (करूकरं संकर्षन्ती) हाथ पैर घिसती हुई, (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनसे पुत्रकी कामना करनेवाली, (पतिं भ्रातरं आत् स्वान्) पति, भाई और अपने बांधवोंका हित चाहनेवाली शत्रुकी पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) भयानक बडे बडे मांस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः) गीध, श्येन आदि पक्षी (ध्वांक्षाः शकुनयः) कौवे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत सेनाका मांस खाकर तृप्त हों, यह तू (समीक्षयन्) देखता रह ॥ ९ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अधि) शत्रुके पुरुषोंके मुर्दोंपर (अथो सर्वं श्वापदं) सब जानवर (मक्षिकाः कृमिः तृप्यतु) मक्खियां और कीडे सब तृप्त हो जांय ॥ १० ॥

हे [अर्बुद, न्यर्बुदे] शत्रुघातक वीरो ! [तव रदिते] तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर [समीक्षयन्] और देख देखकर हमला होनेपर, [प्राणापानान् बृहन्तं सं आगृह्णीतं] शत्रुके प्राणोंको पकडो और बडा हमला करो । उससे [अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु] शत्रुओंमें बडा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघातक वीरो ! (अमित्रान् उद्वेपय) शत्रुओंको भयभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु भयसे भागने लग जांय । (भिया संसृज) शत्रु भयभीत हों । (उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः अमित्रान् विध्य) बडे पकडवाले बाहुओंसे फेंकने-योग्य शस्त्रोंसे शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुद) शत्रुघातक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुह्यन्तु) इनकी बाहुएं शिथिल हो जांय, (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयके संकल्प हों वे निःसत्त्व बनें, (एषां किंचन मा उच्छेषि) इन शत्रुओंमेंसे कोई भी न बचे ॥ १३ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हते) शत्रुके वीर पुरुष मरनेपर उनकी स्त्रियां (उरः प्रतिघ्नानाः) छाती पीटती हुई, (पटूरौ आघ्नानाः) जंघाओंको पटकती हुई (अघारिणी विकेश्यः रुदत्यः) तेल न लगाकर बालोंको न समेटती हुई रोती रहें ॥ १४ ॥

अन्ववतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे । अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदाराश्च प्र दर्शय ॥१५॥
खडूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥१६॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् । स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः ॥१७॥
उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः । जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥१८॥
प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥
तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् । अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥२०॥(२६)
उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु । शौष्कास्यमनु वर्ततामामित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥
ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये । तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदाराश्च प्रदर्शय ॥२२॥

अर्थ- हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (श्वन्वतीः रूपकाः अप्सरसः) कुत्तोंको साथ लेकर चलनेवाली स्त्रियां, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां) बर्तनके अन्दर चाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैषिणीं) दुष्ट दृष्टिवाली कुतिया (सर्वाः ताः त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्र भी दिखा ॥ १५ ॥

(ख- डूरे अधि चंक्रमां) आकाशमें घूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस्र पक्षिकाको दिखा। (ये अन्तर्हिताः उदाराः) जो छिपाकर रखे हुए स्फोटक अस्त्र हैं उनका प्रयोग कर। (ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षांसि) गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः) चार दाढोंवाले, काले दांतोंवाले, (कुम्भमुष्कान् असृङ्मुखान्) घडेके समान अण्डवाले और मुंहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्यसाः ये च उद्भ्यसाः) जो भयभीत होनेवाले और डरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६-१७ ॥

हे अर्बुदे ! (त्वं अमित्राणां अमूः सिचः उद्वेपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको कंपायमान कर। (जिष्णुः अमित्रान् जयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जीते और (इन्द्रमेदिनौ जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अमित्रः प्रब्लीनः मृदितः हतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय। अपनी (सेनया अग्निजिह्वाः धूमशिखाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं विजय करती हुई चलें ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां अमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (अमीषां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखड जांय, (प्राणः ऊर्ध्वः उदीषतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अमित्रान् शौष्कास्यं अनुवर्तता) शत्रुओंके मुख सूख जाय। परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न हो॥२१॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भीरु हैं, (ये पराञ्चः ये च बधिराः) जो दूर भागनेवाले और जो बधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो बस्ताभिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वान् तान् त्वं अमित्रेभ्यः दृशे कुरु) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर, और (उदारान् च प्रदर्शय) स्फोटक अस्त्रोंको शत्रुओंके प्रति दिखा॥ २२ ॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ २४ ॥
ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ २५ ॥
तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥ (२७)

अर्थ- (अर्बुदिः च त्रिषन्धिः च) अर्बुदि और त्रिसन्धि ये हमारे वीरगण, (न अमित्रान् विविध्यतां) हमारे शत्रुओंको मार दें। (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे वृत्रनाशक शचीपते इन्द्र प्रभो ! [यथा एषां अमित्राणां सहस्रशः हनाम] इन शत्रुओंको सहस्रों की संख्यामें हम मार दें ॥२३॥

हे अर्बुदे ! वनस्पतियों और वनस्पतिसे बने पदार्थों औषधियों, लताओं, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरोंको तू [अमित्रेभ्य दृशे कुरु] शत्रुओंको दिखा और [उदारान् च प्रदर्शय] स्फोटक अस्त्रोंको प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जांय ॥ २४ ॥

हे अर्बुदे [तव रदिते] तुम्हारा आक्रमण होनेपर [अमित्रेषु समीक्षयन्] शत्रुओंका निरीक्षण करनेके पश्चात् हमारे शत्रुओंके ऊपर [मरुतः देवः आदित्य ब्रह्मणस्पतिः] आदित्य देव, बृहस्पति और मरुत [ईशां चक्रुः] अधिकार करें। इन्द्र, अग्नि, धाता, मित्र, प्रजापति ये देव [वः । ईशां चक्रुः] तुम शत्रुओंपर शासन करें। (ऋषयः) ऋषिलोग [ईशां चक्रुः] शासन करें ॥२५॥

हे [मित्राः] मित्रो, हे [देवजनाः] देवजनो ! [यूयं तेषां सर्वेषां ईशानाः] तुम उन सब शत्रुओंके अधिपति हो [उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं] उठो, तैयार हो जाओ। [इम संग्रामं संजित्य] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [यथालोकं वितिष्ठध्वं) अपने अपने देश जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥

युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता " अर्बुद " है। " अर्बुद " शब्द संख्यावाचक है, वैसाही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद १०,००,००,०००
न्यर्बुद१,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सौ कोटी न्यर्बुदमें होता है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः वहांतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे ' अर्बुद ' शब्दसे ' एक लाख सेना ' समझी जाय और " न्यर्बुद " शब्दसे " दस लाख सेना' मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन जितनी सेना होती है,उसको वैसा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम " अर्बुदी " और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम " न्यर्बुदी " होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेना-पतिके वाचक हैं। श्री० सायणाचार्य कहते हैं कि, ये नाम सर्प के वाचक हैं—

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृत्।

(ऐ० ब्रा० ६।१)

इस वचनके अनुसार अर्बुद कद्रुका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐसाही मानना पडता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वपक्षके सेनापतियोंके हैं, इसमें सन्देह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तबतक सूक्तके पूर्वापर संबंधसे हम इनको विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि, एक राजा है, उसके पास इस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड गया है। इस अव-स्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहां है।

"अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धनुष्य, बाण,परशु,तलवार आदि आयुधसमूह है, उन सबकी ऐसे ढंगसे रचना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय।' [मं. १]अपने सैन्यकी और अपने शस्त्रास्त्रोंकी सुसज्जता ऐसी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पडना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये खडा तक न रहे। जो अपने मनके संकल्प हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पडता है, वह सब ऐसी योजनासे जगत्में उद्घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनता-को पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बडा भारी दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है, परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अत्यंत निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल संमति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिये इसकी बडी भारी आवश्यकता है।

पांडवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शस्त्रास्त्र-बल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निंदा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवोंको मिल गया। यही युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको परास्त करना है, उसपर अपने शस्त्रास्त्रसाधनोंका प्रभाव जमाना चाहिये और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिये। इस प्रकारकी जीत होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने " उदारों' का प्रदर्शन कराना चाहिये। उदार नामक वे अस्त्र हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहां गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। जैसे बारूदके पात्र होते हैं, उनको आग लगानेसे बारूद जलती है और

अंधेरेमें उस बारूदके ज्वलनका बडा वृक्षसा बाहर आता है। इसका नाम है उदार [उत्—आर], अंदरसे ऊपर फेंकना, अन्दरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका जाता है, उसका नाम " उत्—आर " है। इस अस्त्रको शत्रुके ऊपर फेंका जानेपर वह वहां फटता है और उसके अन्दरके विनाशक पदार्थ वेगसे बाहर फेंके जाते हैं, जिससे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरह के उदार अनेक प्रकारके अपने पास हैं और युद्ध होनेपर इनके द्वारा शत्रुका नाश अतिशीघ्र करना हमें सुलभ है, यह बात शत्रुके हृदयमें जैसी हो वैसी स्थिर करनी चाहिये। जिससे शत्रु डरेगा और युद्धके लिये खडा ही नहीं होगा। इस दिखावेसे भी बहुत बार कार्यभाग हो सकता है।

जितना दिखावा करना होगा, उतनाही करना, परंतु अपने गुप्त शस्त्रास्त्र शत्रुको नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि अपने सब शस्त्रास्त्रोंका पूर्ण पता शत्रुको लगना नहीं चाहिये। अपने पास अद्भुत शस्त्रास्त्र हैं, उनसे शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है, इतना ही प्रभाव शत्रुके मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्धके विना शत्रुका नाश करनेकी यह योजना है। इन अपने उदार नामक शस्त्रास्त्रोंका प्रदर्शन करनेका उपदेश मंत्र १, १५,२२,२४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। नहीं तो अर्थका अनर्थ होनेमें विलंब नहीं लगेगा। यहां केवल प्रदर्शन अर्थात् 'दिखावा' करना है, यह दिखावा केवल शत्रुपर अपनी शक्तिका प्रभाव जमानेके लिये ही है। जो अपनी असली सामर्थ्य है, वह इस दिखावेमें प्रदर्शित नहीं होनी चाहिये। अर्थात् दिखावा ऐसा हो कि शत्रु इस दिखावेसे ही दब जावे।

पश्चात् सब सेनाको सज्ज करके सब सेनापति तैयार रहें। किस समय लडना पडे इसका पता नहीं होता है, अतः सर्वदा संनद्ध रहना चाहिये। अपने जो मित्र राजा हैं, उनकी शक्तिका भी विचार करना चाहिये। सुरक्षितताके साथ वे अपनेको यथासमय मिलें इस विषयमें सदा दक्ष होकर कार्य करना चाहिये। (मं० २) अपने विजयकी निश्चितता होनेके लिये यह सब इसी तरह करना योग्य है।

बाहर अपनी शक्ति बडी है ऐसा प्रभाव फैलाना, इसी तरह अपनी तैयारी करना, सदा अपनी सेनाकी सज्जता रखनी और अपने मित्रदलोंकी सुरक्षितता स्थिर करनी, ये कार्य युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध छिडना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैयारी करके उठना और युद्धका प्रारंभ करना। इसमें शत्रुको सोचने की भी फुरसत नहीं देनी चाहिये, यह विशेष सूचना मनन करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें 'आदान और संदान' ये दो प्रकारकी युद्धविधियाँ हैं। एकसे शत्रुको एकदम चारों ओरसे घेरकर पकडना होता है और दूसरेसे मिलकर शत्रुपर एकदम हल्ला करना होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी बडी सेना हुई तो भी युद्धमें विजय संपादन किया जा सकता है। जब इसतरह विजयकी संभावना हो तभी शत्रुके सामने जाकर [अभिप्रेत्त] उसपर चढाई करनी चाहिये। (मं० ३) इस मंत्रके शब्दोंका मनन करनेसे युद्धकी नीतिका पता लग सकता है।

एक बडा सेनापति है और दूसरा उसके पीछे कार्य करनेवाला है। ये दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें ऐसा पराक्रम करें कि वहांके शत्रु पूर्णतासे उखड जांय। पृथ्वीके ऊपर पैदल, घुडसवार और रथियोंसे युद्ध होगा, आकाशमें विमानोंसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वतशिखरोंपर तोपोंसे युद्ध होगा। जहां जिसका युद्ध करना हो, वहां उसका युद्ध अत्यंत कुशलताके साथ करके अपनी विजय और शत्रुकी पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पश्चात् राजा अपनी सेनाके साथ शत्रुसे प्राप्त किये प्रदेशमें प्रवेश करे। (सेनया अहं अन्वेमि) सेनासे मैं राजा उस स्थानमें प्रवेश करता हूं। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व कभी शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं० ४) क्योंकि राजापर ही राष्ट्रका सौभाग्य अवलंबित होता है। यदि राजा असावधानीसे शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां बंधनमें फंस गया तो सब सेनाका पराभव और राष्ट्रकी मानहानि होना संभव है। इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुप्रदेश अपने अधिकारमें पूर्णतासे आ चुकनेपर और कोई डर न रहे तभी राजाने अपनी सुरक्षितताके लिये अपनी विश्वास रखने योग्यसेना अपने साथ लेकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजाकी सुरक्षिततापर ही सब कुछ अवलंबित है। यहां राजा का अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिये।

योग्य समयपर सेनाका (उत्थाव) उठाव करना, चढाई की

तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सांप या अजगर किसीसे लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुको घेर घेरकर, चिपटकर, लपेटकर, मारना चाहिये। सेनाको चारों ओरसे घेरना, अपनी सेना इतनी अधिक रखनी कि जिससे शत्रु घिर जाय। अपने सेनारूपी सांपसे शत्रुको वेष्टन करना और उसकी हलचल बंद करना. उसका अन्य जगत्‌से संबंध तोडना और उसको हैरान करना। [मं०५]

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमिमें [अन्तर्हिताः उदाराः] गाडकर रखे जानेवाले, दूसरे पानीके अन्दर रखे जानेवाले, तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पांचवे बाणपर रखकर शत्रुपर फेंके जानेवाले, छठे नदी तालाब आदि छोटे जलाशयोंमें रखे जानेवाले और सातवें पहाडोंपर काम देनेवाले। ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक उदार होते है। जहां ये रखे जाते हैं वहां शत्रुको घेर कर लाया जाता है और शत्रु वहां आया तो इनका विस्फोटक द्रव्य फट जाता है, इनसे उद्गार निकलते हैं जो शत्रुको एकाएक छिन्नभिन्न कर देते हैं। इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करनी चाहिये। हवनाग्निमें घृतकी आहुतियां देकर सब सैनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [मं० ६] यह प्रायः सबेरे का ही हवन है जो चढाईका सूचक है।

इस तरह सिद्ध होकर शत्रुपर हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा, परास्त होगा, भाग जायगा अथवा ऐसा नष्ट होगा कि उसके राज्यमें स्त्रियोंका रोने और आक्रोश करनेके सिवाय दूसरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं। [मं० ७—९] शत्रुकी सेनाके पुरुष मर जाय और क्रूर जानवर उनके प्रेत खा जांय। (मं०१०) उनकी स्त्रियाँ छाती पीट-पीटकर आक्रोश करें [मं० १४] शत्रु मारे जांय और उनमें रोने पीटनेका बडा कोलाहल मच जाय [मं० ११] ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकडा और मारा तथा काटा जाय [मं०१२] शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई शेष न रहे [मं० १३] शत्रुको मुर्दे खानेवाले पशुपक्षी दीखते रहें, कुत्ते उनके मुर्दोंको खाते रहें, हिंसक क्रूर श्वापद उनके स्थानमें घूमते रहें [मं० १५]

[ख—दूरे] आकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शत्रुपर हमला करे [अर्वे—वासनी] निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रु-सेनाको ऊपरसे मारा जाय, [अन्तर्हिताः उदाराः] भूमिमें अथवा जलमें अदृश्य करके जो उद्गरणशील अस्त्र हैं उनका स्फोट होकर शत्रु मारे जांय, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस व इतर लोगों की सहायता लेकर शत्रुको उखाडा जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय [मं० १६–१७]।

उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नाश किया जाय। अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो। [मं० १८]

शत्रुको घेरकर मारा जाय। अपनी सेना के साथ अग्निकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों। अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिनसे अग्निकी ज्वालाएं निकले और धूंवेसे शत्रु घेरा जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। [मं० १९]

शत्रुसेनाके [वरं वरं हन्तु] बडे बडे वीरोंको चुनचुन-कर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे (मं० २०)। इस तरह पराजित होनेपर शत्रु के हृदय उखड जांय, प्राण चले जांय, मुख सूख जांय, ऐसा शत्रु न बचने तक हमला होता रहे। परंतु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंको [मित्रिणः मा] इनमेंसे कोई कष्ट न हो। [मं० २१]

धैर्यवान् और भीरु जो भी हों, जहां कहीं रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हजारों वीर काटे जांय। वनस्पति औषधि स्फाटक पदार्थ आदि हरएक प्रकारसे शत्रुको परास्त किया जाय। [मं० २२—२४]

हमारे अग्नि, सूर्य, धाता, प्रजापति आदि तथा हमारे ऋषि और हमारे वीर शत्रुओंपर अधिकार करें, अर्थात् हमारी सभ्यताके अन्दर शत्रुकी सब जनता आकर आश्रय लेवे। अर्थात् शत्रुपर हमारा केवल भौगोलिक साम्राज्य ही न हो प्रत्युत हमारी आर्य सभ्यताका भी राज्य उनपर हो-और वे पूर्णतया हमारी सभ्यतामें आ जांय। [मं० २५]

सब हमारे सैनिक इतनी विजय संपादन करके पश्चात् अपने अपने स्थानमें जाकर विश्राम करें। उनका शत्रुओंपर स्वामित्व बना रहे। [मं० २६]

यह आशय इस सूक्तका है। आगे भी इसी प्रकार का सूक्त है, अब वह देखिये—

युद्धकी रीति।

[१० (१२)]

(ऋषिः–भृग्वंगिराः । देवता–त्रिषन्धिः)

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥
ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥२॥
अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥३॥
अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥४॥
उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह । अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ– हे (उदाराः) अपने जीवनपर उदार हुए वीर सैनिको ! (केतुभिः सह उत्तिष्ठत, सं नह्यध्वं) अपनी ध्वजाओंके साथ उठो और तैयार हो जावो। हे (सर्पाः इतरजनाः) सर्पो और हे अन्य लोगो ! हे (रक्षांसि) राक्षसो ! हमारे (अमित्रान् अनुधावत) शत्रुओंपर चढाई करो। ॥ १ ॥

हे (त्रिसंध) त्रिसंधि वज्रयुक्त वीर ! (अरुणैः केतुभिः सह) लाल झण्डोंके साथ (ईशां वः राज्यं वेद) आप सब अधिकारियोंका यह राज्य है ऐसाही मैं मानता हूं। (ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां च ये मानवाः) जो अन्तरिक्षमें, जो द्युलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो(दुः–नामानः) दुष्ट नामवाले हैं, वे सब (ते त्रि-संधेः चेतसि उपासतां) त्रिसंधि वीरके चित्तमें रहें, अर्थात् वह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिसंधिना वज्रेण) तीन संधियोंवाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले, सूईके समान नोकवाले,(अथो विकंकती मुखाः) कठोर कंघेके समान मुखवाले (क्रव्यादः वातरंहसः) मांस खानेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले बाण (अमित्रान् आ सजन्तु) शत्रुओंपर आकर गिरें ॥ ३ ॥

हे जातवेद आदित्य ! (बहु कुणपं अन्तः धेहि) तू शत्रुसेनाके बहुत मुर्दे भूमिमें गिरा दे । (त्रि-संधेः इयं सेना) त्रिसंधिवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें उत्तम प्रकारसे रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) सेनाके साथ उठ । (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह शत्रुरूपी बली लाया गया है।(त्रिषन्धेः आहुतिःप्रिया)त्रिसंधि नामक वज्रके लिये इस बलिकी आहुति अत्यंत प्रिय है ॥ ५ ॥

श्वितिपदी सं द्यंतु शरव्येड्यं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥६॥
धूमाक्षी सं पंततु कृधुकर्णी च क्रोशतु । त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥७॥
अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥
यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः ॥९॥
बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन् ॥१०॥ (२८)
येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥११॥
सर्वांल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥१२॥
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥१३॥

अर्थ-(श्वितिपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) श्वेत पांववाला और चार पांववाली यह बाणोंकी पंक्ति शत्रुका (सं द्यतु) नाश करे । हे (कृत्ये) विनाश करनेवाले ! (त्रि-षन्धेः सेनया सह) त्रिषंधि नामक वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ (अमित्रेभ्यः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(धूमाक्षी सं पततु) धूंवेसे आंख पीडित होकर शत्रुसेना गिर जावे, (कृधुकर्णी च क्रोशतु) कानोंमें क्लेश होकर शत्रु रोता रहे । (त्रिषन्धेः सेनया जिते) त्रिषंधिकी सेनाका जय होनेपर (अरुणाः केतवः सन्तु) लाल रंगके ध्वज खडे हो जांय ॥ ७॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो द्युलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वयांसि अव-अयन्तां) पक्षी इस ओर आ जांय । (श्वापदः मक्षिकाः सं रभन्तां) हिंस्र पशु, मक्खियां शत्रुके मुर्दे खाने लग जांय। (आमादः गृध्राः कुणपे रदन्तां) कच्चा मांस खानेवाले गीध मुर्दोंको खा जांय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! (इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां संधां) इन्द्र और ब्रह्माके द्वारा जिस संधिको (समधत्थाः) किया था । (तया इन्द्र संधया अहं सर्वान् देवान्) उस इन्द्रकी संधिसे मैं सब देवोंको (इह हुवे) यहां बुलाता हूं और कहता हूं कि (इतः जयत मा अमुतः) यहां जीत को, वहां नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरसका बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि, (असुरक्षयणं त्रि-षंधिं वधं) असुरनाशक त्रिषंधि नामक वज्रका (दिवि आश्रयन्) द्युलोकमें आश्रय लेते रहें ॥ १० ॥

(येन असौ आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, (उभौ इन्द्र च तिष्ठतः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं । उस (त्रिषंधिं ओजसे बलाय च) त्रिषंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये (देवाः अभजन्त) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको [असिंचत] सींच कर तैयार किया, [अनया आहुत्या] उस वज्रके स्वीकारसे [देवाः सर्वान् लोकान् अजयन्] सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥१२॥

[आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं असिंचत] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरनाशक वज्रको सींच-

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥१४॥
सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया । संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥१५॥
वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य पन्थाम् ॥१६॥
यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि ॥१७॥
क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥
त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय । पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥
शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः । मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥
मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ- कर तैयार किया, [तेन अमूं सेनां नि लिपामि] उस वज्रसे इस शत्रुसेनाको नष्ट करता हूं। हे बृहस्पते ! [ओजसा अमित्रान् हन्मि] सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूं ॥ १३ ॥

[ये वषट् कृतं अश्नन्ति] जो वषट्कारसे अन्न भक्षण करते हैं, वे [सर्वे देवाः अति-आयन्ति] सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं। हे देवो ! [इमां आहुतिं जुषध्वं] इस आहुतिको स्वीकार करो, और [इतः जयत, मा अमुतः] यहांसे शत्रुको जीत लो, वहांसे नहीं ॥ १४ ॥

[सर्वे देवाः अति आयन्तु] सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें [त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया] त्रिषंधि वज्रको बलिदान प्रिय है। [यया अग्रे असुराः जिताः] जिससे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था, उस [महतीं संधां रक्षत] बडी संधिकी तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[वायुः अमित्राणां इष्वग्राणि अञ्चतु] वायु शत्रुओंके बाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे। [इन्द्रः एषां बाहून् प्रतिभनक्तु] इन्द्र इनकी बाहुओंको तोड दे। ये शत्रु [इषुं प्रतिधां मा शकन्] बाण धनुष्योंपर लगानेके लिये समर्थ न हों [आदित्यः एषं अस्त्रं विनाशयतु] सूर्य इनके अस्त्रों का नाश करे। [चन्द्रमा अगतस्य पंथां युतां] चन्द्रमा अप्राप्त शत्रुका मार्ग रोक देवे ॥१६॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) यदि पूर्व देव अर्थात् शत्रुरूप राक्षस यहांसे दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानसे कवचोंको तैयार किया है, और (तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः) शरीरके रक्षण और ग्रामादिका सब रक्षण करते हैं और जो (उपोचिरे) संघटन कर रहे हैं (तत् सर्वं अरसं कृधि) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिषंधे ! (क्रव्यादा अनुवर्तयन्) मांसभक्षकोंको घेरकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युके आगे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ। (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत लो और उनको प्राप्त कर अर्थात् अपने आधीन कर ॥१८॥

हे त्रिषंधे (त्वं अमित्रान् तमसा परि-वारय) तू शत्रुओंको अन्धकारसे घेर, (पृषद्-- आज्य-- प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचः संपततु) श्वेत पांववाली शक्ति शत्रुओंकी इस सेनाके ऊपर पडे। हे न्यर्बुदे ! (अद्य अमूः अमित्राणां सेनाः मुह्यन्तु) आज ये शत्रुओंकी सेनाएं मोहित हो जांय ॥ २० ॥

हे न्यर्बुदे ! (अमित्राः मूढाः) शत्रु मूढ हो जांय। (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखियाओंका पराभव कर। और उनको (अनया सेनया जहि) इस सेनासे जीत ले अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि। ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥२२॥
ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः। सर्वांस्ताँ अर्बुदे हतांछ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥
सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता ॥२५॥
मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥२६॥
यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(यः च कवचः)जो कवचधारी है, (यः च अकवचः अमित्रः) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु हैं, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है, वह सब शत्रु (ज्यापाशैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः शयां) ज्याके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्माणः) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अमित्राः) जो कवचधारी शत्रु हैं, हे अर्बुदे ! (तान् सर्वान् हतान्) उन सब मारे हुओंको (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रथिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये असादाः ये च सादिनः) जिनके पास घोडे नहीं हैं और जो घोडोंपर सवार हैं, (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु) गीध श्येन आदि पक्षी खाएं ॥ २४ ॥

(समरे वधानां आमित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा ककजाकृता शेताम्) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विकृत आकार होकर गिरे ॥ २५ ॥

(यः अमित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सति) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई सैन्यकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है, (सुपर्णैः मर्माविधं रोरुवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुश्चितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी चित्तवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पडे उस शत्रुको हिंस्र पशु खाय ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं। यस्या विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है, (तया त्रिषंधिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिसंधि वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥

भयानक युद्ध।

युद्ध है बडा भयानक, परंतु जबतक मानव-जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेवाला नहीं है, कमसे कम अतिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षात्र भावकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टीसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लडनेवाले वीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें, (उदाराः) जीवनपर उदार हो जांय। बिलकुल अपने जीवन की चिंता न करें। सब सेनाके वीर अपने अपने झण्डे लेकर चढाईके लिये उठें और तैयार हो जांय। अपने झण्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब वीर मिलकर शत्रुपर धावा करें। (मं० १) यहां सर्प, राक्षस और अन्य लोगभी शत्रुपर हमला करनेके लिये आये दीखते है। जो भी अपना मित्रदल हो वह सब एक विचारसे चढाई करे, आपसमें फूट न हो, प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो, सब एकही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शत्रुसे लडें और शत्रुको पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण।

त्रिसंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बडा प्रखर होता है। तीन स्थानोंमें इस शस्त्रमें संधि किया होता है, इसलिये इसका नाम त्रिसंधि रखा गया है। त्रिसंधि वज्र है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कही है—

वज्रेण त्रिषन्धिना। (मं० ३, २७)

यं वज्रं आसिंचत। (मं० १२, १३)

यह त्रिसंधिवाला वज्र है, उसमें तीन जोड होते हैं और वह पानीमें सिंचित करके बनाया जाता है, अर्थात् यह फौलाद का ही होना चाहिये, जो तपाकर पानीमें अथवा तैलादि द्रव पदार्थोंमें भिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें थोडेसे निर्देश हैं। जो पाठक वज्रनिर्माण की विद्या जानना चाहते हैं, उनको इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है।

लाल झण्डे।

अरुण रंगवाले झण्डे लेकर तथा अपने वज्र साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होनेपर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे–" हे शूर सैनिको! आप सभी इस राज्यके सच्चे स्वामी हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आपही इसके बढानेवाले हैं। जो इस भूमडल पर मनुष्यमात्र हैं, उनमें जो दुश्चरित्र अथवा दुष्ट हैं, [दुः- नाम] दुष्टताके साथ जिनका नाम प्रसिद्ध हुआ है, उनको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमंडल का राज्य निष्कंटक करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिसंधि नामक बडा शक्तिशाली वज्र है। उसकी सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंको दंड देना यह एकमात्र आपका कर्तव्य है, यह बात अपने चित्तमें आप [चेतसि उपासत] रखें और इसे कभी न भूलें। [मं० २] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दंड देना है, उस कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण बारंबार देखना चाहिये।" ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

बाणोंका स्वरूप।

त्रि-संधि वज्र के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी चढाई शत्रुपर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकार के होते होंगे, परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका उल्लेख है–

अयोमुखाः– जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है, जिससे बाणकी नोक तीखी रह सकती है–

२ सूचीमुखाः– सूईके समान अग्रभागवाले बाण। ये बाण शत्रुके शरीरमें शीघ्रतासे घुस सकते हैं।

३ विकंकतीमुखाः– कंगवेके समान कांटेदार मुखवाले

अथवा कंकपक्षीके मुखके समान मुखवाले। इससे विशेष मारकता सूचित होती है।

'वातरंहसः' और 'कङ्कमुखाः' ये शब्द बाणोंका वेग और उनकी मारकता सूचित करते हैं। इस प्रकारके बाण शत्रुपर फेंके जाते हैं और साथ साथ त्रिसंधि वज्रका भी प्रयोग होता है। [मं० ३]

त्रिसंधि वज्रका प्रयोग करनेवाली सेना जिसके पास रहेगी वह शत्रुको जीतनेमें निःसंदेह समर्थ होगा, क्योंकि इस सेनाके वीर अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते हैं और युद्धसाधन भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं। अतः इस सेनाके द्वारा समरभूमिमें शत्रुके बहुत मुर्दे गिराना संभव हो सकता है। [मं० ४]

सेनापति अपनी ऐसी सेनाके साथ उठे और चढाई करे। युद्धमें अपने जीवनकी आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये। अन्यथा त्रिसंधि वज्रको समाधान नहीं होता। (त्रिषंधेः आहुतिः प्रिया) त्रिसंधि वज्रको इस तरहकी आहुति प्रिय होती है। (मं० ५)

इससे पता लगता है कि त्रिसंधि नामक वज्रका चलाना सुलभ नहीं है, शत्रुसैन्यमें घुसकर उसका उपयोग किया जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले वीर ही त्रिसंधि वज्रके लिये प्रिय समझे जाते हैं।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं। अब यहां दो प्रकार और बताते हैं—

४ शितिपदी- तीखे पदवाले बाण, जो बाणका भाग फौलाद का होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे। यह विशेषण हरएक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है।

५ चतुष्पदी- चार पदवाले बाण। इसमें काटनेवाली धाराएं चार हुआ करती है। पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन दो प्रकारोंका विचार भी पाठक करें।

ये सब बाण शत्रुसेनाको पर्याप्त प्रमाणमें काटें। इस मंत्रमें 'कृत्या' नामक किसी विनाशक प्रयोगका उल्लेख है। 'कृत्या' का अर्थ काटनेवाली। इस कृत्याका वर्णन अथर्ववेद में अनेक स्थानोंपर आया है। इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता कि यह क्या है। यहां त्रिसंधि वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ इस कृत्याका प्रयोग होकर शत्रुसेनाका नाश होता है। अतः यह एक शस्त्रविशेष ही होगा। परंतु कृत्या प्रयोगकी विशेष खोज करनी चाहिये। (मं० ६)

धूवेंका प्रयोग

धूवेंके प्रयोगसे शत्रुसेनाको पीडित करनेका वर्णन 'धूमाक्षी' शब्दद्वारा सातवें मंत्रमें किया है। यह धूवाँ किस तरह किया जाता है इसका पता नहीं चलता। परंतु शत्रुसेना खुले मैदानमें होनेपर इस धूवेंसे पीडित की जाती है, इसमें संदेह नहीं। धूम्रास्त्र प्रयोग ही यह है। धूवेंका कुछ अस्त्र शत्रुपर फेंका जाता है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। शत्रुकी सेनामें वह जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धूवां वहांके सैनिकोंमें फैलता है और वे घबरा जाते हैं। इस धूवेंसे (संतपतु) शत्रुका सैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर चढता होगा, केवल मानसिक संताप यहां अपेक्षित नहीं है। परंतु शारीरिक ज्वरही अपेक्षित है।

इस धूवेंसे जैसा ज्वर होता है वैसा ही कर्णशूलभी (कृधुकर्णी) होता होगा और वह शूल इतना भयानक होता होगा कि सैनिक (क्रोशतु) आक्रोश करने लगते हैं। इतनी भयानक वेदना होती है। इतना प्रबल यह धूम्रप्रयोग है। इस धूवेंके प्रयोग आंख, फेफडे आदिको कष्ट, शरीरको ज्वर, कानमें वेदना और सबका परिणाम शत्रुसेना का आक्रोश है। इतने प्रबल शस्त्रास्त्र जिसके पास होंगे वह विजयी होगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक अपने लाल रंगवाले झण्डे खडे कर देते हैं और विजयानंद प्रकट करते हैं। (मं० ७)

उक्त रीतिसे शत्रुसेना काटी जानेपर उस सेनाके मुर्दोंको हिंस्र पशुपक्षी खायें। उनके मुर्दोंकी व्यवस्था करनेके लिये शत्रुके पास कोई न बचे। यह आशय यहां है। इसका आशय यही है कि शत्रुका इतना पराभव हो। (मं० ८)

संधि किये हुए मित्र राजाओंके सैनिक इकट्ठे हो जांय और निश्चित किये मार्गसे शत्रुपर आक्रमण करके शत्रुको परास्त करें। शत्रुसेना का नाश करनेके लिये त्रिसंधि वज्रका प्रयोग किया करें (। मं० ९ -१०)

त्रिसंधि वज्रसे सैनिकों में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होता है। देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका आश्रय क्यों न करें? (मं० ११) शत्रुनाशक इस वज्रसे देवोंने सब लोगोंको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग मनुष्य करें और विजय प्राप्त करें। (मं० १२-१५) इन मन्त्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिसंधि नामक वज्रका उपयोग

देवभी करते हैं। इससे सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शत्रुकी सेनाके बाणोंकी धारा खराब करना, उनके शस्त्रास्त्र निकम्मे बनाना, उनके बाहुओं को काटना अथवा ऐसा अशक्त बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अंगोंको निकम्मा बनाना, उनका मार्ग अशुद्ध करना। इस तरह शत्रुका कार्य असफल करना चाहिये। (मं० १६)

शत्रुके (तनूपानं) कवच तोडने या फाडने, उनके (परिपाणं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन सामर्थ्यहीन बनाने और उनकी सब योजनाएं असफल करके उनको जीतना चाहिये। (मं० १७)

शत्रुसेना के सामने मृत्यु ही खडा रहे, हिंसक शस्त्रास्त्रोंका आघात उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शत्रुपर करना चाहिये और शत्रुको परास्त करना चाहिये। (मं० १८)

तमसास्त्र का प्रयोग।

उन्नीसवें मंत्रमें भी शत्रुपर (तमसा परिवारय) अंधकार का प्रयोग करनेकी सूचना है। यह भी धूवेंका ही प्रयोग होगा जिससे अंधेरेमें गिरनेके समान शत्रुको कुछ भी दीखता नहीं होगा। यह चढाई ऐसी भयानक है कि इससे शत्रुका कोई वीर बचता ही नहीं। (मं० १९)

संमोहनास्त्र का प्रयोग।

आगे बीसवें मंत्रमें (मुह्यन्तु) संमोहन करनेका उल्लेख है। शत्रुसेना सबकी सब मोहित हो जाय। उसको कुछभी न सूझे। वहां कुछ शक्ति शत्रुपर फेंकनी है, जिसके शत्रुसेना में गिरनेसे शत्रुसेना की मति मोहित हो जाती है। जब सब सैनिकोंके चित्त भ्रांत हो जांयगे तब उनके पास जाकर उनको कोई काटे। (मं० २०) शत्रु (मूढाः) मोहित होकर मूढ बन जाय। उनको कर्तव्य करनेकी बुद्धि न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जहि) उनके वीरोंको काटा जावे। क्योंकि मोहित अवस्थामें कोई उनके पास पहुंचा तो उसको कोई भय नहीं हो सकता। परंतु यह सब शीघ्रताके साथ करना चाहिये, क्योंकि मोहनास्त्रका परिणाम कुछ समय तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अपना कार्य समाप्त करना चाहिये। (मं० २१)

शत्रु कवचधारी हो अथवा बिना कवच धारण करके आया हो, उसको पाशोंसे बांधकर नाश करना चाहिये। इस तरह नाश हुई शत्रुकी सेना भूमिमें गिर जाय और उन मुर्दोंको कुत्ते खा जांय। (मं० २२-२३) रथी, पदाती तथा अन्य प्रकारकी शत्रुसेना भी इसी तरह नष्ट हो जाय। (मं० २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि जिससे एकभी शत्रु न बचे। शत्रुको निःशेष पराजित करना अथवा काट डालना चाहिये। क्योंकि शत्रु थोडा भी अवशिष्ट रहा तो वह फिर उठता और कष्ट देता रहेगा। अतः युद्धमें उसका पूरा नाश करना चाहिये।

शत्रुका पूर्ण पराजय होवे। बाणोंसे शत्रुके मर्म काटे जांय, वह भ्रांतचित्त होवे और रोनेके सिवा उसे दूसरा कुछ भी न सूझे। [मं० २६] त्रिसंधिवज्र ही बडा भारी प्रभावशाली शत्रुनाशक शस्त्र है, उसके प्रयोगसे शत्रुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (मं० २७)

इस तरह इस काण्डमें इन सूक्तोंमें युद्धविद्याका उपदेश किया है। पाठक इनके अध्ययनसे वेदकी युद्धनीति जानें और उनमें जो ग्राह्य भाग हो उसका ग्रहण करें।

॥ यहां ग्यारहवां काण्ड समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, 'आनन्दाश्रम' पारडी, (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००६, शके १८७१, सन १९५०

राष्ट्रका धारण ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

[अथर्व० १२।१।१]

"सत्यव्रत, सरलता, उग्रता, दक्षता, तप अर्थात् द्वंद्वसहनशीलता, ज्ञान, यज्ञ अर्थात् आत्मसमर्पण ये सात गुण मातृभूमिकी धारणा करते हैं। अर्थात् जिन लोगोंमें ये सात गुण विशेष प्रमाणमें रहते हैं, वे लोग अपनी मातृभूमिकी उत्तम रक्षा कर सकते हैं। और जो लोग इन गुणोंसे विरहित होते हैं, वे अपनी मातृभूमिकी रक्षा नहीं कर सकते। मातृभूमि लोगोंके भूत, वर्तमान और भविष्यकी सुरक्षा करनेवाली होती है। ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये हरएक दिशामें विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्पन्न करे। "

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

द्वादश काण्ड ।

यह बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पांचवां काण्ड है। इसमें पांच सूक्त हैं, इनके अनुवाक, सूक्त और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार है।

अनुवाक्	सूक्त	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	५+(१३)	६३
२	२	५+(५)	५५
३	३	६	६०
४	४	४+(१३)	५३
५	५	७(पर्याय)	७३
			३०४ कुल-मंत्रसंख्या

इन सूक्तोंके ऋषि देवता छन्द अब देखिये--

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६३	अथर्वा	भूमि	त्रिष्टुप्; २ भुरिज्, ४-६, १०, ३८, त्र्यव० षट्पदा जगती; ७ प्रस्तारपंक्तिः ८, ११ त्र्यव० षट्पदा विराडष्टिः; ९ परानुष्टुभ्; १२, १३, १५, पंचपदा शक्वरी (१२, १३, त्र्यवसाना), १४ महाबृहती, १६,२१ एकावसाना साम्नी त्रिष्टुभ्, १८ त्र्यव० षट्पदा त्रिष्टु-बनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी, १९, २० उरोबृहती (२० विराट्), २२ त्र्यव० षट्पदा विराडतिजगती, २३ पंचप० विराडतिजगती, २४ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती, २५ त्र्यव० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्वरी; २६—२८,३३,३५,३९, ४०, ५०, ५३

					५७, ५६, ५९, ६१, अनुष्टुभः (५३ पुरो बार्हता), ३० विराड्गायत्री; ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः; ३४ त्र्यव० पञ्चपदा त्रिष्टुब्गर्भातिजगती; ३६ विपरीतपादलक्ष्मी पंक्तिः; ३७ त्र्यव० पंचपदा शक्करी; ४१ त्र्यव० षट्पदा ककुंमती शक्करी; ४२ स्वराडनुष्टुप्; ४३ विराडास्तारपंक्तिः, ४४, ४५, ४९ जगत्यः; ४६ षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशक्वरी; ४७ षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा पराविशक्वरी; ४८ पुरोनुष्टुप्; ५१ त्र्यव० षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुंमती शक्वरी; ५२ पंचपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती; ५७ पुरोतिजागता जगती; ५८ पुरस्ताद्बृहती; ६१ पुरोबार्हता; ६२ पराविराज् ।
२	५५	भृगुः	अग्निः मन्त्रोक्त देवता २१—३३ मृत्युः	त्रिष्टुप्;	२—५, १२, २०, ३४-३६, ३८-४१, ४३ ५१, ५४ अनुष्टुभः (१६ ककुंमती पराबृहती; १८ निचृत्; ४० पुरस्तात्ककुंमती); ३ आस्तारपंक्तिः; ६ भुरिगार्षी पंक्तिः; ७, ४५ जगती; ८, ४८, ४९ भुरिज; ९ अनुष्टुब्गर्भा विपरीतपादलक्ष्मी पंक्तिः; ३७ पुरस्ताद्बृहती; ४२ त्रिपादेकावसाना भुरिगार्षी गायत्री; ४४ एकावसाना द्विपदा आर्षी बृहती; ४६ एका० द्विपदा० साम्नी त्रिष्टुप्; ४७ पंचपदा बार्हतवैराजगर्भा जगती; ५० उपरिष्टाद्विराड् बृहती, ५२ पुरस्ताद्विराड् बृहती; ५५ बृहती गर्भा ।
३	६०	यमः	स्वर्गः; ओदनः अग्निः	त्रिष्टुप्;	१, ४२, ४३, ४७ भुरिजः; ८, १२, २१,२२,२४ जगत्यः; १३, १७ स्वराडार्षी पंक्तिः; ३४ विराड्गर्भा; ३९ अनुष्टुब्गर्भा; ४४ पराबृहती; ५५— ६० त्र्यव० सप्तपदा० शंकुमत्यतिजागत शाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतिः (५५, ५७—६० कृतिः ५६ विराट् कृतिः) ।
४	५३	कश्यपः	वशा	अनुष्टुप्;	-७ भुरिज्; २०विराट्; उष्णिग्बृहतीगर्भा; ४२ बृहतीगर्भा ।
५	७३ १ पर्याय ६	अथर्वाचार्यः	ब्रह्मगविः		१प्राजापत्याऽनुष्टुप्; २,६भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ३चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्, ४ आसुरी अनुष्टुभ्; ५ साम्नी पंक्तिः ।
	२ ५	५			७ साम्नी त्रिष्टुप्; ८, ९ आर्षी अनुष्टुभ्; (८ भुरिक्); १० उष्णिक् (७-१० एकपदा); ११ आर्षी निचृत्पंक्तिः ।

३	पर्याय	१६	१२ विराड्विषमा गायत्री, १३ आसुरी अनुष्टुम्; १४, २६ साम्नी उष्णिक्, १५ गायत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुभः; १८ याजुषी जगती; २१, २५ साम्न्यनुष्टुभौ; २२ साम्नी बृहती; २३ याजुषी त्रिष्टुप्; २४ आसुरी गायत्री; आर्षी उष्णिक् ।
४	,,	११	२८ आसुरी गायत्री; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुभौ; ३० साम्नी अनुष्टुभ्; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री; ३३, ३४ साम्नी बृहती; ३५ भुरिक्साम्नी अनुष्टुप्; ३६ साम्नी उष्णिक्; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री ।
५	,,	८	३९ साम्नी पंक्तिः, ४० याजुषी अनुष्टुभ्; ४१, ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती, ४४ पिपीलिकमध्यानुष्टुप्, ४५ आर्षी बृहती ।
६	,,	१५	४७, ४९, ५१–५३, ५७—५९, ६१ प्राजापत्या-ऽनुष्टुभः; ४८ आर्षी अनुष्टुप्; ५० साम्नी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरी गायत्री ६० गायत्री ।
७	,,	१२	६२—६४, ६६, ६८–७० प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ६५ गायत्री; ६७ प्राजापत्या गायत्री; ७१आसुरी पंक्तिः; ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आसुरी उष्णिक् ।

इस तरह इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छन्द हैं । यहां प्रत्येक सूक्तकी देवता विभिन्न है । अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और भावार्थ देकर उसका विवरण साथ साथ ही दिया जायगा । इसमें पहिला सूक्त मातृभूमिका सूक्त है, यह बड़ा मनोरंजक और बोध प्रद है, वह अब देखिये—

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

द्वादशं काण्डम्।

मातृभूमिका सूक्त

[१]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

अर्थ— (बृहत् सत्यम्) बडी या अटल सत्यनिष्ठा (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान, (उग्रम्) क्षात्र तेज, (तपः) धर्मानुष्ठान या धर्मका पालन, (दीक्षा) हरएक कामके करनेमें चतुराई-दक्षता, (ब्रह्म) बडा ज्ञान, (यज्ञ) यज्ञ दान अथवा त्याग ये गुण (पृथिवीम्) भूमि देश या राष्ट्रका (धारयन्ति) पालन पोषण और रक्षण करते हैं। [सा पृथिवी] वह मातृभूमि (भूतस्य) प्राचीन और (भव्यस्य) भविष्यके तथा बीचमें आ जानेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंकी [पत्नी] पालन करनेवाली, ऐसी वह हमारी मातृभूमि (नः) हमको (उरुं) बडा भारी (लोकं) स्थान (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ- जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता, अधिकार, बना रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना आवश्यक है, सत्यप्रियता, उद्योगशीलता, महत्त्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थितिका उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजस्विता, धर्मनिष्ठा, इंद्रियोंका निग्रह, ग्रंथोंका पढना और व्याख्यान सुनना, शान्त स्वभाव और अचापल्य, परोपकारिता, ईश्वरभक्ति, अङ्गीकार किये हुए कार्यमें दक्षता, नियमानुसार चलनेका अभ्यास, खूब धनसंचय, सर्व सहायक पदार्थोंका विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका सत्कार करना, एकतासे रहना, दुःख और आपत्तिमें पडे हुए लोगोंकी सहायता करना, यज्ञ अर्थात् स्वार्थत्याग करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा इत्यादि। जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्तकर सकते हैं। इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणोंका स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि- हे मातृभूमि ! हम पूर्वोक्त संपूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त हो तेरा संरक्षण करते हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदार्थोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है। जब कि हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं, तू भी हमारी कीर्ति बढानेका कारण हो ॥ १ ॥

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

अर्थ-(यस्याः) जिस हमारी मातृभूमिके (मानवानां) मननशील मनुष्योंके (म[-ब-] ध्यतः) मध्यमें (प्रवतः) नीचता उच्चता रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुतही (समं) समता (असंबाधं) और ऐक्य या मैत्रीभाव है; (या) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्याः) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधीः) वनस्पति (बिभर्ति) धारण करती है, वह मातृभूमि (नः) हमारी (प्रथतां) कीर्ति या यशकी वृद्धिका (राध्यतां) साधन करे ॥ २ ॥

(यस्यां समुद्रः) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धुः) अनेक नद नदी, (आपः) झरने झील और ताल तलैयां बहुत हैं, (यस्याम्) जिस मातृभूमिमें (अन्नम्) सब भांतिके अन्न और फल तथा शाक इत्यादि बहुतायतसे उपजते हैं, (यस्यां इदं प्राणत्) जिसमें सजीव, (एजत् जिन्वति) प्राणी चलते फिरते हैं, जिसमें, (कृष्टयः) कृषीवल खेती करनेवाले मनुष्य, शिल्पकर्मविशारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवुः) बहुत संगठित हुए हैं, (सा) इस तरह की (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) समस्त भोग ऐश्वर्य (दधातु) दे ॥ ३ ॥

[यस्याम्] जिस हमारी मातृभूमिमें [कृष्टयः] उद्यमशील तथा शिल्पचातुरीमें निपुण निज परिश्रमसे खेती करनेवाले [संबभूवुः] हुए हैं, [यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशः] जिस भूमिमें चार दिशायें और चार विदिशायें (अन्नम्) चांवल, गेहूं आदि उपजाती हैं, (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे, [प्राणत् एजत्] प्राण धारण करनेवालों और चलने फिरनेवालोंका [बिभर्ति] धारण-पोषण करती है (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये (गोषु अपि अन्ने दधातु) गौओं और अन्नादिमें रखकर धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र या देश के मनुष्यों में परस्पर द्रोह नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है । विशेषकर हमारे अगुआ लोगों में अर्थात् हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले लोकाग्रणियों में परस्पर ऐक्य मत है और वे एकत्र ही मिलकर सब काम करते हैं । जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिकारक रोगविनाशक अनेक औषधियां, और सब तरह की वनस्पतियां पैदा होती हैं, वह हमारी प्रिय मातृभूमि हमारी कीर्ति और यशको दिगन्तरमें फैलानेके लिये कारणीभूत हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालाब, कुए, बावली, नहर, झीलें इत्यादि खेतीको पानी मिलनेके बडे बडे साधन हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है । जिससे सब प्राणी मात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशल्यमें कुशल हैं, किसान लोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होवे ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा कलाकौशल,खेती बारीमें प्रवीण और परिश्रमी लोग होते आये हैं,और जिस भूमि की चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम धन धान्य बहुत उत्पन्न होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण पशु पक्षी आदिक वनस्पति और अन्य जीवधारियों को उत्तम प्रकार लालन, पोषण और संरक्षण होता है, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव गाय, घोडे और अन्न इत्यादि देनेवाली होवे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥
यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

अर्थ—(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमिमें पुराने समयके आर्य लोग (पूर्व जनाः) बल, बुद्धि, वीर्य, ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध सब भांति पूर्णवीर पुरुष [विचक्रिरे] विक्रम, पराक्रमरूप कर्तव्य अच्छी तरह करते रहे हैं, [यस्यां देवाः] जिसमें विद्वान् और वीर (असुरान्) हिंसानिरत शत्रु अर्थात् राक्षसी स्वभाववाले लोगोंको [अभ्यवर्तयन्] जीतते रहे हैं। जो [गवां अश्वानां वयसः च] गौवें, घोडे और पशुपक्षियोंको [वि-ष्ठाः] विशेष सुख देनेका स्थान है, [सा नः पृथिवी] वह हमारी मातृभूमि हमको [भगम्] ऐश्वर्य और [वर्चः] तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान (दधातु) दे ॥ ५ ॥

जो (विश्वंभरा) सबकी पोषण करनेवाली [वसुधानि] सोना, चांदी, हीरा, पन्ना आदि अनेक रत्नोंकी खान है, [प्रतिष्ठा] सब वस्तुओंकी आधारभूत [हिरण्यवक्षा] सुवर्ण आदिकी खान जिसके वक्षस्थलमें है, [जगतः] जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं उनकी [निवेशनी] बसानेवाली (वैश्वानरम्) सब भांतिके मनुष्योंके समूहसे भरा हुआ राष्ट्र या देश (बिभ्रती) धारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निम्) अग्रगामी, नेता (इन्द्र-वृषभौ) शत्रुओंको नाश करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंको तथा [नः] हमको (द्रविणे) धन [दधातु] धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

अर्थ—[अस्वप्नाः] निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि रहित [देवाः] विद्वान् वीर और कुशल जन [यां विश्वदानीम्] सब प्रकारके पदार्थोंकी देनेवाली और जो हमारे लिये [मधुप्रियं च दुहाम्] मधुर प्रिय हितकर पदार्थोंको दुहनेपर देती है, [पृथ्वीं भूमिम्] बडी या विस्तृत हमारी मातृभूमिकी [अप्रमादम्] प्रमादरहित हो [रक्षन्ति] रक्षा करते हैं, [सा] वह भूमि [नः] हमको [वर्चसा] शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे [उक्षतु] हमें पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने—ब्राह्मणों ने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरताद्वारा और वैश्योंने अपनी वाणिज्य—कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरीसे अनेक बडे बडे पराक्रम किये थे, जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर वीर व्यापारी और कारीगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियों को भी उत्तम निवास-स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंकी धारण करनेवाली, सब पदार्थोंको आश्रय देनेवाली, सुवर्ण आदिकी खान रखनेवाली, यावत् स्थावर जंगम जीवों या पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी उन्नतिमें सहायता देनेवाली, मातृभूमि है वह हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोषरहित सब बातोंमें चतुर और उद्यमी, परोपकारी, विद्वान् शूर और धनिक लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित हो रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा हितकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुसंपन्न करे, और हममें ज्ञान, शूरता और धन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥
यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥
यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ १

अर्थ—[या] जो भूमि [अग्रे] पहले [सलिलं अधि] जलके भीतर [अर्णवे] समुद्रमें (आसीत्) थी, [यस्याः पृथिव्याः हृदयम्] जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग [अमृत इव] अमर स्थानके सदृश [सत्येन] सत्य संकल्प के बलसे [आवृतम्] व्याप्त हैं, जो भूमि [परमे व्योमन्] महत् आकाशमें है, [याम्] जिसकी [मायाभिः] कुशलताओंके साथ [मनीषिणः] मननशील विद्वान् [अन्वचरन्] अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, [सा नः भूमिः] वह भूमि हमको [उत्तमे राष्ट्रे] उत्कृष्ट राज्यमें [त्विषिम्] तेज या दीप्ति, [बलम्] शूरता, वीरता, शारीरिक बल किंवा सैन्यबल [दधातु] धारण करे ॥ ८ ॥

[यस्याम्] जिस भूमिमें [परिचराः] सब ओर जानेवाले परिव्राजक संन्यासी [आपः] जलकी भांति [समानीः] समदृष्टि हों, [अहोरात्रे] रात दिन [अप्रमादम्] सावधान रह [क्षरन्ति] परिभ्रमण करते हैं, [अथो] और भी जो [भूरि-धारा] अनेक तरहका [पयः] खाने तथा पीनेकी वस्तु-भोज्य या पेय आदि दूध, घी इत्यादि [दुहाम्] देती है, [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [वर्चसा] तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि [उक्षतु] बढावे ॥ ९ ॥

[याम्] जिस भूमिका [अश्विनौ] अश्विगण भर्ता और हन्ता शूर वीरने [अमिमाताम्] मापन किया, [यस्यां विष्णुः] जिसमें पालकने [विचक्रमे] भांति भांतिका पराक्रम दिखाया है, [इन्द्रः] शत्रुविनाशक [शचीपतिः] शक्तिपति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुरुषने [यां आत्मने अनमित्राम्] जिसको शत्रुरहित किया है, [सा नः माता भूमिः] वह माताके समान हमारी मातृभूमि [पुत्राय पयः] जैसा पुत्रको दूध देती है वैसाही [पुत्राय मे] हम सब पुत्रोंको [विसृजताम्] खानेपानेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ- जो भूमि पहिले समुद्रके गर्भमें थी । जिसके बाहर, भीतर परमेश्वर व्याप्त है, जो आकाशमें अधर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, गुप्त प्रयत्नोंसे तथा कुशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, विद्वत्ता, शूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मेघोंका जल प्राणिमात्रको एक समान मिलता है, वैसेही जिनका उपदेश सबके लिये एक समान होता है ऐसे परोपकाररत संन्यासी जिस भूमिमें रात दिन उत्तम आचरण न छोडते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सब प्रकारके अन्न-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी तेजस्विताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका पोषण करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसकी सदैव भलाई किया करते हैं, जिसके लिये पालनकर्ता लोग बडे बडे पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि जिस प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसही प्रकार हमें संपूर्ण उपयोगके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

अर्थ— हे [पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्य च ते] मातृभूमि ! पहाड, बर्फसे ढके पर्वत और वन तुझे [स्योनम्] सुखके देनेवाले [अस्तु] हों, उन पर्वतोंमें शत्रु न रहें, वे शत्रु रहित हों, इसलिये तुम [बभ्रुम्] सबका भरण-पोषण करनेवाली हो, [कृष्णाम्] कृषिकर्मके उपयुक्त हो, [रोहिणीम्] वृक्षादिकोंकी उपजानेवाली हो, [विश्व-रूपाम्] सब तरहका रूप धारण करनेवाली, [ध्रुवाम्] स्थिर [पृथिवी] बडी विस्तृत लम्बी चौडी [इन्द्र—गुप्ताम्] वीरोंसे रक्षित [भूमिम्] मातृभूमिको [अजितः] जिसे शत्रुओंने नहीं जीता, [अहतः] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुंचा, [अक्षतः] कहींपर किसी अंगमें जिसे घाव नहीं हुआ, [अहं अध्यष्ठाम्] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊंगा ॥ ११ ॥

हे [पृथिवि यत् ते मध्यम्] भूमि! जो तेरे मध्यमें है [यत् च नभ्यम्] जो नाभिस्थान है, (ते याः ऊर्जः) जो तुम्हारा बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त [तन्वः] शरीरधारी अर्थात [मनुष्य संबभूवुः] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किए हुए हैं, [तासु] उस उनके समाजमें (नः) हमको [अभिधेहि] स्थापित कर और इस तरह [नः पवस्व] हमारी रक्षा कर, [भूमिः] भूमि ! तुम हमारी [माता] माता हो [अहम] हम उस [पृथिव्याः पुत्रः] पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकसे या दुःखसे जो त्राण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि, हम तेरे दुःखको दूर करेंगे इससे पुत्र हैं] [पर्जन्यः] जलकी वृष्टिसे पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् शस्यसंपत्तिसे पालन करनेवाले हैं [स उ नः] वह हमें निश्चय [पिपर्तु] पालन करे ॥ १२ ॥

(यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदीका स्वीकार करते हैं । (यस्यां विश्व-कर्माणः) जिसमें उन्नतिके साधन करनेवाले सब लोग (यज्ञं तन्वते) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, [यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्] जिस पृथिवीमें पहले [ऊर्ध्वाः] उन्नति करनेवाले, [शुक्राः] वीर्ययुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वरवः) यज्ञीय यूप होते हैं, जहां अच्छे अच्छे उपदेश [मीयन्ते] कहे जाते हैं, [सा नो भूमिः वर्धमाना] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हो, हम लोगोंकी [वर्धयतु] उन्नति करे ॥ १३ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमे! तुझपर जो पहाड और बरफसे ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बडे जंगल हैं, उनमें तेरे शत्रु कभी न रहें, तू शत्रुरहित होकर सदैव सबका पोषण करनेवाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त, स्थिर और वीरोंद्वारा रक्षित हो ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम शत्रुओं द्वारा पराजित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और महान् पदवीको प्राप्त हों, राष्ट्रको अपने अधिकारमें रखें ॥ ११ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥
त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो
रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥
ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः नः द्वेषत्] मातृभूमि! जो हमसे द्वेष करता है,(यः पृतन्यात्)जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध कत्ल कर हमें कष्ट पहुंचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरि) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि ! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारेही में पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुम्हारेही में चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पांववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं बिभर्षि] धारण पोषण करते हो, [येभ्यः मर्तेभ्य] जिन मनुष्योंके लिये [अमृतम्] जीवनका हेतुभूत [ज्योतिः] तेज [उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्यकिरणोंसे [आतनोति] विस्तार करता है, [इमे] ये हम लोग [पंच मानवाः] पांच प्रकारके मनुष्य [तव] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [नः पृथिवि ताः] हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजाः] प्रजा [समग्राः] सब [वाचः] वाणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्ण [संदुह्रताम्] एकत्र हो बोलें, [मह्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता और हम तेरे पुत्र दुःखसे छुडानेवाले हैं. इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥१२॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिमें लोग सदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उन्नतिकारक तथा बलोत्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार उत्साह देनेवाले भाषण और उपदेश सदैव किये जाते हैं। हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिका कारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे शब्दोंद्वारा द्वेष करते हैं, जो हमारे वैरी सेना ले हमपर चढाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये टपे बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान सूर्य अपनी अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता रहता है; वे हम पांच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और सेवावृत्तिवाले मनुष्य तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो; शठ अहितकारी तथा कटु न हो; हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥
महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अर्थ-(विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की [मातरं ध्रुवां पृथिवीम्] यह माता विस्तीर्ण, लम्बी, चौडी, स्थिर पृथिवी (धर्मणा) सत्य, ज्ञान, शूरता, वीरता आदि धर्मसे (धृताम्) पालित पोषित (शिवाम्) कल्याणमयी (स्योनाम्) सुख की देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी [विश्वहा] सदा [अनुचरेम] हम सेवा करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि ! तुम हम सबका [महत् सधस्थम्] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [महती बभूविथ] बडी होती रही हो। [ते] तुम्हारा [एजथुः वेपथुः] हिलना डोलना [महान्] बडा [वेगः] वेग या गतियुक्त होता है। इस प्रकारकी [त्वाम्] तुमको [महान् इंद्रः] शत्रुके नाश करनेवाले बडा ज्ञान, बल, उत्साह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर [अप्रमादम्] चौकसीके साथ [रक्षति] तुम्हारी रक्षा करते हैं। [भूमे] हे मातृभूमि ! [सा] सो तुम [हिरण्यस्य इव] सोनेकी तरह [संदृशि] चमकती हुई [नः] हमको [कश्चन] कोई भी आपसमें[मा द्विक्षत] वैरभाव न रक्खे ॥ १८ ॥

[भूम्याम्] पृथिवीके मध्यभागमें [अग्नि] अग्नि है, [ओषधीषु] औषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है, जिन औषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूख लगती है, [आपः] जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत्‌के रूपमें अग्निको धारण करता है। (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है, (पुरुषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जाठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोडे आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं; जो बडी लम्बी चौडी और स्थिर हो; विद्या, शूरता, सत्य, स्नेह आदि सदाचार और सद्‌गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एकत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है; तू आकाशमें हिलते डोलते जिस वेगसे जाती है वह वेग बहुतही बडा है; ज्ञानी,शूर,वीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली,शत्रुको नाश करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाडी, भीरु और विगतधैर्य नहीं कर सकते; तू स्वयं सोनेके समान तेजस्वी है, हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं। उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक), पत्थर, मनुष्य,गाय, घोडे इत्यादि प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी दीखते हैं, उसी प्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्व१न्तरिक्षम् । अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ [२]
अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥
भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥
यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

अर्थ- (दिवः) आकाशमें (अग्निः) सूर्यके रूपमें अग्नि है । (आतपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है । (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बडे (अन्तरिक्षं) प्रकाशमें प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हव्यवाहम्) होम की हुई आहुति को ले जानेवाला (घृत-प्रियं) घी को प्यार करनेवाला (अग्निं) भौतिक अग्नि ऋतुओंके बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) दीपित करते हैं ॥ २० ॥

[अग्निवासाः] अग्निसे व्याप्त [असितज्ञूः] काले कज्जलसे जो जाना जाय वह अग्नि (पृथिवी असि) पृथिवीके रूपमें हो (मां) मुझको (त्विषीमन्त) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें (भूम्यां अरंकृतं) अलंकृत सुसंस्कृत (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददति) देते हैं । इससे जिस भूमिमें (स्वधया अन्नेन) उत्तम अन्न खानेपीने की वस्तुसे (मर्त्याः) मरणधर्मा मनुष्य (मनुष्याः जीवन्ति) जीते हैं । (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदष्टिं) अच्छी वृद्धि या उन्नति (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि ! यस्ते गन्धः संबभूव) पृथिवी जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होती है, (यं) जिस गन्धको (ओषधयः बिभ्रति) ओषधियां धारण करती हैं, (यः) जिसे (आपः बिभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धर्वा) सूर्य धारण करते, (अप्सरसः च) किरणें धारण करती हैं, (यं गन्धं) जिस गन्धका (भेजिरे) सुख भोगा (तेन) सुगन्धिसे (मा) मुझ-को [सुरभिं] सुगन्धियुक्त [कृणु] करो । [नः] हम लोगोंमें [कश्चन] कोई भी [मा द्विक्षत] किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बडी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए द्रव्य-को हवनद्वारा चारों ओर फैलाने के लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं । उस अग्निमें हम भी दिन-रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और यज्ञको बढानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके वायु और जल आदिको शुद्ध करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुम्हारेमें उत्तम सुगन्धि है, वह औषधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको सूर्य अपनी किरणोंसे उद्दीपन करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धि से भूषित करो और हमारे बीच कोई आपसमें किसीसे भी वैर न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पुष्क॑रमावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्याया॑ विवा॒हे ।
अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सुर॒भिं कृ॑णु मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २४ ॥
यस्ते॑ ग॒न्धः पुरु॑षेषु स्त्री॒षु पुंसु॒ भगो॒ रुचिः॑ ।
यो अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो मृ॒गेषू॒त ह॒स्तिषु॑ ।
क॒न्या॒यां॒ वर्चो॒ यद् भूमे॒ तेना॒स्माँ अपि॒ सं सृ॑ज मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २५ ॥
शि॒ला भूमि॒रश्मा॑ पां॒सुः सा भूमि॒ः संधृ॑ता धृ॒ता
तस्यै॒ हिर॑ण्यवक्षसे पृथि॒व्या अ॑करं॒ नमः॑ ॥ २६ ॥
यस्यां॑ वृ॒क्षा वा॑नस्प॒त्या ध्रु॒वास्तिष्ठ॑न्ति वि॒श्वहा॑ ।
पृ॒थि॒वीं वि॒श्वधा॑यसं धृ॒ताम॒च्छाव॑दामसि ॥ २७ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं] जो तुम्हारी गन्ध कमलमें [आविवेश] प्रविष्ट हुई है, [अग्रे] पहिले [यं गन्धं अमर्त्याः] जिस गन्धको वायु आदि देवता [सूर्यायाः] उषाके [विवाहे] विवाहके समय [संजभ्रुः] धारण करते हैं, [तेन मां सुरभिं कृणु] उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। [कश्चन] कोई भी [नः] हम लोगोंसे [मा द्विक्षत] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [भूमे] भूमि, [यः ते गन्धः वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः] वीर पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें तेजोमय कान्तिरूप है, [यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु] जो घोडोंमें, चौपायोंमें, हाथियोंमें, [यत् वर्चः] जो तेज रूप है, [कन्यायां] बिना ब्याही कन्याओंमें जो तेज है, [तेन] दिव्य तेजसे [अस्मान् अपि] हममें भी वही तेज (संसृज) पैदा कर दे। [कश्चन मा द्विक्षत] हममें कोई किसीसे द्रोह न करे ॥२५॥

जो (शिला अश्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलियुक्त (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरतासे (धृता) भलीभांति रक्षित हुई, [संधृता] अच्छी तरह योग्यताके साथ सुरक्षित हुई कहलावेगी, (तस्यै हिरण्यवक्षसे)उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है,(नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥२६॥

(यस्यां) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेड और लता आदि (विश्वहा) सदा [ध्रुवाः] स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वधायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, [धृताम्] धारण की गई अर्थात् भलीभांति सुरक्षित रखी गई, [पृथिवीं अच्छ] उस पृथिवी की हम मुख्यतया [आवदामसि] प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है, सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। हममें कोई किसीसे द्वेष न करे। हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बढे और सब समाजके लिये हितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री पुरुषोंमें, हाथी घोडे चौपाये आदिमें, ब्रह्मचारियों ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी बचपनसे ही हो। हममें कोई भी किसीसे द्रोह न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अमूल्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृ-भूमिको हम नमस्कार करते हैं। जबतक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिका संरक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर खडे हुए

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥
विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥ २९ ॥
शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)
यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

अर्थ- [उदीराणाः] चलते फिरते [उत आसीनाः] बैठे हुए [तिष्ठन्तः] खडे हुए [प्रक्रामन्तः दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां] दाहिने या बांयें पांवसे टहलते हुए [भूम्यां मा व्यथिष्महि] भूमिमें हम किसीको दुःख न दें ॥ २८ ॥

[विमृग्वरीं] विशेष खोजनेके योग्य [ब्रह्मणा] परमात्मासे [वावृधानां] बढाई गई [ऊर्जं] बल बढानेवाली [पुष्टं] पुष्टि करनेवाली [घृतं अन्नभागं च] घी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [बिभ्रतीं] धारण करनेवाली [पृथ्वीं] लम्बी चौडी [क्षमां] प्राणिमात्रके निवास योग्य [भूमिं] मातृभूमिसे [आवदामि] प्रार्थना करते हैं। हे [भूमे] हमारी मातृभूमि । [त्वां] तुम्हारा [अभिनिषीदेम] हम आसरा लें ॥२९ ॥

हे [पृथिवि ! नः तन्वे] हमारे शरीरको शुद्धिके लिये [शुद्धाः आपः] निर्मल जल, [क्षरन्तु] बहा करें; [यः नः] जो हमको [अप्रिये] अनिष्ट है या प्रिय नहीं है [सेदुः] उसे अलगकर [पवित्रेण] पवित्र जो हमारा कर्तव्य कर्म है [मा उत्पुनामि] उससे मुझे पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

हे [भूमे !] मातृभूमि ! [याः ते प्राचीः] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, [याः उदीची] जो उत्तरकी दिशा है, [याः ते प्रदिशः] जो तुम्हारी उपदिशा अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएं हैं, [याः ते अधरात्] जो तुम्हारे नीचे हैं, [याः ते पश्चात्] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे है [ताः] उन सब दिशाओंमें [चरते] लोग चलते फिरते हैं; [मह्यं स्योनाः भवन्तु] मुझे सुख की देनेवाले हों, [भुवने] जिस देशमें हम [शिश्रियाणः] रहें [मा निपप्तं] कहीं हमारा अधःपात न हो ॥ ३१ ॥

गुणोंसे भरी पूरी है,और सबका आधार है,हमसे अच्छी तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमसहित स्तुति गाते हैं॥२७

भावार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

जिसकी ऊपर की सतहको तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे धारण किया है, बल बढानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है, लंबी चौडी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो । जो कोई हमारा अप्रिय करनेकी इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे,उसके साथ हम भी वैसा ही बर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उन्नति करें ॥ ३० ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएं और उपदिशाएं हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें-इसी प्रकार तेरे हितके लिये यत्न करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहां कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा अधःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥
यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥
यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ३४
यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

अर्थ- हे (भूमे! पश्चात् नः मा नुदिष्ठाः) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, [मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा नुदिष्ठाः] जो तुम्हारा पूर्व है, उत्तर है या नीचे है, वह भी हमारा नाश न करें, [स्वस्ति] हमारा कल्याण हो । [परिपन्थिनः] शत्रु लोग हमें [मा विदन्] न जानें [किन्च] उन शत्रुओंके [वधं] वधके लिये [वरीयः] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [यावय] वह जाय ॥ ३२ ॥

[भूमे मेदिना] हे हमारी मातृभूमि ! -अपने प्रकाशसे आनंद देनेवाले [सूर्येण] सूर्यसे [यावत् ते अभि विपश्यामि] जहांतक सब ओर हम तुम्हारे विस्तारको देखते हैं, [तावत् उत्तरां उत्तरां समां मे चक्षुः मा मेष्ट] वहांतक ज्यों ज्यों मेरी उमर बढती जाय मेरी इंद्रियां नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमरतक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि ! [यत्] जब [शयानः] सोते हुए [दक्षिणं सव्यं पार्श्वं] दाहिने और बांये [अभिपर्यावर्ते] करवट लें [यत् त्वा] जब तुमपर [प्रतीचीं] पश्चिम की ओर पांव कर [उत्तानाः पृष्टीभिः] पीठ नीचे कर [अधिशेमहे] शयन करें, उस स्थानमें [सर्वस्य प्रतिशीवरि] सब लोगोंको सहारा देनेवाली [भूमे नः मा हिंसीः] हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारेमें [यत् विखनामि] जो हलसे जोतकर हम बोवें [तत् क्षिप्रं रोहतु] वह जल्द उगे और बढे [विमृग्वरि] विशेष खोजनेके योग्य हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे [मर्म] नाजुक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चोट न पहुंचे और [ते अर्पिपं] तुम्हारे अर्पित [हृदयं] मन या चित्त [मा] दुःखित न हो ॥३५॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुंचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे अगुआ लोग सदा हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियां और भीतरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमे ! जिस समय हम तेरे भक्त विश्राम करनेके लिये दाएं, बाएं अथवा सीधे तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बेखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमि जहां तुम ऊंची नीची हो उसे सम भूभाग कर जो हम बोवें वह जल्द उगे और बढे । तुम्हारे ऊंचा नीचा रहनेसे हमारे अवःपात और गिर जानेकी संभावना है, सो तुम्हारे लिये यत्न करते हुए मर्मस्थानमें चोट या क्षति न पहुंचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें सो दुःखित न हो, हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥ ३५ ॥

१ (अ. सु. भा. कां १२)

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

यार्प सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः ।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

अर्थ- हे (पृथिवी भूमे) विस्तृत मातृभूमि ! (ते ग्रीष्मः वर्षाणि शरत् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः) तुम्हारे में जो गरमी, बरसात, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त (ऋतवः ते हायनाः) ये छः ऋतु वर्षभरमें (विहिताः) स्थापित की गई हैं और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (नः दुहताम्) हमको सुख देनेवाले पदार्थ दें ॥ ३६ ॥

(या विमृग्वरी) जो विशेष खोजनेके योग्य है, (विजमाना अपसर्पं) जो हिलती हुई चलती है, (ये अप्सु) जो मेघोंमें (अन्तः अग्नयः) बिजलीके आकारमें अग्नि हैं वे (यस्यां आसन्) जिसमें है, वह हमारी मातृभूमि (देवपीयून्) देवोंके हिंसक (दस्यून्) ज्ञानमार्गके उच्छेदक अनार्योंका नाशकर्ता (शक्राय) समर्थ (वृष्णेन) वीर्ययुक्त (वृषभाय) सिंचन करनेवालेको (दध्रे) धारण करती है और शत्रुको (परादद्ती] दूर करती हुई [वृत्रं न] शत्रुका [इन्द्र] नाश करनेवाले शूर वीरको [वृणाना] वरण करनेवाली अर्थात् अपनेमें मिलानेवाली हमारी मातृभूमि है ॥ ३७ ॥

(यस्यां सदो) जिस भूमिमें घर है (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात् हवनके पदार्थ सुरक्षित रह सकते हैं (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञस्तम्भ रखे जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः ऋत्विजः) जिसमें यजुर्वेदके जाननेवाले ब्राह्मण यज्ञ करने या करानेवाले (यस्यां ब्रह्माणः ऋग्विभिः साम्ना च अर्चन्ति) जिसमें ऋग्वेद और सामवेदके जाननेवाले ब्राह्मण ब्रह्मा बन परमात्माका पूजन करते हैं और (सोमं पातवे) सोमपानके लिये (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

हे मातृभूमि ! छः ऋतु होनेका उत्तम गुण तुम्हारे ही में है और किसी देशकी भूमिमें छः ऋतु नहीं होती। जो वर्षकी ये छः ऋतु अपने अपने समयमें उपजे फल फूल आदिसे हमें सुख देती रहें, उन उन ऋतुके रात और दिन सब भांति हमें सुहावने हों ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि ऐसी है कि इसे जितना ही खोजते रहो इसमें लाभदायक सार वस्तु मिलती रहें, हिलते, डोलते, चलते मेघोंमें बिजलीके आकारमें अग्नि जिसमें है वह हमारी मातृभूमि सज्जनोंको दुख देनेवाले दुष्टोंका ज्ञानी वीरोंके हितके लिये नाश करती है, वह हमारी मातृभूमि शत्रुनाशक वीरोंको ही अपनेमें धारण करती है ॥ ३७ ॥

जहां वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने बार बार यज्ञ किया है, इससे सिद्ध हुआ कि वह हमारी मातृभूमि पवित्र यज्ञ भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः । सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे । भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्यां इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ४२

अर्थ- (यस्यां पूर्वे भूत कृतः) जिस भूमिमें पहिले अद्भुत काम करनेवाले (ऋषयः वेधसः) अतीन्द्रियार्थदर्शी और ज्ञानी (सप्त सत्रेण) सात प्रकारके सत्र आदि (यज्ञेन) यज्ञसे या सत्कार दान मान आदि उत्तम कामोंसे (तपसा) धर्मके करनेसे (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहे ॥ ३९ ॥

[सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [यत् धनं] जो धन हम [कामयामहे] इच्छा करते हैं कि हमे मिले वह हमें [आदिशतु] दे, [भगः] ऐश्वर्यसंपन्न अपने ऐश्वर्यसे शूर वीर पुरुषोंके [अनुप्रयुङ्क्ताम्] सहायक हों, [इन्द्रः] शत्रुके नाश करनेवाले वीरोंको [पुरोगवः] अगुआ होकर [एतु] शत्रुपर चढाई करे ॥ ४० ॥

[यस्याम् भूम्यां मर्त्याः] जिस भूमिमें मनुष्य [गायन्ति] गाते हैं, [नृत्यन्ति] नाचते हैं, [व्यैलबाः] विशेष प्रेरित वीर लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं, [यस्यां आक्रन्दः] जिसमें घोडोंके हिनहिनानेका शब्द होता है, [दुन्दुभिः च वदति] नगाडा बजता है [सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [सपत्नान्] शत्रुओंको [प्रणुदताम्] दूर भगा दे, वह [पृथिवी] भूमि [मा] हमें [असपत्नं] शत्रुरहित [कृणोतु] करे ॥ ४१ ॥

[यस्यां व्रीहियवौ] जिसमें चावल, जौ, गेहूं आदि अन्न बहुत उपजते हैं, [अन्नं] खानेके पदार्थ जहां अधिकतासे हैं, [यस्यां इमा पंच कृष्टयः] जहां पांच प्रकारके लोग विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और नौकर रहते हैं, उस [वर्षमेदसे] बरसात होनेसे जहां अन्न आदि अच्छे उपजते हैं, [पर्जन्यपत्न्यै] पर्जन्य अर्थात् वर्षासे जिस भूमिका पालन होता है, उस [भूम्यै नमः अस्तु] मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

भावार्थ— हमारी मातृभूमि ऐसी है जिसमें अतीन्द्रियार्थदर्शी सज्जनोंकी रक्षाके लिये बडे बडे काम करनेवाले धर्मानुष्ठान और ज्ञानमार्गसे सुशोभित सत्पुरुष हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जितने सुखकी हम इच्छा करें उतना मातृभूमि हमें दे। ऐश्वर्य और धनसम्पन्न लोग अपने ऐश्वर्य और धनसे वीरोंकी सहायता करें और वीर पुरुष अगुआ होकर धैर्यके साथ शत्रुओंके नाश करनेके लिये आगे बढें ॥ ४० ॥

जिस भूमिमें आनन्द बधाइयां बज रही हैं, जहां लोग प्रसन्न रह नाचते हैं, गाते हैं और वीर लोग वीरताके उत्साहमें भरे अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये युद्ध करते—घोडे जहां हिनहिना रहे हैं, नगाडे बजते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे शत्रुओंका नाश कर हमें शत्रुरहित करे ॥ ४१ ॥

जहां चावल, गेहूं, जौ आदि तथा और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहां विद्वान् शूर, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक लोग यह पांच प्रकारके मनुष्य आनन्दसे बसते हैं, जिस भूमिमें नियमित समयमें वृष्टि हो सम्पूर्ण धान्यादिक उत्पन्न हो लोगोंका योग्य पालन होता है, उस मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥
जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥
यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

अर्थ- [यस्याः देवकृताः पुरः] जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये या बसाये हैं, [यस्याः क्षेत्रे विकुर्वते] जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अपने अपने काम अच्छी तरहसे कर सकते है, [प्रजापतिः] प्रजाका पालक उस भूमिको जो [विश्वगर्भा] सब पदार्थोंको पैदा करनेवाली है, [पृथिवीं] उस हमारी मातृभूमिको [आशां आशां] प्रत्येक दिशाओंमें [रण्यां] रमणीय करे ॥ ४३ ॥

[बहुधा गुहा] बहुत तरह की खानोंमें [वसु] धन, [मणिं] रत्न हीरा पन्ना आदि [हिरण्यं] सोना चांदी आदि [निधिं] संचय [बिभ्रती] धारण करनेवाली हमारी पृथिवी [मे] हमको वह सब [ददातु] दे, [वसुदा] धनकी देनेवाली [रासमाना] दान करनेवाली [देवी] देवस्वरूप हमारा सब काम साधनेवाली [सुमनस्यमाना] जो हमसे शुभचित्त होकर [नः] हमको [वसूनि ददातु] धन दे ॥ ४४ ॥

(बहुधा नानाधर्माणं) बहुत तरहके धर्मोंके माननेवाले (विवाचसम्) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनसमुदायको (यथा ओकसं] जैसा एक घरमें कोई रहे उस तरह (बिभ्रती) धारण करनेवाली (अनपस्फुरन्ती) जिसका नाश न हो इससे (ध्रुवा पृथ्वी) स्थिर भूमि (द्रविणस्य धाराः) हजारों तरह धन (मे) मुझको (धेनुः दुहां) धेनु जैसा दूध देती है उसी तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे (पृथिवि ते) हमारी मातृभूमि तुम्हारे (यः सर्पः वृश्चिकः) जो सांप या बीछू (तृष्टदंश्मा) ऐसे जीव कीडे आदि जिनके काटनेसे प्यास अधिक लगती हो (हेमन्त-जब्धः) हिमविनाशक अर्थात् ज्वरके पैदा करनेवाले (भृमलः) या जिनके काटनेसे घुमरी पैदा हो (क्रिमिः) ऐसे कीडे (गुहाशये) जो बिलोंमें पडे सोया करते हैं (प्रावृषि) बरसातके मौसममें (यत् जिन्वत् यत् एजति) जो कांपते हुए चलते हैं या रेंगते हैं (तत् सर्पत्) जो रेंगा करते हैं, वे सब (नः मा उपसृपत्) हमारे पास न आवे, (यत् शिवम्) जो हमारे लिये कल्याणकारी हो (तेन नः मृड) उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ- जिस मातृभूमिमें देवोंद्वारा बनाये अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रान्तमें मनुष्य अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे उद्योगोंमें सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो घनी बसी है, कोई भाग जिसका सूना और उजाड नहीं है, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिको प्रजाका पालक पूर्ण करे अर्थात् वहां विद्याका अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्यसे सुसंपन्न रहे ॥ ४३ ॥

जिसमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खानें हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती है, वह मातृभूमि सदा हमें धनकी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥
मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥
ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति ।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

अर्थ - हे भूमि ! (ये ते बहवः पन्थानः जनायनाः) मनुष्योंके चलने फिरने योग्य जो तुम्हारे बहुतसे मार्ग हैं, (रथस्य वर्त्म) रथके चलने योग्य [अनसः यातवे] छकडोंके जानेआने लायक अथवा अन्नको ढोकर जानेलायक जो मार्ग हैं, [यैः संचरन्ति भद्रपापाः] जिनसे परोपकारी भले लोग या जिन परसे दुष्ट स्वार्थरत लोगभी चलते हैं [तं] उसे [अनामित्रं] शत्रुरहित [अतस्करं] ठग और चोरोंके भयसे रहित कर । [जयेम] हम जय प्राप्त करें, (यच्छिवं) जो कल्याणकारी है (तेन नो मृड) उससे हमें सुख दो॥ ४७ ॥

(गुरु भृत्) भारी पदार्थको अपनी ओर खेंचनेवाली और (मल्वं) धारण करनेकी शक्ति (बिभ्रती) धारण करनेवाली (भद्रपापस्य) धर्मात्मा और पापात्मा मनुष्यको (निधनं) मरण (तितिक्षुः) सहती हुई वह (पृथिवी) भूमि (वराहेण) उत्तम जल देनेवालेके साथ (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छा बरसातवाली होकर (सूकराय) अच्छा किरणवाले (मृगाय) अपनी किरणोंसे अपवित्रताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (विजिहीते) विशेष जाती है ॥ ४८ ॥

(पृथिवी ये ते वने हिताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे वनमें रखे गये हैं (सिंहाः व्याघ्राः पुरुषादः) सिंह, बाघ और दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले मांसाहारी जीव (आरण्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले चतुष्पाद तृणभोजी मृगादिक (चरन्ति) चलते फिरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) वनपशु, पागल कुत्ते [ऋक्षीकां] भालू आदि भेडिये [इतः अस्मात् अपबाधय] यहां हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

भावार्थ- अनेक प्रकारकी उन्नतिके धर्मोंको पालनेवाले, विविध भाषा बोलनेवाले लोगोंको आश्रय देनेवाली हमारी अविनाशी मातृभूमि जैसा गऊ दूध देती है, उस तरह हजारों पदार्थोंकी देनेवाली हो तथा धनकी देनेवाली हो ॥ ४५ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे विलोम सांप बीछू या ऐसे जीव जिनके काटनेसे दाह पैदा होती है, या जो शोथ उत्पन्न करते हैं, वे भयंकर विषैले जीव कभी हमें स्पर्श भी न करें, जो पदार्थ हमारे लिये हितकारी और कल्याण करनेवाले हों वे सदा हमारे पास आ हमें सुख देवें ॥ ४६ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारा रस्ता-जिसपरमनुष्य चलते फिरते हैं--रथ और छकडोंके चलने योग्य है, जिसपर भले और बुरे दोनों तरहके लोग चलते हैं, अन्न आदि पदार्थ जिसपर ढोये जाते हैं,वह मार्ग बिना शत्रु और चोररहित अर्थात् निर्भय और सुरक्षित कर हम विजयी हो उस बाटपर चलें । जो हमारे लिये भलाई हो उससे हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

गुरु पदार्थको अपनी ओर खींचने तथा धारण करनेकी शक्ति जिसमें है, भले और बुरे दोनोंको जो धारण किये है, दोनों-के मरणको जो सह लेती है । अच्छा जल बरसानेवाले मेघसे युक्त सूर्य जिसकी अपवित्रताको अपनी किरणोंसे हटा देता है, ऐसी-हमारी मातृभूमि विशेष प्रकारसे सूर्यके साथ साथ जाती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे हिंस्र जीव, शिकारी जानवर, चौपाये, भेडिये, पागल कुत्ते,भालू इत्यादि हैं, उन सबको हमसे दूर रखो ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥ (५)

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः । अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ५३

अर्थ- हे [भूमे ये गन्धर्वाः] मातृभूमि जो हिंसक आततायी हमारे वध करनेको उद्यत हैं [अप्-सरसः] कर्मपराङ्मुख आलसी हैं, [ये अरायाः] जो निर्धन हैं [किमीदिनः] पर धनके हरनेवाले हैं, [पिशाचान्] मांस खानेवाले हैं, [रक्षांसि] राक्षसी स्वभाववाले हैं, [सर्वान् अस्मत् यावय] सबको हमसे दूर हटाओ ॥ ५० ॥

हमारी वह मातृभूमि है [यां द्विपादः हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि पक्षिणः संपतन्ति] जहां दो पांववाले जीव हंस, गरुड आदि पक्षी उडते हैं, [यस्यां मातरिश्वा वातः] आकाशमें बहनेवाली या संचार करनेवाली हवा [रजांसि कृण्वन्] धूल उडाती हुई [वृक्षान् च्यावयन्] पेडोंको जडसे उखाडता हुई [ईयते] बहती है । [तस्य वातस्य प्रवां उपवां] उस वायुकी गतिको [अर्चिः] तेज या प्रकाश [अनुवाति] अनुसरण करता हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

[यस्यां भूम्यां कृष्णं अरुणं च] जिस भूमिमें तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन [संहिते] इकट्ठे हो (अहोरात्रे) दिन और रात [अधिविहिते] होते हैं [सा पृथिवी भूमिः [वह विस्तृत भूमि] [वर्षेण वृता वृता] वृष्टिसे ढकी हुई [भद्रया] कल्याणके साथ [प्रिये धामनि-धामनि] हितकारी स्थानोंमें [नः] हमको [दधातु] धरे ॥ ५२ ॥

(द्यौः) प्रकाशमय आकाश [पृथिवी] भूमि [अन्तरिक्षम्] आकाश और पृथ्वीका बीच [अग्निः सूर्यः] अग्नि और सूर्य [विश्वे देवाः च] सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजयी, या व्यवहारचतुर [इदं] यह सब [मे] मुझको [मेधां] धारणाशक्तिवाली बुद्धि [मे व्यचः] हमारी सबमें व्याप्ति या आकलनशक्ति [संददुः] अच्छी तरह दें ॥ ५३ ॥

भावार्थ - हे हमारी मातृभूमि ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसाहारी, अनात्मवादी नास्तिक और आततायी हैं, उनको दूर करो ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें सर्वदा आकाशमें हंस आदि पक्षी आनन्दसे उडते हैं, जहां धूलिको उडाते पेडोंको उखाडते वायु वेग रोक ठीक सपाटेसे बहती है और जंगलकी अग्नि जहां जोरोंसे भभकती है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें ठीक प्रमाणसे रात और दिन होते हैं और उनकी सदा एकसी व्यवस्था रहती है वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें हितकर स्थानोंमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

स्थावर वा जंगम, चेतन वा अचेतन सब पदार्थोंकी सहायतासे हमारी बुद्धि बढे और कीर्तिरूपसे चारों ओर व्यापक हो ५३

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥
अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥
अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ- [अहं सहमानः] गरमी, सरदी, सुख, दुःख सह लेनेवाला [नाम] यश और प्रतिष्ठासे [उत्तरः] उत्कृष्टतर [भूम्यां अस्मि] भूमिमें [आशां आशाम्] हरएक दिशाओंमें [विषासहिः] विशेष विजयी [अभाषाड्] सब ओर पराक्रम करनेवाला [विश्वाषाड्] सब शत्रुओंका नाश करनेवाला [अस्मि] हूं ॥ ५४ ॥

हे [देवि] दिव्य मातृभूमि तुम (यत्) जब (पुरस्तात्) पहिले (देवैः) देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगोंद्वारा [प्रथमाना] प्रख्यात होकर [उक्ता] प्रशंसित हो गई तब [व्यसर्पः] विशेष उत्कर्षको पहुंची [तदानीम्] तब इसको [चतस्रः प्रदिशः] चारों दिशाओंमें [सुभूतम् महित्वम्] बडी प्रतिष्ठा [अकल्पयथाः] प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तुम्हारी प्रतिष्ठा [त्वा] तुममें [आविशत्] अब भी पहले की सी हो ॥ ५५ ॥

[ये ग्रामाः] जो गांव या नगर [यत् अरण्य] जो वन [याः सभाः] जो राजसभा न्यायसभा धर्मसभा आदि [ये संग्रामाः] जो युद्ध [याः च समितयः] जो बडी बडी परिषदें [अधिभूम्याम्] हमारी भूमिमें [सन्ति] हैं [तेषु] उन सबको [ते] तुम्हारे बारेमें [चारु वदेम] अच्छा कहेंगे ॥ ५६ ॥

[यात्] जब [पृथिवाम्] भूमिमें कोई युद्ध आदिसे [आक्षियन्] आकर बसे या बसाया जाय तब [तान् जनान्] उन रहनेवाले मनुष्योंको [यः रजः] जो सेनाके आनेसे उठा धूलि [अश्वः इव वि दुधुवे] घोडोंसे चलनेके समान उडी वह [मन्द्रा] प्रसन्न करनेवाली [अग्रेत्वरी] अग्रभागमें जल्द जानेवाली [भुवनस्य गोपा] संसारकी रक्षा करनेवाली [वनस्पतीनां ओषधीनां च गृभिः] वनस्पति और औषधियोंका ग्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख निवारण करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तैयार हूं। और प्रयत्नसे सब शत्रुओंको परास्त करूंगा। एक भी शत्रुको रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहलेके लोग जब तुम्हारी स्तुति करते थे उस समय तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, वही तुम्हारा महत्त्व अब भी वैसाही फैले ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि! तुम्हारेमें जहां जहां नगर, वन, सभा, परिषद्, संग्राम किंवा मनुष्य एकत्र हों वहाँ वहाँ हम तुम्हारी प्रशंसा करें। अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न कहें ॥ ५६ ॥

युद्धमें विजयी हो जानेपर सेनाके घोडोंके चलनेसे धूलि उडकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है। अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य अपना संघकर एकाग्र होते हैं तब उस संघसे जो फल स्वरूपमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वह शक्ति सब को आनन्द देनेवाली, सब देश का संरक्षण करने वाली और औषध आदि भक्ष्य पदार्थ देनेवाली होती है। इसलिये उसे मातृभूमिके संपूर्ण भक्त सदैव ध्यानमें रक्खें ॥ ५७ ॥

यद् वदा॑मि॒ मधु॑मत् तद् व॑दामि॒ यदी॒क्षे॑ तद् व॑नन्ति मा ।
त्विषी॑मानस्मि जू॒ति॒मानवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः ॥ ५८ ॥
शन्ति॒वा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒ला॒लो॑ध्नी॒ पय॑स्वती। भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी पय॑सा स॒ह ॥५९॥
याम॒न्वैच्छ॑द्ध॒विषा॑ वि॒श्वक॑र्मा॒न्तर॑र्ण॒वे रज॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ।
भु॒जि॒ष्यं॑१ पात्रं॒ निहि॑तं॒ गुहा॒ यदा॒विर्भो॒गे अ॑भवन्मातृ॒मद्भ्यः॑ ॥ ६० ॥
त्वम॑स्याव॒पनी॒ जना॑ना॒मदि॑तिः काम॒दुघा॑ पप्रथा॒ना ।
यत् त॑ ऊ॒नं तत् त॒ आ पू॑रयाति प्र॒जाप॑तिः प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑ ॥ ६१ ॥

अर्थ-[यत्] हम अपने राष्ट्र या देशके मण्डपमें जो [वदामि] कहते हैं [तत् मधुमत् वदामि] वह हितकर और मधुर शब्दोंमें कहते हैं [यत् ईक्षे] जो देखते हैं [तत्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [अहं त्विषीमान्] हम प्रकाशमान, तेजस्वी, दीप्तिमान् और [जूतिमान] ज्ञानवान हो इससे [अन्यान्] दूसरे जो हमारी भूमिको दुहे लेते हैं [अवहन्मि) उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[शन्तिवा] शान्तिकारक [सुरभिः] सुगन्धियुक्त [स्योना] सुख देनेवाली [कीलालोध्नी] अन्न की देनेवाली [पयस्वती] जहां बहुत जल हो ऐसी [मे पृथिवी भूमिः पयसा सह] हमारी भूमि भोग्य पदार्थ जो पीनेके काममें आवें उनसे हमें [अधि ब्रवीतु] कहे ॥ ५९ ॥

[यत्] जब [विश्वकर्मा] सब काम करनेवाले [रजसि अर्णवे] अन्तरिक्षमें [अन्तः प्रविष्टां याम्] भीतर प्रविष्ट जिस भूमिको [हविषा] अन्नादि पदार्थोंसे [अन्वैच्छत्] सेवा करनेकी इच्छा करता है तब [गुहा निहितं] गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ [भुजिष्यं पात्रम्] भोजनके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भ्यः मातृभक्तोंके [भोगे] उपभोगके लिये [आविः अभवत्] प्रगट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [त्वं जनानां अदितिः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुघा] इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली [पप्रथाना] स्तुतिके योग्य [आवपनी] जिसमें अच्छी तरह बोनेसे बहुत अन्न उपजता है [असि] ऐसी तुम हो [यत् ते ऊनम्] जो तुम्हारेमें कमी है [तत् ते ऋतस्य] सो तुम्हारेमें जो यज्ञ किये जाते हैं [प्रथमजाः] सृष्टिके आदिमें प्रगट हुआ [प्रजापतिः] परमेश्वर [आपूरयाति] पूर्ण कर देते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भाषण करेंगे वह सब हमारी मातृभूमिके लिये हितकारी होगा, जो कुछ हम आंखोंसे देखेंगे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्पण होंगे। हम तेजस्वी और बुद्धिमान हों, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करेंगे उनका हम नाश करेंगे ॥ ५८ ॥

शान्ति, सुख, अन्न, पानी आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमे सब भोगके पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली हो इस तरह और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

जहां सब तरह के उद्योग करनेवाले कुशल पुरुष मातृ भूमि की सेवा करने के लिये कटिबद्ध होते हैं वहां मातृभूमिके गुप्तस्थानमें रक्खा हुआ तथा परोसा हुआ थाल (जो केवल भक्तों ही के लिये है) आकर उनके सामने प्रगट होता है। अर्थात् उनके उपभोगके सारे पदार्थ उन्हें सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबको सुख देनेवाली है, इच्छित पदार्थोंकी देनेवाली है इसलिये जो तेरे में कमी हो उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम　　॥ ६२ ॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्　　॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसूताः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगरहित [अयक्ष्माः] क्षयरोगरहित [अस्मभ्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] हों [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर बडी हो, हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हों [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [मातर् भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणको बढानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर, [मा] मुझको [निधेहि] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातकी जाननेवाली करो [कवे मां] हे क्रान्तदर्शनी ! हमें [भूत्यां श्रियं धेहि] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, हृष्टपुष्ट, दीर्घायु बुद्धिमान, जागृतिसंपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें उद्यत रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥६२॥

हे मातृभूमे ! मुझे बुद्धिवान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥१॥

मातृभूमिका वैदिक गीत।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भरतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदिसे बच्चेका देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और वनस्पतियों से उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दूधपर बच्चे का ही अधिकार रहना चाहिये, क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्तीसे पियेगा और दूसरे बच्चेको भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमिके बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियों को न देकर अपने ही सुखके लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बडा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रिके समय कोई चोर आता है और उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोरको पकडकर सजा देती है क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसीके भी घरकी उसके पूर्वजोंसे चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पानेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुंबका रहता है, उसी तरह देश यह एक बडा घर है; और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि इस राष्ट्रस्वरूप घरपर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहांकी वस्तुओंपर अपना अधिकार बतावें तो वास्तवमें वह अपराध एक घरपर हमला करनेवाले डाकूके समान है। उसीके समान किंतु उससे कुछ उग्र स्वरूपका यह अपराध है। यह सिद्ध करनेकी ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बडे बडे तत्त्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राजकारभार तत्त्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान लोग इस तरहकी राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बडे अपराधीको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घरके मालिकका, राष्ट्रपर उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है इसलिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते हैं और दूसरों को उत्साहित करते हैं।

पाठकों को यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमि के विषयमें लिखे हुए काव्य नैसर्गिक प्रेम उपजाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसों में प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवताके काव्य में जैसा प्रेमरस भरता है वैसा अन्य किसी काव्यमें हो नहीं सकता। माता क्या है? असीम प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वास्तवमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

यह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत भक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ-भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनंदोत्सव में, विजयोत्सवमें देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो वह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारंभसे राष्ट्रीयताकी कल्पना है, वह ऋषियोंके कालसे चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें कांडका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखो—

१ ग्रामपत्तनादिरक्षणार्थम्० (सायनभाष्य)

(अथर्व० १२।१।१)

"ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षासे इस सूक्तका निकट संबंध है। सब लोग जानते हैं कि राष्ट्रगीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य। (नक्षत्रकल्प १७)

"पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशान्ति करनेके समय इसका उपयोग करे।" देशमें या राष्ट्रमें जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे 'पार्थिवी महाशांति' यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातें करनी पडती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पकर्ताका कहना है। "भूमिकामः अर्थात् भूमीकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के हितका काम करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य दृतिकर्मणि। (कौशीतकी सूत्र. ५। २)

"(भौम) प्रदेशके वा राष्ट्रके (दृतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।" "दृति" का अर्थ 'आदर'। "दृतिकर्म" का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सवके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसीको देखेंगे।—

१ पुष्टिकामः।
२ व्रीहियवान्नकामः।
३ मणिहिरण्यकामः।

(सायनभाष्य अथर्व० १२। १)

"पुष्टीकी इच्छा करनेवालेको, अन्नकी इच्छा करनेवालेको, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि इस सूक्तका गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नतिके काम करते हों। यदि वाचक विचारें कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाये जाते हैं, तो वे सूत्रकार एवं भाष्यकारके कथनका रहस्य समझ सकते हैं।

*

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्व के ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतित्वका या मलकियतका हक बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त ' वास्तोष्पति ' गणमें हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहनेका है जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उक्त बातोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृभूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रगीत ही है, तथा वह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

इन बाहरी प्रमाणोंका विचार करके ही अबतक हमने मातृभूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणोंका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमि की कल्पना है, वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम लोगोंमें " मातृभूमि " की कल्पनातक नहीं है, वे इन वचनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान हैं, तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० १२।१।१२)

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूं। "

हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं, अतएव हम सब सच्चे देशबंधु हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देशके निवासीको यही भाव मनमें लाना चाहिये। मातृभूमिके भक्तोंके गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मंत्र पढने योग्य है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।

सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद ५।५९।६)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।

(ऋग्वेद ५।६०।५)

"संपूर्ण (पृश्नि-मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब (उत्-भिदः) अपने ऊपरके दबाव को भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं। वे अपने (सौभगाय) धनके बढानेके लिये (सं-वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं। "

इस मंत्रमें " पृश्नि-मातरः " अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सत्पुरुषोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले रहते हैं। उनमें उच्चनीच भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उद्धारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें बंधुप्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिको अपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो फरक पडता है, वह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने व्यवहारका केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतने साफ तौरसे बतलाई है, इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियोंको यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढे और अपनी उन्नति कर लें। उसी तरह—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

(ऋग्वेद १।१३।९)

"(मही) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा ये तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं। वे सर्वकाल अंतःकरणमें रहें। "

इस मंत्र की तीन देवताओंमें मातृभूमिको स्थान दिया है। तीन देवताओंका संबंध स्पष्ट करके बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम मालूम हो जायगा। इन सब मंत्रोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिका महत्त्व और श्रेष्ठत्व कितना वर्णन किया हुआ है, इसीके बारेमें और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र देखिये—

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्व० १२।१।६३)

"हे (मातः भूमे) मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्थासे युक्त कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें "भूमे मातः" आदि पदोंसे मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं। इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपेयं दधातु ॥ ३ ॥
सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥ ४० ॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
(अथर्ववेद १२।१)

" वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। वह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे। वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे। वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे।"

पिछले संबंधका ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें ' भूमि ' शब्द ' मातृभूमि ' के अर्थमें आया है। " मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे" आदि रचना काव्यमय अलंकार है। इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि "मातृभूमिकी कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले।" क्योंकि प्रत्येक काव्यमें इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है। उन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है। इस विषयमें यह मननयोग्य मंत्र देखिये—

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
(अथर्ववेद १२।१)

" वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे।" यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये। माता और पुत्रका संबंध दूध पीनेसेही शुरू होता है। माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं। गायका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है। भूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये वह हमारी माता है। यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है। इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाग अर्थात् " मेरी माता मुझेही दूध देवे " और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले उपभोगके पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे " आदि अर्थका जो भाग है, वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है। इस तरफ पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये।

अब कोई यह भी कह सकता है कि " भूमि या हमारी भूमि " आदि शब्दोंसे " हमारी राष्ट्रभूमि " यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया हुआ है। यह संदेह योग्य है और उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सन्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।
(अथर्व० १२।१।८)

"वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे।"

इसमें "उत्तमे राष्ट्रे" का अर्थ और "हमारी भूमि" का अर्थ एकही है। "हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् " हमारी मातृभूमि में ' तेज और बल की बाढ होवे। " हमारी मातृभूमि में ' या ' हमारे राष्ट्र में ' आदि शब्दों का अर्थ यही है कि ' हम लोगों में ' या ' हमारे देशबांधवों में ' और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है। परन्तु "हम लोगों में" या "देशबांधवों में तेज और बल बढे" कहने से यह कहना कि "हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढे ' उच्च भावना प्रदर्शित करता है। इसी दृष्टि से "मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ रस भरा हुआ है।

अब इसी मंत्र के "उत्तमे राष्ट्रे" (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं। उसका अब विचार करना चाहिये। राष्ट्रभक्तों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये यह इन शब्दों से स्पष्ट है। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की महत् आकांक्षा होनी चाहिये कि 'हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो।' 'तर, तम' तुलनात्मक उच्चता बतलानेवाले प्रत्यय हैं। ' उत् ' उत्तर

और उत्तम' उच्चता की तीन सीढियां बतलाते हैं । "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदशामें हो। इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रको अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये,अपितु देशवासियों का लक्ष होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचें और वे उस लक्ष की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्त्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है। वाचका स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है । जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अयोग्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है । जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है । लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं । इसलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है ।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमिके गीतोंमें हैं । उन गीतोंको देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरूसे ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है । यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है,वह अपने धर्मका मुख्य भाग है ।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति ।

हम लोगोंमें धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, वह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा । अध्यात्मज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा । इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है । अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है । इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि ' अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है ?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये ।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्त्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी । पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया । वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है । तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया । यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया । इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया ।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है । रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता ।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया । तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश किया । इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये । इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के ३३ कोटी देवोंको बंदिवास से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियोंका यश उज्ज्वल बना दिया ।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्रके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनतासे आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामके

उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं। इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं, उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेदके १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम कांड
सूक्त दूसरा केनसूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।
सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना
सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ शत्रुपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना।

एकादश कांड
सूक्त १ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)
,, २ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)
,, ३ ओदनसूक्त (भात, अन्न)
,, ४ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)
,, ५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्य पालन करना)
" ६ कालचक्रवर्णन
" ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)
" ८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)
" ९ और १० युद्धकी तैयारीका सूक्त।

द्वादश कांड सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है। अथर्ववेदके दशमकांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि "ब्रह्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा।" पाठकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जाननेके लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमेंसे नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥
(अथर्ववेद कांड १० सू २)

"अष्ट चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है। उस कोशमें जो पूज्य देव है, उसे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं।" यह हृदयस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तमेंसे शत्रुको छिन्नभिन्न करनेके मंत्र देखो--

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि पुरस्वतः।
(अथर्व० १०।३।१)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपि वृश्चाम्योजसा॥
अथर्व० १०।६।१

"दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रुका सिर मैं तोडता हूं।" इस तरह ये सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंमेंका वेदान्तवर्णन देखो-

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
(अथर्व० १०।७)

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥४३॥
अथर्व० १०।८

"चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन करता हूं। नौ दलके कमलमें जो देव है, उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।" यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद उसीके आगेके सूक्तका पहला मंत्र देखो-

अथाघतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्॥
(अथर्व० १९।५।१)

" पापी लोगोंका मुह बंद करो और यही शस्त्र शत्रुपर फेंको। " इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तोंका क्रम है। उन सूक्तोंका विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें कांडमेंके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहां देते हैं और बाकीके प्राण और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमें का वर्णन विस्तारभयसे छोड देते हैं।

तस्माद्वै पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥
(अथर्व० ११।८)

" इसलिये इस (पुरुषं) पुरुषको ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बांधनेकी जगहमें रहती हैं, उसी तरह सब देवताएं इसीके आश्रयसे रहती हैं।" इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके आगेका सूक्त देखो-

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्। इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठध्वम्॥२६॥
(अथर्व० ११।९)

" मित्रो ! तैयारी करो, उठो। इस युद्धमें जीतनेके बाद अपने अपने देशको जाओ।" उसी तरह-

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।
विविद्धा ककजा कृता ॥ २५ ॥ (अथर्व० ११।१०)

" शत्रुकी सेनामेंसे हजारों मुरदे युद्धभूमिमें पडें "। इस तरहका वर्णन अध्यात्मज्ञानके बाद कई बार आ चुका है।

इसे अचानक काकतालीय न्यायसे आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि वह तीन जगह इसी तरह आया है। राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है। इसलिये " अध्यात्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध " होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह लेख लिखा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है।

इस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका युद्धादि राष्ट्रीय बातोंसे क्या संबंध है।

[१] अध्यात्मज्ञान।

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इंद्रिय और शरीरके सब अंगोंको आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां हैं। इन शक्तियोंका ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हममें हैं। हम बिलकुल क्षुद्र नहीं हैं। हमारे अधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। उनको चलानेवाले हम हैं। वह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको क्षुद्र और निर्बल समझता है, वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेपर स्वतःको सुबल और समर्थ समझने लगे तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये रामचन्द्रजी जो अपनेको दैवाधीन और परतंत्र समझते थे, वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होनेपर दैव को भी अपने अधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थसे विपरीत दैव को भी अपने मनके अनुसार बनाने में समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हो सकती है।

[२] ब्रह्मज्ञान।

विश्वव्यापी सच्चिदानंदशक्ति का अस्तित्व स्थिर और चर सब में एकसा है। इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियोंका ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय शोक या मोह का होना असम्भव है। वह अच्छे अच्छे लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है। वह धर्म का अच्छी तरह पालन करके लोगोंमें शांतता रखता है। जगत् की ओर देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है, इसलिये उसे स्त्री और बालबच्चों का मोह नहीं होता, घर या दौलत का लोभ नहीं होता, या ऐषआरामके कारण वह अपने कर्तव्य को छोड नहीं सकता।

इसके सिवा इस ज्ञानसे दूसरा एक लाभ हो सकता है। वह यह है कि पृथ्वीपर जितने युद्ध स्वार्थ के लिये होते हैं, वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुंचते हैं, वे नहीं पहुंचेंगे। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके कारण उसकी दृष्टि पवित्र हो जाती है। और फिर वह स्वार्थ के कारण दूसरे को परतंत्र करे या लूटे, यह बात असम्भव है। जगत् के सज्जनों को दुःख देनेवालों का नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी। आजकल जिस तरह स्वार्थ से लडाइयां होती हैं, दूसरे राष्ट्र को निष्कारण लूटनेके लिये संगठित राष्ट्रीय अन्याय

हो रहे हैं, केवल अपनी सेनामें तोपें हैं इसलिये दूसरों को कष्ट देना और दूसरों की उन्नति कम करनेके जो राक्षसों के समान भयंकर काम हो रहे हैं; यदि हरएक देशमें अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जावेंगे। राष्ट्र की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बडी महाशक्ति है, उस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्य ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी साम्राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करनेसे मालूम होगा कि पहिले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि शुद्ध बनानी चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्तिका उपयोग करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिताको बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्मने ही पहले पहल सब जगत् को प्राचीन कालमें बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन काल में भरतखंडमें जारी थी तथापि वह बादमें लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करनेके लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करनेपर जगत् में शांति रखनेका महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्धके पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्त्व क्या है, यह सारांशसे बतलाया है। वास्तवमें यह बात विस्तृत करके लिखनी थी। परन्तु वैसा करनेके लिये जगह नहीं है। इसलिये यह विषय सारांशमें दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है।

यहांतकके लेखमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रगीतके संबंधमें सामान्य परिचय होनेके लिये जितनी बातें आवश्यक हैं उतनी दी हैं। उससे वाचकोंको मालूम हो जायगा कि इस राष्ट्रगीतका विचार राष्ट्रपुष्टि की दृष्टिसे कितना महत्त्वका है। अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रगीतके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहलाही मंत्र देखना चाहिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं
धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः
कृणोतु॥
(अ० १२।१।१)

'सत्य, सीधापन, उग्रता, उदारता, तप, ज्ञान और यज्ञ आदि गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान स्थितिका पालन करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देवे!'

इस मंत्रके पहले आधे भागमें यह स्पष्ट तौरसे बतलाया है कि मातृभूमिको कौन कौनसे लोग धारण कर सकते हैं। वह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्रको धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं, वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढानेके लिये कारणमात्र हैं। यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट है और उसे वाचकोंको देखना चाहिये।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय गुण 'सत्य' है। जिन मनुष्योंमें सत्यप्रियता, सत्य-पालनमें आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्यका आग्रहसे पालन करते हैं, वे ही स्व-राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। सूक्तका आरंभही 'सत्य' शब्दसे हुआ है। सूक्तके आरंभका शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक महत्त्वका होता है। इस विचारसे भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयतामें 'सत्य' अत्यंत महत्त्वका गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्याग्रहरूपी शस्त्रको निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजाके विरुद्ध काममें ला सकती है। और विजय भी पा सकती है। सत्यके व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संसारके अन्य लोगोंकी तुलनामें अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालन के अभ्यास ही से सत्याग्रहका मार्ग सफल हो सकता है। यदि भारतवासी जान लें कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है, साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी गुण से ही उसका बृहत् कल्याण होगा।

उसके आगेका गुण ऋत अर्थात् सीधापन है। वह भी सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उसका आचरण सत्यके बाद होता है। जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है, उनकी सच्ची उन्नति होना असम्भव है। वे खुद अवनत होंगे इतनाही नहीं बल्कि उनसे जिनका

संबंध है, वे भी बढे से मिलेंगे।

उग्रता शूर वीरोंका गुण है। इस गुणसे मंडित जो क्षत्रिय हैं, वे सत्याग्रहके सीधे मार्गसे अपने राष्ट्रका धन बढा सकते हैं। दक्षता अगला गुण है और वह दाक्षिण्यको बतलाता है, जो प्रत्येक कार्यमें आवश्यक है। दक्षताके सिवा किसी भी कार्यमें यश प्राप्त नहीं हो सकता, यह सब लोग जानते हैं। अतः इसके बारेमें अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके आगेका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्त्वका है। करनेके कार्यमें शीत उष्ण, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द्व आनेपर भी उन्हें सहकर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि किसीको धूपमें थोडी देर घूमनेसे गर्मी होगी, ठंडमें काम करनेसे बाधिरता आवे, तो ऐसे कोमल मनुष्यसे राष्ट्रका कोई भी काम हो नहीं सकता, अतः यह बात निर्विवाद है कि ठंडी और गर्मी सहना आदि तप राष्ट्रीय सद्गुणोंमें शामिल हैं। आजकल अपने देशमें लोग तपके नामपर जिसका आचरण करते हैं, वह वैयक्तिक महत्त्वका है। राष्ट्रीय महत्त्वका तप दूसराही है और उसे किये बिना राष्ट्रीय दृष्टिसे अपनी उन्नति नहीं होगी।

अगला राष्ट्रीय गुण "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान" है। "ज्ञानान्मोक्षः" इस सूत्रको सब लोग जानते हैं। पर वह राष्ट्रीय दृष्टिसे भी सत्य है, यह बात बहुत थोडे लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिस तरह किसी व्यक्तिकी आत्मा बंधनसे मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञान-से राष्ट्र भी दूसरोंकी आधीनतासे मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतंत्र हो सकता है। आजकल की भरतखंडकी पराधीनताका कारण अधिकतर भौतिक विज्ञान शास्त्रोंके ज्ञानका अभाव है। वह इस विज्ञानकी प्राप्तिके बिना दूर नहीं हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रताकी रक्षा करना कठिन होगा। यह बात सूर्यप्रकाशके समान सिद्ध है। जागृत राष्ट्रको चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसारके ज्ञानके बराबर रखे, या संसारके आगे अपने राष्ट्रका ज्ञान जावे, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। स्वाधीनतासे ज्ञानका संबंध अनादिसिद्ध है।

इसके आगेका गुण यज्ञ है। "यज्ञ" से आत्मसमर्पणका भाव प्रगट होता है। राष्ट्रोन्नतिके लिये आत्मसमर्पण करने की तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये, तभी राष्ट्रोन्नति होना सम्भव है, इसके अभावमें कदापि नहीं हो सकती।

वैदिक राष्ट्रगीतके पहले मंत्रने यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नति किन गुणोंके बढनेसे होगी और किन गुणोंके अभावसे अपने राष्ट्रका अधःपात होगा, यह सब इस मंत्रने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है और उसका उपयोग आज भी होने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नति करनेवाले गुण " सत्याग्रह, सीधा बर्ताव, उग्रता या शौर्य, दक्षता या तत्परता, सत्कार्य करनेके लिये लगनेवाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या वह करते समय लगनेवाले शीत और उष्णताको सहनेका सामर्थ्य, ज्ञान और बडे कार्य के लिये आत्मसमर्पण करनेकी इच्छा। " यदि ये गुण जनतामें या जनताके मुखियोंमें हों, तो उस राष्ट्रका उद्धार हो सकता है और यदि न हों तो नहीं।

अब उन अवगुणोंको देखिये जो राष्ट्रकी अवनति करते हैं-

" सत्याग्रहकी तैयारी न रहना अथवा सत्यकी पर्वाह न कर मनमाना आचरण कर येनकेन प्रकारेण जीवन व्यतीत करनेकी प्रवृत्ति रहना, कपटका आचरण, कायरता या शौर्य-का अभाव, दक्षताका अभाव, परिश्रम करनेकी शक्ति न रहना, अज्ञान, आत्मसमर्पणके लिये तैयार न रहना। " पाठक गण स्वयं ही विचार करें कि हम लोगोंमें उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणोंकी। इस बातका विचार करने हीसे उनपर प्रकट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है?

इस प्रकार मंत्रके प्रथम अर्धमें राष्ट्र को धारण करनेके लिये आवश्यक गुणोंकी वृद्धि करनेका उपदेश है। तत्पश्चात् उत्तर अर्ध में एक महत्वपूर्ण आकांक्षा जनता के सम्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है—" हमारी मातृभूमि हमारे भूत—भविष्यत् वर्तमान कालकी परिस्थिति की देवता है। वह हमें अपने देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे। "

राष्ट्रभक्त मातृभूमि के उपासक हैं। उनके सब काम मातृ-भूमि को ही अपने उद्देशों का केन्द्र समझकर हो सकते हैं। अत-एव स्पष्ट ही है कि राष्ट्रभक्तों के भूत-भविष्यत्—वर्तमान काल की नियामक देवता मातृभूमि ही रहेगी। भूतकाल में

उन्होंने मातृभूमि की जैसी सेवा की होगी वैसी ही उनकी वर्तमान कालकी स्थिति होगी। वर्तमान काल में वे जैसी उपासना करेंगे, उसीके अनुसार भविष्यतमें उनकी स्थिति होगी। अतएव राष्ट्रभक्त सदैव मातृभूमि की उपासना उत्तम रीतिसे करें। वे कोई भी ऐसा घातक बर्ताव न करें जिससे उनकी अवनति होगी।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा धारण करे कि " मेरे राष्ट्रमें मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो। ' यदि अनुकूल परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। अपने को अपने घरमें व्यवहार करने में जैसी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेश में भी रुकावटें न होनी चाहियें। लोगों को अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियों की उन्नति में विघ्न बाधाएं न डालें। अपने अपने घर में हरएक मुख्तियार हो। हमारे देशमें हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलनाही चाहिये। दूसरों को हमारे देश में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले और हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय यह परिस्थिति जितनी जल्द हो सके, बदलनी चाहिये। उसे बदल देना ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

पाठक गण प्रथम मंत्रके इस आशय को विचारें और वैदिक राष्ट्रगीतके उच्च ध्येयका अनुभव करें।

यदि राष्ट्रकी उन्नति साधना है, तो राष्ट्रभक्तोंमें आवश्यकता है एकता की। बिना ऐक्य के सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस बात को मानते हैं। किन्तु लोग यही नहीं समझते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देशमें किस प्रकार साध्य होगी। लोगों का कथन है कि हमारे देशमें भिन्न भिन्न धर्मके लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियां हैं। रीति-रिवाजों में भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशामें एकता हो ही कैसे सकती है? यह कहकर लोग निराश हो चुप बैठ जाते हैं। ऐक्य के लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं, त्यों त्यों फूट ही होती जाती है। एकता के लिये जो प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूट का ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रभक्त घबड़ा गये हैं। ऐसेही समय निम्नलिखित वैदिक राष्ट्रगीत का मंत्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा। देखिये—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रंधारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

(अथर्व० १२।१।४५)

" [वि--वाचसं] अनेक भाषा बोलनेवाली और [नानाधर्माणं] नाना धर्मोंसे युक्त जो जनता है उसे [यथा ओकसं] एकही घरके समान धारण करनेवाली मातृभूमि धन के हजारों प्रवाह मुझे दे, जिस प्रकार उछलकूद न करनेवाली गाय दूध देती है, उसी प्रकार।"

राष्ट्र की प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंको माननेवाले एवं विविध रीति रस्मों पर चलनेवाले लोग एक ही कुटुंब के एकही घरमें रहनेवाले भाइयों के समान एकही देश में रह सकें। [वि-वाचसं जनं] अनेक भाषा-भाषी लोगोंके रहते भी और [नाना-धर्माणं जनं] विविध धर्मके अनुयायी होते हुए भी उन सब की एक माता-सब की आदि माता-यही मातृभूमि है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर उसके सम्मुख खडे हों। मातृभूमिकी उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रांतका भेद, धर्म का भेद या जाति का भेद आडे न आना चाहिये। सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब [यथा ओकसं] एकही घर में रहनेवाले एकही कुटुंबके लोग हैं। और सब लोग अन्य किसी भेद को प्रधानता न देकर अपनी अभेद्य एकता बतावें।

एकही घरके लोगोंमें कुछ बडे, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ सांवले, कुछ न गोरे न सांवले, कुछ बूडे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियां रहती हैं। एकही घरके लोगोंमें इतने भेद रहते हैं!! इनमें से प्रत्येक यदि कहे कि ' मैं अन्य सबसे भिन्न हूं,' तथा अपनी भिन्नताके कारण उसने कुटुंबके हितकी ओर दृष्टि न दी, तो उस घरका, उस कुटुंबका नाश होनेमें देर ही क्या? इसके विरुद्ध यदि उस घरके निवासी उस कुटुंबके घटक क्षुद्र भेदोंको भूल जावें और अपने मनमें यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंबका हित हो, तो वही घर नंदनवनके समान आनंदसे भरा हुआ दिखेगा। जहां कहीं मनुष्य है वहां भेद आवश्य ही होंगे। किन्तु मनुष्य का धर्म यही है कि क्षुद्र भेदोंको गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका, अपने देशका, अपने राष्ट्रका हित साधन करें। राष्ट्रगीतमें

यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदोंको प्रधानता देकर आपसमें लडते झगडते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंको मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देशको या किसी भी राष्ट्रको देखिये। भाषा, जाति, वंश, धंधे आदि अनेक कारणोंसे उसमें अनेक भेद होते ही हैं। आज संसारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामनिशान न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके समंजस लोग इन भेदभावोंकी ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही उनका लक्ष्य है। वस अपने लक्ष्यपर दृष्टि रख वे एकतासे उसीकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। आपसमें लडाई झगडा करनेवाली जातियां भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्रपर आपत्ति आगई है, तो वे आपसी झगडे छोड देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रीय आपत्तिका सामना करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपत्तिसे वे बच जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रीय हित की ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्त्वके मालूम होते हैं, वे क्षुद्र भेदभावोंमें ही फंसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंके रहते भी जो उनमें अभेदका अनुभव प्राप्त करनेको तैयार रहते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थानमें ही सब मनुष्य भेदभावोंसे विभक्त हैं, यह नहीं। किन्तु अन्यान्य देशोंका भी यही हाल है। तब क्या इस देशके निवासियोंको उचित है कि वे ही अपने भेदोंको सदा बढाते रहें और इससे अपने शत्रुको मदद दें? क्या भारतवासी इस महत्त्वकी बातका विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यही चिल्लाते रहते हैं कि "प्रथम आपसी भेदभावोंको मिटा दो" उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा समाज जिसमें भेदभावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब विद्यमान है और न भविष्यत्में भी होनेकी संभावना है। किसी भी देशमें किसी भी समय जो बात कभी न हुई, वह इस देशमें कैसे हो सकती है? सब देशोंमें एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदोंको मर्यादाका उल्लंघन न करने देना। बस यही बात हमारे देशमें भी साध्य हो सकती है। अत-एव उचित यही है कि लोग असाध्यको साधनेके प्रयत्नमें न लगें, परंतु साध्य बातों को ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्ष में तीन धर्म विद्यमान हैं, (आर्य) हिंदु, मुसलमानी और ईसाई। यह समझ कि जबतक ये तीन धर्म हैं, तबतक स्वराज्यके लिए प्रयत्न न करना, अथवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मिलकर कोई नया धर्म बनेगा, तभी स्वराज्यप्राप्तिका प्रयत्न करना, निरा अज्ञान है। इन तीन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको मिलकर मातृभूमि की उपासना के लिए तैयार होना चाहिये। यह तो असंभव है कि तीनों धर्म सदाके लिये नष्ट हो जांय। इन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना 'अभिन्न राष्ट्रधर्म' देखें। जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सदाके लिए नष्ट होना यदि संभव माना जाय, तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साध्य होनेतक स्वराज्यको दूर रखनेसे हमारी बडी भारी हानि ही होगी। अतएव हरएक मनुष्यको, हरएक व्यक्तिको यही सीखना आवश्यक है कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें भूलकर एक घरके, एक कुटुंबके भाइयोंके समान एकतासे रहें। इस मंत्रका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगेका मंत्र देखिए—

> असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
> नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ (अथर्व० १२।१।२)

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें उच्चता, नीचता और समताके संबंधमें (बहु अ-संबाध) बहुत ही निर्वैरता है अर्थात् झगडे नहीं हैं और जो नाना गुणोंसे युक्त औषधी उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां) कीर्ति या ख्याति बढावे।"

यह मंत्र बताता है कि विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हितका साधन कैसे करना चाहिये। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि आत्माके न्यूनाधिक विकासके कारण तथा उनकी व्यवहारकुशलताकी न्यूनाधिकतासे उनमें ऊंच, नीच, मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यताके, बिलकुल एकसे बनें। ऐसी अवस्थामें

रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि सबके अभेदकी ओर ही ध्यान देकर सबका उत्कर्ष हो।

मंत्रमें 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्यों-का दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे-को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जीवित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातियोंमें 'संबाध' उत्पन्न होता है। जातिजातिके झगडे, विरोध आदि बातें इस शब्दसे बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही का नाम 'संबाध' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति—जातिमें, समाज—समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

'यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम्।'

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वैरभाव रहता है।' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंको उत्तम धन दे सकती है। परंतु जिस भूमिके लोग आपसमें वैरभाव रखते हैं, वहांकी जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊंचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी, पर शरीरसे हृष्टपुष्ट हो। सबको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणाधिक्यके घमण्डसे उन्हें गुणहीनोंको वा न्यून गुणवालोंको न दबाना चाहिये। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों, तो दोनों मिलकर, आपसमें न लडकर दोनोंको अपनी शक्तियोंका मेल करना चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी वेदीपर चढा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्वतः) उच्चता, (समं) समता, और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। बडा विद्वान् ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकारके मनु-ष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके घमण्डसे और बलवान् शक्तिके घमण्डसे एक दूसरेके सिर न चढें, बल्कि दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक भेदोंके रहते भी अभेद-भावसे अपना मार्ग निकालें। जो मनन करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगडे उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नतिके मार्गसे आगे जाता है। जो अपना परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगडे ही बढाते हैं, वे दो पैरवाले होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढनेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें, चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथका क्या दोष? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्यका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रको अब देखिए—

> त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवोंको प्रतिदिन उगनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।"

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य भूमातासे [त्वत्-जाताः] ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है। यदि नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्न-तिके योग्य कार्य कर सकेगा। मातृभूमि हमारी आलंकारिक या काल्पनिक माता नहीं, वास्तविक माता है। यह अनुभव जितना जागृत होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करेंगे तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगडे होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि वस्तुतः हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निवासियोंमेंसे किसी भी जातिके लोग न रखें। इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि ' हम सब मातृभूमिके बालक हैं। ' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपसी फूट की यह अकसीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके रहें, या उनमें जाति और वर्णके कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्र-धर्मसे बंधे जायेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पादोंका उत्तम प्रकारसे पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकानकी रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि वही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृ-भूमिकी रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावे-गी और तब हमारी आफत होगी, हमें भूखों मरनेकी नौबत आवेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य समय मातृभूमिकी रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते हैं। इस आपत्तिके समय भी हम आपसी झगडोंको नहीं भूलते, और एकतासे मातृभूमिकी सेवा करनेको तैयार नहीं होते !! गत कालमें हम लोगोंसे जो गलतियां की सो तो हो चुकीं। उनके बारेमें अब कोई कितना ही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकतीं। परंतु उन गलतियोंका फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेही भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावों को बढाना भयंकर भावी आपत्तिका चिह्न है। क्या भारतवासी इसपर विचार न करेंगे !

इस विचारको मनमें न रखा कि " हे मातृभूमि ! हम तेरे बालक हैं। " हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथोंके हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही भावना हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह भावना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नहीं सकते। वाचक देख सकते हैं कि अथर्ववेदके इस वैदिक राष्ट्र-गीतके प्रत्येकमंत्रमें कैसे महत्त्वका उपदेश किया है। हमारी वर्तमान गिरी दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्न ही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक ! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उनके उपदेशों-को कार्यमें परिणत करें।

यहांतकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखोंसे वाचकोंको निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके जैसे उच्च तत्त्वोंका समावेश हुआ है, वैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं हैं। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्त्वके कारण-से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी स्थानके प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्त्वकी पुण्यमयी घटनासे संबंध हो, या उसका किसी महात्मासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है-

देवोंद्वारा बसाए हुए स्थान।

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः
कृणोतु॥ (अथर्व० १२।१।४३)

" हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिको परमेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृताः पुरः) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए। जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवोंने बसाए हैं, हमारे नगरोंसे देवोंका संबंध है, देवोंका देवत्व हमारे नगरोंने देखा है। इस प्रकारका जीवित विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहासमें उल्लेख है कि हमारी हिंदभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवोंसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्यासे और रामेश्वरसे है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोकुल वृंदावन, तथा द्वारकासे है। इंद्रका संबंध इंद्रप्रस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवोंका संबंध है। नदियां, तालाब, सरोवर, पर्वत-शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंसे देवदेवताओंका वा पुण्य पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका हाल ग्रंथोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंको भी कथा-पुराण आदि सुननेसे मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलासके पर्वत-शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है। बद्रीकेदारके आश्रमका संबंध नर-नारायण ऋषिमुनियोंसे है। मातृभूमिको दृढ भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्रीपुरुषोंको विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि 'यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।' बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक लाभके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिए नहीं कि माता सुंदर है,या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्योंकि 'मातृदेवो भव'के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है,वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसीलिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम, निःसीम, आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंको बसाया देवोंने है यह बात सब लोगोंको मालूम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवोंने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक या व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हों, वे भले ही वैसा करें। उसमें किसीकी रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उस कोटिकी ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होवे इसी गरजसे सबको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवोंसे वा ऋषियोंसे है।

प्रतापगढसे तथा सिंहगडसे शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपूरसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध परलीसे स्वामी रामदासका संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थानका उस स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्कृत्यका बदला लेनेको तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको भुलानेमें दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा, पद्मतीर्थका नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्डको मटन कहा, बाबा बर्फीका बापं मोइहिनर्शि कर डाला, श्री शंकराचार्यके स्थानको तख्त-इ-सुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों शहरोंके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजोंका राज हुआ तब उन्होंने धवलगिरीके गौरीशंकरका नाम मौंट एव्हरेस्ट रख दिया और सिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके शिखरके अंग्रेजी नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलात्कारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मांतर करा रहे हैं । वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ-स्थानमें खडे रहकर उसकी निंदा करते हैं । इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय ।

विजेता मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है । जित लोगोंके हृदयसे मातृ-भूमिकी भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूकते नहीं । मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति उत्पन्न होनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा तबतक विदेशी जेताओंके पैर जम नहीं सकते । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेते जाती हुई पादाक्रांत जनताकी मातृभूमिके प्रेमके सब चिह्न जलदी मिटानेका प्रयत्न करते हैं । संसारके इतिहाससे वाचक इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं । पुष्टि देखनेपर ही उन्हें ऊपरके मंत्रके उपदेशका रहस्य विदित होगा ।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगोंको मालूम हो कि हमारे देशके नगर देवोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजोंका उनसे जो संबंध है उसका स्मरण रहे, बडे बडे महात्माओंके चरणरजका स्पर्श होनेसे वे स्थान तारक हो गये हैं । वेदमंत्रने ऊपरके राष्ट्र-गीतके इन भावोंका खास परिचय करा दिया है । अतएव पाठक इस मंत्रका जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा ।

ऊपरके मंत्रमें और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) लोग अपने अपने क्षेत्रमें ध्यानसे काम करें । और (२) देशके निवासीको चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों । अपने ही देशकी चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होती, इसका कारण हमारी पराधीनता है । स्वतंत्र लोगोंको सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं । यह कहना कि ' सब दिशाएं हमें रमणीय दिखें ' ' हम स्वतंत्र रहें, कहनेके बराबर है । वर्तमान पराधीनताके ही कारण यदि हम पश्चिममें आफ्रिकामें, दक्षिणमें आस्ट्रेलियामें, पूर्वमें अमेरिकामें जाते हैं, तो हमें रहनेको भी स्थान नहीं मिलता ! तब फिर वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते हैं ? इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं । स्वतंत्र देशके लोगोंका यह हाल नहीं है । स्वतंत्र देशके लोग जहां जावेंगे वहीं उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं । स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये ।

देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव मालूम होनेका महत्त्व जो ऊपरके मंत्रमें बतलाया गया है वह कैसे भारी महत्त्वका है, सो अपने देशकी अवस्थितिसे सहज ही समझ सकते हैं । आज जो सात करोड भारतीय मुसलमान हैं, वे सबके प्रति-शत हिंदू ही हैं । पर धर्मांतरके कारण वे हिंदुओंके बाहर हैं । इसीलिए बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति उनमें अपनेपनके भाव नहीं है और विदेशके मक्का, मदीनासे उन्होंने नाता जोड लिया है । इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होती । वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्र-की उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका कैसा भारी नुकसान हुआ है । धर्मांतरके बारेमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी नीति उचित रखी होती, तो आज यह दशा न होती । हमारी इस वर्तमान दशाको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रपर विचार करना चाहिये, तब उस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोल उपदेशका रहस्य मालूम होगा ।

ऋषि-ऋण ।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमिमें पूर्वके ज्ञानी, देशका भूतकाल बनाने-वाले ऋषियोंने सत्र और यज्ञ करके तथा तप करके उत्त (गाः) भूमियोंका उद्धार किया " वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है ।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देशका भूतकालका इतिहास बनानेवाले तपस्वी ऋषि थे । देशवासी यदि इस बातका विश्वास करें तो उन्हें प्राचीन कालके दिव्य समयका निश्चय होगा । पूर्वकालके दिव्यत्वका एवं उत्तमताका निश्चय हो जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्ज्वल होवे और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे । जिनका भूतकाल तेजस्वी है, उनका भविष्यकाल भी तेजस्वी होनेका निश्चय जानो ।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासमें बडे बडे बृहत् कार्य किये, अत्यंत तपस्वी और बडे थे । हमारा इतिहास जंगली लोगोंकी कार्यवाईसे मलिन नहीं है, किंतु महान् तपस्वी ऋषिमुनियोंके प्रशस्ततम कार्योंसे उज्ज्वल हुआ है । यह विचार कैसी भारी उत्तेजना देनेवाला है ? हमारी राष्ट्रभूमिके सब लोगोंका एक मत होकर वे सब राष्ट्रभूमिके प्रति प्रेम दर्शावे करें ऐसा होनेके लिए आवश्यक है कि उनकी

भावना मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होंने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्ही प्राचीन ऋषियोंके वंशज होते हुए भी धर्मांतरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देदीप्यमान इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया। इससे इनकी बात छोड दें तब ऊपरके सिद्धान्तका कोइ इन्कार नहीं कर सकता।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत कितनी अनेकानेक दृष्टिसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीतके प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उन्नति और राष्ट्रकी जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धतिका स्वरूप हम स्वतंत्र लेखमालिकामें दिखावेंगे, अतएव यहां उसके बारेमें विशेष न लिखेंगे। पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और सत्र आजकलके समान छोटेसे मंडपोंमें नहीं हो सकते थे। उनके मंडपोंका विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एकही बात बतला देगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथक परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें "भूतकाल बनानेवाले ऋषि" कहकर उनका सन्मान किया है। इसीके संबंधका निम्नलिखित अथर्ववेदका मंत्र देखिये—

> भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
> ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
> (अथर्ववेद १९।४१।१॥)

"लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र, बल और ओज हुआ। अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें।"

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि 'भूतकाल बनानेवाले' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषिऋण है। उसे चुकानेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये। उनका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

देव-ऋण।

> यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
> गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५॥

"हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको भगा दिया; जो गौवें, घोडे और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां कीं, अनेक चढाइयां कीं, गनीमी नीतिके युद्ध किये और खुले मैदानोंमें लडाइयां कीं, इतना सब काम करके अपनी मातृभूमिका यश उज्ज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है? हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका बर्ताव उस इतिहासके योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिको शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण! विचार कीजिये। हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है जरा देखिये तो।

जिस देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा दी! कैसे शोककी कथा!! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल हमें अभिमान और गर्वके लिए नहीं कही जाती। इनके कहनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्योंसे हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उस उद्देश्य की पूर्ति हम लोगोंसे कहां तक हो सकी है यह देखें और उस न्यूनताको पूरा करनेका निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशोंके धर्मग्रंथोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नति के विषयमें लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके हितके लिये तत्पर हैं। इस दशाको देखकर कैसा भारी आश्चर्य होता है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है। उसमें उदात्त विचारोंके

अप्रतिम विचारोंसे लबालब भरे हुए दिव्य मंत्र हैं। ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्यमें राष्ट्रीयताका भाव है। नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय है इस प्रकारका भ्रम रखनेवाले हरीके लाल हममें हैं। अस्तु। वस्तुस्थिति जैसी है वैसी हमने जनताके सम्मुख रख दी है। "जहां उपजता है वहां बिकता नहीं और जहां बिकता है वहां उपजता नहीं" की कहावत यहां चरितार्थ होती है। और देखिये-

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ॥
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

" जिस भूमिकी नाप अश्विनी कुमारोंने की, जिस भूमिमें भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रुरहित किया, वही हमारी मातृभूमि, जैसे माता अपने बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोगके पदार्थ देवे।"

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें बतलाया है कि देवोंने इस मातृभूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनीकुमारोंने देशदेशांतरोंके क्षेत्रोंकी नाप की, देशोंकी सीमाएं निश्चित कीं, जमीन नाप ली और इस प्रकार मातृभूमिकी सेवा की। भगवान विष्णुने जो पराक्रम किये वे सबको विदित ही हैं। इन्द्रने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमिको शत्रुके कष्टोंसे छुडाया। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंने भी इस मातृभूमिके लिए जो कुछ बन सकता है किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असुरोंके युद्धमें हजारों देववीरोंने इस मातृभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमें अपना बलि-दान किया और इस भूमिको स्वतंत्रताका सौभाग्य प्रदान किया। वही देवोंका व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंने निश्चित किए हुए मार्गका ही निश्चय हम लोग भी करें। यह जानकर कि हम लोगोंके लिये देवोंने तथा उस समयके पुरुषोंने क्या क्या किया, हमें उनके ऋणसे छुटकारा पानेका प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिऋण कौनसा है सो बतला दियागया, देवऋण कौनसा है सो भी बतला दिया गया। इन ऋणोंसे मुक्त होनेके लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येकको सोचना चाहिए कि हम ऋणमुक्त होनेकी चेष्टा कर रहे हैं या नहीं। इस देवऋणके बारेमें एक और मंत्र देखने योग्य है-

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

"देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती न करके और आलस न करके करते आए हैं, वह मातृभूमि हम लोगोंको तेज और मीठा शहद आदि खानेके पदार्थ देवे।"

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए हैं। आलस न कर सदैव काम करनेवाले उन देवोंके सन्मुख खडे होनेमें आलसी लोगोंको शरम आनी चाहिए। न थकते हुए, विश्रांति न लेते हुए हम लोगोंके लिए जिन देवोंने ऐसा भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्यके बदलेमें हम लोगोंने क्या किया ? उनका स्वातंत्र्यरक्षाका कार्य क्या हम लोगोंने चलाया है ? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगोंने राष्ट्रोन्नतिका कार्य सदैव जारी रखनेका भी निश्चय किया है ? वाचक न भूलें कि इन बातोंपर विचार करनेका समय आ गया है।

ऊपरके मंत्रमें यह भी कहा है कि (देवाः अप्रमादं रक्षन्ति) देव गलती न करके रक्षा करते हैं। गलती न करके रक्षण किया इसीसे तो देव बंधनसे छुटकारा पा सके। असुरोंने अनेक बार देवोंको चिरकालकी पराधीनताकी बेडीमें जकड देना चाहा। रावण, बली और इनके सदृश अन्य राक्षसोंने इस प्रयत्नमें कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरोंपर देवोंने पुरुषार्थकी पराकाष्ठा कीथी, अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और असुरोंको भगा दिया। गलती न कर दक्षतासे कर्तव्य करनेकी जो दीक्षा देवोंने हमें दी। क्या हमें उसका अभ्यास सावधानीसे न करना चाहिये ? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी दक्षता क्या वैसी है, जैसी होनी चाहिए ? हम लोग निरे हठके कारण पग पग पर क्या भारी भूलें नहीं कर रहे ? वास्तवमें राष्ट्रकार्यके लिए आत्मसमर्पण करनेको हमें सदैव तैयार रहना चाहिये। किन्तु आत्मसमर्पणका समय आनेपर उसकी ओर ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं। यदि वाचक स्वयं ही इस बातको सोचेंगे तो उन्हें विदित हो जावेगा कि हमें क्या करनेकी आवश्यकता है।

विद्वानोंका ऋण।

ऋषियोंका राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवोंने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है कि जो ऋषि नहीं उन मननशील बुद्धिमान पुरुषोंने कौनसा कार्य करके राष्ट्रकी सेवा की—

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

" हमारी जो मातृभूमि प्रथमारंभमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकारके कौशलके काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे। "

इस मंत्रका ' यां मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः ' यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्व रखता है। इसका ' माया ' शब्द अतीव महत्त्वका है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है। माया शब्दके कई अर्थ हैं— "(१) कुशलता, कामकी कुशलता, कौशलसे किया हुआ कारीगरीका काम, चातुर्य, (२) कपट दांवपेंच जिनकी आवश्यकता राजनीतिमें है, शत्रुको चकमा देनेकी विद्या।" ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन दोनों अर्थोंसे माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समयको देखकर कुशलतासे, चतुराईसे, कपटसे, वा राजनीतिके नियमोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मंत्रका आशय है।

इस प्रकार देव, ऋषि, और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमिकी सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बडे बडे ज्ञानी लोगोंने दिखा दिया, उसीसे हमें आक्रमण करना चाहिए, उसी रास्तेसे हमें जाना चाहिए। तभी हमारी भलाई होगी। हमपर तीन ऋण हैं; ऋषि-ऋण, देव—ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणोंको देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस लेखके वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्यका संबंध त्रिकाल-कालकी बडी विभूतियोंसे मिलाते हैं। हमारा अखण्ड राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी पुष्टि की और अन्य विद्वानोंने उसे बढाया। इस त्रिवेणी-संगममेंसे वह हमारे पास आया है। इसीसे हमें उसे आगे चलाना चाहिये। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कार्यको नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमें जवाब पूछेंगे। हरएकको यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

वाचक विचार करें, इस मंत्रके उपदेशपर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे विलक्षण और उच्च राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है; और वे उसके अनुसार आचरणके लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्रको संसारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थानपर पहुंचानेकी जवाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए।

मंत्रोंकी संगति।

यहां इस विवरणको समाप्त करते हुए हमें इस सूक्तके मंत्रोंकी संगति देखनेका विषय थोडासा कथन करना चाहिये। इस सूक्तमें कुल ६३ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिकी धारणा किन गुणोंसे होती है यह बात कही है, इसलिए यह मंत्र सबसे अधिक महत्त्वका है। प्रत्येक राष्ट्रभक्तको उचित है कि वह इस मंत्रको देखे, विचारे, मनन करे और इन गुणोंको अपने अंदर बढाकर अपने आपको मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये सुयोग्य बन वें.

द्वितीय मंत्रमें राष्ट्रके लोगोंके अन्दर आपसकी अभेद्य एकता चाहिये, तथा आपसी झगडे नहीं चाहिए, इत्यादि जो महत्त्वपूर्ण उपदेश कहा है वह सदा स्मरण करने योग्य है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामान्यतया भूवर्णन है, परंतु उनमें (कृष्टयः संबभूवुः) किसानोंकी संघटनाका जो वर्णन है वह सनातन महत्त्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वजोंके पराक्रमों (पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे) का स्मरण करनेकी जो सूचना मिली है वह आबालवृद्धोंको कभी भूलना योग्य नहीं। जो अपने पूर्वजोंका महत्त्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे निःसंदेह आगे बढ नहीं सकते। इस कारण यहां यह उपदेश किया है। सातवें मंत्रमें भी (अस्वप्न भूमिं अप्रमादं रक्षन्ति) आलस्यरहित होकर मातृभूमिकी रक्षा करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इसका पंचम मंत्रके साथ संबंध देखकर पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका मनोहर वर्णन है। नवम मंत्रमें उदारचरित संन्यासियोंके संचारसे सर्वत्र ज्ञानप्रचार होकर सब प्रजाजनोंके अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानके द्वारा शान्तिसे भरपूर होनेका बोधप्रद वर्णन है। दशम मंत्रमें इन्द्र और विष्णुके पराक्रमोंका जो कथन है, वह ५ वें और ७ वें मंत्रके साथ मिलाकर पढना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गंभीरता ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अजीतो अहं पृथिवीं अध्यष्ठां) ' मैं अजिक्य होकर मातृभूमिका अधिष्ठाता बनूंगा' यह उत्कर्षपूर्ण महत्त्वाकांक्षा राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यमें उत्पन्न होनी चाहिये, ऐसा जो सूचित किया है वह विशेष ही उत्तम संदेश है।

*

१२ वें मंत्रमें ' माता भूमि और उसका मैं पुत्र हूं ' यह मातृप्रीति और वत्सका प्रेम सूचित करनेवाला वाक्य पढकर प्रत्येक पाठक प्रेमसे सद्गदित होंगे इसमें संदेह नहीं है। १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखें। १४ वें मंत्रमें वीरोचित भाव बडी क्षात्रतेज बढानेवाली है। ' जो हमारा नाश करेगा उसका नाश हम करेंगे और आगे बढेंगे ' इसे पढकर किसमें वीरता न बढेगी? १५ वें मंत्रमें एकही मातासे उत्पन्न हुए पांच मानवजातियोंकी अभेद्य एकताका सुंदर वर्णन है । १६ से १८ तकके मंत्रोंमें (भूमिं विश्वहा अनुचरेम) हम मातृभूमिकी प्रतिदिन सेवा करेंगे ' यह प्रतिज्ञा सबके अपने मनमें धारण करने योग्य है। क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमिकी उपेक्षा करेंगे ?

१९ वें मंत्रसे ३१ वें मंत्रतक मातृभूमिका सुंदर वर्णन अलंकारोंसे भरपूर भरा हुआ है । अग्नि, यज्ञमें हवन, पृथ्वीका गन्धगुण, वनस्पतियोंकी उत्तमता, जलकी महत्ता आदि वर्णन देखनेसे सचमुच हृदयका आनंद बढता है। मंत्र ३२ वें में (परिपंथिनो वधं) बटमारोंका वध आदि द्वारा शासन करनेकी सूचना है। मंत्र ३३ वें में सूर्यप्रकाशसे नेत्र इंद्रियोंकी उत्तम पालना करनेका महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है। ३४ वें मंत्रमें ' अहिंसा ' और ३५ वें मंत्रमें मर्मच्छेदन न करनेका उपदेश विलक्षण युक्तिके साथ दिया है।

३६ वें मंत्रमें छः ऋतुओं, दो अयनों और अहोरात्रका उल्लेख संवत्सरचक्रकी परिपूर्ण कल्पना बता रहा है। ३७ वें मंत्रमें इन्द्रवृत्रयुद्धके मिषसे अपनी मातृभूमिके सब शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना बडी मननीय है। ३८ वें मंत्रमें सोमयज्ञका बडाही मनोरंजक वर्णन है। सत्र और यज्ञसंस्थाके चलानेवाले ऋषियोंके अपूर्व सत्कर्ममार्गका प्रशंसापूर्ण उल्लेख ३९ वें मंत्रमें है।

४० वें और ४४ वें मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है। ४१वें मंत्रमें जनताका गायन, नर्तन और आनन्दके साथ नगरकीर्तनका उल्लेख है। यह राष्ट्रीय जीवनकी तेजस्विता बता रहा है। ४२ वें मंत्रमें मातृभूमिको नमन किया है।

४३ वें मंत्रमें अपने राष्ट्रमें देवोंद्वारा बनाये, बसाये और बढाये नगरोंके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है। अपने लिये जगत्‌की सब दिशाएं रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसीमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं।

४५ वां मंत्र ' नानाधर्मोंवाले और नानाभाषावाले विविध जनोंकी एकता राष्ट्रभक्तिसे होगी ' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिए यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारणके बिना आपसी झगडे बढानेवाले लोगोंको बडाही बोधप्रद है। ४६ वें मंत्रमें जहरीले जीवोंके भाव मानवोंमें न आवे, ऐसा कहकर स्नेह बढानेका उपदेश अपूर्व रीतिसे किया है।

४७ वें मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है। दुराचारी और सदाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं। इस सार्वजनिक स्थानमें हरएक मनुष्य जा सकता है। यहां एकको आज्ञा और दूसरेको प्रतिबंध नहीं हो सकता।

मातृभूमिको पापी और सदाचारी पुत्ररूपेण समान हैं, यह भाव मंत्र ४८ में देखनेयोग्य है। ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें पशुओं, पिशाचादिकों और पक्षियोंका वर्णन है। मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय धाम और मेधा की प्राप्तिका कथन है।

५४ वें मंत्रमें अपने दिग्विजयकी महत्त्वाकांक्षा है। ५५ वें मंत्रमें चारों दिशाओंमें उत्कर्ष फैलानेका संदेश है। और ५८ वें मंत्रोंमें सार्वजनिक सभाओंमें मातृभूमिके विषयमें शुभ भावसे भाषण करनेका उपदेश है। ५७ वें मंत्रमें सेनाकी तैयारीका वर्णन है। मंत्र ५९ से ६१ तक सर्वसाधारण उपदेश है। ६२ वें मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिए आत्मसमर्पण करनेका आदेश है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा स्थिर करनेका संदेश देकर सूक्तकी पूर्णता की है।

पाठक यह संगति देखकर इस सूक्तका मनन करें और बोध प्राप्त करके यशके भागी बनें।

यक्ष्मरोगनाशन।

[२]

(ऋषिः—भृगुः। देवता—अग्निः, मंत्रोक्ताः २१-३३, मृत्युः)

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥
अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥२॥
निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥३॥
यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

अर्थ— (नडं आरोह) नडपर चढ (ते अत्र लोकः न) तेरे लिये यहां स्थान नहीं है। (इदं सीसं ते भागधेयं) यह सीस तेरा भाग्य है। (एहि) तू इधर आ। (यः गोषु यक्ष्मः) जो गौवोंमें क्षयरोग है, (पुरुषेषु यक्ष्मः) जो मनुष्योंमें रोग है, (तेन साकं त्वं अधराङ् परा इहि) उस रोगके साथ तू नीचेकी ओरसे जा ॥ १ ॥

(अघशंस—दुःशंसाभ्यां तेन करेण अनुकरेण च) पापी और दुष्टके साथ इस कृति और अनुकरणके द्वारा (सर्वं यक्ष्मं मृत्युं च) सब रोग और मृत्युको भी (इतः निरजामसि) यहांसे दूर करते हैं ॥ २ ॥

(इतः मृत्युं निः) यहांसे मृत्युको (ऋतिं निः अरातिः निः अजामसि) दुःखको और शत्रुको दूर भगा देते हैं। हे अग्ने ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं अद्धि) उसको खा अर्थात् उसका नाश कर। (यं उ द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (तं उ ते प्रसुवामः) उसको तेरे पास भेज देते हैं ॥ ३ ॥

(यदि क्रव्यात् अग्निः) यदि मांस खानेवाला अग्नि और (यदि वा अनि—ओकः व्याघ्रः) यदि घरबारसे रहित व्याघ्र—हिंसक— (इमं गोष्ठं प्रविवेश) इस गोशालामें प्रविष्ट हुआ, तो (तं माषाज्यं कृत्वा) उसे माष—घी—युक्त बनाकर (दूरं प्रहिणोमि) दूर भगा देता हूं, (सः अप्सुसदः अग्नीन् गच्छतु) वह जलोंमें रहनेवाले अग्नियोंके पास जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ कोई रोग मनुष्योंके स्थानमें न रहे। किसी दूरके स्थानपर वह चला जाय। जो रोग मनुष्यों और पशुओंमें हो, वह एकदम दूर होवे। सब मनुष्य और पशु नीरोग और स्वस्थ हों ॥ १ ॥

सब रोग पापियों और दुराचारियोंके साथ दूर चले जावें। वैसी ही कृति और अनुकृति होवे कि जिससे सब रोग दूर हो सकें ॥ २ ॥

यहांसे मृत्यु, दुःख, दरिद्रता और शत्रु दूर हों। हम सब इनका द्वेष करते हैं, इसलिये वे हमारे पास न रहें ॥ ३ ॥

प्रेतदाहक अग्नि यदि किसीके घरमें प्रविष्ट हुआ हो अर्थात् यदि किसीके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, तो वहां मापाज्यविधि होनेके पश्चात् उस घरका वह मृत्युभय दूर होवे अर्थात् मृत्यु फिर वहां न आवे ॥ ४ ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते । सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥५॥
पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥६॥
यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे ॥७॥
क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥८॥
क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् ।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥९॥

अर्थ-(मृते पुरुषे) मनुष्य मरनेपर (यत् क्रुद्धाः मन्युना त्वा प्रचक्रुः) जो क्रुद्ध होकर क्रोधसे तेरा अन्याय करते हैं, हे अग्ने ! (त्वया तत् सुकल्पं) तेरे द्वारा वह अन्याय ठीक होनेयोग्य है। अतः (पुनः त्वा उत् दीपयामसि) फिरसे तुझे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (आदित्याः, रुद्राः, वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु, (वसु—नीतिः ब्रह्मा ब्रह्मणस्पतिः) धन देनेवाला ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय त्वा पुनः अधात्) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये तुझे पुनःस्थापित करते हैं ॥ ६ ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसभक्षक अग्नि (इतरं जातवेदसं पश्यन्) दूसरे जातवेदस् अग्निको देखता हुआ (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है, (तं पितृयज्ञाय दूरं हरामि) उस अग्निको पितृयज्ञके लिये दूर ले जाता हूं, (सः परमे सधस्थे घर्मं इन्धां) वह परम धाममें उष्णता बढावे ॥ ७ ॥

[क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि] मांसभक्षक अग्निको दूर ले जाता हूं। वह [रिप्रवाहः यमराज्ञः गच्छतु] दोष दूर करनेवाला यमराजके पास चला जावे । [इह अयं इतरः जातवेदः] यहां यह दूसरा जातवेद अग्नि है वह [प्रजानन् देवः देवेभ्यः हव्यं वहतु] जानता हुआ देव सब देवोंके लिये हवनीय भाग ले जावे ॥ ८ ॥

[जनान् वज्रेण मृत्युं दृंहन्तं] लोगोंको वज्रके द्वारा मृत्युके प्रति ले जानेवाले [क्रव्यादं अग्निं इषितः हरामि) मांसभक्षक अग्निको इच्छापूर्वक ले जाता हूं। (विद्वान् गार्हपत्येन तं निशास्मि) जानता हुआ मैं गार्हपत्य अग्नि-द्वारा उसका शासन करता हूं। उसका (पितॄणां लोके भागः अपि अस्तु) पितरोंके लोकमें भाग अवश्य रहे ॥ ९ ॥

भावार्थ- किसी घरपर कोई मनुष्य मर गया तो वहां उसको जलानेके लिये अग्नि कोपित उग्र अर्थात् प्रज्वलित करते हैं। उससे आगे किसी प्रकार भय न हो। फिर अग्नि प्रदीप्त करनेपर सर्वत्र शान्ति हो जावे ॥ ५ ॥

घरमें यज्ञादि करनेके लिये जो अग्नि स्थापित करते हैं, उससे उन घरवालोंको सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है॥६॥

एक प्रेतमांसभक्षक अग्नि है और दूसरा यजनका अग्नि है। प्रेतदाहक अग्नि पितृयज्ञ करे और उस यज्ञको पितरोंके परके स्थानमें ले जावे ॥ ७ ॥

प्रेतमांसभक्षक अग्नि मनुष्यस्थानसे दूर रहे अर्थात् प्रेतोंका दहन मनुष्यस्थानसे दूर होवे। परंतु जो यह दूसरा जातवेद नामक अग्नि यजन करनेके लिये स्थापन किया जाता है, वह हवनद्वारा देवताओंकी तृप्ति करता रहे अर्थात् वह मनुष्योंके घरोंमें रहे ॥ ८ ॥

मनुष्योंके प्रेतोंका दहन करनेवाले अग्निके कार्यकी शान्ति गार्हपत्य अग्निसे अर्थात् विवाहके समयके अग्निसे करते हैं। अर्थात् इनका कार्य परस्परभिन्न है। एकसे वंशका नाश और दूसरेसे वंशवृद्धि होती है ॥ ९ ॥

क्रव्यादम॒ग्निं श॑शमा॒नमु॒क्थ्यं॑ प्र हि॑णोमि प॒थिभि॑ः पितृ॒याणै॑ः ।
मा दे॑व॒यानै॒ः पुन॒रा गा॒ अत्रै॒वैधि॑ पि॒तृषु॑ जागृहि॒ त्वम् ॥१०॥ (७)
समि॑न्धते॒ संक॑सुकं स्व॒स्तये॑ शु॒द्धा भव॑न्तः शु॒चय॑ः पाव॒काः ।
जहा॑ति रि॒प्रमत्येन॑ एति॒ समि॑द्धो अ॒ग्निः सु॒पुना॑ पुनाति ॥११॥
दे॒वो अ॒ग्निः संक॑सुको दि॒वस्पृ॒ष्ठान्यारु॑हत् । मु॒च्यमा॑नो॒ निरेण॒सोऽमो॑ग॒स्माँ अश॑स्त्याः ॥१२॥
अ॒स्मिन्व॒यं संक॑सुके अ॒ग्नौ रि॒प्राणि॑ मृज्महे ।
अभू॑म य॒ज्ञिया॑ः शु॒द्धाः प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥१३॥
संक॑सुको॒ विक॑सुको निर्ऋ॒थो यश्च॑ निस्व॒रः । ते ते॒ यक्ष्मं॒ सवे॑दसो दू॒राद् दू॒रम॑नीनशन् ॥१४॥
यो नो॒ अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो नो॒ गोष्व॑जा॒विषु॑ । क्र॒व्यादं॑ निर्णु॑दामसि॒ यो अ॒ग्निर्ज॑न॒योप॑नः ॥१५॥

अर्थ—(उक्थ्यं शशमानं क्रव्यादं अग्निं) प्रशंसनीय गतिमान् मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) पितृयानके मार्गोंसे दूर भगाता हूं। (देवयानैः पुनः मा आगाः) देवयानके मार्गोंसे पुनः यहां मत आ। (अत्र एव एधि) यहीं रह (त्वं पितृषु जागृहि) तू पितरोंमें जाग्रत रह ॥ १० ॥

(शुचयः पावकाः शुद्धाः भवन्तः) शुचि, पवित्र और शुद्ध होकर (स्वस्तये संकसुकं सं इन्धते) कल्याणके लिये विदाहक अग्निको प्रदीप्त करते हैं। वह (रिप्रं जहाति) दुष्टताको त्यागता है और (एनः अति एति) पापका अतिक्रमण करता है। (समिद्धः सुपुना अग्निः पुनाति) प्रदीप्त हुआ पवित्रता करनेवाला अग्नि सबको पवित्र करता है ॥ ११ ॥

(संकसुकः देवः अग्निः) विदाहक अग्नि देव (दिवः पृष्ठानि आरुहत्) द्युलोकके ऊपर चढा है, वह (अस्मान् एनसः विमुच्यमानः) हम सबको पापसे छुडाता हुआ (अ-शस्त्याः अमोक्) अप्रशस्ततासे मुक्त कर देता है ॥ १२ ॥

(अस्मिन् संकसुके अग्नौ) इस विदाहक अग्निमें (वयं रिप्राणि मृज्महे) हम सब अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं। इससे (यज्ञियाः शुद्धाः अभूम) हम पवित्र और शुद्ध होते हैं। वह [नः आयूंषि प्रतारिषत्] हमारे आयुष्य बढावें ॥१३॥

(संकसुकः विकसुकः) संघातक और विघातक [निर्ऋथः यः च निस्वरः] विनाशक और शब्दरहित अग्नि (ते ते यक्ष्मं) तेरे रोगको (स-वेदसः दूरात् दूरं अनीनशन) ज्ञानवाले प्राज्ञके द्वारा दूरसे दूरकर नाश करे ॥ १४ ॥

(यः नः अश्वेषु, यः वीरेषु) जो हमारे घोडों और वीरोंमें, (यः नः गोषु अजाविषु) जो हमारी गौओंमें और भेडबकरियोंमें, (जनयोपनः अग्निः) लोगोंको कष्ट देनेवाला अग्नि है, उस [क्रव्यादं निः नुदामसि] मांसभक्षक अग्निको हम दूर करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—पितर चले जानेके मार्गोंपर (स्मशानमें) यह मांसभक्षक अग्नि है और देवोंके मंगल मार्गोंपर दूसरा यजनका अग्नि है ॥ १० ॥

मनुष्य शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर अपने कल्याणके लिये इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं। इससे सब दोष दूर होते हैं, पाप दूर होता है और पवित्रता बढती है ॥ ११ ॥

यह अग्नि प्रदीप्त होकर उसकी ज्वालाएं आकाशतक जाती हैं, और हमें पापसे बचाती है और अप्रशस्तमार्गसे हमारी रक्षा करती है ॥ १२ ॥

इस अग्निमें हम हवन करते हैं और हम अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं। इससे हम शुद्ध, पवित्र और यज्ञके योग्य बनकर अपनी आयुको बढाते हैं ॥ १३ ॥

अग्निमें संघातक, विघातक गुण हैं, इनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग करनेसे ज्ञानी योजक इसकी सहायतासे रोगोंको दूर कर सकता है १४

इस तरह घोडे, वीर, गौवें भेड, बकरियां आदिको नीरोग करना संभव है ॥१५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।
निःक्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥१६॥
यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत । तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥१७॥
समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः । अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥
सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत् । अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥१९॥
सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥ (८)
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ- (यः जीवितयोपनः अग्निः तं क्रव्यादं) जो जीवनाशक क्रव्याद् अग्नि है उसको (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः गोभ्यः अश्वेभ्यः त्वा) अन्य मनुष्यों गौवों और घोडोंसे (निः नुदामसि) निःशेष रीतिसे दूर हटाते हैं ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (यस्मिन् देवाः अमृजत) जिसमें देव शुद्ध हुए, (उत यस्मिन् मनुष्याः) और जिसमें मनुष्य भी शुद्ध हुए, (तस्मिन् घृतस्तावः मृष्ट्वा) उसमें घृत-आहुति देकर, शुद्ध होकर [त्वं दिवं रुह] तू स्वर्गपर चढ ॥ १७ ॥

(आहुत अग्ने !) आहुति दिये हुए अग्नि! (समिद्धः सः नः मा अभि अपक्रमीः) प्रदीप्त होकर तू हमारा अतिक्रमण मत कर। (अत्र एव द्यवि दीदिहि) यहां द्युस्थानमें प्रकाशित हो। (सूर्यं ज्योक् दृशे) सूर्यको निरंतर हम देखें ॥ १८ ॥

(यत् सीसे मृड्ढ्वं) जो सीसेमें लगा, जो (नडे मृड्ढ्वं) नडमें लगा, और जो [संकसुके अग्नौ] विनाशक अग्निमें तपकर लगा है, (अथो अव्यां रामायां उपबर्हणे शीर्षक्तिं) और जो भेडमें काले रंगवालोंमें तथा सिर रखनेके सिरहानेमें लगा है, उस मलको शुद्ध करो ॥ १९ ॥

(सीसे मलं सादयित्वा) सीसेमें मल शुद्ध करके, (उपबर्हणे शीर्षक्तिं) सिरहनेपर सिर रखकर, (असिक्न्यां अव्यां मृष्ट्वा) काली भेडमें शुद्ध करके (यज्ञियाः शुद्धाः भवत) पवित्र और शुद्ध हो जावो ॥ २० ॥

हे मृत्यो ! (देवयानात् इतरः यः ते एषः) देवयानसे भिन्न जो तेरा यह मार्ग है, उस (परं पन्थां अनुपरा इहि) परले मार्गसे दूर चला जा । (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) आंखवाले और सुननेवाले तुझे मैं यह कहता हूं । (इमे वीराः बहवः भवन्तु) ये वीर बहुत हों ॥ २१ ॥ (ऋ० १०।१८।१, यजु० ३५।७)

भावार्थ— इससे प्रेतदाहक अग्निको दूर करना योग्य है ॥ १६ ॥

यज्ञसे देवताओंकी शुद्धि हुई, याजक भी यज्ञसे शुद्ध बने । इस तरह यज्ञमें घृतकी आहुतियां देनेसे मनुष्य शुद्ध होकर उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होकर परदारके ऊपर न आवे । अपनी यज्ञशालामें प्रदीप्त होकर रहे। उपासक सूर्यको प्रतिदिन देखे॥१८

जहां जहां मल लगा हो वह स्थान शुद्ध और पवित्र करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

मृत्यु हम सबसे दूर रहे, हमारे पास न आवे । हमारे बालबच्चे हृष्टपुष्ट और नीरोग तथा दीर्घायु हों ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम　　॥२२॥
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन　　॥२३॥
आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय　　॥२४॥
यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्　　॥२५॥

अर्थ--(इमे जीवाः मृतैः आ ववृत्रन्) ये जीवित लोग मरे हुओंसे घिरे हुए हैं। (नः देवहूतिः अद्य भद्रा अभूत्) हमारी ईशप्रार्थना आज कल्याणमयी हो गयी। (नृतये हसाय प्राञ्चः अगाम) नृत्य और हास्यके लिये हम सब आगे बढें और हम (सुवीरासः विदथं आ वदेम) उत्तम वीर होकर युद्धका विचार करेंगे ॥ २२ ॥ (ऋ० १०।१८।३)

(जीवेभ्यः इमं परिधिं दधामि) जीवोंके लिये मैं यह मर्यादा देता हूं। (एषां अपरः एतं अर्थं मा नु गात्) इनमेंसे कोई एक भी इस अर्थके पार कभी मत जावे। (शतं शरदः पुरूचीः जीवन्तः) अतिदीर्घ सौ वर्षोंका जीवन अनुभव करते हुए (पर्वतेन मृत्युं तिरो दधतां) पर्वतके द्वारा मृत्युको परे रखें ॥२३॥ (ऋ० १०।१८।४; यजु० ३५।१५)

(जरसं वृणानाः आयुः आरोहत) वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घ आयुको प्राप्त करो । [अनुपूर्वं यतमानाः यति स्थ] एकके पीछे दूसरा सिद्धि तक प्रयत्न करता रहे, यत्नमें रहे। [सुजनिमा सजोषाः त्वष्टा] उत्तम जन्मवाला उत्साहवाला त्वष्टा [तान् वः जीवनाय सर्वं आयुः नयतु] आप सबको दीर्घजीवनके लिये संपूर्ण आयुतक ले जावे ॥२४॥ [ऋ० १०।१८।६]

[यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति] जैसे दिन एकके पीछे दूसरा ऐसे आते हैं। [यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति] जैसे ऋतु ऋतुओंके साथ चलते हैं। [यथा पूर्वं अपरः न जहाति] जैसा पहिलेको दूसरा नहीं छोडता, हे धाता ! [एवा एषां आयूंषि कल्पय] इनकी आयुकी योजना कर ॥ २५॥ [ऋ० १०।१८।५ ॥]

भावार्थ—यहां जो लोग जीवित हैं वे चारों ओरसे मृतोंसे घिरे हैं अर्थात् उनके चारों ओर मृत जीव हैं। हम ईशप्रार्थना करके कल्याण प्राप्त करें। हम हास्यमें और नृत्यमें अपना मंगल समय व्यतीत करें। हम सब उत्तम वीर बनें और युद्धमें अपना शौर्य प्रकट करें ॥ २२ ॥

जीवोंके लिये आयुष्यकी मर्यादा निश्चित हुई है। कोई मनुष्य इस दीर्घजीवनकी मर्यादा न तोडे अर्थात् अल्पायुमें न मरे। सब लोग अतिदीर्घ आयुतक जीवित रहें और मृत्युको दूर करें ॥ २३ ॥

वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर दीर्घ आयुका स्वीकार करें। एकके पीछे एक अर्थात् वृद्धके पश्चात् तरुण चले, वृद्धके पूर्व तरुण न मरे। दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करनेका यत्न प्रत्येक करे। ईश्वर सब यत्न करनेवालोंको दीर्घायु देवे ॥ २४ ॥

जैसे दिनके पीछे दिन, ऋतुके पीछे ऋतु और जैसे पहिलेके पीछे दूसरा आता है वैसे ही वृद्धके पीछेसे तरुण चले जावें, वृद्धोंके पूर्व कोई न मरे अर्थात् सब लोग वृद्ध होकर ही पूर्ण आयुकी समाप्तिपर मरें ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असंन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२६॥
उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाःशिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७॥
वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥
उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥२९॥

अर्थ- [अश्मन्वती रीयते] पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [संरभध्वं] संभालो, [वीरयध्वं] वीरता धारण करो, और [सखायः प्रतरत] हे मित्रो! तैर जाओ। [ये दुरेवा असन् अत्र जहीत] जो दुःखदायी हों उनको यहां हा फेंक दो। [उत्तरेम अनमीवान् वाजान्] यदि हम पार हो जायगे तो नीरोग अन्न प्राप्त करेंगे ॥ २६ ॥ [ऋ० १०।५३।८; यजु० ३५।१०]

हे [सखायः] मित्रो! [उत्तिष्ठत प्रतरत] उठो और तैरो। [इयं अश्मन्वती नदी स्यन्दते] यह पत्थरोंवाली नदी वेगसे चल रही है। [ये अशिवा असन् अत्र जहीत] जो अशुभ है उसको यहां ही फेंक दो। [उत्तरेम शिवान् स्योनान् अभि] यदि हम तैर जायगे तो हम शुभ और सुखदायक अन्नोंको प्राप्त करेंगे ॥ २७ ॥ [ऋ० १०।५३।८]

[शुद्धाः शुचयः पावकाः भवन्तः] शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर [वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं] कल्याणके लिये विश्वदेवकी उपासना आरंभ करो। [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापके स्थानोंको दूर करते हुए [सर्ववीराः शतं हिमाः मदेम] सब वीरोंके समेत हम सौ वर्ष तक आनंदसे रहेंगे ॥ २८ ॥

[वायुमद्भिः उदीचीनैः परेभि पथिभिः] वायुवाले ऊपरके श्रेष्ठ मार्गोंसे [अवरान् अतिक्रामन्तः] नीचोंका अतिक्रमण करते हुए [परेताः ऋषयः त्रिःसप्त कृत्व.] दूर पहुंचे हुए ऋषि तीन वार सात समय तपस्या करके [पदयोपनेन मृत्युं पत्यौहन्] अपने पदविन्याससे मृत्युको दूर करते रहे ॥ २९ ॥

भावार्थ-यह संसार एक बडीभारी पत्थरोंवाली नदी है,अर्थात् इसमें दुःखोंके और कष्टोंके बडे बडे पत्थर हैं। इस नदीका वेग भी बडा भारी है। इसलिए इस नदीसे पार करनेके लिए सावधानीसे वीरतायुक्त संगठन करना चाहिये। इस तरह मिलकर चलोगे तो पार कर सकोगे, आपसमें फूट बढाओगे तो इस नदीमें बह जाओगे। जो चीजें आपके पास अनावश्यक हैं उन सबको यहीं फेंक दो, जब आप तैरकर पार हो जाओगे तब वहीं उत्तम उत्तम चीजोंको प्राप्त कर सकोगे। परंतु यदि अनावश्यक चीजोंका भार अपने ऊपर रखोगे, तो तुम उस भारके कारण ही डूब जाओगे ॥२६-२७॥

शुद्ध पवित्र और मलरहित बनो और ईश्वरकी भक्ति करो। पापके स्थानमें अपना पद न रखो। इस तरह निर्दोष बनकर आनंदसे सौ वर्ष रहो ॥ २८ ॥

प्राणायामका अभ्यास करके प्राणकी स्वाधीनता करनेवाले योगी स्थूल शरीरको निर्दोष बनाकर अपने आधीन करते हैं। ये ही ऋषि तपस्याके द्वारा मृत्युको दूर करके दीर्घजीवी बनते हैं ॥ २९ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥३०॥ [९]
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥
व्याकरोमि हविषाहमेतौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥३२॥
यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तराविवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥३३॥
अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

अर्थ-(मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्युके पांवको दूर करते हुए (एतत् आयुः द्राघीयः प्रतरं दधानाः) यह आयु दीर्घ और श्रेष्ठ बनाकर धारण करते हुए (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि करते हुए मृत्युको दूर करो। (अथ जीवासः सधस्थे विदथं आवदेम) और यदि जीवोगे तो अपने घरमें यज्ञकी बात करोगे ॥ ३० ॥ (ऋ० १०।१८।२)

(इमाः नारीः सुपत्नीः अविधवाः) ये स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियाँ बनें और कभी विधवा न बनें। (आञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्तां) तथा अञ्जन और घृत शरीरको लगावें।तथा(अनमीवाः अनश्रवः सुरत्नाः)रोगरहित अश्रुरहित होकर उत्तम रत्नोंसे युक्त हों। ऐसी (जनयः अग्रे योनिं आरोहन्तु) स्त्रियाँ प्रथम अपने घरमें ऊँचे स्थानपर चढें ॥ ३१ ॥

[अहं एतौ हविषा व्याकरोमि] मैं इन दोनोंको हविसे विशेष उन्नत करता हूं। [ब्रह्मणा अहं विकल्पयामि] ज्ञानसे मैं इसकी विशेष कल्पना करता हूं। [पितृभ्यः अजरां स्वधां कृणोमि] पितरोंके लिये मैं अविनाशी स्वकीय धारकशक्ति बढाता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा संसृजामि] इनको दीर्घ आयुसे युक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

हे [पितरः] पितरो ! [नः यः अमृतः अग्निः] हमारा जो अमर अग्नि (मर्त्येषु हृत्सु अन्तः आविवेश) मर्त्य हृदयोंमें आवेश उत्पन्न करता है,[तं देवं अहं मयि परिगृह्णामि] उस दिव्य अग्निको मैं अपनेमें धारण करता हूं। [सः अस्मान् मा द्विक्षत] वह हमारा द्वेष न करे, तथा [तं वयं मा] उसका हम द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

[गार्हपत्यात् अपावृत्य दक्षिणा क्रव्यादा प्रेत] गार्हपत्य अग्निसे हटकर दक्षिणकी ओर प्रेतमांसभक्षक अग्निके प्रति चलो। और [पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुत] पितरोंके लिये, अपने लिये तथा ब्राह्मणोंके लिये प्रिय करो॥३४॥

भावार्थ-- इस रीतिसे मृत्युका पाव अपने सिरपरसे दूर करते हुए अपनी आयुको अतिदीर्घ बनाकर आसन प्राणायामादिद्वारा मृत्युको दूर करके और दीर्घ जीवन प्राप्त करके उत्तम स्थानमें विराज कर अपना जीवन यज्ञरूप बनाओ ॥ ३० ॥

स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियां बनें, ये कभी विधवा न बनें । वे सौभाग्ययुक्त होकर अपने शरीरको अञ्जन आदि द्वारा सुशोभित करें। नीरोग बनें, शोकरहित होकर अश्रुरहित रहें और उत्तम आभूषणोंसे सुशोभित रहें। अपने घरमें ये स्त्रियां सुपूजित होती हुई महत्त्वका स्थान प्राप्त करें॥ ३१ ॥

हवन द्वारा मृत और जीवितोंको अर्थात् दोनोंको लाभ पहुंचता है। ज्ञानसे ही इसकी विशेष कल्पना हो सकती है। हवनसे मृतोंको स्वत्वधारक बल प्राप्त होता है और जीवितोंको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यह अमरधर्मयुक्त अग्नि मनुष्योंका हितकर्ता होनेसे सबको प्रिय है। इसको मनुष्य प्रज्वलित करें और उसकी सहायतासे उन्नति प्राप्त करें ॥ ३३ ॥

मनुष्योंको ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे आपना हित हो, ज्ञानियोंका संमान बढे और पितरोंका यश दूरिंगत

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या। अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥३५॥
यत् कृषते यद् वनुते यच्च वस्नेन विन्दते। सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥३६॥
अयज्ञियो हुतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे। छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥३७॥
मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य। क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥३८॥
ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥३९॥

अर्थ— (यः अनिराहितः क्रव्यात् अग्निः) जो न बुझाया हुआ प्रेतमांसभक्षक अग्नि होता है, वह अग्नि [ज्येष्ठस्य पुत्रस्य द्विभागं धनं आदाय] बडे भाईको धनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी [अवर्त्या प्रक्षिणाति] दारिद्र्यसे उसकी क्षीणता करता है ॥ ३५ ॥

[क्रव्यात् अनिराहितः चेत्] प्रेतमांसभक्षक अग्नि यदि न बुझाया जाय, तो वह [मर्त्यस्य तत् सर्वं न अस्ति] मर्त्यका वह सब नष्ट करता है कि जो [यत् कृषते] जो खेतीसे मिलता है, [यत् वनुते] जो अपने संविभागसे प्राप्त होता है और [यत् च वस्नेन विन्दते] जो कारीगरीसे मिलता है ॥ ३६ ॥

वह मनुष्य [अयज्ञियः हुतवर्चाः भवति] अपवित्र और निस्तेज होता है, [एनेन हविः अत्तवे न] इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, [कृष्याः गोः धनात् छिनत्ति] कृषि गौ और धनसे वह छीना जाता है, [यं क्रव्यात् अनुवर्तते] जिसके साथ शवमांसभक्षक अग्नि चलता है ॥ ३७ ॥

[यान् अन्तिकात् क्रव्यात् अग्निः] जिनको यह शवमांसदाहक अग्नि [विद्वान् अनु वितावति] जानकर पीछे पीछे पडता है, वह [मर्त्यः आर्तिं नीत्य] मनुष्य कष्टको प्राप्त होकर [गृध्यैः मुहुः प्रवदति] प्रलोभनोंके साथ वारंवार पुकारता रहता है अर्थात् रोता रहता है ॥ ३८ ॥

[यतः स्त्रियाः पतिः म्रियते] जब स्त्रीका पति मर जाता है, तब [गृहाः ग्राह्याः सं सृज्यन्ते] घर पीडाओंसे युक्त होते हैं। उस समय [विद्वान् ब्रह्मा एव एष्यः] ज्ञानी ब्राह्मण ही बुलाने योग्य है, [यः क्रव्यादं निरधात्] जो शवमांसभक्षक अग्निको हटा सकता है ॥ ३९ ॥

भावार्थ— होवे। गृहस्थधर्म स्वीकारनेसे अंत्येष्टितक मनुष्य यही करता रहे ॥ ३४ ॥

प्रेतदाहक अग्निको अच्छी तरह विधिपूर्वक शान्त न किया तो ज्येष्ठ पुत्रको पितृधनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी उसको दारिद्र्यके कष्ट भोगने पडते हैं, इसलिये अन्त्येष्टिके अग्निको विधिपूर्वक शान्त करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कृषिसे, कारीगरीसे तथा पैत्रिक विभागसे प्राप्त हुआ धन भी नष्ट होता है, यदि अन्त्येष्टिकी अग्निकी शान्ति न की जाय ॥ ३६ ॥

अंत्येष्टिकी अग्नि सतत मनुष्यके साथ रहनेसे मनुष्य अपवित्र और निस्तेज होता है। उसका अन्न अभक्ष्य होता है, उसकी कृषि, गौवें और धन नष्ट होती हैं। इसलिये उसकी शान्ति करके मनुष्यको स्नानादिसे पवित्र बनना चाहिये ॥ ३७ ॥

जिनके घरमें अथवा जिन मनुष्योंमें यह अन्त्येष्टिकी अग्नि बार बार प्रज्वलित होता है अर्थात् जिनमें वारंवार मृत्यु होती है उनको बहुत कष्ट होते हैं और वे लोग वारंवार रोते पीटते हुए मरे हुओंके लाभोंका वर्णन करते हुए पुकारते रहते हैं ॥ ३८ ॥

जब किसी स्त्रीका पति मर जाता है तब उस घरमें बडी पीडा होती है। उस समय विद्वान् ब्राह्मणको बुलाकर उस प्रेतदाहक अग्निकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

यद् रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्। आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ४०[१०]
ता अधरादुदीचीराववृत्रन् प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः ।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥४१॥
अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥४२॥
इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात्। व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥४३॥
अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥४४॥
जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥४५॥

अर्थ-[यत् रिप्रं शमलं] जो पाप और मलिनता [यत् च दुष्कृतं चकृम] जो दुराचार हमने किया है, [तस्मात् संकसुकात् अग्नेः] उस विघातक अग्निसे [आपः मा शुंभन्तु] जल मुझे पवित्र करें॥ ४० ॥

[ताः अधरात् उदीचीः] वे नीचे उपरकी ओरसे जाती हुई (प्रजानतीः देवयानैः पथिभिः आववृत्रन्) ज्ञान प्राप्त कर देवयानके मार्गोसे वारंवार चलती है, [वृषभस्य पर्वतस्य अधिपृष्ठे] वृष्टि करनेवाले पर्वतके ऊपर [पुराणीः सरितः नवाः चरन्ति] पुरानी नदियां नवीन होकर चलती हैं ॥ ४१ ॥

हे अग्ने ! तू [अ-क्रव्याद् क्रव्यादं निः नुद] मांसभक्षक न बनकर मांसाहारीको दूर कर। और [देवयजनं वह] देवोंका यजन करनेवालेको पास कर ॥ ४२ ॥

[इमं क्रव्यात् आविवेश] इसके पास मांसभक्षक आ गया है। और [अयं क्रव्यादं अन्वगात्] यह मांसभक्षकके पास चला गया है। [व्याघ्रौ नानानं कृत्वा] इन क्रूर श्वापदोंको विभिन्न बनाकर [तं शिवापरं हरामि] उस अशुभको मैं दूर करता हूं ॥ ४३ ॥

[देवानां अन्तर्धिः] देवोंको अपने अंदर रखनेवाला [मनुष्याणां परिधिः] मनुष्योंका संरक्षणकर्ता [गार्हपत्यः अग्निः] गार्हपत्य अग्नि [उभयान् अन्तरा श्रितः] दोनोंके मध्यमें रहता है। ॥ ४४ ॥

हे अग्ने ! [त्वं जीवानां आयुः प्रतिर] तू जीवोंकी आयु निर्विघ्नताके साथ पार कर दे, तथा [ये मृताः पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु] जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें। [सुगार्हपत्यः अरातीं वितपन्] उत्तम गार्हपत्य अग्नि शत्रुको ताप देवे। [उषां उष अस्मै श्रेयसीं धेहि] प्रत्येक उषःकाल इसके लिये कल्याणमय कर देवे ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जो पाप, दोष और दुराचार प्रेतदाहक अग्निके कारण होता है, उससे शुद्धि जलस्नानसे होती है ॥ ४० ॥

नदियां पर्वतोंपरसे नीचेकी ओर चलती हैं, वे गर्मीके दिनोंमें कृश होती और वृष्टिके दिनोंमें नवीन होकर चलती हैं। (इसी तरह) मनुष्य मरनेके पश्चात् दूसरा शरीर धारण करके नवीनसा बनकर विचरता है ॥ ४१ ॥

जिसमें देवोंके उद्देश्यसे हवन होता है, वह अग्नि प्रेतदाहक अग्निको दूर करे, अर्थात् घर घरमें इष्टियां हों और मनुष्य दीर्घायु हों ॥ ४२ ॥

एक अग्नि प्रेतदाहक है और दूसरा देवयाजक है। दोनोंमें भक्षक भाव है, परंतु एक शिव है और दूसरा अशिव है। मनुष्य ऐसा आचरण करे कि जिससे शुभ अग्नि सदा प्रदीप्त रहे और अशुभ कभी प्रदीप्त करनेका अवसर न आवे ॥ ४३ ॥

देवोंके अन्दर रहनेवाला मनुष्योंका रक्षणकर्ता गार्हपत्य अग्नि दोनों जन्म और मृत्युके अग्नियोंमें रहता है ॥ ४४ ॥

अग्निमें हवन करनेसे मनुष्योंकी आयु दीर्घ होती है। इसी हवनसे मृतोंको पितृलोक प्राप्त होता है । गार्हपत्य अग्नि शत्रुको दूर करता है, और प्रतिदिन कल्याण प्राप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥४६॥
इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥४७॥
अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥४८॥
अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥४९॥
ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा । क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥५०॥

अर्थ—हे अग्ने ! [सर्वान् सपत्नान् सहमानः] सब शत्रुओंको परास्त करता हुआ तू (एषां रयिं ऊर्जं अस्मासु धेहि) इनका धन और बल हमारे अंदर स्थापित कर ॥ ४६ ॥

[इमं इन्द्रं वह्निं पप्रिं अन्वारभध्वं] इस ऐश्वर्ययुक्त पालकको अनुकूलतापूर्वक शुरू करो । [सः वः अवद्यात् दुरितात् निः वक्षत्] वह हमें निंदनीय पापसे छुडावे । [तेन आपतन्तं शरुं अपहत] उसके द्वारा हमला करनेवाले घातकका नाश करो । [तेन रुद्रस्य अस्तां परिपात] उसकी सहायतासे रुद्रके अस्त्रसे सब ओरसे अपने आपको सुरक्षित करो ॥ ४७ ॥

(अनड्वाहं प्लवं अन्वारभध्वं) बलवान् नौकाको तैयार करो । (सः वः अवद्यात् दुरितात् निर्वक्षत्) वह आपको निंद्य पापसे बचावे । (एतां सवितुः नावं आरोहत) इस सविताकी नौकापर चढो । (षड्भिः उर्वीभिः अमतिं तरेम) छः बडी विशाल नौकाओंसे दुष्टबुद्धि शत्रुके भयसे पार होवेंगे ॥ ४८ ॥

तू [अहो रात्रे क्षेम्यः प्रतरणः] दिनरात सुख देकर दुःखसे पार करनेवाला [सुवीरः बिभ्रत् तिष्ठन् अन्वेषि] उत्तम वीरोंसे युक्त धनादिका धारण करनेवाला स्वयं स्थिर होकर अनुकूल रहता है । हे [तल्प] पलंग, हे बिछोने ! तू [सुमनसः अनातुरान् बिभ्रत्] उत्तम मनवाले नीरोग मनुष्योंको धारण करता है, ऐसा तू [ज्योक् एव पुरुषगंधिः नः एधि] सदा मनुष्योंके सुगंधसे युक्त होकर हमारे पास रह ॥ ४९ ॥

[ते देवेभ्यः आवृश्चन्ते] जो देवोंसे अपने आपको अलग करते हैं वे [सर्वदा पापं जीवन्ति] सदा पापका जीवन व्यतीत करते हैं । [यान् क्रव्यात् अग्निः अन्तिकात् अनुवपते] जिनका मांसभक्षक अग्नि पाससे ही नाश करता है [अश्वः इव नडं] जैसा घोडा घासका नाश करता है ॥ ५० ॥

भावार्थ— अग्नि सब शत्रुओंको परास्त करे और उनके धन और अन्न हमारे पास लाकर रखे ॥ ४६ ॥

यह अग्नि धनदाता, सुखके पास पहुंचानेवाला और सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है । उससे मनुष्य पापसे बचता है । इससे शत्रुका नाश करना योग्य है और उसीसे घातपातके शस्त्रोंसे बचाव भी होसकता है ॥ ४७ ॥

बलवती नौका तैयार करो और उससे भयानक जलाशयके पार हो जाओ । इस नौकापर चढो, ऐसी छः नौकाओंकी सहायतासे दुर्मति शत्रुका पराभव करेंगे । (अर्थात् यज्ञरूपी नौकासे मृत्युको दूर करेंगे ॥ ४८ ॥

घर-घरमें पलंग रहता है, सब उसपर सोते हैं, उससे सुख प्राप्त करते हैं, और पुत्रोंका पालन उनपर होता है । सदा, सर्वदा ऐसे पलंगोंपर उत्तम बिछोने रखकर मनुष्य सोवें और आनंद प्राप्त करें (यज्ञरूप विश्रामदायी पलंग सब घरोंमें हो ।] ॥ ४९ ॥

जो अपने आपको देवोंसे अलग करते हैं वे पापमार्गमें प्रवृत्त होते हैं और उनका वैसा नाश होता है जैसा घोडा खेतका नाश करता है ॥ ५० ॥

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते। ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥५१॥
प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः। क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनु विद्वान् वितावति॥५२॥
अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥
इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥५४॥
प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश।
परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५॥ (१२)

अर्थ—[ये अश्रद्धा धनकाम्याः] जो श्रद्धाहीन परंतु धनलोभी हैं[क्रव्यादा सं आसते] मांसभक्षणके लिये एकत्र बैठते हैं, [ते वै अन्येषां कुम्भीं सर्वदा पर्यादधति] वे निश्चयसे दूसरोंकी हंडीपर सदा मन रखते हैं ॥ ५१ ॥

[मनसा प्र पिपतिषति इव] वे मनसे मानो गिरना चाहते हैं, [पुनः मुहुः आवर्तते] और फिर लौटना चाहते हैं, [यान् विद्वान् क्रव्यात् अग्निः अन्तिकात् अनु वितावति] जिनको जानता हुआ मांसभक्षक अग्नि पास जाकर पीछे पडता है ॥ ५२ ॥

हे [क्रव्यात्] मांसभक्षक अग्ने ! (पशूनां कृष्णा अविः ते भागधेयं) पशुओंमें काली भेड तेरा भाग्य है। तथा [सीसं चन्द्रं अपि ते आहुः] सीस और लोहभी तेरा ही कहते हैं। [पिष्टाः माषाः ते हव्यं भागधेयं] पिसे उडद तेरा हव्यभाग है। अतः तू [अरण्यान्या गह्वरं सचस्व] वनके गहरे भागमें रह ॥ ५३ ॥

हे इन्द्र ! [जरती इषीकां] अतिजीर्ण मूंजको [तिल्पिंजं दण्डनं नडं इष्ट्वा] तिलोंका पुंज, समिधा और नडकी आहुति देकर अर्थात् [तं इध्म कृत्वा] इसको इंधन बनाकर [यमस्य आग्निं निरादधौ] यमकी अग्निका आधान करें ॥ ५४ ॥

[प्रत्यञ्चं अर्कं प्रत्यर्पयित्वा] अस्त होनेवाले सूर्यको सत्कार समर्पण करके [पन्थां प्रविद्वान् हि वि आविवेश] सन्मार्गका जाननेवाला धर्मपथमें विशेष रीतिसे प्रविष्ट होता है। [अमीषां असून् परादिदेश] यह मृतोंके प्राणोंको परम गतिको भेजता है और [इमान् दीर्घेण आयुषा सं सृजामि] मैं इन जीवितोंको दीर्घ आयुसे संयुक्त करता हूं ॥ ५५ ॥

भावार्थ- जो श्रद्धाहीन और धनलोभी होते हैं,वे सदा दूसरोंके पकाये अन्नपर अपनी दृष्टी रखते हैं,वे दुर्गति पाते हैं और वे शवदाहक अग्निके भक्ष्य होते हैं, अर्थात् अल्पायु होते हैं ॥ ५१ ॥

जिनके पास सदा शवदाहक अग्नि रहता है अर्थात् जिनके घरमें वारंवार मृत्यु होता है, वे वारंवार दुःखी कष्टी और मलीन होते हैं। इनको उचित है कि वे प्रयत्न करके अपना बचाव करनेका उपाय करें ॥ ५२ ॥

पिसे उडद का हव्य बनाकर उसका हवन अग्निमें किया जावे। काली भेडका दूध या घृत इसमें हवन किया जावे। इस तरहका शवदाहक अग्नि मनुष्य स्थानसे दूर वनमें प्रदीप्त किया जावे। अर्थात् प्रेतका दहन नगरसे दूर हो ॥५३॥

इस शवदाहक अग्निमें जीर्ण इषिका, तिलकी पुञ्ज, समिधा और सरकंडेकी आहुतियां दी जावें। इस साधनसे इस समयकी अग्निका आधान किया जावे ॥ ५४ ॥

सन्मार्गको जाननेवाला मनुष्य अस्तंगत सूर्यकी अर्चना करके अपने आपको धर्ममार्गके योग्य पवित्र बना सकता है। मृतोंको परम गतिकी ओर हवनद्वारा प्रेरित करके जीवित मनुष्योंको उसी हवनसे दीर्घायु करना योग्य है ॥ ५५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त।

यक्ष्मरोगको दूर करना ।

इस द्वितीय सूक्तमें मुख्य विषय यक्ष्मरोगके दूर करनेका है। इस रोगका दूर करना परमेश्वरकी प्रार्थनासे मुख्यतः करनेका उत्तम उपदेश यहां किया है। ईश्वरप्रार्थनामें बडा भारी बल है। जो मन एकाग्र करके प्रार्थना करते हैं और अपना हृदय ईश्वरके सामने खोल देते हैं, अनन्य होकर ईश्वरको आत्मनिवेदन करते हैं, उनको ही इस बलका अनुभव हो सकता है। अतः कोई पाठक इस बलसे वंचित न रहें, इतना ही यहां कहना है।

नीचेके मार्ग ।

पहले मंत्रका कथन यह है—जैसे बाण दूर चला जाता है, वैसे मनुष्यमें जो रोग है वह नीचेके मार्गसे शीघ्र चला जावे। अर्थात् दूर चला जावे, मनुष्यके पास न रहे। नीचेके मार्गसे (अधराङ्) जानेका तात्पर्य यह है कि सब रोगबीज दूर करनेका उपाय ही नीचेके मार्ग खुले रखना है। मूत्रमार्ग, पुरीषमार्ग (पाखाना अथवा शौच होनेका मार्ग), पसीनेका मार्ग (अर्थात् संपूर्ण रोमरंध्रोंका मार्ग), नासिका मार्ग (जिसमें श्लेष्माद्वारा मल दूर होते हैं) ये सब मार्ग परमेश्वरने किये हैं। शरीररूपी मंदिरकी ये सब मोरियां हैं, जिनमेंसे मल त्यागे जाते हैं। पाठकोंको उचित है कि वे विचार करें कि ये मार्ग अपना अपना कार्य ठीक प्रकार कर रहे हैं वा नहीं। यदि कर रहे हैं तो उत्तम है, नहीं तो उनको ठीक कार्य करनेके लिये प्रवृत्त करनेका यत्न करना आवश्यक है, अन्यथा मृत्युकी भेंट हो जायगी।

पापाचार और दुष्ट विचार ।

द्वितीय मंत्रमें ' अघशंस और दुःशंस ' अर्थात् पापाचारी और दुष्टविचारी ये दोनों मृत्युके दरबारतक पहुंचानेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट सूचित किया है। अतः मनुष्योंको पापसे और दुष्टविचारसे बचना चाहिए। दुष्टविचार और पापाचार ये परस्पर साथी हैं। दुष्ट विचार पहिले आता है और पश्चात् पापका आचरण होता है। इसलिये मनुष्योंको बडी सावधानताके साथ रहना और इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य जो पतित होता है वह ' कृति और अनुकृति के द्वारा ही होता है। मनुष्य प्रथम दूसरेके दुष्ट विचार सुनता है और उन विचारोंकी अनुकृति (अनुकरण) करता है। पहिले केवल अनुकरणकी ही इच्छा होती है, परंतु अनुकरण करते करते वैसे ही विचार करने लगता है। इसी तरह पापके आचरण पहले देखता है और वैसा करनेकी चेष्टा करता है। इसमें प्रथम केवल अनुकरण इच्छा ही प्रबल रहती है। परंतु अभ्यास होनेपर वही स्वभाव बनता है। इसलिये अनुकरण करनेके विषयमें भी बडी सावधानता धारण करनी चाहिए।

सत्पुरुषोंकी, अच्छे आचारविचारकी अनुकृति और कृति करनी योग्य है, इससे मनुष्यकी उन्नति होगी। परंतु मनुष्य अच्छी बातोंका अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत मनुष्यको बुरेका ही अनुकरण करना पसंद होता है। इसलिये वेद सावधान करता है कि देखो ऐसा बुरेका अनुकरण करोगे तो मृत्युका डर है। सावधान रहो! यदि मनुष्य इस विषयमें सावध रहेगा तो मृत्युका भय दूर होगा।

कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु ।

मृत्यु, दरिद्रता और कंजूसी इनको दूर करनेकी सूचना तीसरे मंत्रमें है। कंजूसीसे दरिद्रता आती है और दारिद्र्यसे आगे मृत्युका भय होता है। ये एकदूसरेको साधक हैं। उदारता संपन्नता और अखंड जीवन यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। यही अखंड जीवन अमरपन है, जो सबको प्राप्त करना चाहिए।

यदि किसी स्थानपर व्याघ्रके समान सबका भक्षणकर्ता प्रेतदाहक अग्नि पहुंचता है अर्थात् यदि किसीके कुटुंबमें मृत्यु हो गई है, तो वहांसे उस मृत्युको हर प्रकारसे दूर करना चाहिये यह चतुर्थ मंत्रका उपदेश है। इस स्थानपर ' माषाज्य ' विधिका उल्लेख है। माषका रस लेकर उसको घीके साथ खानेसे माषाज्य बनता है। एकदिन पूर्व माष बहुत जलमें भिगो लेवे। उसमें जल पर्याप्त डालना चाहिये, तीन चार घण्टे दूसरे

दिन पकाकर उनका जल लेवे और उसमें घृत नमक आदि डालकर सेवन करे यह बलवृद्धि करनेवाला होता है । इसमें अन्यान्य पदार्थ भी डाले जा सकते हैं । यह माषाद्य पेय है । यह सेवन करनेसे दुर्बल मनुष्य भी सबल हो सकता है । इसकी संपूर्ण विधि उत्तम वैद्योंको खोजकर निकालनी चाहिये । यह एक ऐसा विषय है कि जिससे अनेक मनुष्योंको लाभ हो सकता है । यह पेय तो बडा सस्ता, मधुर और बडा पौष्टिक है । स्वामी वैद्य इसकी खोज करके निर्णय करें ।

घरमें किसी मनुष्यकी मृत्यु होनेके पश्चात् घरमें दुःखके कारण हवन बंद रहता है । परंतु प्रेताग्निका शमन करके हवनाग्निका प्रदीपन करना चाहिये, क्योंकि यही हवनाग्नि आरोग्यवर्धन करनेवाला है । यह पंचम मंत्रका उपदेश है । अर्थात् खानेमें माषाज्य मिला और हवनके लिये अग्नि प्रदीप्त रहा, तो मृत्यु दूर हो सकता है ।

षष्ठ मंत्रमें सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये हवनाग्नि घरमें स्थापित करनेका विधान है, वह प्रत्येक गृहस्थको देखने योग्य है ।

पितृयज्ञ

किसीके घरमें मृत्यु हो गयी तो उस प्रेतका दाहसंस्कार [पितृयज्ञाय दूरं हरामि] अर्थात् पितृयज्ञ करनेके लिये दूर स्थान नियत करना चाहिये । घरके या ग्रामके, मानवोंकी बस्तीके समीप प्रेतदाहसंस्कार करना नहीं चाहिये। क्योंकि इस दाहसे जो दुर्गंधयुक्त विषमय वायु बाहर आती है, वह जीवित मनुष्योंको अनेक रोग उत्पन्न करती है । इसलिये सप्तम और अष्टम मंत्रमें प्रेतदाह बस्तीसे दूर करनेका आदेश दिया है ।

जो प्रेतका दहन करता है उस अग्निका वैदिक नाम है ' क्रव्याद् ' अर्थात् मांस खानेवाला अग्नि । दूसरा अग्नि है ' जातवेदाः ' यह घरोंमें प्रदीप्त रहता है, जिसके हवनके साथ वेदार्थसंस्कार किया जाता है, वह हवनीय वस्तु सब देवताओंको पहुंचाता है और हवनकर्ताको आरोग्य देता है । सब दोष दूर करके सबको आनंद देनेवाला यह अग्नि है । जो प्रेतदाहक अग्नि है वह मृतकको यमराजके आधीन करता है और हवनाग्नि देवताओंके साथ संबंध जोड देता है । इस तरह इन दोनों अग्नियोंके कार्य हैं । पाठक इसका विचार करके अपना आरोग्य संपादनद्वारा लाभ उठा सकते हैं ।

यही बात नवम मंत्रमें कही है । प्रेतदाहक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि ऐसे दो अग्नि हैं । इनका ध्येय भिन्न है । प्रेतदाहक अग्नि प्रेतको जलाकर मृतको पितृलोकके स्थानमें पहुंचाता है और दूसरा जो गार्हपत्य अग्नि है, वह यहांके निवासियोंको आरोग्य प्रदान करता है । इसलिये प्रेतदाहक अग्निका कार्य सतत नहीं चलता रहना चाहिये । देवताग्निही मनुष्योंके घरोंमें प्रतिदिन प्रदीप्त होना चाहिये । नवम मंत्रका भी यही भाव है ।

इसी आशयको दशम मंत्रमें प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि पुनः पुनः यहां न आवे । वह पितृलोकमें प्रदीप्त होता रहे । मनुष्योंके स्थानमें तो यही जातवेद अग्नि ही प्रदीप्त होना चाहिये । जातवेद अग्निका मार्ग देवयान है और प्रेतदाहक अग्निका मार्ग पितृयान है ।

हवन अग्नि।

ग्यारहवें मंत्रमें कहा है कि शुद्ध, पवित्र और निर्मल होकर इस हवनाग्निको लोग प्रदीप्त करते हैं । इस हवनसे सब दोष दूर होते हैं और यह हवनाग्नि सब प्रकारकी पवित्रता करता है, लोगोंको आरोग्य देता है और दीर्घायु करता है । वैदिक धर्मियोंके घरका यह अग्नि एक महत्वका स्थान रखता है । इसीको केन्द्र करके वैदिक धर्मियोंके सब संस्कार होते हैं ।

बारहवें मंत्रमें कहा है कि यह हवनाग्नि [एनसः मुञ्चमानः] पापसे छुडाता है, दोषका दूर करता है, [अशस्त्याः अमोक्] अप्रशस्त अवस्थाको हटाता है और सब प्रकारकी [आरुहत्] उन्नति करता है । तेरहवें मंत्रमें कहा है कि इसी अग्निमें हम [अस्मिन् अग्नौ रिप्राणि मृज्महे] संपूर्ण दोषोंको हवन करते हैं । अर्थात् हमारे संपूर्ण दोष, इस अग्निमें हवन सामग्रीका हवन करनेसे दूर भाग जायगे । और हम (शुद्धाः पूताः) बाहरसे शुद्ध और अन्दरसे पवित्र बनेंगे जिसका परिणाम (प्र ण आयूंषि तारिषत्) हमारी आयुकी वृद्धि होगी, क्योंकि दोष रहनेसे ही शीघ्र मृत्यु होती है और पवित्रता होनेसे ही मृत्यु दूर होती है ।

चौदहवें मंत्रमें कहा है कि यही हवनाग्नि यक्ष्मबीजोंको दूरसे दूरतक ले जाता है अर्थात् हवनकर्ताके घरमें रोगबीज नहीं रहते इसलिये उनको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होती है । इस तरह घोडे, गौवें, बालबच्चे, भेडबकरियाँ आदिमें जो रोगबीज और मृत्युका भय रहता है वह सब इस हवनाग्निके द्वारा दूर किया जा सकता है । यह आशय पंदरहवें और सोलहवें मंत्रका है ।

सत्रहवें मंत्रमें भी यह विषय पुनः अन्वरीतिसे आया है। जिस अग्निमें (घृतस्तावः मधूवा) घृतको शुद्धकारक आहुतियां डाली जाती हैं, उसी हवनाग्निकी सहायतासे (रुह) उन्नति प्राप्त करना संभवनीय है। अठारहवें मंत्रमें कहा है कि जहां ऐसा हवन होता है, वही स्वर्गलोक है। मनुष्य हवनसे ही इस भूमिको स्वर्गधाम बना सकता है।

सूर्यप्रकाशका महत्त्व।

आरोग्यकी दृष्टिसे सूर्यप्रकाशका अत्यंत महत्त्व है। सूर्यप्रकाशसे ही संपूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इसालिये वेदमें (उयोक् च सूर्यं दृशे) निरंतर सूर्यदर्शन होता रहे, ऐसी प्रार्थनाएं आती हैं। सूर्यदर्शन करना ही मनुष्यको आह्लादका स्थान है। प्रत्यक्ष सूर्यदर्शन करनेसे आंखोंके रोग दूर होते हैं, युक्तिसे सूर्यदर्शनका अभ्यास बढानेसे आयनक लगानेका कारण भी नहीं रहता। संपूर्ण शरीर सूर्यातपस्नानसे अर्थात् सब शरीरको सूर्यकिरण लग जानेसे संपूर्ण शरीरका तेज बढ जाता है, आरोग्य बढता है और रक्तसंचार यथायोग्य होकर बहुतसे रोग दूर होते हैं। सूर्यप्रकाश ही आरोग्यदाता है।

शुद्धिका उपाय।

मंत्र १९ और २० वें में कुछ शुद्धिका उपाय कहा है। परंतु [शुद्धाः यज्ञियाः भवत] शुद्ध और पवित्र बनो इतने संकेतसे ये मंत्र शुद्धिके विषयमें आदेश दे रहे हैं ऐसा पता लगता है, परंतु जो शुद्धिके साधन इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे क्या हैं और उनका उपयोग कैसा करना चाहिये यह बात अनेकवार विचार करनेपर भी अबतक हमारी समझमें नहीं आयी है। इन मंत्रोंमें जो शुद्धिके साधन कहे हैं वे [सीस] सीसा, [नड] नल, [संकसुक] हवनीय अग्नि, [रामा = असिक्नी ओषधि] काली मेड [उपबर्हण] सिरोना ये हैं। इनमें हवनाग्निसे शुद्धता होनेका कुछ ज्ञान हमें है। परंतु अन्य साधनोंके विषयमें हमें इस समयतक कोई पता नहीं लगा। जो पाठक इस विषयकी खोज करते हैं वे इस आवश्यक विषय की खोज करें और प्रकाशित करें। मनुष्यके नीरोग और दीर्घजीवी होनेके लिये इन शुद्धियोंकी अवश्यकता है, अतः इस विषयका महत्त्व बहुत है। इन शब्दोंके येही अर्थ हैं अथवा दूसरे कुछ अर्थ हैं, इसकी भी खोज होनी चाहिये।

१ अवि = अवि शब्दका अर्थ ' कुलिस्थ, ' कुलथी है। यह चक्षुष्य अर्थात् नेत्रके दोष दूर करनेवाली वनस्पति है, ऐसा रत्नमाला नामक वैद्यक ग्रंथमें कहा है।

२ (नड)= नल, देवनल यह एक प्रकारका बडा घास है। इसके गुण वैद्यग्रंथमें ये दिये हैं- [रुचिकरः] मुखकी रुचि बढानेवाला, [मधुरः] मीठा, [रक्तापित्तघ्नः] रक्तदोष दूर करनेवाला, [दीपनः] क्षुधा प्रदीप्त करनेवाला, [बलदः] शक्ति देनेवाला, [वृष्यः] वीर्य बढानेवाला, [वीर्याधिकः] वीर्य अधिक करनेवाला। [देखो राजनिघण्टु व० ८]

३ सीस- सीस, सीसा, सीसक। इनके गुण [मेहनाशनं] मेह रोगका नाश करनेवाला, [नागशततुल्यबलं ददाति] सौ हाथियोंके समान शक्ति देता है, [व्याधिं नाशयति] रोग दूर करता है, [जीवितं आतनोति] दीर्घजीवी बना देता है। [वह्निं प्रदीपयति] क्षुधा प्रदीप्त करता है, [कामबलं करोति] कामका बल करता है, [मृत्युं च नाशयति] मृत्युको दूर करता है [वेदनाहरः] पीडा हरता है, [रक्तशोधकः] रक्त – स्राव बंद करता है। कुष्ठ, गुल्म, पाण्डु, प्रमेह, अग्निमांद्य, सूजन, भगन्दर आदि रोगोंको दूर करता है॥ [भाव० पू० १ भ० धा० व० देखो]

४ रामा- एक औषधी है जिसके गुण राजनिघण्टु व० ४, १०, १२ और १३ में दिये हैं।

५ असिक्नी- एक औषधि है जो नेत्रको लाभदायी है।

६ शीर्ष [शीर्षक]- अगुरुवृक्ष, जिसके जलानेसे वायुशुद्धि होती है।

इन मंत्रोंमें आये शुद्धिसाधनोंके ये वैद्यशास्त्रोक्त अर्थ हैं। इनका उपयोग कैसा करना और इनसे शुद्धि किस रीतिसे करनी चाहिये इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्य ही कर सकते हैं, यह कार्य अनभिज्ञोंका नहीं है। यह खोजका विषय है, करनेवाले खोज करें।

इक्कीसवें मंत्रमें प्रार्थना है कि इस तरह मृत्यु दूर होवे और अपने घरके बालबच्चे हृष्टपुष्ट, आनंदित और उत्साही हों, अर्थात् कोई न मरे। यह उपदेश (चक्षुष्मते शृण्वते) देखने और सुननेवालेके लिये कहा है। अर्थात् जो विचारसे देखता है और सुनकर समझता है उसीके लिये यह सब कहा है। जो देखेंगे नहीं और सुनेंगे नहीं उनके लिये कहनेसे क्या काम होगा?

नृत्य और हास्य।

बाईसवें मंत्रमें कहा है कि ये जो हमलोग यहां जीवित हैं, उनके चारों ओर [मृतैः आववृत्रन्] मृत जीव हैं, अर्थात् वे इस अंतरालमें भ्रमण करते हैं। हमारे चारों ओर आते होंगे, परंतु उनका स्थूल देह नष्ट हो जानेसे वे हमें दिखाई नहीं देते। वे तो मृत हो चुके हैं। जो जीवित हैं उनके [नृतये हसाय] नाचने और हंसनेके लिये अर्थात् उनकी आनन्दप्रसन्नताके लिये ही यत्न करना चाहिये।

मनुष्यके आरोग्यके लिये नृत्य और हास्यकी अत्यंत आवश्यकता है। हास्यसे मनकी प्रसन्नता रहती है और शरीरके पुट्ठोंमें उत्साह बढता है। नाच एक बडा उत्तम व्यायाम है और आनंदके साथ किया जाता है। आर्योंको नाच सीखना चाहिये और उससे बडा लाभ प्राप्त करना चाहिये। आजकल नाचको बुरा मानते हैं, परंतु नाच कोई बुरी चीज नहीं है, नाच करनेवालोंमें कई लोग बुरे होंगे। परंतु नाच आरोग्यवर्धक होनेसे बडा लाभकारी है।

[सुवीरासः विदथं आवदेम] हम उत्तम वीर बनें और शत्रुको दूर करनेका ही विचार करें। इस तरह जो जिस क्षेत्रका शत्रु होगा उसको दूर करना चाहिये। ऐसे सब शत्रु दूर होगये तो पूर्ण आरोग्य, उत्तम स्वास्थ्य, अतुल आनंद और पूर्ण सुख प्राप्त होगा। यही मनुष्यका साध्य है। जबतक किसी स्थानपर शत्रु रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये शत्रुके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये कि वह दूर हो और उससे हम स्वतंत्र रहें। यही [भद्रा देवहूतिः] कल्याणकारक प्रार्थना हम करते हैं। अर्थात् हरएक मनुष्यको उचित है कि वह इस कल्याणमयी प्रार्थनाको करे और अपना कल्याण प्राप्त करे।

मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा॥

तेईसवें मंत्रमें कहा है कि मनुष्योंकी [जीवेभ्यः परिधिः] आयुष्यकी मर्यादा, जीवोंकी आयुष्यमर्यादा, प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी आयुष्यमर्यादा निश्चित है। मनुष्योंकी आयुष्यमर्यादा (शतं शरदः) सौ वर्षकी है। वह निश्चित मर्यादा है अर्थात् सुनियमोंके पालनसे यह बढ सकती है और अनियमोंके अवलंबन करनेसे घट भी सकती है। यह मनुष्यके आधीन है मनुष्य चाहे योगादि साधनोंके अनुष्ठानसे अपनी आयुष्यमर्यादा बढा सकता है अथवा व्यभिचारादि द्वारा घटा भी सकता है। इस तरह दोनों बातें संभवनीय हैं, इसलिये मंत्रमें उपदेश है कि (मृत्युं अन्तर्दधतां) मृत्युको अन्तर्हित करो, अर्थात् मृत्युको अवसर न दो, वह छिपा पडा रहे, वह उठकर किसीको अपने वश न कर सके। तुम ऐसा व्यवहार करो कि जिससे वह मृत्यु दूर हो जावे।

चौबीसवें मंत्रमें कहा है कि वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायु (आरोहत आयुः) धारण करो। अर्थात् अल्प आयुमें न मरो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करते हुए मृत्युको दूर करो। [यतमानाः यति स्थ] दीर्घायु प्राप्तिका यत्न करते हुए अपने सुनियमोंमें रहो। उन धर्मनियमोंका उल्लंघन न करो। ऐसा करोगे तो तुमको [जीवनाय सर्वं आयुः नयतु] दीर्घजीवनके लिये पूर्ण आयुतक जानेकी संभावना होगी।

यहां दीर्घजीवन कैसा प्राप्त होता है इसकी कुंजी है। पहिला नियम ' सुजनिमा ' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है। सुजनिमा [सुजनिकम] का यथायोग्य पालन होना चाहिये। जननशास्त्रके नियम जानकर और उनका यथायोग्य पालन करके सतान उत्पन्न करनी चाहिये। मातापिता वैषयिक अत्याचारसे अपने आपको बचावें। सुसंतान निर्माणद्वारा राष्ट्रका यश वृद्धिगत करना अपना कर्तव्य है, यही मनमें धारण करें और सुप्रजा-जनन करें। दूसरा नियम 'सजोषाः' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है। प्रीतिके साथ, उत्साहके साथ, एक जीवनके भावके साथ सौहृदका संबंध होना चाहिये। इसी तरह राष्ट्रमें सबका प्रेमसे संबंध हो, सबका जीवन एक हो और सब लोग उत्साहके साथ अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार करते रहें। यह परस्पर व्यवहारका उपदेश है। तीसरा नियम ' त्वष्टा ' शब्दद्वारा बताया है। त्वष्टाका अर्थ है कारीगर, कुशल कर्म करनेवाला, कर्ममें कुशल। मनुष्य जो दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहता है, वह किसी कारीगरीमें निपुण होवे। क्योंकि कारीगरीसे मनकी तल्लीनता प्राप्त होती है और इसी कारण जागतिक दुःखोंसे मुक्तता होती है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिये, इसका निर्देश इन तीन

इन श्लोकोंद्वारा इस मंत्रमें कहा दिया है । पाठक इसका उत्तम मनन करें और योग्य बोध प्राप्त करके उसको अपने आचरणमें लानेका यत्न करें ।

पच्चीसवें मंत्रमें यथाक्रम मनुष्यको मृत्यु प्राप्त होवे ऐसा कहा है, अर्थात् वृद्ध मनुष्य पहिले मरें, उनके पीछे आयुके क्रमसे मनुष्य मरें । वृद्धके पूर्व तरुण अथवा बालक न मरें । सब लोगोंका यथायोग्य जनन, पालन और पोषण होता रहेगा तो अकालमृत्यु दूर होगा और यथाक्रम मृत्यु होगी ।

नदीका प्रचंड वेग ।

आगेके [२६ और २७ इन] दो मंत्रोंमें संसाररूपी प्रचंड वेगवाली महानदीका उत्तम काव्यमय वर्णन है । ये मंत्र सबको ध्यानमें धारण करने चाहिये । इस प्रचंड वेगवती नदीसे ही हम सबको पार होना है । यह [अश्मन्वती] पत्थरोंवाली भयानक नदी है । इसमें स्थानस्थानपर पत्थर हैं, अतः मार्ग अच्छी प्रकार नहीं मिलता । चलने लगे तो पत्थरोंपर टक्कर लगती है, गढेमें पडनेकी संभावना है । यह नदी [स्यंदते, रीयते] बड़े प्रचंड वेगसे चल रही है, इस वेगके कारण पार होनेवालेका किसी स्थानपर पांव नहीं ठहरता । यहां बड़ा भय है । इससे पार हुए विना कार्य नहीं चलेगा । पार तो होना ही चाहिये । अतः हरएकको पार होनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये ।

कैसे पार हो सकते हैं ? क्या अकेला अकेला मनुष्य इस नदीसे पार हो सकता है ? कभी नहीं । इस नदीसे पार होनेके लिये कहा है कि (उत्तिष्ठत, संभध्वं) उठो, भाई ! अपनी अपनी चीजोंको संभालो, अपने जीवनको संभालो । असावधानतासे ही सर्वस्वनाश होगा, ध्यान रखो । समय बड़ा ही कठीन है, सबको बडी सावधानी धारण करके तैयार होना चाहिए । (वीरयध्वं, प्रतरत) भाई ! वीरता धारण करो, डरनेसे कोई प्रयोजन नहीं होगा । भाईजी ! डरोगे तो भी मरना है और न डरोगे तो भी मरोगे, परंतु संभलकर मिलकर युक्तिसे उपाय करोगे तोही पार हो सकते हो । यहां रहकर रोतेपीटते जाओगे तो कोई लाभ नहीं होगा । रोना पीटना छोड दो, (प्रतरत) तैरनेका यत्न करो, मिलकर तैरनेका यत्न बडी सावधानीसे करो, तभी कुछ बन सकता है । नहीं तो कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

परंतु आपके पास व्यर्थकी चीजोंका भार बहुत ही है । यह सबभार अपने पास रखोगे तो निश्चयसे बीचमें ही डूब मरोगे । ये व्यर्थकी चीजें आपने अपने पास क्यों रखी हैं ? (अत्र जहीत ये असन् दुरेवा अशिवाः) भाईजी ! इनमेंसे जो चीजें अनावश्यक हैं, व्यर्थ हैं, जिनका कोई उपयोग नहीं है, उनको यहीं फेंक दीजिये । इतना भार नदीके बीचमें संभाला नहीं जायगा । अतः ये अनावश्यक पदार्थ आप यहीं छोड दीजिये । जो पदार्थ ऐसे हैं कि जो फेंक दिये तो भी कुछ पर्वाह नहीं है उनको यहीं फेंक दो । इससे अपने पासका बोझा कम होगा और हम आनंदसे पार हो सकेंगे । अतः अनावश्यक पदार्थोंका लोभ छोड दो ।

यदि हम [उत्तरेम] नदी पार हो जायगे तो उस परले तीरपर बड़ा क्षेत्र है, वहां जो जो आवश्यक वस्तुएं होंगी, ले लेंगे । उसकी चिन्ता यहां करनेकी क्या आवश्यकता है ? वहां उतरने पर (अनमीवान् शिवान् स्योनान् वाजान् अभि) नीरोग, शुभ, सुखदायी भोग अवश्य प्राप्त करेंगे । परंतु इन अनावश्यक पदार्थोंका भार सिरपर रखोगे तो परले तीरपर पहुंचना असंभवनीय है ।

यहां काव्यमयी भाषासे बड़ा मनोहर उपदेश दिया है । जो इसका मनन करेंगे वे बहुत बोध प्राप्त कर सकेंगे । हरएक स्थानपर संकटका समय दूर करनेके लिये यही उपदेश अत्यंत उपयोगी है । पाठक इसका मनन करें और आवश्यक बोध प्राप्त करें और उसको अपने जीवनमें परिवर्तित कर दें ।

सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु ।

अठ्ठाईसवें मंत्रमें [शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम] सौ वर्षोंतक सब बालबच्चोंके समेत हम आनंदसे रहेंगे, ऐसा कहा है । कैसे सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कर सकेंगे ? अपमृत्युको किस तरह दूर कर सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापके स्थानोंका अतिक्रमण करनेसे यह सब हो सकेगा । पापके स्थान अनेक हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकेगी । परंतु जो पापका स्थान होगा, वहां जाना नहीं, उस कर्ममें भाग नहीं लेना और पापमार्गपर पांव नहीं रखना यही एक उपाय है कि जिससे निश्चयसे दीर्घायु प्राप्त हो सकेगी ।

पापके मार्गसे न जानेसे ही [शुद्धाः शुचयः पावकाः] शुद्ध, पुनीत और पवित्र होना संभव है। और शुद्ध और पवित्र होनेसेही दीर्घायु होना संभव है। इसकी साधनाके लिये [वचेसे वैश्वदेवीं आरभध्वं] सब देवताओं की अपने अन्दर धारणा करनी चाहिये, प्रार्थना करनी चाहिये। सब देवताएं तो अपने शरीरमें हैं ही, उनको जानकर उनका यथायोग्य स्वागत करना चाहिये। सब देवताओंका निवास वेद-मंत्रोंमें भी है, उस दैवी वाणीका धारण करनेसे मनुष्य पवित्र और शुद्ध हो सकता है।

यदि उन्नतिकी साधना करनेकी इच्छा है तो २९ वें मंत्रमें कहा है उसके अनुसार [अवरान् अतिक्रामन्तः] नीच मार्गोंका अतिक्रमण करना चाहिये। कभी नीचमार्गसे एक भी कदम आगे बढाना नहीं चाहिये। यही बडा दुर्निवार लगता है, क्योंकि नीच मार्गमे गिरना बडा आसान है। ऊंचे मार्गपर चढना ही प्रयाससे साध्य होनेवाली बात है। [उदीचीनैः पथिभिः] उच्च स्थानके मार्गोंसे जाना चाहिये, तभी उन्नति होगी। [ऋषयः परेताः] इसी तरह अपनी उन्नति करते हुए ऋषिलोग उच्च धामको पहुंच चुके हैं। उन्होंने बडे बडे यत्न करके तीन तीन बार और सात सात बार तप [त्रिः सप्तकृत्वः] करके अपनी उन्नतिका साधन किया। इसी साधनासे (मृत्युं प्रत्यौहन्) वे मृत्युको दूर करनेमें समर्थ हुए। यही मार्ग दीर्घजीवन प्राप्त करनेका है। अतः पाठक अपने आपको इसी मार्गसे ले जांय और निश्चय पूर्वक उन्नतिको प्राप्त करें।

(मृत्योः पदं योपयन्तः) अपने सिरपर जो मृत्युका पांव है, उसको अपने प्रयत्नसे दूर करो। तुम प्रयत्न करोगे तो वह पांव दूर हो सकता है। तुमने प्रयत्न न किया तो उस पांवके नीचे तुम्हारा सिर दब जायगा। अतः अपमृत्यु दूर करनेके लिये तुम्हें प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिये। (द्राघीयं आयुः प्रतरं दधानाः) यह सौ वर्षकी पूर्ण आयु अधिक दीर्घ बनाकर धारण करो। पहिले तुम्हारी सौ वर्षकी आयु है, यह तो स्वाभाविक मर्यादा है। इस मूल धनकी वृद्धि करना तुम्हारे आधीन है, तुम्हारे प्रयत्नसे ही इस आयुरूपी धनकी वृद्धि हो सकती है। (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि योगसाधन तत्परताके साथ करते हुए तुम सब अपमृत्युको दूर करो। यम नियम आसन प्राणायाम आदि योग साधन करनेसे शरीरस्वास्थ्य उत्तम प्राप्त होता है, ध्यान धारणा-से उत्तम मानसिक स्वास्थ्य मिलता है, इस तरह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। मनुष्य इस तरह जिवित रहें तो ही वे (विदथं आवेदम) ज्ञानके बढानेका विचार कर सकते हैं।

आगे ३१ वें मंत्रमे कहा है कि " स्त्रियां विधवा न हों " अर्थात् उनके पति अल्प आयुमें न मरें। स्त्रियां सौभाग्यसे युक्त हों और (अञ्जनेन) आंखमें कज्जल- अंजन लगाकर, तेल आदि सिरमें मलकर आभूषण धारण करके सुंदर रहें। ये घरके भूषण हैं। ये देवियां हैं, अतः इनकी पूजा घरघरमें होती रहें। स्त्रियां किसीभी घरमे न (अन्- अश्रव) रोती रहें वे आनंदप्रसन्न रहें तथा वे (अन्-अमीवाः) नीरोग रहें और (सुरत्नाः) उत्तम रत्नोंके आभूषण धारण करके अपना सौंदर्य बढाती रहें। अर्थात् घरमें स्त्रियोंको उदास नहीं रहना चाहिए। ऐसी स्त्रियाँ पतिके साथ आनन्दप्रसन्नतापूर्वक गृहस्थधर्म पालन करें।

घरमें रहनेवाले सभी लोग हवन करते रहें। प्रतिदिन आनंदप्रसन्न होकर हवन करें। इस हवनसे पितरोंको स्वधा-शक्ति मिलेगी और जीवित मनुष्योंको दीर्घायु प्राप्त होगी। (मंत्र ३२)

३३ वें मंत्रमें इतना ही कहा है कि हवनाग्निके साथ कोई द्वेषभाव अथवा विरुद्ध भाव न रखे। सब लोग आदरके साथ हवन करें। ३४ से ३६ तकके तीन मंत्रोंमें कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि सतत जलता न रहे, इसके लिये यत्न करना चाहिये। अर्थात् मनुष्योंको अपनी दीर्घायुके लिये यत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह(पितृभ्यः)पितरोंके लिये अपने(ब्रह्मभ्यः) ज्ञानी विद्वानोंके लिये और(आत्मने)अपने लिये जो हितकारक होगा,वही करे। इनका अहित कभी न करे।

आगेके ३ मंत्रोंमें भी वही क्रव्याद अग्निकीही बात कही है। जिसके घरमें मृत्यु होती है, वे घर (अ-यज्ञियाः) अपवित्र होते हैं, (हतवर्चाः) निस्तेज होते हैं कोभारहित होते हैं। कृषि, गौ और धनसे हीन होते हैं। [प्राह्माः पुराः] वे घर पीडासे दुःख होते हैं। सब लोग क्लेशसे युक्त होते हैं। वहां कोई भी मनुष्य आनन्दप्रसन्न नहीं रहता है जहां पुरुषकी मृत्यु होती है, वहां स्त्री विधवा होती है और वह घर दुःखदायक नहीं रहता है। इसीलिये। हरएकको

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। ३१ वें मंत्रका विचार इन मंत्रोंके साथ करनेसे प्रतीत होता है कि विधवा स्त्रियां न अञ्जन आंखोंमें लगाती हैं, न माथेपर तेल मलती हैं, न अच्छे कपडे पहनती हैं, न जेवर पहनती हैं, वे तो सदा रोती रहती हैं, आंसू बहाती हैं और दुःखके कारण कृश होती हैं और रोगी भी होती हैं।

आगे ४० वें मंत्रमें कहा है कि जो (रिप्रं) पाप और [शमलं] दोष मनुष्य करता है, जो [दुष्कृतं] कुकर्म मनुष्य करता है, उसकी शुद्धि जलसे होगी। जलप्रयोग शुद्धता करनेवाला है। सब रोगबीज जलके प्रयोगसे दूर होते हैं, शरीर निर्मल होनेसे दीर्घजीवी होता है। ४१ वें मंत्रमें पर्वतशिखरपर (पर्वतस्य अधिवृषभे) वास करनेसे बडा लाभ होता है ऐसा कहा है। पर्वतके शिखरपर वायु शुद्ध होती है और इसके सेवनसे मनुष्य नीरोग हो जाता है। यह अनुभवकी बात है। यहां 'पर्वत' को 'वृषभ' कहा है, यहां वृषभका अर्थ बल बढानेवाला है। पर्वतशिखरपर शुद्ध वायु बल बढानेवाला ही होता है। वायु ही प्राणका रूप धारण करके मनुष्योंमें जीवनशक्ति बढाता है। यहां पर्वतसे (नवाः सरितः) नूतन झरने चलते हैं, उनका जलभी आरोग्यवर्धक होता है। व्यायाम, शुद्ध वायु, उत्तम जल और परिशुद्ध वायुमंडल इतनी बातें पर्वत शिखरपर होती हैं, इसलिए पर्वतशिखर दीर्घायु देनेवाला होता है। पाठक अपने देशमें देखें कि ऐसे उत्तम आरोग्यसंपन्न पर्वतशिखर कौनसे हैं। वहां जांय और वहांकी शुभ वायुसे अधिकसे अधिक लाभ उठावें।

मंत्र ४२ और ४३ में क्रव्याद् अग्निको रखनेका ही विधान है। क्रव्याद् अग्निको दूर करनेका ही अर्थ मृत्युको दूर करना है। आगेके तीन मंत्रोंमें मुख्यतया यह कहा है कि गृहस्थी लोग घर घरमें अग्नि प्रदीप्त करके हवन करें। इस हवनसे मनुष्योंको दीर्घ आयु प्राप्त हो। जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें और जो जीवित हैं उनको कल्याण, धन और यश प्राप्त हो और वे दीर्घजीवी बनें। सब शत्रु दूर हो जांय और जनताको सुख और शान्ति मिले।

आगेके ४७ से ४९ तकके मंत्रोंमें कहा है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें हवनाग्नि प्रदीप्त करें। वह अग्नि उनको शुभ अवस्थाको प्राप्त करा देगा। गृहस्थी लोग यज्ञरूप नौकाके द्वारा अपने दुःख दूर करें, सूर्यप्रकाशसे लाभ उठावें, अपने रोग और व्याधी दूर करें और नीरोगता प्राप्त करके आनन्दके साथ दीर्घायुका आनंद भोगें।

जो लोग पापमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपमृत्युके दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे पाप न करें और सदा पुण्यमार्गमें ही दत्तचित्त रहें। यह आशय ५० वें मंत्रका है। एकावनवें मंत्रमें कहा है कि जो श्रद्धाहीन, धनलोभी, मांसभक्षी लोग हैं और जो दूसरोंके सिरपर चढकर उनको खाते हैं, या लूटते या उनको दुःख देते हैं, वे सदा पापभागी होते हैं। उनके पाप अनगिनत होते हैं और इस कारण उनके दुःख भी बहुत ही होते हैं। अतः मनुष्य पापसे बचे रहें जिससे वे सुखी हो सकते हैं। बावनवें मंत्रमें ऐसा कहा है कि जो बारंवार पाप मार्गसे ही चलते हैं, उनको दुःख भोगना ही पडता है। अतः दुःख और मृत्युसे बचनेका एक मात्र उपाय यह है कि वे पापसे बचे रहें। पापसे बचनेसे ही केवल दुःखसे और अपमृत्युसे बचना संभव है।

आगे त्रेपनवें मंत्रमें कहा है कि [कृष्णा अविः] काली भेड अथवा कुलथी [सीसं] सीसा, [चन्द्रं] लोहा, [माषा पिष्टाः] पिसे उडद यह सब भैषज्य साधन हैं। वैद्य लोग इन शब्दोंका विचार करें और इनसे किसतरह आरोग्य प्राप्त हो सकता है, इसकी विधि निश्चित करें। यह मंत्र बडा महत्त्वका है और खोज करने योग्य है। आगे ५४ वें मंत्रमें भी [इषीकां] इषिका, मूंज, [तिलपिंजं] तिलके डंठल नड, आदि शब्दों द्वारा कुछ महत्त्वका प्रयोग कहा है। यह भी अन्वेषणीय है। इसका विचार सुविज्ञ वैद्य करें। यह यज्ञशास्त्रका विषय है और आरोग्यके साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। अतः इसकी पद्धति सुविज्ञ वैद्योंद्वारा निश्चित होनी उचितहै।

आगे ५५ वें मंत्रमें कहा है कि सूर्यदर्शन आदरपूर्वक मनुष्य करें। यह तो आरोग्यका एक साधन अपूर्वताके साथ मनुष्यके पास आया। मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और लाभ उठावे। जो मनुष्य मर चुके हैं वे तो पितृलोकके मार्गके पथिक बन चुके हैं। परंतु जो जीवित हैं उनको यहां रहकर ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे उनको दीर्घ आयु प्राप्त होवे।

इस तरह इस सूक्तमें केवल प्रार्थनाएं ही हैं, परंतु उनमें भी बडा बोधप्रद उपदेश दिया है। जो लोग इसका मनन करेंगे और आवश्यक बातें अपने आचरणमें लावेंगे, वे बहुत लाभ प्राप्त करते हुए इहपरलोकमें सुखके भागी हो सकते हैं।

स्वर्ग और ओदन।

(१)

(ऋषिः—यमः । देवता-स्वर्गः, ओदनः, अग्निः)

पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते ।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥१॥
तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि ।
अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥२॥
समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु ।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद् रेतो अधि वां संबभूव ॥३॥

अर्थ—(पुंसः पुमान्) मनुष्योंमें बलवान् पुरुष तू (अधितिष्ठ) अन्योंका अधिष्ठाता बनकर विराज । (चर्म इहि) आसनपर बैठ । (तत्र ते यतमा प्रिया ह्वयस्व) वहां जो तेरे विशेष प्रिय हैं उनको बुला । (अग्रे यावन्तौ प्रथमं सं ईयथुः) पहिले जो सबसे प्रथम मिल गये थे (तत् वां वयः) वह आपका सामर्थ्य (यमराज्ये समानं) यमराज्यमें समान है ॥ १ ॥

(तावत् वां चक्षुः) वैसी बलवान् आपकी दृष्टि है, (तति वीर्याणि) वैसे आपके पराक्रम हैं । (तावत् तेजः) वैसा आपका तेज है, (ततिधा वाजिनानि) और वैसे आपके बल हैं । (यदा अग्निः एधः शरीरं सचते) जब अग्नि समिधाके समान इस शरीरको प्रदीप्त करता है (अधा) तब हे (मिथुना) पतिपत्नी (पक्वात् संभवाथः) परिपक्व होनेके पश्चात् तुम उत्पन्न होते हो ॥ २ ॥

(अस्मिन् लोके सं एतं) इस लोकमें मिलकर रहो । (देवयाने उ सं एतं) देवमार्गमें मिलकर चलो । (यमराज्येषु सं समेतं) नियन्ताके राज्यमें भी मिलकर आओ । (यत् यत् वां रेतः) जो जो तुम दोनोंका वीर्य पराक्रम आदि (सं बभूव) मिलकर होनेवाला है, (तत्) वह (पूतौ) स्वयं पवित्र होते हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) प्राप्त करो, अपने पास बुलाओ ॥ ३ ॥

भावार्थ— मनुष्योंमें जो सबसे अधिक बलवान् होगा, वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है । वैसा मनुष्य अधिष्ठाता बने । वह मुख्य आसनपर बैठे । वहां अपने हितकारी अनुयायियोंको बुलावे, सबको एकत्र मिलावे । यह मिलाप ही शक्ति उत्पन्न करता है । और इसीसे राज्यका नियंत्रण होता है । राष्ट्रमें यह शक्ति समान रीतिसे बांटी जावे, अर्थात् किसी एकमें वह अत्यधिक रीतिसे केंद्रित न होवे ॥ १ ॥

ऐसा होनेसे ही उसकी दूरदृष्टि होगी, उससे पराक्रम होगा, उसका तेज फैलेगा और बल बढेगा । जैसा अग्नि लक-ड़ियोंका तेज बढाता है, वैसा यह सांघिक बल मनुष्योंका तेज बढाता है, इसीसे सब प्रकारकी शक्तियोंकी परिपक्वता होती है और इसीसे वृद्धि भी हो सकती है ॥ २ ॥

दोनों मिलकर रहें, आपसमें कभी विरोध न रखें । इस लोकमें करनेके कार्यमें, देवमार्गके प्रवासमें और यमराज्यमें भी मिलकर रहनेसे लाभ होंगे । आपसकी फूट होनेसे ही दुःख होगा । जो कुछ वीर्य पराक्रम करना हो, वह सब स्वयं पवित्र होकर अपना संगठन करके करो ॥ ३ ॥

आपः पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥४॥
यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः ।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा ॥५॥
उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः ।
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥६॥
प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥७॥

अर्थ- हे (पुत्रासः) पुत्रो ! (आपः अभिसंविशध्वं) जलोंमें घुसो। हे (जीवधन्याः) जीवको धन्य करनेवालो ! (इमं जीवं समेत्य) इस जीवदशाको प्राप्त होकर (तासां अमृतं भजध्वं) उन जीवदशाओंसे अमृतको प्राप्त करो। (यं ओदनं वां जनित्री पचति) जिस अमृतान्नको आपकी जननी-प्रकृति—पका रही है इसका सब (आहुः) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(वां पिता माता च) आपके माता और पिता (रिप्रात् शमलात् च वाचः निर्मुक्त्यै) पापयुक्त और मलिनता युक्त वाणीसे मुक्त होनेके लिये (यं पचतः) जिसको परिपक्व कर रहे हैं, (सः शतधारः स्वर्गः ओदनः) वह सैकडों प्रवाहोंसे सुख देनेवाला स्वर्गदायक अन्न (महित्वा उभे नभसी व्याप) अपनी महिमासे दोनों लोकोंको व्यापता है ॥ ५ ॥

(ये यज्वनां अभिजिताः स्वर्गाः) जो याजकोंको प्राप्त होनेवाले स्वर्गलोक हैं, उन (उभे नभसी, उभयान् च लोकान्) उन दोनों लोकोंको प्राप्त होओ। (तेषां यः मधुमान् ज्योतिष्मान्) उनमें जो मीठा और तेजस्वी स्वर्ग है, वह प्राप्त करो। (तस्मिन् अग्रे) उनमें मुख्य स्थानपर (पुत्रैः जरसि संश्रयेथाम्) पुत्रोंके साथ वृद्ध अवस्थामें आश्रय करो ॥ ६ ॥

(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं आरभेथां) पूर्व दिशाकी ओर आगे बढो, (एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते) इस लोकको श्रद्धावान् लोग प्राप्त करते हैं। (यत् वां पक्वं अग्नौ परिविष्टं) जो तुम्हारा परिपक्व होकर अग्निमें हवन किया गया है, हे (दंपती) स्त्रीपुरुषो ! (तस्य गुप्तये संश्रयेथाम्) उसकी रक्षाके लिये गृहस्थाश्रमका आश्रय करो ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे अपने आत्माको धन्य करनेवाले साधको ! तुम अपने जीवनमें शुद्ध रहो, कभी अशुद्ध न बनो। इस जीवनको प्राप्त करके अमर बनो, तुम्हारे लिये अमृत प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी प्रकृतिमाता इस अपूर्व अमृतान्नको तैयार कर रही है ॥ ४ ॥

पापप्रवृत्ति और मलिन वाणीके दोषोंसे मुक्त होना चाहिये। यही माता पिता और पुत्रोंको भी करना चाहिये ! सब लोग वाणीको शुद्ध करें। इसीसे सौगुना स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, जो इह-पर लोकमें मिलनेवाला है ॥ ५ ॥

यज्ञकर्ताओंको जो शुभलोक प्राप्त होते हैं उनमें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ स्थान है, जो अधिक सुखदायी और अधिक तेजस्वी है, उसको प्राप्त करके वृद्ध अवस्थामें पुत्रोंके समेत वहां आनंदसे रहो ॥ ६ ॥

श्रद्धासे प्रकाशकी दिशासे आगे बढो, श्रद्धासे ही उन्नति प्राप्त होती है। जो कुछ परिपक्व फल हुआ है उसकी रक्षा करनेका यत्न मिलकर करो ॥ ७ ॥

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥
प्रतीची दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥१०॥(१३)
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥११॥

अर्थ- (दक्षिणां दिशं अभिनक्षमाणौ) दक्षिण दिशाकी ओर अपना कदम बढाते हुए (एतत् पात्रं अभिपर्यावर्तेथां) इस पात्रके चारोंओर भ्रमण करो। (तस्मिन् वां) उसमें तुमको (पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ रहनेवाला यम (पक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) परिपक्व होनेके लिये बहुत सुख प्रदान करे ॥ ८ ॥

इयं प्रतीची) यह पश्चिमदिशा है, (इत् दिशां वरं) यह दिशाओंमें श्रेष्ठ दिशा है। (यस्यां सोमः अधिपा मृडिता च) जिस दिशामें सोम अधिराजे और सुखदाता है, (तस्यां श्रयेथां) उसमें आश्रय करो और (सुकृतं सचेथां) सुकृतको प्राप्त होवो। (हे मिथुनौ अधा पक्वात् सं भवाथः) हे स्त्रीपुरुषो ! पश्चात् परिपक्व होनेपर मिलकर उन्नतिको प्राप्त होवो ॥ ९ ॥

(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्) श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है। (उदीची दिशां नः अग्रं कृणवत्) यह उत्तर दिशा हमको आगे बढावे। (पुरुषः पाङ्क्तं छन्दः बभूव) मनुष्य पंचविध छन्दवाला होता है। हम सब (विश्वैः विश्वांगैः सह सं भवेम) सर्व अंगोंके साथ परिपूर्ण उन्नत होंगे ॥ १० ॥

(इयं ध्रुवा विराट्) यह ध्रुव दिशा बडी शोभादायक है। (अस्यै नमः अस्तु) इसके लिये नमस्कार हो। (पुत्रेभ्यः उत मह्यं शिवा अस्तु) यह पुत्रोंके लिये और मेरे लिये शुभ हो। हे (विश्ववार अदिते देवि) विश्वका हित करनेवाली अन्न देनेवाली देवी ! (सा नः इर्यं इव) वह तू हमें अन्नके समान (गोपा पक्वं अभिरक्ष) सुरक्षित करती हुई परिपक्व करके सुरक्षित कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— गृहस्थाश्रममें दक्षताकी दिशासे आगे बढते हुए अपनी पात्रताके केन्द्रके साथ रहो। वहां तुम्हारी परिपक्वता होनेके लिये नियामक देव तुम्हारी सहायता करेगा। वही तुम्हें सुख देता हुआ आगे ले जायगा ॥ ८ ॥

पश्चिमदिशा विश्रामकी दिशा है, यहां सोमदेव सुख देता है। इसमें-गृहस्थाश्रममें-विश्राम करके अच्छे कर्म करो और अपने आपको परिपक्व करते हुए उन्नत हो जाओ॥ ९ ॥

प्रजाकी उन्नतिसे राष्ट्र अधिक ऊंचा होता है। अधिक ऊंचा होना ही उत्तर [उन्नतर] दिशाका संदेश है। मनुष्योंके पांच भेद हैं और उनकी सर्वांगीण उन्नति संगठनसे ही हो सकती है ॥ १० ॥

यह ध्रुवदिशा है, यह अन्न देनेवाली पृथ्वी है, इस मातृभूमिके लिये मेरा नमस्कार है। यह मुझे और मेरी संतानोंके लिये शुभ होवे। यह हमारी उत्तम रक्षा करे ॥ ११ ॥

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
यमोदनं पचतो देवते इह तं नस्तप उत सत्यं च वेत्तु ॥१२॥
यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद ।
यद्वा दास्या र्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥१३॥
अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः ।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम् ॥१४॥
वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः ।
स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

अर्थ-(पिता इव पुत्रान् नः अभि सं सजस्व) जैसे पिता पुत्रोंको वैसे तुम हम सबको मिलो । (इह भूमौ नः वाताः शिवाः वान्तु) इस भूमिमें हमारे लिये शुभ वायु बहते रहें । हे देवते ! (इह यं ओदनं पचतः) यहां जिस अन्नको ये दो पकाते हैं (तं नः तपः सत्यं च वेत्तु) वह हमारे तप और सत्यको जाने ॥ १२ ॥

(यत् यत् कृष्णः शकुनः इह आगत्वा) यदि काला पक्षी-कौवा-यहां आकर (त्सरत् विसक्तं बिले आससाद) हिलता हुआ छिपछिपकर अपने बिलमें-घरमें-घुसकर बैठ जाय, (यत् वा आर्द्रहस्ता दासी) अथवा यदि गीले हाथों-वाली दासी (उलूखलं मुसलं समंक्त) ऊखल और मूसलको गीला करे, (आपः शुम्भत) वह जल हमें पवित्र करे ॥ १३ ॥

(अयं ग्रावा पृथुबुध्नः वयोधाः) यह पत्थर विशाल आधारवाला अन्न देता है- अन्न कूटकर तैयार कर देता है (पवित्रैः पूतः रक्षः अप हन्तु) पवित्रता करनेवाले साधनोंसे पुनीत होता हुआ वह दुष्टोंका नाश करे। (आरोह चर्म) चर्मपर बैठ, (महि शर्म यच्छ) बडा सुख दे। (दम्पती पौत्रं अघं मा निगातां) स्त्रीपुरुषोंपर पुत्रका पाप न आवे ॥ १४ ॥

(वनस्पतिः देवैः सह नः आगन्) वृक्ष सब देवशक्तियोंके साथ यहां हमारे पास आगया है। (रक्षयः पिशाचान् अप बाधमानः) वह राक्षसों और पिशाचोंको दूर करता है। (स उच्छ्रयातै वाचं प्रवदाति) वह ऊंचा उठता है और घोषणा करता है, कि (तेन सर्वान् लोकान् अभिजयेम) उससे सब लोकोंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

भावार्थ— पिता पुत्रोंको प्यार करता है वैसा प्यार सब परस्पर करें। हमें जलवायु हितकारी हों । यज्ञके लिये अन्नका परिपाक करनेवाले तप और सत्यका महत्त्व जानें ॥ १२ ॥

यदि कौवा आकर एकदम अपने घोसलेमें घुसे अथवा गीले हाथसे दासी ऊखलमूसलको गीला करे, तो वह दोनों योग्य नहीं हैं, अर्थात् गीले हाथसे कोई इनको स्पर्श न करे ॥ १३ ॥

पत्थरोंका ऊखल और मूसल धान स्वच्छ करनेके लिये अच्छा है। पहिले पानी आदिसे स्वच्छ करो और उपयोग करो किसी चर्म आदिपर रखो और कूटो। कूटनेसे सब दोष दूर होंगे और वह धान हितकारी होगा। इससे स्त्रीपुरुषोंको पुत्रके नाशका दुःख सहना न पडे, अर्थात् पुत्र शीघ्र नहीं मरेंगे ॥ १४ ॥

वनस्पति सब रोगबीजरूपी राक्षसों और पिशाचोंको दूर करती है, उसकी घोषणा है कि उसके बलसे सब सुख प्राप्त होंगे ॥ १५ ॥

सप्त मेधान् पशवः पर्यगृह्णन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श ।
त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम् ॥१६॥
स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥१७॥
ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् ॥१८॥
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥१९॥

अर्थ-(पशवः सप्त मेधान परि अगृह्णन्) पशु सातों यज्ञोंको घेरते है। (त्रयः त्रिंशत् देवताः तान् सचन्ते) तैंतीस देवताएं उनका सेवन करते हैं। (यः एषां ज्योतिष्मान् उत यः चकर्श) जो इनमें तेजस्वी और जो इनमें सूक्ष्म होता है (सः नः स्वर्गं लोकं अभिनेष) वह सोम हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे ॥ १६ ॥

(नः स्वर्गं लोकं अभिनयसि) हमें तू स्वर्गलोकमें पहुंचाता है, (जायया पुत्रैः सह स्याम) स्त्री और पुत्रोंके साथ हम यहां सुखसे रहें। (हस्तं गृण्णामि) जिसका मैं पाणिग्रहण करूं वह स्त्री (मा अत्र अनु एतु) मेरा यहां अनुसरण करे। (निर्ऋतिः अरातिः नः मा तारीत्) दुर्गति और शत्रु हमें कष्ट न देवें ॥ १७ ॥

(तां पाप्मानं ग्राहिं) उस पापसे उत्पन्न होनेवाले रोगको (अति अयाम) पार करेंगे। (तमः व्यस्य वल्गु प्रवदासि) अंधेरेको दूर करके मनोहर वचन बोलेंगे। हे (वानस्पत्य) वनस्पतिसे बने हुए ! तू (उद्यतः मा जिहिंसीः) उठकर मत हिंसा कर। (मा तंडुलं) चावलका नाश न कर। (देवयन्तं मा वि शारीः) देव बननेकी इच्छा करनेवालेका नाश न कर ॥ १८ ॥

(विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) चारों ओर फैला हुआ घी जिसपर डाला है ऐसा होता हुआ योनिः एतं लोकं उपयाहि) एक स्थानमें उत्पन्न हुआ तू इस लोकको प्राप्त हो। (वर्षवृद्धं शूर्पं उपयच्छ) एक वर्षका सूप पास ले और (तत् तुषं पलावान् विनक्तु) वह तुष और तिनकोंको दूर करे ॥१९॥

भावार्थ-सातों यज्ञोंमें गौ आदि पशुओंके घृत आदि पदार्थोंका उपयोग होता है। तैंतीस देवताओंका इनयज्ञोंमें संबंध आता है। शुक्लपक्षमें तेजस्वी होनेवाला और कृष्णपक्षमें क्षीण होनेवाला सोम अर्थात् यज्ञ हमें स्वर्गलोकमें पहुंचावेगा ॥ १६ ॥

मृत्युके पीछे हम स्वर्गको प्राप्त होंगे, तबतक यहां स्त्री और पुत्रोंके साथ आनंदसे रहेंगे। मैं जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करूंगा वह स्त्री मेरे साथ मेरी अनुगामिनी होकर रहे। हमें कोई दुर्गति और शत्रु कभी कष्ट न देवे ॥ १७ ॥

हीन आचारसे रोग उत्पन्न होते हैं, उनको दूर करना चाहिये। अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये। मनोहर भाषण बोलना चाहिये। वृक्षसे बना ऊखलमूसल किसीका नाश न करे, उसमें चावलोंका भी नाश न हो। दैवी शक्ति प्राप्त करनेके इच्छुकका कभी नाश न हो ॥ १८ ॥

अच्छा फैला हुआ छाज हाथमें लेकर धानसे तुष और तिनकोंको दूर करके उत्तम धानका संग्रह करो ॥ १९ ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम् ।
अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥(१४)
पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥२१॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥२२॥
जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥२३॥

अर्थ-(ब्राह्मणेन त्रयः लोकाः संमिलिताः) ब्राह्मणके ज्ञानसे तीनों लोक प्राप्त हुए हैं । (असौ द्यौः एव, पृथिवी अन्तरिक्षं) यह द्यु, यह अन्तरिक्ष और यह पृथ्वी है । (अंशून् गृभीत्वा अनु आरभेथां) धान्यके अंशोंको लेकर अनुकूलतासे फटकना आरंभ करो और (आप्यायतां) वृद्धिको प्राप्त हो तथा [पुनः शूर्पं आयन्तु] फिर छाजपर शुद्ध होनेके लिये धान लिया जावे ॥ २० ॥

[पशूनां पृथक् बहुधा रूपाणि] पशुओंके पृथक् पृथक् अनेक रूप हैं, तथापि [समृद्ध्या एकरूपः भवसि] अपनी महिमासे सोम एकरूप होता है । [एतां तां लोहिनीं त्वचं नुदस्व] इस लाल त्वचाको दूर कर । [मलगः वस्त्रा इव] जैसा धोबी वस्त्रोंको शुद्ध करता है, वैसा ही धोनेका [ग्रावा शुंभाति] पत्थर भी शुद्धता करता है ॥ २१ ॥

[त्वा पृथिवीं पृथिव्यां आवेशयामि] पृथ्वीतत्त्वको पृथ्वीमें ही स्थापित करता हूं । [एष ते विकृता तनूः] यह तेरी (सृष्टिरूपी) विकृत हुई तनू है । दूसरी तेरी (समानी) समानी अर्थात् न बिगडी हुई (प्रकृतिरूप) तनू है ।(यत् यत् द्युत्त अर्पणन लिखितं) जो कुछ पहिननेसे घिसा या खुर्चा गया है, (तेन मा सुस्रोः) इस कारण वह न चूवे । [तत् ब्रह्मणा अपि वपामि] वह ज्ञानद्वारा ठीक करता हूं ॥ २२ ॥

[जनित्री सूनुं इव] जननी जैसे अपने पुत्रको लती है वैसे ही [त्वा प्रति हर्यासि] तुझे प्यार करती है। [पृथिवीं पृथिव्या संदधामि] पृथ्वीतत्त्वको पृथ्वीके साथ मिलाता हूं । [उखा कुंभी वेद्यां मा व्यथिष्टाः] घडे और बर्तन आगपर न टूटें, [यज्ञायुधैः आज्यन अतिषक्ता] वे यज्ञसाधनों और घृतादिसे सिंचित हुए हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ-- ब्राह्मणके ज्ञानसे भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोककी प्राप्ति होती है। वैसे ही छाजसे धान्य स्वच्छ होता है, तुष दूर होता है और उत्तम स्वच्छ धान मिलता है । इस तरह बारंवार धान्य स्वच्छ करना योग्य है ॥ २० ॥

पशुओंमें अनेक रंगरूप हैं परंतु औषधि एक होती है । यही औषधि लाल चमडीको ठीक करती है । धोबी कपडे साफ करता है, उस प्रकार धोनेका पत्थरभी कपडोंको साफ करता है ॥ २१ ॥

पृथ्वीमें पृथ्वीतत्त्व है, इसी तरह अन्य तत्त्व अन्योंमें हैं । मूल प्रकृति गुणसाम्या है, उससे बिगडकर यह सृष्टि बनी है, अतः यह विकृति है । उपयोगसे इसमें बिगाड होता है । ज्ञानसे यह विकृति कम की जा सकती है ॥ २२ ॥

माता पुत्रको जैसे प्यारसे पकडती है वैसे ही बर्तनोंको बर्तना चाहिये। बर्तनोंको अव्यवस्थासे तोडना नहीं चाहिये । घडे डेकची आदि बर्तनोंमें घी भरा होता है और यज्ञसाधनोंका उससे संबंध आता है ॥ २३ ॥

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान् ।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददातै ॥२४॥

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् ।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥२५॥

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम् ।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥२६॥

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः ।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः ॥२७॥

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः ।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥२८॥

अर्थ-[पचन् अग्निः पुरस्तात् त्वा रक्षतु] पकानेवाला अग्नि तेरी आगेसे रक्षा करे ।[मरुत्वान् इन्द्रो दक्षिणतः रक्षतु] मरुतोंके साथ इन्द्र दक्षिणकी ओरसे रक्षा करे । [प्रतीच्याः वरुणः धरुणे त्वा दृंहात्] पश्चिमसे वरुण तुझे आधारके स्थानमें सुदृढ करे । [सोमः त्वा उत्तरात् संददातै] सोम तुझे उत्तर दिशासे जोडकर सुरक्षित रखे ॥ २४ ॥

जलधाराएं [पवित्रैः पूताः अभ्रात् पवन्ते] पवित्रसे पुनीत होकर मेघोंसे आकर सबको पवित्र करते हैं। [दिवं पृथिवीं च लोकं यन्ति] द्यु और पृथिवीको प्राप्त होते हैं । [ताः जीवलाः जीवधन्याः प्रतिष्ठाः] वह जीवन दनेवाली और जीवको धन्यता देनेवाली तथा सबको आधार देनेवाली [पात्रे आसिक्ताः] पात्रमें डाली गई जलधाराओंको [अग्निः परि इन्धां] अग्नि चारों ओरसे तपावे ॥ २५ ॥

[दिवः आयन्ति] जलधाराएं द्युलोकसे आती हैं, [पृथिवीं सचन्ते] पृथ्वीपर एकत्रित होती हैं, [भूम्याः अन्तरिक्षं अधिसचन्ते) भूमिसे बाष्परूपसे अन्तरिक्षमें जमा होती हैं । वे (शुद्धाः सतीः ताः उ शुंभन्त एव) शुद्धहुए जल सबको पवित्र करते हैं । (ताः नः स्वर्गं लोकं अभिनयन्तु) वे हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावें ॥ २६ ॥

(उत एव प्रभ्वीः, उत संमितासः) जल निश्चयसे प्रभावयुक्त है और संमत, [उत शुक्राः शुचयः अमृतास च] और वह बलवर्धक, पवित्र और अमृत है । [ताः प्रशिष्टाः सुनीथाः आपः] वह उत्तम शिष्टसंमत, उत्तम लाया हुआ जल [दंपतीभ्यां ओदनं पचत] स्त्रीपुरुषके लिये चावल अन्न पकाता है ॥ २७ ॥

[संख्याताः स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते] गिनेचुने जलबिंदु पृथ्वीपर आते हैं । वे [प्राणापानैः ओषधीभिः संमिताः] औषधियोंके साथ मिलनेसे प्राणापानके गुणोंसे युक्त होते हैं । [असंख्याताः ओप्यमानाः सुवर्णाः शुचयः] असंख्यात बिखरे हुए उत्तम रंगवाले शुद्ध जलबिंदु [सर्वं शुचित्वं व्यापुः] सब पवित्रको व्यापते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये देव पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशासे सबकी रक्षा करें ॥ २४ ॥

मेघसे वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर आया जल पात्रोंमें भरकर रखा जाता है । यह जल जीवोंको जीवन देता, तृप्त करता और धन्य बनाता है । इसको अग्निद्वारा उष्ण किया जावे ॥ २५ ॥

जल बाष्परूपसे ऊपर आता है और वहांसे वृष्टिरूपसे नीचे पृथ्वीपर आता है । यह शुद्ध अवस्थामें सबको शुद्ध करता हुआ सुख पहुंचाता है ॥ २६ ॥

जल प्रभावशाली, प्रशंसनीय, बलवर्धक, पवित्र, रोग दूर करनेवाला है । ऐसा उत्तम जल परिशुद्ध रीतिसे लाये हुए अन्नका पाक करनेमें प्रयुक्त हो ॥ २७ ॥

कुछ थोडे जलके बिंदु औषधियोंसे मिश्रित होकर प्राणियोंके प्राण धारण करते हैं । परंतु असंख्यात सुंदर जलबिंदु इधर उधर बिखर जाते हैं । ये ही सर्वत्र फैले रहते हैं ॥ २८ ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥२९॥
उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥३०॥ (१५)
प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥
नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु ।
तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥३२॥
वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः ।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम् ॥३३॥

अर्थ—[तप्ताः उद्योधन्ति, अभिवल्गन्ति] तपा जल युद्ध करता है, पुकारता है [फेनं बहुलान् बिन्दून् च अस्यन्ति] फेन और बुद्बुदको फेंकता है। हे [आपः] जलो ! [योषा पतिं दृष्ट्वा ऋत्वियाय संभवति] जैसी ऋतुयुक्त स्त्री पतिको देखकर ऋतुकर्मके लिये एक होती है, उसी प्रकार [एतैः तण्डुलैः संभवत] इन चावलोंके साथ यह जल मिल जावे ॥ २९ ॥

[बुध्ने सीदतः एनान् उत्थापय] नीचे बैठे हुए इन चावलोंको ऊपर उठाओ। [अद्भिः आत्मानं अभिसंस्पृशन्ताम्] जलोंके साथ वह स्वयं अच्छी तरह संयुक्त हो जाय। [यत् एतत् उदकं पात्रैः अमासि] यह जल पात्रोंसे मैंने माप किया है। [इमाः प्रदिशः तण्डुलाः मिताः] तथा ये चारों दिशाओंमें जानेवाले चावल भी मापे हुए हैं ॥ ३० ॥

[पर्शुं प्रयच्छ] फरसा दो, [त्वरया] शीघ्रता कर और [ओषं हर] यहां ले आ। [अहिंसन्तः ओषधीः पर्वन् दान्तु] हिंसा न करते हुए शाककी पर्वोंको काटा जावे। (यासां राज्यं सोमः परि बभूव) इन औषधियोंके राज्य का राजा सोम है। [वीरुधः नः अमन्युता भवन्तु] औषधियां हमारे साथ क्रोधरहित हों ॥ ३१ ॥

[नवं बर्हिः ओदनाय स्तृणीत] नवीन चटाई इस चावलके लिये फैलाओ। [हृदः प्रियं चक्षुषः वल्गु अस्तु] यह सब हृदयके लिये प्रिय और देखनेके लिये सुंदर हो। [तस्मिन् देवाः दैवीः सह विशन्तु] वहां देवियों समेत सब देव आ जावें। [निषद्य इमं ऋतुभिः प्राश्नन्तु] बैठकर इस अन्नको ऋतुओंके अनुसार खावें ॥ ३२ ॥

[वनस्पते स्तीर्णं बर्हिः आसीद] हे वनस्पतिसे उत्पन्न स्तंभ ! इस फैले आसनपर बैठ। तू [अग्निष्टोमैः देवताभिः संमितः] अग्निष्टोम यज्ञके देवोंसे संमानित हो। [त्वष्टा स्वधित्या रूपं सुकृतं] त्वष्टा अपने हथियारसे तेरे रूपको सुंदर बनाता है। [एना एहाः पात्रे परि ददृश्रां] ये साथवाले इस पात्रमें रहें ॥ ३३ ॥

भवार्थ— जल तप जानेपर उछलता है, शब्द करता है, बूंद और बुद्बुदोंको ऊपर फेंकता है, युद्ध करनेके समान हलचल करता है। जैसी ऋतुयुक्त स्त्री पतिके साथ मिलती है, वैसा ही यह जल चावलोंके साथ मिल जाता है ॥ २९ ॥

चावल पकानेके समय आधे पकनेपर नीचेसे ऊपर करने चाहिये, जिससे वे सब जलके साथ मिल जावें। पकानेके पात्रमें चावल और जल भी मिलने चाहिये ॥ ३० ॥

शाकभाजी कटानेके लिये शीघ्र अच्छा फरसा हाथमें लो, शीघ्रतासे जोड जोडपर काटो, परंतु औषधियोंका नाश न करो। ये सब शाक सोम राजाके राज्यमें हैं। इनसे ही हमारा पोषण होता है ॥ ३१ ॥

चावल पकनेपर उनको रखनेके लिये नई चटाई फैलाओ। वह ऐसी हो कि जो दीखनेके लिये सुंदर और हृदयके लिये प्रिय हो। यहीं सब देव आकर बैठें और यथेच्छ सेवन करें ॥ ३२ ॥

यज्ञस्तंभ अपने स्थानपर रखा जावे। वह स्तंभ तर्खाणके हथियारोंसे बना है। कारीगरोंसे इसका रूप सुंदर बनाया गया है। इसके साथ पात्रमें यह धान रहे ॥ ३३ ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥३४॥
धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु ।
तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद् वासयातः पर्यग्निधानात् ॥३५॥
सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् ।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरैनम् ॥३६॥
उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥३७॥

अर्थ— [निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु] अन्नका पालक दाता साठ वर्षोंमें [पक्वेन अभ्यश्नवातै स्वः अभीच्छात्] पके अन्नके दानसे स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा करे। [पितरः पुत्राः च एनं उपजीवान्] पिता और पुत्र इसपर जिवित रहें। [एतं अग्नेः अन्तं स्वर्गं गमय] इसको अग्निके पाससे स्वर्गके प्रति पहुंचाओ ॥ ३४ ॥

[धर्ता पृथिव्याः धरुणं ध्रियस्व] धारण करनेवाला तू अग्नि पृथिवीके आधारपर स्थिर रह। [अच्युतं त्वा देवताः च्यावयन्तु] न हिलनेवाले तुझे देवताएं हिला देवें। [जीवपुत्रौ जीवन्तौ दम्पती] जिनके पुत्र जीवित हैं ऐसे जीवित स्त्रीपुरुष [तं त्वा अग्निधानात् परि उत् वासयातः] तुझे अग्निधानके स्थानसे उठा देवें ॥ ३५ ॥

[तान् सर्वान् लोकान् अभिजित्य] उन सब लोकोंको जीतकर [समागाः यावन्तः कामाः समतीतृपः] संगत हुए जिन कामनाओंको तुमने तृप्त किया है। [आयवनं च दर्विः विगाहेथां] कडछी और चमस अंदर डाल दो और [एकस्मिन् पात्रे एनं अधि उद्धर] एकही पात्रमें इसको रख ॥ ३६ ॥

[उपस्तृणीहि, पुरस्तात् प्रथय] घी डालो, आगे फैलाओ, [घृतेन एतत् पात्रं अभिघारय] घीसे यह पात्र भर दो। हे [देवासः] देवो! [स्तनस्युं तरुणं वाश्रा उस्रा इव] स्तन पीनेवाले बछडेको जैसी गौ चाहती है वैसे ही देव इसे [अभि हिंकृणोत] प्रसन्नताका शब्द करते हुए स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जो अन्नका संग्रह करके उसको पकाकर दान करता है, वह साठ वर्षतक दान करता रहेगा, तो वह स्वर्गका अधिकारी होता है। इसी अन्नसे सब पारिवारिक जन जीवित रहते हैं। और यह अन्नका हवन अग्निमें करता है, जो अग्नि इसको स्वर्गमें पंहुचाता है ॥ ३४ ॥

अग्नि सबका धारण करता है, वह भूमिपर स्थिर रहे। देवतागण उसे अपने स्थानसे हटा देवें। जिनके पुत्रपौत्र जीवित हैं, ऐसे स्त्रीपुरुष अग्निस्थानसे अग्निको उठाकर हवनस्थानमें रखें ॥ ३५ ॥

स्वर्गादि सब लोकोंको यज्ञद्वारा जीतकर अपनी सब मनकामनाओंको तृप्त करनेके लिये इस अन्नमें चमस डालकर उसका थोडा भाग इस पात्रमें ले लो ॥ ३६ ॥

पात्रमें घी डालो, उसे फैलाओ, घीसे पात्र भर दो, चारों ओर लगाओ। उसमें अन्न रखकर वह देवताओंको दो, वे इसका स्वीकार करें। जैसे स्तन पीनेवाले बछडेको गौ स्वीकार करती है ॥ ३७ ॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः ।
तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥३८॥
यद्यज्जाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥३९॥
यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः ।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥४०॥
वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः ।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥४१॥

अर्थ- तूने [एतं लोकं अकरः] इस लोकको बनाया और [उप अस्तरीः] उसको व्यवस्थित किया है। [असमः स्वर्गः उरुः प्रथतां] जिसके सदृश कोई नहीं है ऐसा यह स्वर्ग खूब फैले। [तस्मिन् महिषः सुपर्णः श्रयातै] उसमें बलवान् सुपर्ण -सूर्य-आश्रय करता है। [एनं देवाः देवताभ्यः प्रयच्छान्] इसको देव देवताओंके लिये देते हैं ॥ ३८ ॥

(यत् यत् त्वत् परः परः जाया पचति) जो कुछ तेरेसे अलग तेरी धर्मपत्नी पकाती है, हे (जाये) स्त्री ! (त्वत् तिरः पतिः वा) तेरेसे भिन्न छिपकर पति जो कुछ करता है, (तत् संसृजेथाः) वह तुम दोनों मिलाओ, (तत् वां सह अस्तु) वह तुम दोनोंका साथ साथ किया हुआ हो, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) तुम दोनों एक ही लोकको साथ साथ प्राप्त करते हो ॥ ३९ ॥

(यावन्तः अस्मत् अस्याः पुत्राः) जितने मुझसे इस स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्र (ये परि संबभूवुः) जो यहां चारों ओर हैं और जो पृथिवीं सचन्ते) मातृभूमिकी सेवा करते हैं, (तान् सर्वान् पात्रे उपह्वयेथां) उन सबको पात्रमें भोजनके लिये बुलावें। (शिशवः जानानाः नाभिं समायान्) पुत्र भी जानते हुए इस एक ही केन्द्रमें आ जावें ॥ ४० ॥

(याः मधुना प्रपीनाः घृतेन मिश्राः) जो मधुसे भरपूर और घीसे मिश्रित (अमृतस्य नाभयः वसोः धाराः) अमृतके केन्द्रभूत धनकी धाराएं हैं, (ताः सर्वाः स्वर्गः अवरुन्धे) उन सबको स्वर्ग अपने पास रखे। (निधिपाः षष्ट्यां शरत्सु अभीच्छात्) निधिका रक्षक साठ वर्षोंकी आयुमें इसकी इच्छा करे ॥ ४१ ॥

भावार्थ-- ईश्वरने इस लोकको और स्वर्गको बनाया और विस्तीर्ण करके फैलाया है। उसमें प्रकाशमान सूर्य विराजता है। सब देव इसके प्रकाशसे सुप्रकाशित होते हैं ॥ ३८ ॥

पत्नी जो करे अथवा पति जो करे, वह सब मिलाया जावे, दोनोंका मिलकर एक संसार हो। दोनोंमें भेद न हो। दोनों मिलजुल कर रहें और एक ही गृहस्थधर्मकी शोभा बढावें ॥ ३९ ॥

पतिपत्नीको जितने पुत्र हों अथवा संतान हों, भोजनके समय सबको एकत्र बुलाया जावे। क्योंकि एक केन्द्रमें आना सबको योग्य है। सब मातृभूमिकी सेवा करें ॥ ४० ॥

जो ऐश्वर्यके प्रवाह शहद और घीसे मिले हुए अमरत्व देनेवाले स्वर्गमें हैं, उनकी इच्छा यजमान अपनी आयुष्य साठ वर्ष होनेके पश्चात् करे ॥ ४१ ॥

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये ।
असाभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥४२॥
अग्नी रक्षांस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त ।
नुदाम एनमप रुध्मो असदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ॥४३॥
आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥४४॥
इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप ।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥४५॥

अर्थ-(निधिपाः एनं निधिं अभीच्छात्) निधिका रक्षक यजमान इस निधिकी इच्छा करे । (ये अन्ये अनीश्वराः अभितः सन्तु) जो दूसरे ऐश्वर्यहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें । (अस्माभिः दत्तः स्वर्गः निहितः) हमारे द्वारा दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग सुरक्षित रखा है । वह (त्रिभिः काण्डैः त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्) तीनों विभागोंसे तीन स्वर्गोंके ऊपर चढे ॥ ४२ ॥

(यत् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु) जो ईश्वरके विरोधी राक्षस हैं उनको अग्नि ताप देवे । (क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्रपास्त) रक्तमांसभक्षक लोग यहां जलपान भी न करें । (एनं नुदामः) इस दुष्टको हम दूर करते हैं, (अस्मत् अपरुध्मः) अपनेसे इसको पास आने नहीं देते । (आदित्याः अंगिरसः एनं सचन्तां) आदित्य और अंगिरस इस दुष्टको पकड रखें ॥ ४३ ॥

(इदं मधु घृतेन मिश्रं) यह मधु घीसे मिश्रित हुआ (आदित्येभ्यः अंगिरोभ्यः प्रतिवेदयामि) आदित्यों और अंगिरसोंके लिये है, ऐसा कहता हूं । (शुद्ध-हस्तौ ब्राह्मणस्य अनिहत्य सुकृतौ) जो शुद्ध हात ज्ञानी मनुष्यका अहित नहीं करते, वे पुण्यवान् होते हैं । वे (एतं स्वर्गं अपि इतं) इस स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

(यस्मात् लोकात् परमेष्ठी समाप) जिस लोकसे परमेष्ठी परमेश्वर प्राप्त होता है, (अस्य इदं उत्तमं काण्डं प्रापं) इसका यह उत्तम भाग मैंने प्राप्त किया है । (घृतवत् सर्पिः आसिञ्च, समङ्ग्धि) घीसे युक्त मधु यहां रख और मिला, (नः एष भागः अत्र अंगिरसः) हमारा यह भाग अंगिरसोंका है ॥ ४५ ॥

भावार्थ-- निधिका रक्षक यजमान दानद्वारा श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करे । जो दूसरे शक्तिहीन हैं वे चारों ओर भटकते रहें । हमारे दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग ही यह है, जो तीनों विभागोंसे, तीनों स्वर्गोंसे श्रेष्ठ है ॥ ४२ ॥

जो ईश्वरका विरोध करते हैं, जो रक्त या मांस खाते हैं, उनको पास आने न दो, दूर रखो । ये समाजके शत्रु हैं ॥ ४३ ॥

शहद और घी सब देवताओंको दिया जावे । जो किसीकी हिंसा नहीं करते उनको पवित्र हाथ कहते हैं । वे ही स्वर्गको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

जहांसे परमेश्वर साधकको प्राप्त होता है, उसका उत्तम स्थान मनुष्य प्राप्त करे । घी और मधु भरपूर सेवन किया जावे और देवताओंके उद्देश्यसे अर्पण किया जावे ॥ ४५ ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥४६॥
अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥४७॥
न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ॥४८॥
प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति ।
धेनुरनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥४९॥
समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् ।
यावन्तो देवा दिव्यातपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥५०॥(१७)

अर्थ— (सत्याय तपसे देवताभ्यः च) सत्य, तप और देवताओंके लिये (एतं शेवधिं निधिं परि दद्मः) इस खजानेरूपी निधिको देते हैं । (द्यूते समित्यां नः मा अव गात्) खेल और सभामें वह हमसे दूर न होवे और (मत् पुरा अन्यस्मै मा उत्सृजत) मुझे छोडकर दूसरेको भी न मिले॥ ४६ ॥

(अहं पचामि, अहं ददामि) मैं पकाता हूं, मैं दान देता हूं । (मम जाया करुणे कर्मन् अधि) मेरी धर्मपत्नी दयामय कर्ममें प्रयत्न करती है । (कौमारः पुत्रः लोकः अजनिष्ट) कुमार पुत्र इस लोकके लिये हुआ है । (उत्तरावत् वयः अन्वारभेथां) उच्च अवस्था प्राप्त करनेवाला अपना जीवन उत्तमतासे व्यतीत करे ॥ ४७ ॥

(अत्र न किल्बिषं) यहां अर्पणमें कोई पाप नहीं, (न आधारः अस्ति) न कोई आधारमें पीछे रखना है । (यत् मित्रैः सं-अममानः न एति) जो मित्रोंके साथ मिल जुलकर भी जाता नहीं । (एतत् पात्रं अ- नूनं निहितं) यह पात्र परिपूर्ण रखा है । (पक्वः पक्तारं पुनः आविशाति) पका हुआ पकानेवालेके पास फिर आ जाता है ॥ ४८ ॥

(प्रियाणां प्रियं कृणवाम) मित्रोंका प्रिय हम करें । (यतमे द्विषन्ति ते तमः यन्तु) जो द्वेष करते हैं वे अन्धेरेमें जांय । (धेनुः अनड्वान् वयोवयः आयत् एव) गौ और बैल ये बल ही लाते हैं । वे (पौरुषेयं मृत्युं अप नुदन्तु) मनुष्यकी मृत्यु दूर करें ॥ ४९ ॥

(अग्नयः अन्यो अन्यं सं विदुः) अग्नि परस्परको जानते हैं । (यः ओषधीः सचते, यः च सिन्धून्) जो औषधियोंके साथ रहता है और जो दूसरा जलोंमें रहता है। (यावन्तः देवाः दिवि आतपन्ति) जितने देव द्युलोकमें प्रकाशते हैं, उनकी (हिरण्यं ज्योतिः पचतः बभूव) तेजस्वी ज्योति अन्न पकानेवाले दाताके लिये मिले ॥ ५० ॥ (१७)

भावार्थ– सत्य, तप और देवताओंके लिये यह हम समर्पण करते हैं । यह फल हमसे किसी प्रकार दूर न होवे, न खेलोंमें दूर हो और न सभामें दूर हो। अर्थात सर्वदा हमारे पास रहे ॥ ४६ ॥

मनुष्य अन्न पकावे और दान करे । स्त्री भी धर्मकर्ममें दक्षतासे यत्न करे । इस तरह दोनों पुत्रको उत्पन्न करें और उच्च अवस्था प्राप्त करें ॥ ४७ ॥

दान करनेमें कोई पाप नहीं, न दानमें कुछ पीछे रखना है. वह इष्ट मित्रोंके साथ भी जाता नहीं । वह दानपात्र भरकर पूर्ण रखा जावे, जो परिपक्व होनेपर फिर फल रूपसे दाताके पास पहुंचेगा ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने मित्रका हित करे । द्वेषी शत्रुको दूर हटा देवे । गौ अपने दूधसे मनुष्यको आरोग्य, आयु और बल देती है और मृत्यको दूर करती है ॥४९ ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये ।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥५१॥
यदक्षेषु वदा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या ।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः ॥५२॥
वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि ।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥५३॥
तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम् ।
अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ॥५४॥

अर्थ- (पुरुषे एषा त्वचां संबभूव) मनुष्यमें यह त्वचा अन्य त्वचाओंसे उत्पन्न होती है । (ये अन्ये सर्वे पशवः अ-नग्नाः) जो दूसरे पशु हैं वे नग्न नहीं हैं । (क्षत्रेण आत्मानं परि धापयाथः) शौर्यसे अपने आपको ओढनेके लिये करो। (अमा — उतं वासः ओदनस्य मुखं) मिलकर बुना वस्त्र चावलोंपर डालने योग्य मुख्य वस्त्र है ॥ ५१ ॥

(यत् अक्षेषु वदाः) जो खेलोंमें तुम बोलते हो, (यत् समित्यां) जो सभामें बोलते हो, (यत् वा वित्तकाम्या अनृतं वदाः) जो धनकी इच्छासे असत्य भाषण किया हो, उसका (सर्वं शमलं तस्मिन् सादयाथः) सब दोष उसीमें रख दो और (समानं तन्तुं अभिसंवसानौ) समान वस्त्रका पहनाव तुम कर दो ॥ ५२ ॥

(वर्षं वनुष्व) वृष्टि की प्राप्ति करो, (देवान् अपि गच्छ) देवोंके पास जाओ, (त्वचः परि धूमं उत्पातयासि) त्वचा-के ऊपरका धूवां उडा दो । (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः भविष्यन्) विश्वमें विस्तृत, घृतसे युक्त होनेकी इच्छा करनेवाला (सयोनिः एतं लोकं उपयाहि) सजातीय होकर इस लोकको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

(स्वर्गः बहुधा तन्वं विचक्रे) द्युलोक ही बहु प्रकारसे अपने शरीरको बनाता है (यथा आत्मन् अन्यवर्णं विद) आत्मवत् दूसरे वर्णको भी देखता है । (रुशतीं पुनानः) तेजस्वी आकारको पवित्र करता है, (कृष्णां अपाजैत्) काले रूपको दूर करता है, (या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि) जो लाल रूप है उसको अग्नीमें हवन करता हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थ—अग्नियोंका परस्पर संबंध है।एक औषधिमें और दूसरा जलमें रहता है । आकाशमें प्रकाशनेवाले देव अपना प्रकाश उदार दाताको देवें ॥ ५० ॥

सब अन्य पशु नंगे नहीं हैं, उनको ईश्वरानिर्मित वस्त्र हैं । परंतु मनुष्यके लिये ओढनेको वस्त्र चाहिये, ऐसीही त्वचा मनुष्यको स्वभावसे मिली है। इसलिये मिलजुलकर वस्त्र बुनो और पहनो । यही वस्त्र चावल आदिपर भी ढांपनेके लिये रखो ॥ ५१ ॥

जो खेलोंमें असत्य बोलते हैं, जो सभामें और जो धनकी इच्छासे असत्य बोलते हैं, उसके सब दोषको दूर करो समानता धारण करो और समानताके लिये समान ही वस्त्रका पहनाव करो ॥ ५२ ॥

वृष्टिका योग्य उपयोग करो, जल व्यर्थ जाने न दो। देवताकी उपासना करो, अपनी निर्मलता करो। जगत्में प्रसिद्ध होओ; पुष्टिकारक पदार्थ पास रखो, इस भूलोकमें मानवजातिकी सेवा करो ॥ ५३ ॥

द्युलोकने ही अनेक रूप धारण करके इस विश्वको बनाया है । ज्ञानी सबको आत्मवत् ही देखता है । मनुष्य तमोगुणको दूर करे, सत्वगुणको बढावे और रजोगुणका त्याग करे ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥५५॥
दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं ०।० ॥५६॥
प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ०।० ॥५७॥
उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एतं ०।० ॥५८॥
ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः। एतं०।०॥५९॥
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।
एतं परि दद्मस्त नो गोपायतास्माकमैतोः ॥
दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ-- (प्राच्यै दिशे) पूर्व दिशामें (अग्नये अधिपतये) अग्नि अधिपति, (रक्षित्रे असिताय) रक्षणकर्ता असित, (इषुमते आदित्याय) इषुवाला आदित्य, (दक्षिणायै दिशे०) दक्षिण दिशामें इन्द्र अधिपति, रक्षणकर्ता तिरश्चिराजी, यम इषुमान् (प्रतीच्यै दिशे०) पश्चिम दिशामें वरुण अधिपति, रक्षणकर्ता पृदाकु, इषुवाला अन्न, (उदीच्यै दिश०) उत्तर दिशामें सोम अधिपति, स्वज रक्षणकर्ता और अशनी इषुवाली है, (ध्रुवायै दिशे०) ध्रुव-दिशामें विष्णु अधिपति, कल्माषग्रीव राक्षिता और औषधियां इषुवाली हैं, (ऊर्ध्वायै दिशे०) ऊर्ध्व दिशामें बृहस्पति अधिपति, श्वित्र राक्षिता और वर्षा इषुमान् है । इनके लिये (एतं परिदद्मः) हम इसका दान करते हैं । (तं नः गोपायत) उसका स्वीकार करके हमारी रक्षा करो । (अस्माकं आ एतोः) हमारी उन्नतिके लिये सहायक हो । (अत्र नः जरसे दिष्टं निनेषत्) यहां हमारी वृद्ध आयु होनेके लिये योग्य मार्गसे हमें ले जावे । (जरा नः मृत्यवे परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुंचावे । (अथ पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके साथ हम पुनः उत्पन्न होंगे ॥ ५५-६० ॥

भावार्थ— प्रत्येक दिशामें अधिपति, रक्षक और इषुमान् योद्धा हैं, वे सबकी रक्षा करें । उनको हम योग्य दान देवें। वे पालन करते हुए हमें उन्नतितक पहुंचावें । वे हमें वृद्धावस्थातक सुरक्षित पहुंचावें और वहांसे मृत्युतक ले जावें, मृत्युके पश्चात् परिपक्व कर्मफलके साथ हम फिर जन्म लेंगे और वहां उन्नतिको प्राप्त करेंगे ॥ ५५-६० ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

स्वर्गका साम्राज्य ।

स्वर्गका साम्राज्य सब मानव जातिके लिये खुला हुआ है । उसको प्राप्त करना और वहां दीर्घकालतक रहना हर-एकके लिये योग्य है । परंतु वह सुकृतका लोक होनेसे वह उत्तम कर्म किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात सबको मनमें रखनी चाहिये । यह स्वर्ग इस भूलोकमें भी है और परलोकमें भी है । परलोकका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये भी यहीं प्रयत्न करना पडता है । इससे स्पष्ट होगा कि, यहां अथवा परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करना मनुष्यके पुरुषार्थपर अवलंबित है । इस सूक्तका संक्षेपसे यह तात्पर्य है । अब क्रमशः इन मंत्रोंमें जो मुख्य मुख्य उपदेश कहे हैं उनका निरीक्षण करते हैं—

बलका महत्त्व ।

स्वर्ग प्राप्त करनेमें बलका महत्त्व है, बलके बिना कोइ उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती । वह बल हरएकको प्राप्त करना चाहिये । मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली होगा, वही राष्ट्रका अधिष्ठाता बने । कोई दुर्बल राजगद्दीपर न रहे । क्योंकि राष्ट्रकी उन्नति प्रबल राजशक्तिपर ही अवलंबित रहती है । निर्बल राजाके कारण संपूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जाता है । अतः सुख प्राप्तिकी इच्छा करनेवालोंको उचित है कि वे सामर्थ्यवान् पुरुषको राष्ट्राधिष्ठाताके स्थानपर नियुक्ति करें । वह अधिष्ठाता अपने सुयोग्य सामर्थ्यवान् अनुयायियोंको इकठ्ठा करे और उनकी सहायतासे राष्ट्रका शासन चलावे । सबका उत्तम नियंत्रण करे और सबकी उन्नति होने योग्य सुव्यवस्था रखे । इसीका नाम यमराज्य अर्थात् नियमके अनुसार चलनेवाला राज्य है । [१]

इस तरहका राज्यशासन होनेके पश्चात् आपको उचित है कि आप अपनी दृष्टि सूक्ष्म और परिशुद्ध करें अर्थात् सुयोग्य ज्ञान प्राप्त करें, वीर्य अर्थात् अनेक बलोंको प्राप्त करें । आपके राष्ट्रमें दूरदृष्टि और सामर्थ्य जितना अधिक होगा उतना ही आपका उत्कर्ष होनेवाला है । अतः तेज, बल, सामर्थ्य, ज्ञान और दूरदृष्टि बढाना आपका मुख्य कर्तव्य है । परिपक्व होनेपर ही मिठास उत्पन्न होती है, अतः आपको उचित है कि आप अपने आपको परिपक्व करें जिससे आपका कल्याण होगा । [२]

एकताका संदेश ।

इस लोकमें तुम सब मिलजुलकर एकभावसे रहो, परमेश्वर उपासना भी मिलकर करो, राज्यव्यवस्था भी मिलकर चलाओ, जो कुछ पराक्रम करना हो वह मिलकर ही हो सकता है । मिलनेसे ही बल बढता है । मिलनेके लिये अपनी पवित्रता और निर्दोषता संपादन करनी चाहिये । जितना संगठन होगा, उतना बल बढेगा और जितना बल बढेगा, उतना प्रभाव विशेष होगा । इस तरह यह एकताका संदेश मानवी उन्नतिके लिये यहां कहा है । [३]

सब लोगोंसे यह कहना है कि वे अपने जीवनको धन्य बनानेके लिये प्रयत्न करें । यह प्रयत्न जितना मिलकर होगा उतना यश तुम्हें प्राप्त होगा । आपसमें फूट रखोगे तो वहीं नाशका बीज बढेगा । तुममेंसे प्रत्येकको अमृत प्राप्त करनेका अधिकार है । घरमें स्त्री, पुत्र और गृहपति मिलकर रहते हैं, यहां एकताका उपदेश मिलता है और यहीं सुखकी प्राप्ति हो सकती है इस गृहस्थाश्रममें माता अन्न पकाती है, पिता अन्न लाता है, पुत्र अन्यान्य कार्य करते हैं । इस तरह परस्परको सहायता करनेसे सबको अत्यधिक सुख प्राप्त हो सकता है । इस तरह विचार करके पाठक एकताका बोध प्राप्त करें और उसका आचरण करके उन्नत हो जांय । [४-५]

घरमें पुत्रपौत्र बडे हुए हैं, वे कार्यभार संभाल रहे हैं, वृद्धोंकी यथायोग्य सेवा हो रही है, तरुणोंका आश्रय यथायोग्य रीतिसे वृद्धोंको मिल रहा है, यही इस लोकका तेजस्वी स्वर्ग है, जो प्रत्येक गृहस्थीको प्राप्त करना चाहिये । [६]

चारों दिशाओंमें हलचल ।

उन्नतिके लिये हलचल तो चारों दिशाओंमें शुरू करनी चाहिये । पूर्व दिशा ज्ञानकी दिशा है, सब प्रकाश इसी

दिशासे प्राप्त होता है। श्रद्धावान् लोग ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानका प्रचार खूब करें। जैसा सूर्य सबको प्रकाश देता है वैसा प्रकाश सबको मिले। ज्ञानका उपयोग अपनी रक्षाके लिये किया जावे। स्त्रीपुरुष मिलकर कार्य करें और सब लोग ज्ञानसे सुप्रकाशित हों। [७]

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् दक्षतासे उद्योग करने चाहिये। दक्षता न रही तो सब यत्न विफल हो जाते हैं। यह संदेश दक्षिण दिशा दे रही है। यहां यम अर्थात् नियामक देव है। वह कहता है कि ' नियमोंमें रहो। नियम छोडकर चलोगे, तो मेरा दण्ड उद्यत है। उससे छुटकारा नहीं हो सकता। इस नियामकके साथ पितर भी हैं। ये सबके रक्षक हैं। रक्षा करना और नियमविरुद्ध आचरण न करना ही यहां का उपदेश है। जो यह उपदेश लेकर तदनुकूल चलेंगे, वे ही उन्नत हो सकते हैं। [८]

पश्चिम दिशा विश्रामकी सूचना देती है। योग्य पुरुषार्थ करनेके पश्चात् विश्राम अवश्य लेना चाहिये, जिससे आगे और प्रयत्न करनेका बल प्राप्त होता है। अर्थात् विश्राम अधिक पुरुषार्थके लिये होना चाहिये। यहां सोमादि औषधियां हैं जिनका सेवन करनेसे बल, पुष्टि और आयु बढती है। [९]

उत्तर दिशा उन्नततर अवस्था प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। अपने राष्ट्रकी अवस्था उन्नततर करो, श्रेष्ठ करो, सब प्रकारसे आगे बढो, पांच जनोंका समुदाय उन्नत हो, सर्वांगीण उन्नति करो, किसी भी अंगमें पीछे न रहो। यह उपदेश यहां मिलता है। [१०]

ध्रुवदिशा स्थिरताका संदेश दे रही है। अपने वचनपर स्थिर रहो, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहो, युद्धमें अपने स्थान-पर स्थिर रहो, व्यर्थ चंचल न हो। अपनी रक्षा करनेके लिये, पुत्रोंका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये, अनेक शुभ कर्म करनेके लिये स्थिर होनेकी सूचना इस दिशासे मिलती है।

इस तरह ये सब दिशाएं मनुष्यको ये उपदेश दे रही हैं। यह उपदेश सुनकर मनुष्यको उन्नतिका साधन करनेका मार्ग विदित हो सकता है। इस मार्गसे मनुष्य जाय और अपनी उन्नतिका साधन करे ॥ [११]

ऊखल और मूसल

पुत्रोंका पालन उत्तम रीतिसे किया जावे। जलवायु सर्वत्र शुद्ध और कल्याणकारी रखा जावे। सबकी प्रीति और तपकी रुचि मनुष्योंमें बढे और सबको अन्न भी पर्याप्त प्राप्त हो। घरमें ऊखल और मूसल पानीसे कोई न भिगावे, क्योंकि वह सूखा रहा तो ही अच्छा कार्य कर सकता है। वह पवित्र स्थानमें रहे और धान्य आदि स्वच्छ करके वही बर्ता जावे [अर्थात् यहां वेदका उपदेश यह है कि [मशीन] यंत्रद्वारा साफ किये चावल, आटा आदि कोई न खावे। परंतु घर-घरमें ऊखल मूसल रखकर हाथसे पीसा आटा और ऊखल मूसल द्वारा हाथसे साफ किये चावल मनुष्य खावें]। पाठक-गण इसका विचार करें। क्योंकि इस कार्यके लिये चारों ओर यंत्र शुरु हुए हैं। यंत्रसे स्वच्छ करनेसे धान्यके जीवनकण नष्ट होते हैं और हाथसे साफ करनेसे वे जीवनकण सुरक्षित रखे जाते हैं। वेद उपदेश द्वारा बताना चाहता है कि यंत्रद्वारा बनाया आटा कोई न खावे और यंत्रके निर्मित चावल भी कोई न लेवे। इससे परिपूर्ण जीवनाणु प्राप्त होंगे और उत्तम आरोग्य रहेगा। कौनसा वैदिकधर्मी ऐसा है कि जो आजसे ऐसा करेगा और कमसे कम खानेपीनेमें तो वेदका उपदेश मानेगा ?] [१२-१४]

यहां लकडीसे बना ऊखल और मूसल दैवी शक्तिवाला है, जो राक्षसों और पिशाचोंको हम लोगोंसे दूर कर सकता है। यह इस ऊखलकी घोषणा है। जनता इस घोषको सुनें। जो लोग घर घरमें ऊखल मूसलसे धान्यको साफ करके उसीका सेवन करेंगे उनपर राक्षसों और पिशाचोंका हमला नहीं हो सकता। [अर्थात् जो मशीन-यंत्र-द्वारा सडे चावल आदि खायेंगे उनका नाश ये ही राक्षस और पिशाच करेंगे। अतः लोग संभलकर रहें] [१५]

पशुपालन।

घर घरमें गौ आदि पशुओंका पालन हो। घर घरमें यज्ञयाग होते रहें। घर घरमें देवताओंका सन्तोष होता रहे। जल वायु आदि देवता किसी भी घरमें अप्रसन्न न रहें। कहीं भी अप्रसन्नता उत्पन्न न होवे। [१६]

गृहव्यवस्था ॥

स्त्री और पुत्र तथा गृहपति मिलकर घर होता है। ये सब घरमें मिल जुलकर रहें। इस एकताके विषयमें अथर्ववेद

कां० ३ सू० ३० में जो उपदेश आया है वह पाठक यहां देखें। वह उत्तम उपदेश है और हरएक गृहस्थाश्रमीको सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। पुरुष जिस स्त्रीका पाणिग्रहण करे, वे दोनों परस्पर अनुकूलताके साथ रहें, आपसमें झगडा न बढावें, आपसमें झगडा करेंगे तो दुर्गति और नाशको प्राप्त होंगे, यह हरएक गृहस्थीको स्मरण रखना चाहिये। घरके सब लोग आनंद-प्रसन्न और मिलजुलकर रहें और प्रयत्न करके अपनी उन्नतिका साधन करते रहें। [१७]

सब मिलकर दक्षतासे सब रोगोंको दूर करें, अज्ञान और अन्धकार दूर करें। घरमें अन्धकार न रहे, क्योंकि अन्धकारमें रोगजन्तु बढते हैं और रोग होते हैं। अतः घरमें बहुत अन्धेरा न रहने पावे ऐसा घर बनाया जाय। घरघरमें लकडीका बना ऊखल और मूसल हो और उसमें चावल साफ करके उनका ही सेवन घरके लोग करें। [१८]

ऊखल मूसलसे साफ किये धान्यसे तुष आदि दूर करनेके लिये सूप घरमें रहे। इस सूप-छाजसे चावल आदि साफ किये जांय, तुष हटाया जावे और स्वच्छ चावल लिये जांय। इनका ही सेवन गृहस्थी करे। (१९)

जिनसे तीनों लोकोंका आनंद और स्वास्थ्य प्राप्त होता है, ऐसे शुद्ध चावल इसी तरह स्वच्छ होते हैं। [यंत्र-मशीन द्वारा साफ किये चावल तो राक्षसों और पिशाचों अर्थात् अनेक रोगोंको बुलानेवाले हैं।] ये चावल जो ऊखल और मूसल द्वारा तथा छाजसे साफ होते हैं वे तो आप्यायन करनेवाले अर्थात् सब प्रकारकी पुष्टि करनेवाले हैं। (२०)

छाजमें पुनः पुन ले लेकर इस तरह धान्य स्वच्छ किया जावे। चावलोंपर जो लाल रंगकी त्वचासी होती है उसको मूसलसे कूट कूटकर हटाया जावे। जैसा धोबी वस्त्रको स्वच्छ करता है वैसा ही ऊखल मूसलद्वारा ये चावल स्वच्छ किये जांय और इनका सेवन गृहस्थी करें। पशुओंमें विविध रंग होते हैं, परंतु एक ही घास खाकर वे परिपुष्ट होते हैं। इसी प्रकार विविध रंगरूपवाले मनुष्य इन चावलोंका सेवन करके हृष्ट, पुष्ट और दीर्घजीवी बनें। (२१)

पकानेका कार्य।

अब पकानेका समय आता है। इसके लिये बहुत प्रकारके बर्तन होते हैं। ये बर्तन मिट्टीसे ही अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। वे फूटे टूटे न हों, चूनेवाले न हों। किसी स्थानपर सुराख हो तो उसको ज्ञानद्वारा बंद किया जावे। जैसी माता पुत्रको प्यारसे संभाल कर लेती है, उस प्रकार ये बर्तन बर्ते जांय। ऐसे बर्ते जांय कि वे न टूटें। डेकची, बटलोई, पतेला आदि बर्तन चूलेपर संभालकर रखे जांय। इनमें चमस रखे जांय और ये पात्र घृत आदिसे सिंचित रहें। (२२—२३)

इन पात्रोंकी रक्षा चारों ओरसे होवे। अग्निसे रक्षा हो अर्थात् पात्र अच्छी तरह पका हुआ हो, वरुणदेवताके जलसे इसकी रक्षा हो अर्थात् पानीमें गल जानेवाला न हो, वनस्पतियो द्वारा इसके टूट जानेका संभव न हो। (२४)

जलका महत्त्व।

पृथ्वीके जलकी भांप बनकर मेघमंडलमें जाती है, वहां मेघ बनते हैं, उनसे वृष्टि होकर फिर वह जल पृथ्वीपर आता है। यह जल प्राणियोंको जीवन देनेवाला और जीवनकी धन्यता करनेवाला है। यह पात्रोंमें भरकर रखना और पकानेके समय वह पात्र चूलेपर रखना चाहिये। यह परिशुद्ध जल मनुष्यको सुख देनेवाला है (२५—२६)

यह जल मनुष्यमें बल लाता, प्रसन्नता उत्पन्न करता, वीर्य बढाता, पवित्रता करता और रोगादि मृत्युदूतोंको दूर करता है। यही जल गृहस्थियोंके अन्न पकानेमें प्रयुक्त होवे। [२७]

थोडासा जल वृष्टिद्वारा भूमिपर गिरकर औषधिवनस्पतियोंमें आकर-उसका गुणकारी औषधिरस बनता है। यह मनुष्योंका हित करता है। इसके अतिरिक्त इतना हितकारी दूसरा जल मेघोंसे बहुत ही गिरता है, वह सब जगत् को व्यापता है। [२८]

जब बर्तनमें जल डालकर तपाया जाता है, तो जलके अणु एक दूसरेपर उछलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे परस्पर युद्ध करते हैं, वार्तालाप करते हैं, या झगडा करते हैं। जैसी स्त्री पतिको देखकर उसके साथ प्रेमसे मिलना चाहती है, वैसा ही जल पकानेके समय चावलोंके साथ मिलता है, जिससे चावल पकते हैं। [२९]

पकानेके समय बर्तनमें कडछी डालकर नीचेके चावल ऊपर और ऊपरके नीचे करने चाहिये। अर्थात् अच्छी तरह चावल हिलाने चाहिए। जिससे जल हरएक चावलके साथ अच्छी

तरह मिल जायें जाता है और चावल उत्तम रीतिसे पक जायें। [३०]

शाकभाजी।

जैसे चावल पकाने होते हैं उसी प्रकार शाकभाजी पकानेकी भी रीति है। उत्तम परशु, छुरा भाजी काटनेके लिये लो। उसकी धारा ठीक करो। औषधियां शाकभाजी आदि हाथमें लो। उसको ऐसा काटो कि जिससे उनका सत्त्व न बिगडे। औषधियोंकी हिंसा न हो और उनका क्रोध हमपर न हो। [३१]

पकनेपर।

चावल पकनेपर उनको बर्तनसे निकालना चाहिये। उनको रखनेके लिये उत्तम नई चटाई [बांसकी बनी] शुद्ध भूमिपर फैलानी चाहिये और उसपर बर्तनसे सब चावल रखने चाहिये। यह दृश्य ऐसा करना चाहिये कि जो आंखको प्रिय और हृदयको मनोहर प्रतीत हो। देवताएं वहां अपनी धर्मपत्नियोंके समेत आजांय और इस अन्नका सेवन करें। (३२)

इस तरह यज्ञ करनेसे यजमान स्वर्गको प्राप्त करता है। साठ वर्ष कोई गृहस्थी इस रीतिसे यज्ञ करेगा तो उसको स्वर्ग मिलेगा। घरमें पिता माता पुत्र आदि संतुष्ट रहें तो वही भूलोकका स्वर्ग है और अन्नदानसे परलोक मिलता है। (३३–३५)

संपूर्ण सुखोपभोग विजय प्राप्त होनेसे ही प्राप्त होते हैं। विजयके बिना भोग मिलना असंभव है। यह एक उन्नतिके लिये बडी महत्त्वकी सूचना यहां दी है। शुद्ध अन्न, उत्तम घी, मधु (शहद) आदि पदार्थ हितकारी, पौष्टिक और बलवर्धक हैं। इनका स्वयं सेवन करना, दूसरोंको देना और देवताओंके उद्देश्यसे समर्पण करना चाहिये। यह लोक अर्थात् इस भूलोकमें स्वयं पुरुषार्थसे ही जो कुछ होगा सो होगा। इसलिये यह लोक पुरुषार्थप्रधान है। जो पुरुषार्थ करता है, उसको सब देवताओंका सहाय्य होता है। (३६- ३८)

कुटुंबमें एकता।

स्त्री कुछ करती है, पुरुष भी कामधंधेमें लगा है, युवक अपने कार्य करते हैं। ये सब जो भी कुछ करें कुटुंबकी रक्षा और उन्नतिके लिये करें। संमेलनसे ही घरमें स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, अतः भोजनके समय कमसे कम सब पुत्रों, पुत्रियों और परिवारिक जनोंको बुलाना चाहिये और साथ साथ बैठकर भोजन करना चाहिये। सब बालकोंको इससे एकताका पाठ मिल जायगा और इस एकतामें ही सब सुखका बीज है। (३९-४०)

मधु घृत आदिसे मिश्रित अन्न हो, धनके प्रवाह चलते रहें, आयुके साठ वर्षतक इनका दान होता रहे, सर्वत्र भरपूरता हो, किसी प्रकार न्यूनता कहीं भी न हो। यही स्वर्ग देनेवाला है। अन्य लोग कितने भी कंजूस हों, उनको वह आनंद नहीं मिलेगा जो इस प्रकारके दाताको प्राप्त हो सकता है। (४१-४२)

देवनिंदकको दूर करो।

कई लोग देवताओंकी निंदा करनेवाले होते हैं, उनको समाजसे बाहर करना चाहिये। उनको कोई अधिकार नहीं देना चाहिये। सब राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें रहे कि जो देवोंके अनुकूल चलनेवाले हों। देवद्रोहियोंको सब मिलकर एकमतसे बहिष्कृत करें। जो ज्ञानी, शूर इस कार्यमें सहायक होंगे, उनको मधु और घी तथा अन्न भरपूर मिलना चाहिये। (४३-४४)

परमेष्ठी प्रजापति।

परमेष्ठी प्रजापति परम उच्च स्थानमें विराजमान है, इसी लिये उसे (परमे–स्थि) परमेष्ठी कहते हैं। इसको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ धर्मकर्म किये जाते हैं। आप जो दान करते हैं, घीका दान हो, मधुका हो, या अन्य किसीका हो वह सब इस एक ही कार्यके लिये होता है। सत्य और तप मुख्यतः इसकी प्राप्तिके लिये हैं। सत्यका अवलंबन करनेसे बडा फल प्राप्त होता है, तप बडी पवित्रता करनेवाला है। येही सत्य और तप बडा आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा ऐहिक धन देते हैं। मनुष्यको यहांतक सावधान रहना चाहिये कि खेलमें भी वह सत्यसे दूर न हो, सभाओंमें सदा सत्य ही का अवलंबन करना चाहिये। जो सत्य और तपको छोडेंगे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। हरएक मनुष्यके कार्यमें उन्नतिकी इच्छा होगी, तो इनका अवलंबन करना अनिवार्य है। (४५–४६)

आदर्श गृहस्थाश्रम।

'मैं अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मेरी धर्मपत्नी धर्मकर्ममें सहायता करती है, मेरे पुत्र जनहित करनेके कार्य करते हैं,

मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करके उसका उपयोग धर्मकार्य करनेके लिये करूंगा। ऐसा हरएक गृहस्थीको कहनेका सौभाग्य प्राप्त हो। यही एक बडा ऐश्वर्य है। जिसका ऐसा कुटुंब हो वह धन्य है। इसी तरह यहां हमारे घरमें पाप करनेवाला कोई न रहे, दान देनेके समय उसमेंसे कुछ पीछे रखनेवाला कंजूस कोई न हो, चारों ओर मित्र बढें, दानके पात्र सदा भरपूर हों और सब शुभ कर्मका परिपक्व फल ऐसे गृहस्थीको प्राप्त होता रहे। यह है आदर्श गृहस्थाश्रम। गृहस्थी मित्रोंका प्रिय करे, सतत प्रयत्न करता रहे, गौका दूध पीये, बैलोंका उपयोग खेतीके लिये होता रहे, रोग और मृत्यु दूर होता रहे। (४७-४९)

परस्परका हृदय जानना चाहिये। मित्रताके लिये इसकी अत्यंत आवश्यकता है। हृदयके ज्ञानके विना संगठन भी नहीं हो सकता। जोभी पृथिवी आदि देव हैं, वे सब योग्य मनुष्यको सुवर्ण और तेज देनेके लिये बैठे हैं। परंतु उनसे लेनेके लिये भी तो यत्न करना चाहिये। अपने अन्दर क्षात्रतेज बढाना और उससे अपनी रक्षा करनी चाहिये। यह आत्मरक्षा करनेका कार्य तो प्रत्येकका है। अतः कोई इस क्षात्रतेजके विना न रहे, सब लोग तेजस्वी बनें। (५०-५१)

जो किसी कार्यके लिये असत्य बोलना है, वह सब पापका हेतु है। फिर वह असत्य भाषण खेलमें हो, या धनलोभसे हो। सबकी उन्नतिका एक ही तन्तु है और वह केवल एकमात्र सत्य है। सत्यके बिना किसीकी उन्नति होनी नहीं है। [५२]

जो वृष्टि होती है उसका उत्तम उपयोग करो, अर्थात् जल व्यर्थ न जाने दो। सब पदार्थ स्वच्छ रखो, किसीभी स्थानमें मलिनता न रहे। अपना प्रभाव चारों ओर फैलाओ, घृत आदि पदार्थ भरपूर रहें, अन्नकी न्यूनता न रहे। [५३]

सब विश्व इस स्वर्गधामके ही तत्वसे विविध रूपोंमें बना है। इस विश्वमें सत्व, रज और तम गुण हैं, जिनकी तेजस्विता, रक्तिमा और मलिनता सुप्रसिद्ध है। मलिनता दूर करनी चाहिये, तेजस्विताको अपनाना चाहिये और रजोगुणका दान करना चाहिये। यह एक उन्नतिका नियम सर्वसाधारण है [५४]

हरएक दिशामें अधिपति, रक्षणकर्ता, शस्त्रास्त्रधारी सैनिक रखकर अपने राष्ट्रकी सुरक्षा उत्तम करनी चाहिये। ये रक्षणका कार्य करें और सुरक्षित हुए लोग इनका योगक्षेम चलानेके लिये उनको योग्य दान देवें। इनकी रक्षासे सुरक्षित हुए लोग वृद्धावस्थातक अपनी उन्नतिका कार्य करें। इस तरह करनेसे यहीं स्वर्गधाम होगा और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक भी प्राप्त होगा। [५५-६०]

यहांतक इस सूक्तमें मंत्रोंका सरल आशय खुली भाषासे दिया है। मंत्रोंका हृद्गतभाव इससे पाठक जान सकेंगे। इस सूक्तमें वेदने इस भूलोकको ही स्वर्गधाम बनानेकी विधि बतायी है। जो लोग ऐसा करेंगे वे न केवल इस संसारमें जीते जी स्वर्गसुख प्राप्त करेंगे, परंतु मरणोत्तर मिलनेवाले स्वर्गलोक भी निःसन्देह प्राप्त करके वहां बहुत समय अपूर्व सुख प्राप्त करके उत्तम कुलमें जन्म लेकर फिर भी आगेकी उन्नति संपादन करेंगे।

आशा है कि यह उपदेश वैदिक धर्मियोंके आचरणमें आजाय और सब संसारका स्वर्गधाम बन जाय।

वशा गौ।

[४]

(ऋषिः—कश्यपः। देवता—वशा)

द॒दा॒मीत्ये॒व ब्रू॑या॒दनु॑ चैना॒मभु॑त्सत। व॒शां ब्र॒ह्मभ्यो॒ याच॑द्भ्य॒स्तत् प्र॒जाव॒दप॑त्यवत् ॥१॥
प्र॒जया॒ स वि क्री॑णीते प॒शुभि॒श्चोप॑ दस्यति।
य आ॑र्षे॒येभ्यो॒ याच॑द्भ्यो दे॒वानां॒ गां न दित्स॑ति ॥२॥
कू॒टया॑स्य॒ सं शी॑र्यन्ते श्लो॒णया॑ का॒टम॑र्दति। ब॒ण्डया॑ दह्यन्ते गृ॒हाः का॒णया॑ दीयते॒ स्वम् ॥३॥
वि॒लो॒हि॒तो अ॑धि॒ष्ठाना॑च्छ॒क्नो वि॑न्दति॒ गोप॑तिम्।
त॒था व॒शाया॑ः संवि॑द्यं दुरद॒भ्ना ह्यु॒१॑च्यसे ॥४॥

अर्थ— (ददामि इति एव ब्रूयात्) देता हूं ऐसा ही कहे। (च एनां अनु अभुत्सत) और इसके विषयमें अनु-कूल भाव रखे। (याचद्भ्यः ब्रह्मभ्यः एनां) मांगनेवाले ब्राह्मणोंको इस गौको देवे, (तत् प्रजावत् अपत्यवत्) यह दान प्रजा और संतान देनेवाला है ॥ १ ॥

(यः याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः देवानां गां न दित्सति) जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको देवोंकी गौ नहीं देता (सः प्रजया विक्रीणीते) वह अपनी प्रजाको ही बेचता है, (पशुभिः च उपदस्यति) पशुओंके साथ नाशको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

(कूटया अस्य सं शीर्यन्ते) विना सींगके पशुसे भी इस अदानी मनुष्यके लोग मारे जायगे और [श्लोणया काटं अर्दति) लंगडी लूलीके द्वारा भी गढेमें इसके लोग गिराये जायगे। (बण्डया गृहाः दह्यन्ते) विकल गौसे इसके घर जलाये जायगे और (काणया स्वं दीयते) एक आंखसे हीन गौ द्वारा इसका धन नष्ट किया जायगा ॥ ३ ॥

(विलोहितः शक्नः अधिष्ठानात् गोपतिं विन्दति) रक्तज्वर गोबरके स्थानसे गौके कंजूस स्वामीको पकडता है। (तथा वशायाः संविद्यं) वैसी गौका नाम है (हि दुरदभ्ना उच्यसे) इसी कारण वह दमन करनेके लिये कठिन है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हरएक गृहस्थी अथवा मनुष्य 'दान देता हूं' ऐसा ही सदा कहे। दानके विषयमें तथा गौके विषयमें मनमें अनुकूल भाव धारण करे। ज्ञानी मनुष्योंको गौवोंका दान करनेसे दाताका भाग्य बढता है ॥ १ ॥

जो गौका दान विद्वानोंके मांगनेपर भी नहीं करता, उसको कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

जहांसे भयका संभव नहीं वहांसे उसको भय प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

गौके गोबरसे रक्तज्वर उत्पन्न होकर वह कंजूस मालिकका नाश करता है। अर्थात् उसे अनेक व्याधियां सताती हैं। अतः गौके विषयमें सदा आदर रखना चाहिये। क्योंकि गौका अपमान क्षमा नहीं किया जाता ॥ ४ ॥

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति। अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥५॥
यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥६॥
यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥
यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥
यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति। ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः ॥९॥
जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥१०॥ (१९)

अर्थ-(अस्याः पदोः अधिष्ठानात्) इस गौके पांव रखनेके स्थानसे (विक्लिंदुःनाम आ यते) विक्लिंदु नामक रोग होता है। (याः मुखेन उपजिघ्रति) जिनको मुखसे सूंघती है वे (अनामनात् संशीर्यन्ते) न जानते हुए ही क्षीण होकर नष्ट होते हैं ॥५॥

(यः अस्याः कर्णौ आस्कुनोति) जो इस गौके कानोंको दुःख देता है, (सः देवेषु आवृश्चते) वह मानो देवोंपर आघात करता है, जो गायपर (लक्ष्म कुर्वे इति मन्यते) चिह्न करता हूं ऐसा मानता है, वह (स्वं कनीयः कृणुते) अपना धन न्यून करता है ॥ ६ ॥

(यत् कश्चित् कस्मैचित् भोगाय) जो किसी भोगविशेषके लिये (अस्याः बालान् प्रकृन्तति) इस गौके बालोंको काटता है, उससे (ततः किशोराः म्रियन्ते) उसके बालक मरते हैं तथा (वृकः वत्सान् च घातुकः) भेडिया बच्चोंका घात करता है ॥ ७ ॥

[यत् अस्याः सत्याः गोपतौ] यदि इसके साथ गोरक्षक रहते हुए भी यदि [ध्वाङ्क्षः लोम अजीहिडत्) कौवा-बालोंको नोचेगा, तो (ततः कुमाराः म्रियन्ते) उससे बच्चे मर जाते हैं और (अनामनात् यक्ष्मः विन्दति) सहजहीसे क्षय-रोग पकड लेता है ॥ ८ ॥

(यत् अस्याः पल्पूलनं शकृत्) इस गौका मूत्र और गोबर (दासी समस्यति) नौकरानी फेंक देगी, तो उससे (ततः तस्मात् एनसः अ—व्येषत्) उस पापसे न छूटनेके कारण (अप रूपं जायते) विरूप होता है ॥ ९ ॥

(जायमाना वशा स—ब्राह्मणान् देवान् अभिजायते) उत्पन्न होते ही गौ ब्राह्मणोंके साथ देवोंके लिये होती है। (तस्मात् एषा ब्रह्मभ्यः देया) इसलिये यह गौ ब्राह्मणोंको देनी चाहिये। [तत् स्वस्य गोपनं आहुः] वह अपनी सुर—क्षिता है ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ- गौके पांवके स्थानमें विक्लिन्दु नामक रोग फैलता है। जिसे गाय सूंघती है उसे वह होता है और वह मरता है॥५॥
गौके कानोंपर चिह्न करनेसे जो गौको वेदना होती है, उससे गौके स्वामीका धन कम होता है ॥ ६ ॥
यदि कोई मनुष्य अपनी सजावटके लिये गौके बाल काटेगा, तो उसके बालबच्चे मर जायगे ॥ ७ ॥
यदि गवालिया गौकी रखवाली करता हुआ, गौको कौवा कष्ट देवे, तो उस गवालियेके बच्चे मर जायगे ॥ ८ ॥
यदि गौकी परिचारिका गौका मूत और गोबर इधर उधर फेंक देवे तो उस पापसे उसका रूप बिगड जायगा ॥ ९ ॥
गौ जो उत्पन्न होती है वह ब्राह्मणोंके लिये ही देवोंने उत्पन्न की होती है। इसीलिये उसका दान ब्राह्मणोंको देना उचित है। उससे दाता की ही रक्षा होती है ॥ १२ ॥

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा। ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥११॥
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥१२॥
यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥१३॥
यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते। ॥१४॥
स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥१५॥

अर्थ— [ये एनां वनिं आयन्ति] जो ब्राह्मण इस गौको मांगने जाते हैं [तेषां देवकृता वशा] उनके लिये ही वह गौ देवोंने बनाई है। [यः एनां नि प्रियायते] जो इसको अपनी प्रिय है करके अपने ही पास रखता है, अर्थात् दान नहीं देता, (तत् ब्रह्मज्येयं अब्रुवन्) वह उसका कृत्य ब्राह्मणोंपर अत्याचार जैसा ही है ॥ ११ ॥

[यः याचद्भ्यः आर्षेयेभ्यः) जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको (देवानां गां न दित्सति) देवोंकी गौ देता नहीं, (सः ब्राह्मणानां मन्यवे] वह ब्राह्मणोंके कोपके लिये [देवेषु आवृश्चते] देवोंमें आघात करता है ॥ १२ ॥

[यः अस्य वशाभोगः स्यात्] जो इस गौका उपभोग लेना है, [सः तर्हि अन्यां इच्छेत] वह तो दूसरी गौसे प्राप्त करे। [अदत्ता पुरुषं हिंस्ते] दान न दी हुई गौ उस पुरुषकी हिंसा करती है, कि [याचितां च न दित्सति] जो याचना करनेपर भी नहीं देता ॥ १३ ॥

(यथा निहितः शेवधिः) जैसा सुरक्षित खजाना होता है, [तथा ब्राह्मणानां वशा] वैसी ही ब्राह्मणोंकी वह गौ है। [यस्मिन् कस्मिन् च जायते] जहां कहीं उत्पन्न हुई हो [एतम् अच्छ आयन्ति] उसके पास वे ब्राह्मण पहुंचाते ही हैं ॥ १४ ॥

[यत् ब्राह्मणाः वशां अभि] यदि ब्राह्मण गौके पास जाते हैं तो [एतत् स्वं अच्छ आयन्ति] वे अपने धनके पास ही जाते हैं। [अस्याः निरोधनं] इस गौको प्रतिबंध करना मानो [यथा एनान् अन्यस्मिन् जिनीयात्] जैसा इन. को दूसरे अर्थमें कष्ट देना है ॥ १५ ॥

भावार्थ— ब्राह्मण याचना करनेके लिये आनेपर उनको गौ प्रदान न करना, उनपर अत्याचार करनेके समान है। क्योंकि देवोंने ही उनके लिये वह बनाई होती है ॥ ११ ॥

अतः जो मांगनेपर भी ब्राह्मणोंको गौ नहीं देता वह मानो देवोंपर ही आघात करता है। उससे उसपर ब्राह्मणोंका कोप और देवोंका संताप होता है ॥ १२ ॥

यदि गौसे किसीको लाभ होता हो, तो वह दूसरी गौसे वह प्राप्त करे। क्योंकि जो गौको मांगनेपर भी नहीं देता, वह गौ ही उसकी नाशक बनती है ॥ १३ ॥

यह गौ ब्राह्मणोंकी ही है जैसा सुरक्षित खजाना होता है वैसी ही यह है। कहीं किसीके पास भी उत्पन्न हुई हो जिसकी वह होगी वे ब्राह्मण उसे मांगने आवेंगे ॥ १४ ॥

ब्राह्मण जिस गौको मांगते हैं वह उनकी ही होती है। अतः उनको उस गौका दान न करना अपराध है ॥ १५ ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती । वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥१६॥
य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् । उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥१७॥
यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥१८॥
दुर दभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति ।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति ॥१९॥
देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्येति मानुषः ॥ २० ॥ (२०)
हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥२१॥

अर्थ-- [अविज्ञात—गदा सती आ त्रैहायणात् चरेत् एव] अज्ञातनामवाली गौ तीन वर्ष होनेतक माताके साथ घूम करे। हे नारद ! [वशां विद्यात्, तर्हि ब्राह्मणाः एष्याः] गौ देने योग्य होनेपर, तो उसके लिये ब्राह्मण ढूंढे जांय॥ १६ ॥

[यः देवानां निहितं निधिं एनां अवशां आह] देवोंके निश्चित खजाना रूप इस गौको न देने योग्य कहे, [तस्मै भवाशर्वौ उभौ परिक्रम्य इषुं अस्यतः] उसे भव और शर्व दोनों घेरकर बाण मारते हैं ॥ १७ ॥

(यः अस्याः ऊधः अथो उत अस्याः स्तनान् न वेद) जो इसके दुग्धाशयको और इसके स्तनोंको नहीं जानता, (चेत् दातुं अशकत्) वह यदि दान देनेमें समर्थ हुआ तो [उभयेन अस्मै दुहे] वह गौ उसे उक्त दोनोंसे दूध देती है ॥ १८ ॥

[याचितां न दित्सति] मांगनेपर भी ब्राह्मणको जो नहीं दी जाती वह गौ (दुः—अदभ्ना एनं आशये) वश होने में कठिन होकर इसके साथ रहती है। (अस्मै कामाः न समृध्यन्ते) इसके मनोरथ सफल नहीं होते [यां अदत्त्वा चिकीर्षति] जिसे न दान करके कमाना चाहता है ॥ १९ ॥

(ब्राह्मणं मुखं कृत्वा) ब्राह्मणरूपी मुख करके (देवाः वशां अयाचन्) देव गौकी याचना करते हैं। [अददत् मानुषः] न देनेवाला मनुष्य (तेषां सर्वेषां हेडं नि एति) उन सबके क्रोधको प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[मर्त्यः देवानां निहितं भागं निप्रियायते चेत्] मनुष्य देवोंका निश्चित भाग अपने पास यदि रखेगा और [ब्राह्मणेभ्यः वशां अददत्] ब्राह्मणोंको गौ न देगा तो [पशूनां हेडं नि एति] पशुओंके क्रोधको भी प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ—तीन वर्षतक गौको उसका स्वामी पाले, पश्चात् कोई मांगने न आवे तो सुयोग्य ब्राह्मणकी खोज करे और उसे देवे ॥ १६ ॥

गौ देवोंका खजाना है। जो उसे नहीं दान करता, उसका नाश भव और शर्व करते हैं ॥ १७ ॥

जो गौको दान करता है उसको दूध आदि पर्याप्त मिलता है ॥ १८ ॥

जो मांगनेपर भी गौका दान ब्राह्मणोंको नहीं करता, उसके घरमें गौ वशमें नहीं रहती। गौ न देनेवालेकी कामना तृप्त नहीं होती ॥ १९ ॥

देवोंका मुख ब्राह्मण है। ब्राह्मणके मुखसे ही देव मांगते हैं। अतः दान न देनेवाला मनुष्य देवोंके क्रोधको अपने ऊपर लेता है ॥ २० ॥

कोई मनुष्य इस देवोंके भागको ब्राह्मणोंको दान न देगा तो पशुओंके क्रोधको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥

यदुन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् । अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥२२॥
य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥२३॥
देवा वशामयाचन् यस्मिन्नग्रे अजायत । तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत ॥२४॥
अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् । ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥२५॥
अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥२६॥
यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥२७॥

अर्थ-(यत् गोपतिं शतं अन्ये वशां याचेयुः) यदि गौके स्वामीके पास दूसरे सौ जाकर गौको मांगे, (अथ एनां देवाः एवं अब्रुवन्) इस विषयमें देवोंने ऐसा कहा है कि (विदुषः वशा ह) विद्वान्की ही गौ है ॥ २२ ॥

(यः एवं विदुषे अदत्त्वा) जो इस तरह विद्वान्को गौ न देकर (अन्येभ्यः वशां ददत्) दूसरे अविद्वानोंको गौ देवे, (तस्मै अधिष्ठाने सह देवता पृथ्वी दुर्गा) उसके लिये उसके स्थानमें सब देवताओंके साथ पृथ्वी दुःखदायी होती है ॥ २३ ॥

(यस्मिन् अग्रे अजायत) जिसमें गौ पहिले हुई, (देवाः वशां अयाचन्) देवोंने उसीके पास गौकी याचना की । (नारदः विद्यात्) नारद समझे कि (तां एतां देवैः सह उदाजत) उस गौकी देवोंके साथ उन्नति होती है ॥ २४ ॥

(ब्राह्मणैः याचितां एनां नि प्रियायते) ब्राह्मणोंके द्वारा याचना होनेपर भी जो उसको प्रिय समझकर अपने पास रखता है वह (वशा पुरुषं अनपत्यं अल्पपशुं कृणोति) गौ उस मनुष्यको संतानहीन और अल्पपशुवाला करती है ॥ २५ ॥

(अग्नी-सोमाभ्यां मित्राय वरुणाय कामाय तेभ्यः) अग्नि, सोम, मित्र, वरुण और काम इनके लिये ही (ब्राह्मणाः याचन्ति) ब्राह्मण गौकी याचना करते हैं, अतः (अददत् तेषु आवृश्चते) न देनेवाला उन देवोंपर आघात् करता है ॥ २६॥

(यावत् अस्याः गोपतिः) जबतक इस गौका स्वामी (स्वयं ऋचः न उपशृणुयात्) स्वयं ऋचाएं नहीं सुनेगा, (तावत् अस्य गोषु चरेत्) तबतक इसकी गौवोंमें गौ चरा करे, परंतु (श्रुत्वा अस्य गृहे न वसेत्) सुननेके पश्चात् वह गौ उसके घरमें न रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ— गौके स्वामीके पास सैकडो याचक गौके लिये आजाय, परंतु देवोंकी आज्ञा है कि विद्वान् ब्राह्मणको ही गौ देनी चाहिये ॥ २२ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देकर, दूसरेको देता है, उसको बडे कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

जहां गौ उत्पन्न होती है, मानो वहीं देव उसकी याचना करते हैं । और देवोंको वह देनेसे सबकी उन्नति होती है ॥२४॥

ब्राह्मणोंकी याचना होनेपर जो मनुष्य गौका दान नहीं करता, उसको संतान नहीं होती और उसके पास पशु भी कम होते हैं ॥ २५ ॥

ब्राह्मण जो गौकी याचना करते हैं, वे केवल अग्नि आदि देवताओंके लिये ही याचना करते हैं, अपने लिये नहीं, अतः उनको न देना देवताओंका अपमान करना है ॥ २६ ॥

जब तक गौका स्वामी यज्ञवा मंत्रघोष नहीं सुनता, तबतक उसके पास गौ रहे । मंत्रघोष सुननेके पश्चात् उसके घरमें गौ न रहे ॥ २७ ॥

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥
वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति । ॥ २९ ॥
आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)
मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥
स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्योऽ वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

अर्थ-(यः अस्याः गोपतिः ऋचः उपश्रुत्य) जो इस गौका स्वामी ऋचाएं सुनकर (अथ गोषु अचीचरत्) पश्चात् भी गौओंमें ही अपनी गौको चराया करता है, (देवाः हीडिताः तस्य आयुः च भूतिं च वृश्चन्ति) देव क्रोधित होकर उसकी आयु और संपत्तिको विनष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

(वशा बहुधा चरन्ती देवानां निधिः निहितः) गौ बहुत स्थानोंमें भ्रमण करती हुई देवोंका सुरक्षित खजाना ही है। (यदा स्थाम जिघांसति) जब वह रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (रूपाणि आविष्कृणुष्व) अनेक रूप प्रकट करती है ॥ २९ ॥

(यदा स्थाम जिघांसति) जब रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (आत्मानं आविः कृणोति) अपने आपको प्रकट करती है। (अथो ह ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय मनः कृणुते) ब्राह्मणोंकी याचनाके लिये वह गौ अपना मन करती है ॥ ३० ॥

वह गौ (मनसा संकल्पयति) मनसे संकल्प करती है, (तत् देवान् अपि गच्छति) वह संकल्प देवोंके पास पहुंचता है, (ततः ह ब्राह्मणः वशां याचितुं उप प्रयन्ति) उसके पश्चात् ही ब्राह्मण गौकी याचना करनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिये स्वधाकारसे, [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके यज्ञसे, तथा [दानेन] दानसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय गौकी माताका क्रोध प्राप्त नहीं करता ॥ ३२ ॥

भावार्थ-मंत्रघोष सुननेके पश्चात् यदि गौके स्वामीने गौ अपने घरमें रखी तो उसके ऊपर देवोंका क्रोध होता है ॥२८॥

गौ यह देवोंका सुरक्षित खजाना है। जब वह अपने स्थानपर जाना चाहती है तब वह अनेक भाव प्रकट करती है ॥ २९ ॥

जब वह गौ अपने स्थानके पास जाना चाहती है तब अपने भावको प्रकट करती है अर्थात् वह अपने लिये ब्राह्मणोंकी याचना हो ऐसा भाव मनमें लाती है ॥ ३० ॥

गौ यह संकल्प मनमें लाती है, वह संकल्प देवोंके पास पहुँचता है, देव ब्राह्मणोंको प्रेरणा करते हैं, और ब्राह्मण गौको मांगनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

स्वधाकारसे पितरोंकी तृप्ती, यज्ञसे देवोंकी संतुष्टता, और दानसे अन्योंकी तृप्ती होती है इसलिये गौका दान करनेसे उसकी माताका क्रोध क्षत्रियपर नहीं होता है ॥ ३२ ॥

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः। तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥३३॥
यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥
पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥३५॥
सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥३६॥
प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥३७॥
यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥३८॥

अर्थ-[वशा राजन्यस्य माता] गौ क्षत्रियकी माता है, [तथा अग्रशः सं भूतं] ऐसा पहिलेसे ही हुआ है। [यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते] जो गौ ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है [तस्या अनर्पणं आहुः] उसका वह दान ही नहीं है [क्योंकि वह गौ ब्राह्मण की ही होती है] ॥ ३३ ॥

[यथा अग्नये प्रगृहीतं आज्यं स्रुचः आलुंपेत्] जैसा अग्निके लिये लिया हुआ घी स्रुचासे गिरता है, [एवा वशां ब्रह्मभ्यः अददत्] ऐसे ही गौ ब्राह्मणोंको न देनेवाला [अग्नये अवृश्चत्] अग्निके लिये अपराधी होता है ॥ ३४ ॥

[पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोके अस्मै उपतिष्ठति] अन्नरूपी बछा जिसके पास है ऐसी उत्तम दूध देनेवाली गौ परलोकमें इस दाताके पास आकर खडी रहती है। (सा वशा अस्मै प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] वह गौ इस दाताके लिये सब कामनाएं पूर्ण करती है ॥ ३५ ॥

[यमराज्ये वशा प्रददुषे सर्वान् कामान् दुहे] यमराज्यमें गौ दाताके लिये सब कामनाएं देती है, [अथ याचितां निरुन्धानस्य नारकं लोकं आहुः] और याचना करनेपर न देनेवालेको नरक लोक है, ऐसा कहते हैं ॥ ३६ ॥

[प्रवीयमाना वशा गोपतये क्रुद्धा चरति] सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ अपने स्वामीके लिये क्रुद्ध होकर विचरती है। वह कहती है कि [मा वेहतं मन्यमानः मृत्योः पाशेषु बध्यतां] मुझे गर्भपातिनी कहनेवाला मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

[यः वशां वेहतं मन्यमानः] जो गौको गर्भ गिरानेवाली मानकर [अमा च वशां पचते] घरमें गौको पकाता है [अस्य पुत्रान् पौत्रान् अपि बृहस्पतिः याचयते] इसके पुत्रों और पौत्रोंको बृहस्पति भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ-- गौ क्षत्रियकी माता कही जाती है, इसका ब्राह्मणोंको प्रदान करना दान नहीं है, क्योंकि वह ब्राह्मणोंकी ही होती है ॥ ३३ ॥

जैसा स्रुवासे घी अग्निमें गिरता है। वैसा ही गौका दान न करनेवाला गिरता है ॥ ३४ ॥

दान दी हुई गौ दाताकी परलोकमें हरएक प्रकारकी कामना सफल करती है ॥ ३५ ॥

गोदान करनेवालेकी समस्त कामनाएं यमराज्यमें सफल होती हैं, परंतु दान न देनेवालेको तो नरक ही प्राप्त होगा ॥३६॥

गौका अपमान करनेवालेको गौ क्रुद्ध होकर शाप देती है, कि वह मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

जो गौको वंध्या मानकर अपने घरमें पकाता है, उसके पुत्र-पौत्रोंको ईश्वर भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि । अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे　　॥ ३९ ॥
प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते
अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात्　　॥४०॥(२१)
या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य । तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः　　॥ ४१ ॥
तां देवा अमीमांसन्त वशेया ३ मवशेति । तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥
कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः ।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः　　॥ ४३ ॥
विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्　　॥ ४४ ॥

अर्थ-(गोषु गौ चरन्ती अपि) गौओंमें गौ चरती हुई भी (एषा महत् अवतपति) यह वशा ताप देती है । (अथो अददुषे गोपतये विषं दुहे) मानो दान न करनेवाले गौके स्वामीके लिये यह विष देती है ॥ ३९ ॥

(यत् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते) जो ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है वह (पशूनां प्रियं भवति) पशुओंको भी हितकारी होता है, (अथो वशायाः तत् प्रियं) और गौके लिये वह प्रिय है (यत् देवत्रा हविः स्यात्) जो देवोंके लिये हवि होवे ॥ ४० ॥

(याः वशाः देवाः) जिन गौवोंको देवताओंने (यज्ञात् उदेत्य उदकल्पयन्) यज्ञसे आकर संकल्पित किया था (तासां भीमां विलिप्त्यं नारदः उदाकुरुत) उनकी भयानक, अधिक घीवाली गौको नारदने अनुभव किया ॥ ४१ ॥

(तां देवाः अमीमांसत) उस विषयमें देवोंने विचार किया, (वशा इयं अवशा) यह गौ अपने वशमें रखने योग्य नहीं है । (नारदः तां अब्रवीत्) नारदने उसके विषयमें कहा कि (एषा वशानां वशतमा इति) यह गौवोंमें अधिक वश होनेवाली है ॥ ४२ ॥

हे नारद ! (याः त्वं मनुष्यजाः वेत्थ) जिनको तू मनुष्यमें उत्पन्न जानता है वे (कति नु वशा) गौवें कितनी प्रकार हैं । (त्वा विद्वांसं पृच्छामि) तुम विद्वान्से मैं पूछता हूं कि (कस्याः अब्राह्मणः न अश्नीयात्) किसका ब्राह्मण-भिन्न अतिथि न खावे ! ॥ ४३ ॥

हे बृहस्पते ! (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहता है, वह (विलिप्त्याः या च सूतवशा वशा) अधिक घी देनेवाली गौ है, जो सूतको ही वश होती है, और जो सबको वश है (अब्राह्मण तस्याः न अश्नीयात्) अब्राह्मणने उसका अन्न न खाना चाहिये (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहे ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो गौका दान नहीं करता उसके लिये उसकी गौ विष दुहती है ॥ ३९ ॥

गौका दान करनेसे पशुओंका हित होता है, गौओंका हित होता है । क्योंकि गौसे हव्यपदार्थ देवताओंके लिये मिलते हैं ॥ ४० ॥

यज्ञसे आकर सब देवताओंने मिलकर गौकी रचना की, उनमें जो अधिक घी देनेवाली है उसकी योग्यता विशेष है॥ ४१ ॥

देवोंने निश्चय ठहराया कि वह स्वामीके वशमें रहने योग्य नहीं है, क्योंकि वह उत्कृष्ट गौ है, अतः वह दानके योग्य है ॥ ४२ ॥

मनुष्योंके पास जो गौवें होती हैं उनमेंसे कौनसी गौका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे ? ॥ ४३ ॥

निश्चय यह हुआ कि अधिक घी देनेवाली, सर्वदा वशमें रहनेवाली और नौकरके वश रहनेवाली, ये तीन गौवें दानके योग्य हैं, अतः इनका अन्न अब्राह्मण स्वामी न खावे ॥ ४४ ॥

नर्मस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा । कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत् ॥ ४५ ॥
विलिप्ती या बृहस्पतेऽथो सूतवंशा वशा ।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम् ॥ ४६ ॥
त्रीणि वै वंशाजातानि विलिप्ती सूतवंशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥
एतद् वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमादंदुषो गृहे ॥ ४८ ॥
देवा वशां पर्यवदन् न नोऽदादिति हीडिताः ।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद् वै स पराभवत् ॥ ४९ ॥

अर्थ- हे नारद ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । (अनुष्ठु विदुषे वशा) अनुकूलतासे विद्वान्को गौ प्रदान करनी चाहिये । (आसां कतमा भीमतमा) इनमें कौनसी भयानक है (यां अदत्त्वा पराभवेत्) जिसका दान न करनेसे पराभव होगा ? ॥ ४५ ॥

हे बृहस्पते ! (या विलिप्ती अथो सूतवशा वशा) जो अधिक घी देनेवाली और सूतको वश करनेवाली और सबके वश रहनेवाली गौ है, (अब्राह्मणः तस्याः न अश्नीयात्) अब्राह्मण उसका अन्न न खावे (यः भूत्यां आशंसेत) जो ऐश्वर्य-समृद्धिकी इच्छा करता है ॥ ४६ ॥

[त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा] गौकी तीन जातियां हैं-एक अधिक घी देनेवाली, दूसरी नौकरको वश होनेवाली और तीसरी सबको वश होनेवाली, । [ताः यः ब्रह्मभ्यः प्रयच्छेत्] इनको जो ब्राह्मणोंको देगा, [सः प्रजापतौ अनाव्रस्कः] वह प्रजापतिके पास निरपराधी होता है ॥ ४७ ॥

हे ब्राह्मणो ! [एतत् वः हविः] यह आपका हवि है [इति याचितः मन्वीत] ऐसा याचना करनेपर गौका स्वामी कहे । [वशां चेत् एनं याचेयुः] गौकी जब इसके पास याचना की जाती है तब [या भीमा अददुषः गृहे] वह भयंकर होती है अदाताके घरमें रखना ॥ ४८ ॥

[नः न अदात् इति हीडिताः देवाः] हमें इसने दिया नहीं इस कारण क्रोधित हुए देव [वशां] गौसे [एताभि भेदं पर्यवदन्] इन मंत्रोंसे भेदके विषयमें कहने लगे [तस्मात् वै सः पराभवत्] इस कारण उसका पराभव हुआ ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस गौका दान न करनेसे अधिक हानिकी संभावना है, वह कौनसी गौ है ? ॥ ४५ ॥

गौओंमें तीन जातियां है, एक अधिक घी देनेवाली, दूसरी सबके वशमें रहनेवाली और तीसरी नौकरसे वश होनेवाली ये तीन प्रकार की गौवें हैं जिनका अन्न गौका स्वामी न खावे । स्वामी वे गौएं ब्राह्मणको दान देवे, जिससे वह निर्दोष होता है ॥ ४६-४७ ॥

मांगनेपर गौका स्वामी कहे कि ' हे ब्राह्मणों ! यह आपका अन्न है । ' मांगनेपर भी जो न देवे उसके घरमें वह गौ भयंकर हानि करनेवाली होती है ॥ ४८ ॥

गौका दान न करनेसे देव क्रोधित होकर उसके घरमें भेद करते हैं और इस कारण उसका पराभव होता है ॥ ४९ ॥

उतैनां भेदो नाददाद् वशामिन्द्रेण याचितः । तस्मात् तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे॥ ५० ॥
ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते आचित्त्या ॥ ५१ ॥
ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥
यदि हुतां यद्यहुतामा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [उत एनां वशां इन्द्रेण याचितः भेदः] और इस गौको इन्द्रसे याचना करनेपर भी भेदने [न अददात्] नहीं दिया [तस्मात् आगसः देवाः तं अहमुत्तरे अवृश्चन्] उस पापके कारण देवोंने उसे युद्धमें काट डाला ॥ ५० ॥

[ये परिरापिणः वशायाः अदानाय वदन्ति] जो दुष्ट लोग गौका दान न करनेका भाषण बोलते हैं, वे [जाल्माः अचित्त्या इन्द्रस्य मन्यवे आवृश्चन्ते] दुष्ट मनुष्य मतिहीनता के कारण इन्द्रके क्रोधकेलिये काटे जाते हैं ॥ ५१ ॥

[ये गोपतिं परानीय] जो गौके स्वामीको दूर ले जाकर [अथ आहुः मा दाः इति] कहते हैं कि मत दान कर [ते अचित्त्या रुद्रस्य अस्तां हेतिं परि यन्ति] वे न समझते हुए रुद्रके फेंके हुए हथीयारको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

[यदि हुतां यदि अहुतां] यदि हवन की गई अथवा न की गई [वशां अमा च पचते] गौको अपने घरमें जो पकाता है, वह [स ब्राह्मणान् देवान् ऋत्वा] ब्राह्मणोंके साथ देवोंका अपराधी बनकर [जिह्मः] कुटिल होकर [लोकात् निःऋच्छति] इस लोकसे गिरता है ॥ ५२ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

भावार्थ— गौ की याचना करनेपर भी जो नहीं देता उसके राज्यमें भेद उत्पन्न होकर युद्धमें उसका पराभव होता है॥५०॥
जो गौका दान न करनेके विषयमें उपदेश करते हैं उनका भी इन्द्रके क्रोधसे नाश होता है ॥ ५१ ॥
जो लोग गौके स्वामीको दूर ले जाकर गौ दान न करनेका उपदेश करते हैं, उनका नाश रुद्रके शस्त्रसे होता है॥५२॥
जो गौके अन्नको घरमें पकाते हैं उनपर देवों और ब्राह्मणोंका क्रोध होता है और वे गिरते हैं ॥ ५३ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

[५]

(ऋषिः-- अथर्वाचार्यः । देवता-ब्रह्मगविः)

(५।१)

श्रमे॑ण तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते॒ श्रि॒ता ॥ १ ॥
स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता यश॑सा परी॑वृता ॥ २ ॥
स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ ३ ॥
ब्रह्म॑ पद॒वायं॑ ब्राह्म॒णोऽधि॑पतिः ॥ ४ ॥
तामा॒ददा॑नस्य ब्रह्मग॒वीं जि॑न॒तो ब्रा॑ह्म॒णं क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ५ ॥
अप॑ क्रामति सू॒नृता॑ वी॒र्यं॑१ पु॒ण्या॑ ल॒क्ष्मीः ॥ ६ ॥ (२४)

(५।२)

ओज॑श्च॒ तेज॑श्च॒ सह॑श्च॒ बलं॑ च॒ वाक् चे॑न्द्रि॒यं च॒ श्रीश्च॒ धर्म॑श्च ॥ ७ ॥
ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥ ८ ॥

अर्थ- (श्रमेण तपसा सृष्टा) श्रम और तपसे उत्पन्न हुई (ब्रह्मणा वित्ता) ज्ञानसे प्राप्त हुई और (ऋते श्रिता) सत्यके आश्रयपर रही है ॥ १ ॥ (सत्येन आवृता) सत्यसे आच्छादित (श्रिया प्रवृता) श्रीसे भरी हुई और (यशसा परीवृता) यशसे घिरी है ॥ २ ॥ (स्वधया परिहिता) अपनी धारणासे सुरक्षित हुई (श्रद्धया पर्यूढा) श्रद्धाभक्तिसे युक्त (दीक्षया गुप्ता) दीक्षाव्रतसे सुरक्षित हुई (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञमें प्रतिष्ठित हुई और (लोके निधनं) इस लोकमें आश्रयको प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥ जो (ब्रह्म पदवायं) ज्ञानरूप पदसमूह है उसका (अधिपतिः ब्राह्मणः) स्वामी ब्राह्मण है ॥ ४ ॥ (तां ब्रह्म-गावीं आददानस्य) उस ब्राह्मणकी गौको छेनेवाले (ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य) ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रिय की ॥५॥ (सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः अपक्रामति) सत्य वीर्यवती पुण्यमयी लक्ष्मी दूर होती है ॥ ६ ॥ [२४]

(५।२)

ओज, तेज (सहः) सहनसामर्थ्य, बल, वाणी, इन्द्रियशक्ति, (श्रीः) शोभा, धर्म ॥ ७ ॥ (ब्रह्म) ज्ञान, (क्षत्रं) शौर्य, राष्ट्र, (विश) प्रजा, (त्विषिः) तेज, यश (वर्चः) पराक्रम, (द्रविणं) धन, ॥ ८ ॥ आयु, रूप, नाम

आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ॥ ९ ॥

पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च॒र्तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ॥ १० ॥

तानि॒ सर्वा॒ण्यप॑ क्रामन्ति ब्रह्मग॒वीमा॒दद॑ानस्य जिन॒तो ब्रा॑ह्म॒णं क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ११ (२५)

(५।३)

सैषा भी॒मा ब्र॑ह्मग॒व्य१॒॑घवि॑षा सा॒क्षात् कृ॒त्या कूल्ब॑ज॒मावृ॑ता ॥ १२ ॥

सर्वा॑ण्यस्यां घो॒रा॒णि॒ सर्वे॑ च मृ॒त्यव॑ः ॥ १३ ॥

सर्वा॑ण्यस्यां क्रू॒रा॒णि॒ सर्वे॑ पुरुषव॒धाः ॥ १४ ॥

सा ब्र॑ह्म॒ज्यं दे॑वपी॒युं ब्र॑ह्मग॒व्या॑दी॒यमा॑ना मृ॒त्योः पड्वी॑श॒ आ द्य॑ति ॥ १५ ॥

मे॒निः श॒तव॑धा॒ हि सा ब्र॑ह्म॒ज्यस्य॒ क्षिति॒र्हि सा ॥ १६ ॥

तस्मा॑द् वै ब्रा॑ह्म॒णानां॒ गौर्दु॑रा॒धर्षा॑ विजान॒ता ॥ १७ ॥

वज्रो॒ धाव॑न्ती वैश्वान॒र उद्वी॑ता ॥ १८ ॥

हे॒तिः श॒फानु॑त्खि॒दन्ती॑ महादे॒वो॒३॒॑ पेक्ष॑माणा ॥ १९ ॥

क्षु॒रप॑वि॒रीक्ष॑मा॒णा॒ वाश्य॑माना॒भि स्फू॑र्जति ॥ २० ॥

अर्थ- कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र ॥९॥ (पयः) दूध, रस, अन्न, (अन्नाद्यं) खाद्य पदार्थ, ऋत, सत्य, (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट वस्तु, पूर्णता, प्रजा, पशु ॥१०॥ (तानि सर्वाणि) ये सब १४ पदार्थ (ब्रह्मगावीं आददानस्य ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य अपक्रामन्ति) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले और ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रियके दूर होते हैं ॥ ११ ॥ [२५]

(५।३)

(सा एषा ब्रह्मगवि भीमा) वह यह ब्राह्मणकी गौ भयानक है, यह (अघ-विषा, साक्षात् कृत्या) विषैली और साक्षात् घात करनेवाली (कूल्बजं आवृता) विनाशक पदार्थसे व्याप्त है ॥१२॥ (अस्यां सर्वाणि घोराणि) इसमें सब भयंकरता है (सर्वे च मृत्यवः) इसमें सब मृत्यु हैं ॥ १३ ॥ (अस्यां सर्वाणि क्रूराणि) इसमें सब क्रूरता है (सर्वे पुरुषवधाः) सब पुरुषोंके वध हैं ॥ १४ ॥

(सा ब्रह्मगवी आदीयमाना) यह ब्राह्मणकी गौ पकडी जानेपर (ब्रह्मज्यं देवपीयुं मृत्योः पड्वीशे आद्यतिः) ब्रह्मघाती देवशत्रुको मृत्युके पाशमें डाल देती है ॥ १५ ॥ (सा शतवधा मेनिः) वह सौका घात करनेवाली हथियार ही है (सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिः हि) वह ब्रह्मघातकीका विनाश ही है॥ १६ ॥ (तस्मात् वै विजानता ब्राह्मणानां गौः दुराधर्षा) इसलिये ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि ब्राह्मणकी गौ धर्षण करनेके लिये कठिन है ॥ १७ ॥ (धावन्ती वज्रः, उद्वीता वैश्वानरः) वह जब दौडती है तब वज्र बनती है, जब उठती है तब वह आग जैसी होती है ॥ १८ ॥ (शफान् उत्खिदन्ती हेतिः) खुरोंसे मारती हुई यह हथियारके समान है और (अपेक्षमाणा महादेवः) देखती हुई महादेवके समान होती है ॥ १९ ॥ (ईक्षमाणा क्षुरपविः) छुरेके समान तीक्ष्ण होती है और (वाश्यमाना अभिस्फूर्जति) शब्द करनेपर गर्जना करनेके समान बनती है ॥ २० ॥ (हिंकृण्वती मृत्युः) हिंकार करनेपर मृत्यु होती है, और (पुच्छं पर्यस्यन्ती उग्रः देवः) पूंछ

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्यु१ग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥
सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥
शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥ (२६)

(५।४)

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥
अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्का ॥ ३२ ॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

अर्थ- ऊपर करनेवाली उग्र देवके समान भयंकर होती है ॥ २१ ॥ (कर्णौ वरीवर्जयन्ती सर्वज्यानिः) कान ऊपर करनेपर सबका नाश करनेवाली होती है और (मेहन्ती राजयक्ष्मः) मूत्र करनेपर क्षयरोग ही बनती है ॥ २२ ॥ (दुह्यमाना मेनिः) दुष्टों द्वारा दुही जाते समय शस्त्ररूप होती है (दुग्धा शीर्षक्तिः) दुही जानेपर सिरपीडा स्वरूप बनती है ॥ २३ ॥ (उपतिष्ठन्ती सेदिः) पास खडी होनेपर विनाशक होती है और (परामृष्टा मिथोयोधः) स्पर्श होनेपर द्वन्द्वयुद्ध करनेवाले शत्रुके समान होती है ॥ २४ ॥ (मुखे अपिनह्यमाने शरव्या) मुखमें बांधी जानेपर शरोंके समान और (हन्यमाना ऋतिः) ताडित होनेपर विनाशक होती है ॥ २५ ॥ (निपतन्ती अघविषा) बैठती हुई भयानक विषरूपी और (निपतिता तमः) बैठी होनेपर साक्षात मृत्युरूपी अन्धकारके समान होती है ॥ २६ ॥ (ब्रह्मगवी अनुगच्छन्ती) ब्राह्मणकी गौ—(ब्रह्मज्यस्य प्राणान् उपदासयति) ब्राह्मणघातकीके प्राणोंका नाश करती है ॥ २७ ॥

(५।४)

(विकृत्यमाना वैरं) गौको काट देनेपर वैर करती है और (विभज्यमाना पौत्राद्यं) काटकर विभक्त करनेपर पुत्रादिकोंके खानेवाली होती है ॥ २८ ॥ (ह्रियमाणा देवहेतिः) ले जानेपर देवोंका वज्र बनती है और (हृता व्यृद्धिः) हरण होनेपर विपत्ति बनती है ॥ २९ ॥ (अधियाना पाप्मा) काबूमें रखनेपर पापसदृश होती है और (अवधीयमाना पारुष्यं) तिरस्कृत होनेपर कठोरता बनती है ॥ ३० ॥ (प्रयस्यन्ती विषं) कष्टी होनेपर विष होती है और (प्रयस्ता तक्मा) सतानेपर ज्वरके समान होती है ॥ ३१ ॥

(पच्यमाना अघं) पकानेपर पाप रूप बनती है और (पक्वा दुष्वप्न्यं) पक जानेपर दुष्ट स्वप्नके समान दुःखदायिनि बनती है ॥ ३२ ॥ (पर्याक्रियमाणा मूलबर्हणी) घुमाई जानेपर मूलका नाश करनेवाली और (पर्याकृता क्षितिः) घेरी हुई तो विनाशक बनती है ॥ ३३ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता ॥ ३५ ॥
शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता ॥ ३६ ॥
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥ ३८ ॥ (२७)

(५।५)

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥
अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥
अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥
छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥
विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥
अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ४५ ॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥ (२८)

अर्थ (गन्धेन असंज्ञा) वह गंधसे बेहोषी करती है. (उद्ध्रियमाणां शुक्) उठाई जानेपर शोक पैदा करती है और (उद्भृता आशीविषः) उठाई गयी सांपके समान होती है ॥ ३४ ॥ (उपह्रियमाणा अभूतिः) पास ली गई विपत्ति बनती है, (उपहृता पराभूतिः) पास रखी पराभवरूप होती है ॥ ३५ ॥ (पिश्यमाना क्रुद्धः शर्वः) पीसी जाते समय क्रोधित रुद्रके समान और (पिशिता शिमिदा) पीसी हुई सुखका नाश करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥ (अश्यमाना अवर्तिः) खायी जाती हुई विपदा होती है और (अशिता निर्ऋतिः) खाई जानेपर गिरावट बनती है ॥ ३७ ॥ (अशिता ब्रह्मगवी) खाई हुई ब्राह्मणकी गौ (ब्रह्मज्यं अस्मात् अमुष्मात् च लोकात् छिनत्ति) ब्राह्मणघातकीको इस लोकसे और परलोकसे उखाड देती है ॥ ३८ ॥

(५।५)

(तस्याः आहननं कृत्या) उसका वध घात करनेवाला है (आशसनं मेनिः) उसके टुकडे करना वज्रघातसमान है, और (ऊबध्यं वलगः) उसका पक्व अन्न विनाशक होता है ॥ ३९ ॥

वह (परिह्णुता अस्वगता) ली जानेपरभी अपने पास नहीं रहती अर्थात् अपना घात करती है ॥ ४० ॥ (ब्रह्मगवी क्रव्यात् अग्निः भूत्वा ब्रह्मज्यं प्रविश्य अत्ति) ब्राह्मणकी गौ मांसभक्षक आग बनकर ब्राह्मणघातकीमें प्रवेश करके उसे खा जाती है ॥ ४१ ॥ (अस्य सर्वा अंगा मूलानि वृश्चति) इसके सब अंगों और मूलोंको काट डालती है ॥ ४२ ॥ (अस्य पितृबन्धु छिनत्ति) इसके पिताके बन्धुओंको छेदती है और (मातृबन्धु पराभावयति) माताके बन्धुओंको परास्त करती है ॥ ४३ ॥ (क्षत्रियेण अपुनर्दीयमाना ब्रह्मगवी) क्षत्रियके द्वारा पुनः वापस न दी गयी ब्राह्मणकी गौ (क्षत्रियस्य विवाहान् सर्वान् ज्ञातीन् क्षापयति) क्षत्रियके सब विवाहों और सब जातवालोंका नाश करती है ॥ ४४ ॥ (एनं अवास्तुं अस्वगं अप्रजसं करोति) इसे घरके विना, आश्रयरहित और प्रजारहित करती है, (अपरापरणः भवति, क्षीयते] सहायकसे रहित होता है और नष्ट होता है ॥ ४५ ॥ (यः क्षत्रियः विदुषः ब्राह्मस्य गां एवं आदत्ते) जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणकी गौको इसी तरह छीनता है ॥ ४६ ॥ [२८]

(५।६)

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाःपापमैलबम् ॥ ४८ ॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३ दिदं नु ता३ दिति ॥ ५० ॥
छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥
वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥
आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥
आदाय जीतं जीताय लोके३ऽमुष्मिन् प्र यच्छसि ॥ ५७ ॥
अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥
मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

(५।६)

अर्थ— (तस्य आहनने गृध्राः क्षिप्रं वै ऐलबं कुर्वते) उस दुष्टके हनन होनेपर गीध शीघ्र ही कोलाहल मचाते हैं ॥ ४७ ॥

(तस्य आदहनं) उसकी जलती चिताको देखकर (केशिनीः पाणिना उरसि अघ्नानाः पापं ऐलबं कुर्वाणाः परिनृत्यन्ति) बाल छोडकर हाथोंसे छातियोंपर मार मार बुरा शब्द करती हुई स्त्रियाँ इतस्ततः नाचती हैं ॥ ४८ ॥ (तस्य वास्तुषु वृकाः ऐलबं क्षिप्रं कुर्वन्ति] उसके घरोंमें भेडिये शीघ्र ही अपना शब्द करने लगते हैं ॥ ४९ ॥ (क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति) शीघ्र ही उसके विषयमें पूछते हैं कि (यत् तत् आसीत्) जैसा यह था (इदं नु तत् इति)क्या यह वही है ।५०। (छिन्धि आच्छिन्धि प्रच्छिन्धि) उसको काटो, काट डालो और टुकडे करो। (अपि क्षापय क्षापय) नाश करो, उसका नाश करो ॥ ५१ ॥ हे (आंगिरसि) अंगरसकी शक्ति ! (आददानं ब्रह्मज्यं उपदासय) ब्राह्मणकी गौको छीननेवाले घातकीका नाश करो ॥ ५२ ॥ तू (वैश्वदेवी हि कृत्या) सब देवोंकी विनाशक शक्ति (कूल्बजं आवृता उच्यसे) विनाशिनी है ऐसा कहते हैं ॥ ५३ ॥ (ओषन्ती समोषन्ती ब्राह्मणः वज्रः) तापदायक कष्ट करनेवाली यह ब्राह्मणकी वज्ररूप शक्ति है ॥ ५४ ॥ (त्वं क्षुरपविः मृत्युः भूत्वा विधाव) तू क्षुरके समान तीक्ष्ण बनकर उसका मृत्यु करनेके लिये दौड ॥ ५५ ॥ (जिनतां वर्चः इष्टं पूर्तं च आशिषः आदत्से) विनाश करनेवालेका तेज इष्टपूर्तता और आशिषोंको तू छीनती है ॥ ५६ ॥

(जीतं आदाय अमुष्मिन् लोके) हिंसक घातकी पुरुषको पकडकर परलोकमें (जीताय प्रयच्छसि) उसके घातके लिये तू देती है ॥ ५७ ॥ हे (अघ्नये) अवध्य गौ ! तू (ब्राह्मणस्य अभिशस्त्याः पदवीः भव) ब्राह्मणप्रशंसासे सबकी प्रतिष्ठा करनेवाली हो ॥ ५८ ॥ तू (मेनिः शरव्या भव) विनाशक शस्त्र बन, [अघात् अघविषा भव] पापसे पापरूपी बन ॥ ५९ ॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६० ॥
त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२९)

(५।७)

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥
यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ॥ ६५ ॥
वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥
लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥
अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

हे [अघ्न्ये] अवध्य गौ ! तू [ब्रह्मज्यस्य कृतागसः देवपीयोः अराधसः शिरः प्रजहि] ब्रह्मघातकी पापी देवनिंदक अदानी पापीका शिर काट डाल ॥ ६० ॥ [त्वया प्रमूर्णं मृदितं दुश्चितं अग्निः दहतु] तेरे द्वारा मारा गया नष्ट भ्रष्ट हुवे दुष्टबुद्धि शत्रुको अग्नि जला दे ॥ ६१ ॥

[वृश्च प्रवृश्च संवृश्च] काट, अधिक काट, अच्छी तरहसे काट, [दह प्रदह संदह] जला, अधिक जला, अच्छी तरहसे जला ॥ ६२ ॥ हे [अघ्न्ये देवि] अहिंसनीय गौ देवि ! [ब्रह्मज्यं आमूलात् अनुसंदह] ब्रह्मघातकीको समूल जला डाल ॥ ६३ ॥ [यथा यमसदनात् परावतः पापलोकान् अयात्] जैसा यमसदनसे परले पापी लोकोंके प्रति वह जावे [एवा कृतागसः देवपीयोः अराधसः ब्रह्मज्यस्य] इस तरह पापी देवशत्रु कंजुस ब्रह्मघातकी मनुष्यका [शिरः स्कन्धान्] शिर और कंधे [शतपर्वणा क्षुरभृष्टिना तीक्ष्णेन वज्रेण प्रजहि] सौ नोकवाले क्षुरके समान धारवाले तीक्ष्ण वज्रसे काट डाल ॥ ६४-६७ ॥ [अस्य लोमानि सं छिन्धि] इसके लोम काट डाल, [अस्य त्वचं वि वेष्टय] इसकी त्वचाको उधेड, [अस्य मांसानि शातय] इसके मांसको काट डाल, [अस्य स्नावानि संवृह] इसके स्नायुओंको कुचल, [अस्थीनि पीडय] इसकी हड्डियोंको पीडा दे, [अस्य मज्जानं निर्जहि] इसकी मज्जाको नाश कर, [अस्य सर्वा पर्वाणि विश्रथय] इसके सब पर्वोंको अलग कर ॥ ६८-७१ ॥ [एनं क्रव्याद् अग्निः पृथिव्याः नुदतां] इसको मांसभक्षक अग्नि पृथिवीके बाहर निकाले और [उत् ओषतु] जला देवे ॥ [वायुः महतः वरिम्णः अन्तरिक्षात्] वायु बडे भारी अन्तरिक्षसे दूर करे ॥ [सूर्यः एनं दिवः प्र नुदतां] सूर्य इसे द्युलोकसे दूर कर देवे और [नि ओषतु] जला देवे ॥ ७२-७३ ॥ [३०]

गौका महत्त्व ।

इस सूक्तमें और अगले सूक्तमें गौका महत्त्व वर्णन किया है इस दृष्टिसे ये दोनों सूक्त मनन करने योग्य हैं। पहिले ही मंत्रमें कहा है कि (ददामि इति एव ब्रूयात् ॥ १ ॥) मैं दान देता हूं ऐसा ही यजमान बोले, दान देनेमें संकोच न हो, न देनेकी ओर किसी प्रकार विचार न हो, सदा उपकार करनेका ही विचार मन में रहे।

ब्राह्मण क्यों याचना करते हैं ?

ब्राह्मणोंका घर एक गुरुकुल होता है, वहां अनेक छात्र होते हैं, उनका पोषण करना और उनको विद्या पढाना उस ब्राह्मणका कर्तव्य होता है। यज्ञयाग करनाभी उसका कर्तव्य है इस सबके लिये विद्वान् ब्राह्मणोंको गौकी आवश्यकता होती है। इस परोपकार और जगदुद्धारके कार्यके लिये ब्राह्मण लोग गौओंकी प्रार्थना करते हैं और अन्य लोग उनको न मांगने पर भी सत्पात्र ब्राह्मण देखकर गोदान करते हैं।

गौका दान तो ऐसे सत्पात्र ब्राह्मणको स्वयं करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते, परंतु मांगनेपरभी नहीं देते, उनसे न समझते हुए बडा सार्वजनिक पाप होता है। ब्राह्मणोंको जिस राष्ट्रमें मांगनेकी आवश्यकता होती है अर्थात् उनकी सहायताकी न्यूनता रहती है, उस राष्ट्रमें बडा पाप होता है। क्योंकि सद्ब्राह्मणोंके विद्याप्रचारसे ही राष्ट्रमें संस्कृति और सभ्यता स्थिर रह सकती है। इस तरह विचार करनेसे विदित होगा कि ब्राह्मणोंके मांगनेपर भी न देना कितना राष्ट्रीय पतनका हेतु हो सकता है।

दानका अधिकारी ब्राह्मण।

हरएक ब्राह्मण मांगनेका भी अधिकारी नहीं है और गौका दान लेनेका भी अधिकारी नहीं है। इस विषयमें वेदने स्पष्ट दानके अधिकारी ब्राह्मण का लक्षण बताया है—

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ (मं० २२)

" सैकडों ब्राह्मण लोग गौकी याचना करते रहें, परंतु उनमें केवल विद्वान्को ही गौ देनी चाहिये।" यह वेदका आदेश सदा स्मरण रखनेयोग्य है। जो चाहे सो ब्राह्मण दानका अधिकारी नहीं है, जो विद्वान् ब्राह्मण होगा वही दान लेनेका अधिकारी होगा। यहां वेदने ब्राह्मण जातीका पक्षपात नहीं किया है, केवल विद्वान् तत्त्वज्ञानी आचारसंपन्न ब्राह्मण जो कि अपने अध्ययन अध्यापनमें मग्न रहते हैं, जिनसे अपने लिये धन कमानेका व्यवसाय नहीं हो सकता, जो कि अपना जीवन ज्ञानवृद्धिके लिये लगाये हुए हैं, जिनके सत्संगमें रहते हुए अनेक छात्र कृतकृत्य हो रहे हैं, ऐसे सुयोग्य विद्वान्को ही गौ दान देनी चाहिये। यह आदेश सब दानोंके लिये है और गौके दानके लिये विशेष ही है।

यहां पाठकोंको विदित हुआ कि ऐसे सद्ब्राह्मणका ही गौपर अधिकार है और ऐसा यह अधिकार है यह बात (देवाः अब्रुवन्) देवोंने स्वयं कही है। अतः इसमें कोई किसी प्रकारका पक्षपात नहीं है।

मंत्र २ और ३ में ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देनेसे कैसी दुर्गति होती है वह बात कही है। विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्रमें न रहे तो ज्ञानवृद्धि नहीं होगी, और राष्ट्रमें ज्ञान न रहा तो सब प्रकारकी उन्नति होना असंभव है, यह बात स्पष्ट हो सकती है।

चौथे मंत्रमें 'विलोहित' ज्वर और पांचवें मंत्रमें "क्लिन्दु" नामक रोगका वर्णन है। (या मुखेन उपजिघ्रति) गौ जिस मुखसे सूंघती है उसे यह रोग होता है और वह मरता है। इस लक्षणसे यह रोग कौनसा है, इसका पता आजकल के वैद्य भी लगा सकते हैं। वैद्य और पशुडाक्टर इसकी खोज करें।

छटे मंत्रमें कहा है कि कई लोग गौके शरीरपर चिह्न करनेकी इच्छासे कानपर अथवा किसी अन्यभागपर चिह्न करते हैं। यह भी लोगोंकी परिपाटी बहुत बुरी है, क्योंकि इससे भी गौको बडे क्लेश होते हैं। गौको ऐसे क्लेश देना योग्य नहीं है। गौको ऐसी उत्तमतासे रखना चाहिये कि उसको किसी प्रकार भी कोई कष्ट न हो, वह आनन्दप्रसन्न रहे। ऐसी आनन्द प्रसन्न गौ रहेगी तो ही उसके सब गुण प्रकट होते हैं और वही गौ उत्तम गोरस देती है, जो कि मनुष्यमात्रके लिये हितकारी हो सकता है।

गौकी रक्षा।

कई लोग गौके बाल काटते हैं। ऐसा करना भी उचित नहीं है ऐसा सातवें मंत्रमें कहा है। आठवें मंत्रमें गौकी रक्षा करनेके संबंधमें एक बडी महत्त्वपूर्ण बात कही है। गवालिये

गौवोंको लेकर गोचर भूमिमें आते हैं और गौवोंको चरनेके लिये छोड देते हैं और स्वयं इधर उधर भटकते रहते हैं। ऐसी दशामें कौवे गौके पीछे पडकर उनको सताते हैं। ऐसा न हो यह सूचना मंत्र ८ वें में है। गवालिया गौकी योग्य रक्षा करे, कौवे आदिसे गौको पीडा तो नहीं होती है इस विषयमें सावधानता रखे। रघुवंशमें दिलीप राजा जैसी वसिष्ठकी गौकी रक्षा करता था, वैसी रक्षा हरएक गौरक्षक करे। कोई जीवजन्तु गौको पीडा न देवे। ऐसी रक्षा करनेवाला ही सुयोग्य गोरक्षक कहलावेगा।

गोबर और मूत्र।

नवम मंत्रमें गौका गोबर और मूत्र इधर उधर न फेंकनेकी आज्ञा कही है। किसी विशेष स्थानमें उनको अर्थात् गोबरको और मूत्रको सुरक्षित रखना चाहिये। क्योंकि यह उत्तम खाद है, जिससे धान्य फल फूल साग आदि उत्तम पैदा हो सकती है। इधर उधर नौकारानी फेंक देगी और उससे बडी हानि होगी। ऐसी अवस्था किसीभी गृहस्थीके घरमें न हो इसलिये यह आज्ञा दी है, गोबर और मूत्र इधर उधर फेंक देना [एनसः] पाप है, यह पतनका हेतु है। यह पाप कोई न करे।

आगे दशमसे द्वादशतक के मंत्रोंमें फिर कहा है कि यह गौ विद्वान् सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणकी होती है। [आर्षेय] ऋषिप्रणालीके अनुसार आचरण करनेवाले को ही इसका दान करना चाहिये।

तेरहवें मंत्रमें कहा है कि जो भोग्य पदार्थ गौसे प्राप्त होता है उसका विचार दाता गौका दान करनेके समय न करे। क्योंकि उसको वह भोग अन्य रीतिसे भी प्राप्त होगा। यदि कोई दाता दान देनेके समयमें यह विचार लावे कि "अरेरे, मुझे तो इससे यह भोग मिलेगा, और मैं इस भोगसे ऐसे सुख प्राप्त करूंगा, इसका दान करनेसे मुझे वे दुःख उठाने पडेंगे इ० इ०।" कोई दाता ऐसे कंजूसोंके विचार मनमें न लावे। इस प्रकार विचार मनमें लानेसे दान का सब महत्त्व नष्ट हो जायगा। दानसे जो मनकी उच्चता होती है, वह इस प्रकारके विचारोंसे समूल दूर होगी।

सोलहवें मंत्रमें फिर कहा है कि "गौ तो ऐसे सत्पात्र ब्राह्मणोंका ही धन है।" गौके स्वामीके पास तो वह तीन वर्षपर्यंत रहे, उसके पश्चात् वह सुविद्य सत्पात्र ब्राह्मणको दी जाय। योग्य ब्राह्मण प्रार्थना करनेके लिये न आवे तो वैसे ब्राह्मणको ढूंढना चाहिये, परंतु कभी अयोग्यको दान देना नहीं।

आगे २१ वें मंत्रतक दानका ही महत्त्व वर्णन किया है। २२ वें मंत्रमें विद्वान् ब्राह्मणको ही गौका दान करना चाहिये यह बात फिर कही है। सैकडों अविद्वान मांगें तो उनको देनी नहीं चाहिये। केवल विद्वान ही दान लेनेका अधिकारी है, यह बात हरएक दान देनेवालेको स्मरण रखनी चाहिये। इस तरह दान होते रहेंगे, तो जगत्का उद्धार होगा। कुपात्रमें दिये दान ही अधोगति करनेवाले होते हैं।

आगे तेईसवें मंत्रमें विशेष ही बलसे कहा है कि यदि कोई मनुष्य ऐसे विद्वान्को दान न देकर अन्य अविद्वानोंको देगा, तो उसको बडा दुःख होगा।

आगेके तीन मंत्रोंमें कहा है कि ब्राह्मण अग्न्यादि देवताओंके उद्देश्यसे गौके घृतदुग्धादिकी आहुतियां देते हैं और देवताओंका संतोष करते हैं, इसलिये उनको गौ दान करना चाहिये। यदि दान न किया तो यजमानको बडा कष्ट भोगना पडेगा। आगे ३२ वें मंत्रतक यही विषय कहा है।

क्षत्रियकी माता।

३३ वें मंत्रमें कहा है कि 'गौ क्षत्रियकी माता है' (वशा राजन्यस्य माता) इसलिये क्षत्रियको उचित है कि वह गौको माता मानकर उसका सत्कार यथायोग्य करे। गौको यदि कोई मनुष्य कष्ट देवे, तो क्षत्रिय अपनी माताको कष्ट देनेवाला समझकर यथायोग्य दण्ड देवे।

आगे ५३ वें मंत्रतक अर्थात् सूक्तकी समाप्ति तक गौका दान सुयोग्य ब्राह्मणको देना चाहिये, दान न देनेका भाव कोईभी मनमें न धारण करे, दान देनेसे कल्याण और न देनेसे दुःख होता है यही वर्णन है।

इन मंत्रोंमें कई स्थानोंपर गोदान न देकर जो स्वयं अपने लिये [पचते वशां] गौको पकाता है" ऐसे वाक्य हैं। जिनको वेदकी भाषाका परिचय नहीं है वे इससे ऐसा अनुमान करेंगे कि 'गौको पकाना, अर्थात् गोमांसका पकाना ही यहां अभीष्ट है।' जो लोग ऐसा विचार मनमें रखेंगे उनके विकल्पके निरासके लिये यहां थोडासा लिखनेकी आवश्यकता है।

वेदमें लक्षणविहित शब्दप्रयोग होते हैं जिससे "गो" शब्द 'गौसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका वाचक' होता है। अर्थात् ' वशां पचति'का अर्थ 'गौसे उत्पन्न दूध, घृत, दही, छाछ' आदि पकाता है, गोदुग्धसे किया पायस तैयार करता है। ऐसा है। इसी प्रकार 'गो' या ' वशा ' के अर्थ जैसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि पदार्थ हैं वैसे ही इस शब्दके अर्थ 'मांस, रक्त, हड्डी, चमडा, बाल, गोबर, गोमूत्र,' आदि भी हैं। हमारे विचारसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि अर्थ ही यहां लेना चाहिये। पाठक इसका विचार करें और इन मंत्रोंका आशय समझें।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

पंचम अनुवाक।

इस पंचम अनुवाकमें ७ पर्याय (विभाग) और ७३ मंत्र हैं। इस संपूर्ण सूक्तमें गौकी महिमा कही है और ब्राह्मणकी गौ कोई न छीने, ब्राह्मणको गौ दानमें दी जावे, जो ब्राह्मणों-अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणोंको सताते हैं, उनकी गौ चुराकर ले जाते हैं, उनके सर्वस्वका नाश होता है, इत्यादि वर्णन है।

विषय यही होनेसे इस सूक्तका विशेष स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पाठक मंत्रका अर्थ पढेंगे उनकी समझमें उनका आशय सहजहीमें आ सकता है। वर्णन कवि कल्पनासे पूर्ण है और उसी दृष्टिसे यह सूक्त देखना चाहिये।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

द्वादश काण्ड समाप्त ॥ १२ ॥

द्वादश काण्डकी विषयसूची ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य।

त्रयोदशं काण्डम्।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७, शके १८७२, सन १९५१

राष्ट्रधारक ।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥

अथर्ववेद १३।१।३५

“(ये राष्ट्रभृतः देवाः) जो राष्ट्रका भरणपोषण करनेवाले देव [सूर्यं अभितः यन्ति] सूर्यदेवके चारों ओर घूमते हैं, [तैः संविदानः सुमनस्यमानः रोहितः] उनके साथ रहनेवाला उत्तम संकल्पवाला रोहित अर्थात् सूर्य [ते राष्ट्रं दधातु] तेरे राष्ट्रका धारणपोषण करे ।”

राष्ट्रका धारणपोषण करनेवाले ज्ञानदेव, बलदेव, धनदेव, कर्मदेव और वनदेव ये पंच जन सूर्यदेवको अपना आदर्श माने, जैसा सूर्य सब जगत को प्रकाशित करता है, वैसे ये अपने राष्ट्रको ज्ञान बल धन कर्म आदि द्वारा प्रकाशित करें । इनकी मंत्रणासे कार्य करनेवाला राष्ट्रका धुरीण हमारे राष्ट्रका उत्तम रीतिसे धारणपोषण करे ।

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, किल्ला पारडी, (जि. सूरत.)

अथर्ववेदका सुबोध

भाष्य ।

त्रयोदश काण्ड ।

यह त्रयोदश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका पहिला काण्ड है । पहिला महाविभाग १ से ७ तक के सात काण्डोंका है । दूसरा महाविभाग ८ से १२ तक के पांच काण्डोंका है और तीसरा महाविभाग १३ से १८ काण्डतक के छः काण्डोंका है । इस तृतीय महाविभागका यह तेरहवां कांड पहिला है । इस काण्डमें चार सूक्त हैं और चारों सूक्तोंमें ' अध्यात्म रोहित आदित्य ' का वर्णन है । इस काण्डकी मंत्रसंख्या इस प्रकार है—

सूक्त	अनुवाक	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	६	६०
२	२	४+६ मंत्र	४६
३	३	२+६ "	२६
४	४	६ पर्याय	५६
४ सूक्त	४ अनुवाक		१८८ कुल मंत्रसंख्या

अब इनके ऋषि, देवता और छन्द देखिये—

ऋषि देवता और छंद ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६०	ब्रह्मा	अध्यात्मं रोहितः आदित्यः,	त्रिष्टुप् । ३ ५, ९, १२ अगत्यः। १५ अतिजगतीगर्भा जगती; ८ भुरिक्; १७ पंचपदाककुंमतीजगती;

			३ मरुतः, २८, ३१ अग्निः ३१ बहुदेवत्यं।	१३ अतिशाक्वरगर्भातिजगती, १४त्रिपदा पुरःपरशाक्करा विपरीतपादलक्ष्म्या पंक्तिः, १८, १९ ककुंमत्यतिजगत्यौ (१८ परशाक्करा भुरिक्;) २१ आर्षी निचृद्गायत्री; २२, २३, २७ प्रकृता; २६ विराट् परोष्णिक्; २८-३०, ३२ ३९, ४०, ४५-५०; ५१-५६; ५७-५८ अनुष्टुभः (२८ भुरिक्, ५२-५५ पथ्यापंक्तिः, ५५ ककुंमती बृहतीगर्भा; ५७ ककुंमती); ३१ पंचपदा ककुंमतीशाक्करगर्भा जगती; ३५ उपरिष्टाद्बृहती; ३६ निचृन्महा बृहती; ३७ परशाक्करा विराड् अतिजगती; ४२ विराड् जगती; ४३ विराड् महाबृहती; ४४ परोष्णिक्, ५ - ६० गायत्र्यौ।
	४६	„	अध्यात्मं रोहितः आदित्यः	„ १, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुभः; २, ३, ८, ४३ जगत्यः; १० आस्तारपंक्तिः, ११ बृहतीगर्भा; १६-२४ आर्षी गायत्री; २५ ककुंमती आस्तारपंक्तिः; २६ पुरोद्व्यतिजागता भुरिग्जगती; २७ विराड्जगती; २९ बार्हतगर्भाऽनुष्टुभ्; ३० पंचपदा उष्णिग्गर्भाऽतिजगती, ३४ आर्षी पंक्तिः; ३७ पंचपदा विराड्गर्भा जगती, ४४; ४५ जगत्यौ [४४ चतुष्पदा पुरः शाक्वरा भुरिक् ४५ अतिजागतगर्भा]।
३	२६	„	„	„ १ चतुरवसानाष्टपदा आकृतिः, २-४ त्र्यवसाना षट्पदा [२, ३ अष्टिः २ भुरिक्, ४ अतिशक्वरगर्भा धृतिः]; ५-७ चतुरवसाना सप्तपदा [५, ६ शाक्वरातिशाक्वरगर्भा प्रकृतिः, ७ अनुष्टुब्गर्भाति धृतिः], ८ त्र्यवसाना षट्पदा अत्यष्टिः, ९-१९ चतुरवसाना [९-१२, १५, १७ सप्तपदाभुरिगतिधृतिः, १५ निचृत्; १७ कृतिः; १३, १४, १६, १८, १९ अष्टपदा; १४, १४ विकृतिः; १६, १८, १९, आकृतिः; १९ भुरिक्], २०, २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अत्यष्टिः; २१ २३-२५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ सप्तपदा कृतिः; २१ आकृतिः; २३, २५ विकृतिः]
४ (१)	१३	„	„	„ १-११ प्राजापत्यानुष्टुभः; १२ विराड् गायत्री; १३ आसुरी उष्णिक्।
(२)	८	„	„	„ १४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् ; १५ आसुरी पंक्तिः, १६ १९ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; १७, १८ आसुरी गायत्री।
(३)	७	„	„	„ २२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; २३ आर्ची गायत्री; २५ एकपदा आसुरी गायत्री; २६ आर्ची अनुष्टुप् ; २७ २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्।

(४)	१७	,,	,,	,, २९, ३३, ३९, ४०, ४५ आसुरीगायत्र्यः; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ३१ विराड् गायत्री; ३४, ३७, ३८ साम्न्युष्णिहः; ४१ साम्नी बृहती; ४३ आर्षी गायत्री; ४४ साम्न्यनुष्टुप्।
(५)	६	,,	,,	,, ४६ आसुरी गायत्री; ४७ यवमध्या गायत्री; ४८ साम्नी उष्णिक्; ४९ निचृत्साम्नी बृहती; ५० प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ५१ विराड् गायत्री।
(६)	५	,,	,,	,, ५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुभौ, ५४ आर्षी गायत्री।

इस प्रकार इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद हैं। इन सब सूक्तोंकी देवता एक ही है, इसलिये चारों सूक्तोंका अर्थ समाप्त होनेपर सबका मिलकर इकट्ठा ही स्पष्टीकरण किया जायगा।

वह निःसंदेह एक है ।

स एष एकं एकवृदेक एव ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ २१ ॥

अथर्ववेद १३ । ४

"वह एक है, वह अकेला एक अखंड व्यापक है, निःसन्देह एक ही है, सब अन्य देव उसमें एकरूप होते हैं ।"

वह परमेश्वर केवल अकेला एक ही है, निःसन्देह उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।

--०--

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।

अध्यात्म—प्रकरण ।

(१)

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ १ ॥

उद्वाज आ गन् यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः ।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वाजिन् ! उत् एहि) सामर्थ्यवान् आत्मदेव ! तू उदयको प्राप्त हो । (यः अप्सु अन्तः) जो तू आपोमय प्राणोंके परे है, वह तू (इदं सूनृतावत् राष्ट्रं प्रविश) इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट हो, (यः रोहितः इदं विश्वं जजान) जिस देवने यह सब उत्पन्न किया है, (सः त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु) वह तुझे इस राष्ट्रके लिए उत्तम भरणपोषणपूर्वक धारण करे ॥ १ ॥

(यः अप्सु अन्तः) जो आपोमय प्राणोंके अन्दर विद्यमान है वह (वाजः उत् आगन्) सामर्थ्य ऊपर आगया है। (याः त्वत्- योनयः विशः) जो तेरी जातिकी प्रजाएं हैं, उनमें तू (आरोह) उच्च स्थानमें विराजमान हो । (इह सोमं दधानः) इस राष्ट्रमें सोमादि वनस्पतियोंका पोषण करते हुए (अपः ओषधीः गाः चतुष्पदः द्विपदः) जल, औषधियां गौवें, चतुष्पाद और द्विपाद प्राणियोंको (आवेशय) निवास कराओ ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रत्येक आत्मा अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करे । प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करे । अपने राष्ट्रपर प्रेम करे और उसकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे । इस सूर्यदेवने इस जगत् की उत्पत्ति की है, वही तुम्हें राष्ट्रीय उन्नति करनेके लिये हृष्टपुष्ट करेगा ॥ १ ॥

मनुष्यका सामर्थ्य वही है जो उसके प्राणमें विद्यमान है । उस सामर्थ्यसे युक्त होकर अपनी सजातीय प्रजामें— अर्थात् अपने राष्ट्रमें रहकर अभ्युदय प्राप्त करना चाहिये । वहां अपने राष्ट्रमें रहकर वनस्पतियां, जलस्थान, औषधियां, गौवें और अनेक द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओंका धारण करे ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् ।
आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥
रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम् ।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन् षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥
आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् ।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः ॥ ५ ॥
रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान ।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (मरुतः) मरनेतक लडनेवाले वीरो ! (यूयं उग्राः पृश्निमातरः) तुम सब बहुत शूर और भूमिको अपनी माता माननेवाले हो, तुम (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्रमृणीत) इन्द्रके साथ रहकर शत्रुओंका नाश करो। हे (सुदानवः) रोहितः आ शृणवत्) उत्तम दान देनेवाले वीरो ! वह सूर्यदेव तुम्हारी बात सुने। (त्रि—सप्तासः मरुतः स्वादुसंमुदः) आप तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस प्रकारके वीर उत्तम आनंद देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

(रोहितः रुहः रुरोह) प्रकाशवान सूर्यदेव उच्च स्थानमें विराजमान हुआ है, अर्थात् (जनुषां जनीनां उपस्थं गर्भः आरुरोह) स्त्रीयोंकी गोदमें यह गर्भ बैठ गया है। (षट् उर्वीः ताभिः संरब्धं अन्वविन्दन्) छः दिशाओंने उनके द्वारा बढाये गर्भको प्राप्त किया। वह (गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रं आहाः) उन्नतिका मार्ग जानता हुआ यहां राष्ट्रको उन्नत करता है ॥ ४ ॥

(ते राष्ट्रं इह रोहितः आहार्षीत्) तेरे राष्ट्रको यहां उसी सूर्यदेवने लाया है। (मृधः वि आस्थत्) शत्रुओंको दूर किया, और (ते अभयं अभूत्) तेरे लिए निर्भयता हो गयी है। (तस्मै ते रेवतीभिः शक्वरीभिः द्यावापृथिवी इह कामं दुहाथां) उस तेरे हितके लिए धन और शक्तियोंद्वारा ये द्युलोक और पृथिवीको यहां इस राष्ट्रमें यथेच्छ उपभोग देवें ॥ ५ ॥

[रोहितः द्यावापृथिवी जजान) इस सूर्यदेवने इस द्युलोक और पृथ्वीलोकको उत्पन्न किया है। [तत्र परमेष्ठी तन्तुं ततान] वहां परमात्माने सूत्रात्माको फैलाया है। [तत्र एकपादः अजः शिश्रिये] वहां एकपाद आत्माने आश्रय किया है। उसीने [बलेन द्यावापृथिवी अदृंहत्] अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको सुदृढ बनाया ॥ ६ ॥

भावार्थ- सब लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षा अपने उग्र शौर्यसे करें। मातृभूमिके शत्रुओंका नाश करें। मनमें उदारतायुक्त दातृत्वका भाव धारण करें। जो वीर मरनेतक लडनेवाले होते हैं, वे ही उत्तम आनंद देनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, मानो यह अपनी माताकी गोदमें बैठा है। इस समय मानो छहों दिशाओंने उस गर्भका धारण किया है। यह गर्भ आगे उन्नत होता है, स्वयं उन्नतिका मार्ग जानता है और राष्ट्रको भी उन्नत करता है ॥४॥

इस सूर्यदेवने ही तेरे राष्ट्रको उच्च स्थितिमें लाया है। उसी ने शत्रुओंको दूर किया और तुझे निर्भय किया है। इस राष्ट्रमें रहनेवालोंके लिए इस भूमिमें धन और शक्तियां पर्याप्त हों ॥ ५ ॥

इस सूर्यदेवने द्युलोक और पृथ्वीलोकको बनाया है। यहां परमात्माने सूत्ररूप आत्माको फैलाया है। वहां जीवात्माने आश्रय लिया है। उसीने अपने बलसे इस पृथ्वीको सुदृढ बनाया है ॥ ६ ॥

रोहि॑तो॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑दृंहत् तेन॒ स्व॑स्तभि॒तं तेन॒ नाकः॑ ।
तेना॒न्तरि॑क्षं॒ विमि॑ता॒ रजां॑सि॒ तेन॑ दे॒वा अ॒मृत॒मन्व॑विन्दन् ॥ ७ ॥
वि रोहि॑तो अमृशद् वि॒श्वरू॑पं समाकुर्वा॒णः प्र॒रुहो॒ रुह॑श्च ।
दिवं॑ रू॒ढ्वा म॑ह॒ता म॑हि॒म्ना सं ते॑ रा॒ष्ट्रम॑नक्तु॒ पय॑सा घृ॒तेन॑ ॥ ८ ॥
यास्ते॒ रुहः॑ प्र॒रुहो॒ यास्त॑ आ॒रुहो॒ याभि॑रापृ॒णासि॑ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम् ।
तासां॒ ब्रह्म॑णा॒ पय॑सा वावृधा॒नो वि॒शि रा॒ष्ट्रे जा॑गृहि॒ रोहि॑तस्य ॥ ९ ॥
यास्ते॒ विश॒स्तप॑सः संबभू॒वुर्व॒त्सं गा॑य॒त्रीमनु॒ ता इ॒हागुः॑ ।
तास्त्वा॒ विश॑न्तु॒ मन॑सा शि॒वेन॒ संमा॑ता व॒त्सो अ॒भ्ये॑तु॒ रोहि॑तः ॥ १० ॥(१)
ऊ॒र्ध्वो रोहि॑तो॒ अधि॒ नाके॒ अस्था॒द् विश्वा॑ रू॒पाणि॑ ज॒नय॑न् युवा॑ क॒विः ।
ति॒ग्मेना॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ वि भा॑ति तृ॒तीये॑ चक्रे॒ रजा॑सि प्रि॒याणि॑ ॥ ११ ॥

अर्थ— (रोहितः द्यावापृथिवी अदृंहत्) सूर्यदेवने द्युलोक और पृथिवी लोकको सुदृढ बनाया। (तेन तेन स्वः नाकः स्तभितं) उसीने स्वर्गनामक सुखपूर्ण लोक ऊपर थाम रखा है। (तेन अन्तरिक्षं रजांसि विमिता) उसने अन्तरिक्ष लोकको बनाया और (तेन देवाः अमृतं अन्वविन्दन्) उसीके द्वारा सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

(रोहितः प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाणः विश्वरूपं वि अमृशत्) सूर्यदेवने ऊंचे और नीचे सब दिशाओंको इकट्ठा करके सब विश्वके रूपको बनानेका विचार किया। वह (महता महिम्ना दिवं रूढ्वा) अपने बडे सामर्थ्यसे द्युलोकपर आरूढ होकर (ते राष्ट्रं पयसा घृतेन सं अनक्तु) तेरे राष्ट्रको घी और दूधसे भरपूर करे ॥ ८ ॥

(याः ते रुहः प्ररुहः याः ते आरुहः) जो तुम्हारे आगे, पीछे और ऊपर बढनेके मार्ग हैं (याभिः दिवं अंतरिक्षं आपृणासि) जिनके द्वारा तू द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भरपूर करता है, (तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानः) उनके बलवर्धक रससे बढता हुआ तू (रोहितस्य विशि राष्ट्रे जागृहि) सूर्यदेवकी प्रजामें और राष्ट्रमें जाग्रत रह ॥ ९ ॥

[ते तपसः याः विशः संबभूवुः] तेरे प्रकाशसे जो प्रजाएं उत्पन्न होगयी हैं, [ताः इह वत्सं गायत्रीं अनु अगुः] वे प्रजाएं यहां संतान और अपने प्राणत्राणसंबंधी व्यापारके अनुकूल होकर चलती हैं। [ताः शिवेन मनसा त्वा विशन्तु] वे प्रजाएं शुभसंकल्पयुक्त मनसे तेरे अन्दर प्रविष्ट हों। (संमाता रोहितः वत्सः अभ्येतु) माता और सूर्य रूपी बछडा मिलकर आगे बढें ॥ १० ॥

(युवा कविः विश्वा रूपाणि जनयन्) तरुण ज्ञानी सब जगत् के रूपको प्रकाशित करता हुआ (रोहितः ऊर्ध्वः नाके अधि अस्थात्) सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा है। यह (अग्निः तिग्मेन ज्योतिषा विभाति) अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है। वह (तृतीये रजसि प्रियाणि चक्रे) तीसरे अन्तरिक्ष लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ-सूर्यदेवने ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को सुदृढ बनाया है उसीसे सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ है ॥७॥

सूर्यके कारण ही सब जगत् को सुंदर रूप मिला है। वह अपनी महिमासे स्वर्गलोकपर चढकर इस राष्ट्रको दूध और घीसे भरपूर करता है ॥ ८ ॥

जो अनेक मार्ग स्वर्गधामको प्राप्त करनेके हैं, उनके ज्ञानसे तथा घृतदुग्ध आदिसे हृष्टपुष्ट होते हुए इस राष्ट्रमें और इस प्रजामें सतत जाग्रत रहो ॥ ९ ॥

सूर्यसे ही ये सब प्रजाजन-सब प्राणिमात्र-उत्पन्न हो गये हैं, ये सब प्राणरक्षण के प्रयत्नमें सदा दत्तचित्त रहते हैं। ये सब को सब प्रजाएं उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मनसे ईश्वरमें आश्रय लेकर रहें। माता और पुत्र मिलकर उन्नतिको प्राप्त हों ॥ १० ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।
मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥
रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥
रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युप मेमान्यागुः ।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ १४ ॥
आ त्वा रुरोह बृहत्युत पङ्क्तिरा ककुब् वर्चसा जातवेदः ।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

अर्थ- यह (जातवेदाः सहस्रशृङ्गः वृषभः) बने हुए सब पदार्थोंको जाननेवाला हजारों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला [घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः] घृतकी आहुतियां स्वीकारनेवाला, सोमका हवन जिसपर होता है ऐसा उत्तम वीर यह है। यह [नाथितः मा मा हासीत्] याचना करनेपर मेरा त्याग न करे। तथा [त्वा इत् न जहानि] तुझे निश्चयसे मैं नहीं छोडूंगा। [मे गो-पोषं वीर-पोषं च धेहि] मुझे गोपालनका तथा वीरोंके पालनका सामर्थ्य दे ॥ १२ ॥

[रोहितः यज्ञस्य जनिता मुखं च] सूर्य यज्ञका उत्पन्नकर्ता और यज्ञका मुख है। [वाचा श्रोत्रेण मनसा च रोहिताय जुहोमि] वाणीसे, कानसे और मनसे इस सूर्यके लिये हवन करता हूं। [सुमनस्यमानाः देवाः रोहितं यन्ति] उत्तम संकल्प करनेवाले देव सूर्यको प्राप्त होते हैं। [सः सामित्यै रोहैः मा रोहयतुः] वह सभाके लिये अनेक उन्नतियोंसे मुझे उन्नत करे ॥ १३ ॥

[रोहितः विश्वकर्मणे यज्ञं व्यदधात्] सूर्यने विश्वकर्माके लिए यज्ञ किया। [तस्मात् इमानि तेजांसि मा उप आ गुः] उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास प्राप्त हुए हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयम्] अतः इस भुवनके महत्वके बीच तेरा मुख्य भाग है, ऐसा मैं कहता हूं ॥ १४ ॥

हे (जातवेदः) सब उत्पन्न हुएको जाननेवाले! (त्वा बृहती आ रुरोह) तुझपर बृहती चढी है, [उत पंक्तिः आ, ककुब् वर्चसा आ) पंक्ति और ककुब अपने तेजके साथ चढे हैं। (उष्णिहाक्षरः त्वा आरुरोह) उष्णिक् छंदके अक्षर भी तेरे उपर चढे हैं। तथा (रोहितः रेतसा सह) सूर्य अपने वीर्यके साथ है ॥ १५ ॥

भावार्थ- यह सदा तरुण सब देखनेवाला सूर्य सबके रूपोंको प्रकाशित करता हुआ द्युलोकमें रहा है। सब अपने प्रखर तेजके साथ प्रकाशता है और तीसरे लोकमें रहकर सब का प्रिय करता है ॥ ११ ॥

यही सूर्य अग्नि है, जिसमें घृत और सोमकी आहुतियां होमी जाती हैं। यह मेरा कभी त्याग न करे और मैं उसका कभी त्याग न करूं। इससे हमारी गौवें तथा संतानें हृष्ट पुष्ट हों ॥ १२ ॥

इसी सूर्यसे यज्ञ बने हैं, यज्ञमें अग्नि रूपसे यही मुख्य है। हवन करने के समय वाणी, कान और मनका साथ साथ उपयोग होना चाहिये। शुभ संकल्प करनेवाले सब इसीको प्राप्त होते हैं। यह मुझपर कृपा करे और सभाओंद्वारा जो मानवी उन्नति होना संभव है, वह मुझे प्राप्त करावे ॥ १३ ॥

सूर्यदेवके द्वारा ही सब शुभ कर्मोका स्रोतरूप यज्ञ बना है। इससे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, वह सब मुझे प्राप्त हो। इस सब संसारके मध्यमें महत्वकी दृष्टिसे यही मुख्य है ॥ १४ ॥

बृहती, पंक्ति, ककुब्, उष्णिक्, वषट्कार आदि सब उसी एक देवका वर्णन कर रहे हैं, मानो वह इनमें रहा है। ॥ १५ ॥

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम् ।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥
वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥
वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु ॥ १८ ॥
वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥
परि त्वा धात् सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् ॥ २० ॥(२)

अर्थ- (अयं पृथिव्याः गर्भं वस्ते) यह पृथिवीके गर्भमें बसता है। (अयं दिवं अन्तरिक्षं वस्ते), यह द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें बसता है। (अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे) यह प्रकाशलोकके शिरोभागपर स्वर्गलोकमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे (वाचस्पते) वाणीके स्वामिन् ! (नः पृथिवी स्योना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर होवे। (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो। (नः तल्पा सुशेवा) हमारे लिए बिछोने सुखदायी हों। (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहां ही हमारे सख्यमें प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेजसे धारण करे ॥ १७ ॥

हे वाचस्पते ! (ये नौ विश्वकर्मणाः पंच ऋतवः परि संबभूवुः) जो हमारे संपूर्ण कर्मोंको पालन करनेवाले पांच ऋतु उत्पन्न हुए हैं। यहां ही प्राण हमारे सख्यमें रहे। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको यह (रोहितः) सूर्य आयु और तेजके साथ धारण करे ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा (मनः सौमनसं) मन उत्तम शुभसंकल्पयुक्त हो। (नः गोष्ठे गाः जनय) हमारी गोशालामें गौको उत्पन्न कर और (योनिषु प्रजाः) घरोंमें संतानोंको उत्पन्न कर। यहां हमारे सख्यमें यह प्राण रहे। हे परमेष्ठिन् ! उस तुझको (अहं) मैं आयु और तेजके साथ (दधामि) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

(सविता देवः त्वा परि धात्) सविता देव तेरे चारों ओर रहे। (अग्निः वर्चसा, मित्रावरुणौ त्वा अभि) अग्नि अपने तेजसे और मित्र तथा वरुण तेरी चारों ओरसे रक्षा करें। (सर्वाः अरातीः अवक्रामन् एहि) सब शत्रुओंके ऊपर चढाई करते हुए आगे बढ तथा (इदं राष्ट्रं सूनृतावत् अकरः) इस राष्ट्रको आनंदपूर्ण कर ॥ २० ॥

भावार्थ--यह एक देव पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकके अंदर विद्यमान है। यह द्युलोकके उच्च स्थानपर रहता हुआ सबमें व्यापता है ॥ १६ ॥

हे वाणीके स्वामी ! हमारे लिए पृथ्वी, घर, बिछोना आदि सब पदार्थ सुखदायक हों। हममें प्राण दीर्घकालतक रहे और हमें वह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ॥ १७ ॥

जो विविध कर्म करनेवाले ऋतु हैं, वे हमें सहायक हों, उनसे हमें दीर्घ आयु और तेजस्विता प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हमारा मन शुभसंकल्प करनेवाला बने, हमारी गोशाला में विपुल गौवें और घरमें वीर संतान हों। मैं परमात्माका धारण दीर्घायु और तेजस्विताके साथ करता हूं ॥ १९ ॥

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित । शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥
अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः ।
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥
इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति ।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥२३॥
सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् ।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥ २४ ॥
यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव ।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥

अर्थ—हे (रोहित) सूर्य ! (यं त्वा पृषतीः पृष्टिः वहति) जिस तुझको विविध रंगवाली घोडी ले जाती है, वह तू (अपः रिणन् शुभा यासि) पानीको चलाता हुआ प्रकाशके साथ शुभ रीतिसे चलता है ॥ २१ ॥

(रोहितस्य अनुव्रता) सूर्यके अनुकूल चलनेवाली (सूरिः सुवर्णा सुवर्चाः बृहती रोहिणी) ज्ञानी, उत्तम रंगवाली, तेजस्विनी बडी रोहिणी है । उससे (विश्वरूपान् वाजान् जयेम) हम अनेक प्रकारसे अन्न प्राप्त करेंगे और (विश्वाःपृतनाः अभिष्याम) सब शत्रुओंकी सेनाओंको परास्त करेंगे ॥ २२ ॥

(इदं रोहितस्य सदः रोहिणी) यह सूर्यका घर रोहिणी है । (असौ पन्थाः येनं पृषती याति) यह मार्ग है जिससे उसकी विविधरंगवाली घोडी जाती है । (तां गन्धर्वाः कश्यपाः उन्नयंति) उसको गंधर्व और कश्यप उन्नत करते हैं, (कवयः तां अप्रमादं रक्षन्ति) ज्ञानी प्रमादरहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

(केतुमन्तः अमृताः हरयः अश्वाः सूर्यस्य रथं सदा सुखं वहन्ति) प्रकाशयुक्त अमर गतिमान् घोडे सूर्यके रथको सदा सुखपूर्वक चलाते हैं । (घृतपावा भ्राजमानः देवः रोहितः इमा पृषती दिव विवेश) घृतसे पवित्र करनेवाला तेजस्वी सूर्यदेव इस विविध रंगवाली प्रभा समेत द्युलोकमें प्रविष्ट होता है ॥ २४ ॥

(यः तिग्मशृंगः वृषभः रोहितः) जो तीक्ष्ण सींगवाला बलवान् रोहित (अग्निं परि, सूर्यं परि बभूव) अग्नि और सूर्यके चारों ओर होता है । (यः पृथिवीं दिवं च विष्टभ्नाति) जो पृथ्वी और द्युलोकको थाम रखता है [तस्मात् देवाः सृष्टिः अधिसृजन्ते] उससे देव सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ-सब देव हमें सहायक हों । सब शत्रु परास्त हों और यह हमारा राष्ट्र आनंदप्रसन्नतासे युक्त हो ॥ २० ॥

सूर्यसे विविध रंगवाली किरणें सूर्यतत्वको यहांतक लाती हैं, जिससे हमें प्रकाश मिलता है ॥ २१ ॥

सूर्यप्रकाशमें बढानेकी शक्ति है, उससे हमें अनेक प्रकारके अन्न और बल प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

सूर्य ही इस अद्भुत शक्तिका घर है, सब विविध रंगवाली किरणोंसे वह शक्ति फैलती है । ज्ञानी लोग विशेष दक्षतासे उसीको अपने अन्दर धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ये प्रकाशमान अद्भुत अमर शक्तिसे युक्त सूर्यकिरण सदा सुखदायक हैं । इन पुष्टिकारक किरणोंसे युक्त सूर्य इस द्युलोकमें प्रकाशता है ॥ २४ ॥

यह तीक्ष्ण किरणवाला बलवान् सूर्य चारों ओर घूमकर सब जगत् के पदार्थोंका धारण करता है ॥ २५ ॥

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात् । सर्वा रुरोह रोहितो रुहः ॥ २६ ॥
वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा ।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व ॥ २७ ॥
समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥
हन्त्वेनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥
अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।
अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (६)
अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते ।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

अर्थ-(महतः अर्णवात् रोहितः दिवं परि आरुहत्) बडे समुद्रसे सूर्य द्युलोकसे भी ऊपर चढा है। (रोहितः सर्वाः रुहः रुरोह) यह सूर्य सब उच्चताओंपर चढा है ॥ २१ ॥

(पयस्वतीं घृताचीं वि मिमीष्व) दूधवाली और घीवाली गौको सिद्ध करो, [एषा देवानां धेनुः अनपस्पृक्] यह देवोंकी गौ हलचल न करनेवाली है। (इन्द्रः सोमं पिबतु) इन्द्र सोम पीवे, (क्षेमः अस्तु) सबका क्षेम हो, (अग्निः प्र स्तौतु) अग्नि स्तुति करे, (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर कर ॥ २७ ॥

(अग्निः समिद्धः घृतवृद्धः घृताहुतः समिधानः) अग्नि उत्तम प्रदीप्त होनेपर घीकी आहुतियां डालकर बढाया हुआ अच्छी प्रकार जलने लगा है। वह (अभीषाड् विश्वाषाड् अग्निः ये मम सपत्नान् हन्तु) सर्वत्र विजय करके शत्रुओंको दूर करनेवाला अग्नि जो मेरे शत्रु हैं, उन सबका नाश करे ॥ २८ ॥

(यः अरिः नः पृतन्यति) जो शत्रु हमपर सेना चलाकर हमला करता है (एनान् हन्तु, प्रदहतु) इन शत्रुओंको मारे, अच्छो प्रकार भस्म करे। (क्रव्यादा अग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि) मांसभक्षक अग्निद्वारा हम शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

हे इन्द्र! (वज्रेण बाहुमान् अवाचीनान् अवजहि) वज्रसे बहुत सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओंको नीचे दबाकर मार दे। (अधा मामकान् सपत्नान् अग्नेः तेजोभिः आदिषि) और मेरे शत्रुओंको अग्निके तेजोंसे अपने वशमें करता हूं ॥ ३० ॥

हे अग्ने ! (सपत्नान् अस्मद् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओंको हमारे सन्मुख नीचे गिराओ। हे बृहस्पते ! (उत्पिपानं सजातं व्यथय) कष्ट देनेवाले सजातीय शत्रुको व्यथा कर। हे इन्द्राग्नी ! हे मित्रावरुणो ! (अप्रति--मन्यूयमानाः अधरे पद्यन्ताम्) हमारे शत्रु निष्फल क्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय ॥ ३१ ॥

भावार्थ- सूर्य उदय होनेपर आकाशके मध्यतक ऊपर चढता है, और वहांसे सबके ऊपर प्रकाशता है ॥ २६ ॥

उत्तम दूध और घी देनेवाली गौवें पालीं जांय, उनके दूध घी का यज्ञमें हवन किया जावे। दही दूध आदिके साथ सोम रस पिया जावे। इससे सबका कल्याण हो और यह यज्ञ द्वारा उपासना सबका भला करे ॥ २७ ॥

अग्निमें घीका हवन हो, अग्नि उपासनासे समाज की संघटना हो और सब मिलकर अपने शत्रुओंको दूर भगा देवें॥ २८॥

यदि बाहरका शत्रु सेना लेकर अपने ऊपर आगया तो वीर लोग उसको परास्त करके भगा देवें। अपने अंदरके जो शत्रु होंगे, उनको भी वशमें रखना चाहिए। कोई शत्रु सिर ऊपर न कर सके ॥ २९-३१ ॥

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः ॥ ३२ ॥
वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम् ।
घृतेनार्कमभ्यर्चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति ॥ ३३ ॥
दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं१ सं स्पृशस्व ॥ ३४ ॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम् ॥ ३६ ॥

अर्थ— हे सूर्यदेव! (त्वं उद्यन् मे सपत्नान् अवजहि) तू उगता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर। (एनान् अश्मना अवजहि) इन शत्रुओंका पत्थरसे नाश कर। (ते अधमं तमः यन्तु) वे गहरे अंधेरेमें जावें ॥ ३२ ॥

(विराजः वत्सः मतीनां वृषभः शुक्रपृष्ठः अन्तरिक्षं आ रुरोह) विराट्का बच्चा, मतियोंको बढानेवाला बलशाली पीठवाला होकर अन्तरिक्षपर चढा है। (घृतेन वत्सं अर्कं अभि अर्चन्ति) घीसे बच्चारूपी सूर्यकी पूजा करते हैं। वह स्वयं (ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति) ब्रह्म होता हुआ भी उसीको ब्रह्म नाम स्तुतियोंसे बढाते हैं ॥ ३३ ॥

(दिवं च रोह, पृथिवीं च रोह) द्युलोक पर चढ और पृथ्वीपर चढ। (राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह) राष्ट्रपर चढ और धनपर चढ। (प्रजां च रोह, अमृतं च रोह) प्रजा और अमरपनपर चढ, (रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व) अपने लालवर्णसे मेरे शरीरको पूर्ण कर ॥ ३४ ॥

[ये राष्ट्रभृतः देवाः सूर्यं अभितः यन्ति] जो राष्ट्रपोषक देव सूर्यके चारों ओर घूमते हैं, (तैः संविदानः रोहित सुमनस्यमानः ते राष्ट्रं दधातु) इनके साथ मिला हुआ रोहित सुप्रसन्न होकर तेरे राष्ट्रका धारण करे ॥ ३५ ॥

[ब्रह्मपूताः यज्ञाः त्वा उत् वहन्ति] मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ तुझे ऊपर उठाते हैं। [अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति] मार्गसे जानेवाले घोडे तुझे ले चलते हैं। [समुद्रं अर्णवं तिरः अति रोचसे] समुद्र महासागर तू अति प्रकाशित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ– परमेश्वर कृपा करे और हमारे शत्रुओंका बल कम करे। शत्रु नीच स्थानमें भाग जावें ॥ ३२ ॥

सूर्य बलवर्धक, बुद्धिवर्धक है। उसीका बच्चा अग्नि है। अग्निमें घीके हवन करनेसे उसकी पूजा होती है। सूर्य स्वयं ब्रह्मका दृश्यरूप है और वही ब्रह्म नाम मंत्रसे स्तुतियों द्वारा बढाया जाता है ॥ ३३ ॥

स्वर्ग, पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा, अमरपन आदि विषयमें प्रगति संपादन करना चाहिये। इस कार्य करनेका बल प्राप्त करना हो तो सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरका संबंध जोड दो, जिससे विलक्षण बल प्राप्त होकर उक्त कार्य सिद्ध होगा ॥ ३४ ॥

राष्ट्रका भरणपोषण करनेवाले देव सूर्यकी उपासना करते हैं, इसलिये सूर्यके प्रकाशमें रहते हैं। वे बल प्राप्त करते हैं, मन सुसंस्कृत करते हैं, राष्ट्र धारण करने योग्य बनते हैं ॥ ३५ ॥

सूर्य उदय होते ही मंत्रघोष और यज्ञ प्रारंभ होते हैं। सूर्यकिरण सर्वत्र फैलते हैं और समुद्रतक सब भूमिपर प्रकाश होता है ॥ ३६ ॥

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संधनाजिति।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि ॥ ३७ ॥
यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम्।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥ ३८ ॥
अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥
देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (६)
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अर्थ— [वसुजिति गोजिति संधनाजिति रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते] धन, गौवें और ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले सूर्यके आश्रयसे द्युलोक और भूलोक ठहरे हैं [यस्य सहस्रं सप्त च जनिमानि] जिस तेरे हजार और सात जन्म हैं। [भुवनस्य मज्मनि अधि ते नाभिं वोचेयं] इस जगत् की महिमामें तेरा ही केन्द्र है, ऐसा मैं कहूंगा ॥ ३७ ॥

[प्रदिशः दिशः च यशाः यासि] दिशा और उपदिशाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। (पशूनां उत चर्षणीनां यशाः] पशु और प्रजाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है। [पृथिव्याः अदित्याः उपस्थे यशाः] पृथ्वीके ऊपर और अदितिकी गोदमें यशस्वी होकर [अहं सविता इव चारुः भूयासं] मैं ऐसे सविताके समान सुंदर बनूं ॥ ३८ ॥

[अमुत्र सन् इह वेत्थ, इतः सन् तानि पश्यसि] वहां रहकर यहां का ज्ञान प्राप्त करते और यहां रहकर उनको देखते हैं। [इतः दिवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं पश्यन्ति] यहांसे द्युलोकमें प्रकाशमान ज्ञानी सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

[देवः देवान् मर्चयसि, अर्णवे अन्तः चरसि] प्रकाशमान होकर अन्य प्रकाशकोंको शुद्ध करता है, समुद्रके अन्दर संचार करते हैं [समानं अग्निं इंधते] समान तेजस्वी अग्निको प्रदीप्त करता है। [कवयः तं परे विदुः] ज्ञानी उसको परे जानते हैं ॥ ४० ॥

[एना गौः अवः परेण, परः अवरेण पदा वत्सं बिभ्रती] यह गाय निम्न स्थानवालेको दूरके पदसे और परवालेको पासवाले पदसे बछडेको धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है। [सा कद्रीची कं स्वित् अर्धं परा अगात्] वह कहांसे आती है और किस अर्धभागके पास जाती है? वह [क्व स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ ४१ ॥ (ऋ० १।१६४।१७; अथर्व० ९।९।१७)

भावार्थ— धन, गौवें और ऐश्वर्य सूर्यसे संबंधित है। इसके हजारों प्रकार हैं, उन सबका मध्य केंद्र सूर्य ही है ॥ ३७ ॥

दिशा, उपदिशा, पशु, प्रजाजन, भूमि, आदि सबका यश केवल सूर्य है। सूर्यको आदर्श मानकर सब लोग सूर्यके समान सुंदर बनें ॥ ३८ ॥

सूर्य दूर दूरका भी देखता है। द्युलोकमें रहता हुआ सर्वत्र प्रकाशता है ॥ ३९ ॥

सूर्य सब अन्य प्रकाशकेन्द्रोंको भी प्रकाशित करता है। उसके उदयसे अग्नि प्रदीप्त होता है। ज्ञानी लोग सूर्यको ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४० ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासवाले पदसे दूर बछडेको धारण पोषण करती है। यह कहांसे आती है, कि आधे भागके पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए। वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ ४१ ॥

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी ।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ ४२ ॥
आरोहन् द्यामुमृतः प्राव मे वचः ।
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥
वेद तत् ते अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।
यत् ते सधस्थं परमे व्योमन् ॥ ४४ ॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥ ४५ ॥
उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

अर्थ-[सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभूवुषी]वह एक दो चार आठ और नौ पादोंवाली तथा बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली[सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्तिः]हजारों अक्षरोंवाली भुवनकी पंक्ति है। [तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति] उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ ४२ ॥ (ऋ० १।१६४।४१; अथर्व० ९।१०।२१)

(अमृतः द्यां आरोहन् मे वचः प्र अव)तू अमर देव द्युलोक पर आरूढ होकर मेरे भाषण की रक्षा कर।(त्वा ब्रह्मपूताः यज्ञाः उत् वहन्ति)तुझे मंत्रसे पवित्र हुए यज्ञ बढाते हैं,तथा (अध्वगतः हरयः त्वा वहन्ति) मार्गस्थ घोडे तुझे ले चलते हैं ॥४३॥

हे (अमर्त्य) देव ! (यत् ते दिवि आक्रमणं) जो तेरा द्युलोकमें आक्रमण है और(यत् ते परमे व्योमन् सधस्थं) जो तेरा परले आकाशमें स्थान है (तत् ते वेद) तेरा वह तुझे विदित है ॥ ४४ ॥

(सूर्यः द्यां, सूर्यः पृथिवीं, सूर्यः आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोक पृथ्वी और जल को अत्यंत पूर्णतासे देखता है। (सूर्यः भुवनस्य एकः चक्षुः महीं दिवं आरुरोह) सूर्य सब भुवनका एकमात्र नेत्र है, वह बडे द्युलोक पर आरूढ हुआ है ॥ ४५ ॥

(उर्वीः परिधयः आसन्) बडी परिधियें थीं, (भूमिः वेदिः अकल्पयत) भूमि वेदी बनायी गयी । (तत्र रोहितः हिमं घ्रंसं च एतौ अग्नी आधत्त) वहां सूर्यने शीत और उष्ण ये अग्नि रखे ॥ ४६ ॥

भावार्थ- यह वाणीरूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाणी एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पादोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। मानो यह सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध काव्य रस स्रवते हैं ॥ ४२ ॥

सूर्य वाणीका रक्षक है, अकाशमें चढकर सबको सामर्थ्य देता है। सब यज्ञ उसीका महिमा बढाते हैं, उसके किरण उसको सब जगत्में पहुंचाते हैं ॥ ४३ ॥

सूर्यका द्युलोकमें स्थान, उसका महत्व यह सब ज्ञानी लोग जानते हैं ॥ ४४ ॥

सूर्य द्युलोक, आकाश, पृथ्वी, आप आदिको देखता है। सूर्य ही सबका प्रकाशक है। वह पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करता है ॥ ४५ ॥

इस यज्ञका प्रारंभ भूमिरूपी वेदीपर हुआ । इसकी परिधियें बडी विस्तृत थीं। शीतकाल और उष्णकाल ये दो अग्नि इस यज्ञमें थे ॥ ४६ ॥

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥
स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥
ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥
सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्व१न्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५० ॥ (५)
यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥
वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥
वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

अर्थ-(हिमं घ्रंसं च आधाय,पर्वतान् यूपान् कृत्वा)शीत और उष्ण ऋतु बनाकर,पर्वतोंको यूप बनाकर,(वर्षाज्यौ अग्नी स्वर्विदः रोहितस्य ईजाते) वर्षारूप घृतको प्राप्त करनेवाले ये दोनों अग्नि आत्मज्ञ रोहित देवके लिये यज्ञ करते हैं ॥४७॥

(स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मणा अग्निः समिध्यते) आत्मज्ञानी सूर्यके मंत्रोंसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। [तस्माद् घ्रंसः तस्मात् हिमः, तस्मात् यज्ञः अजायत] उससे उष्णता, उससे सर्दी और उससे यज्ञ होता है ॥ ४८ ॥

[ब्रह्मणा वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ अग्नी] ज्ञानसे बढनेवाले, मंत्रके साथ प्रदीप्त होनेवाले मंत्रसे हवन किये गये, दो अग्नी हैं। (स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें मंत्रसे प्रज्वलित हुए ये दो अग्नी प्रदीप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

[अन्यः सत्ये समाहितः] एक सत्यमें स्थिर है, [अन्यः अप्सु समिध्यते] दूसरा जलमें प्रदीप्त होता है। [स्वर्विदः रोहितस्य ब्रह्मेद्धौ अग्नी ईजाते] आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें ये मंत्रसे प्रदीप्त हुए दोनों अग्नि प्रदीप्त होते हैं ॥ ५० ॥ [५]

(वातः इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः वा यं परि शुंभति) वायु, इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ये जिसके लिए प्रकाश फेंका रहे हैं, उस (स्वर्विद०) आत्मज्ञानी सूर्यदेवके लिए ये अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

(भूमिं वेदिं कृत्वा, दिवं दक्षिणां कृत्वा) भूमिकी वेदी बनाकर, द्युलोककी दक्षिणा करके, (घ्रंसं तदग्निं कृत्वा वर्षेण आज्येन रोहितः विश्वं आत्मन्वत् चकार) उष्ण ऋतुको वहांका अग्नि करके वृष्टिरूप घीसे सूर्यने सब जगत् को आत्मवान् बना दिया है ॥ ५२ ॥

[वर्षं आज्यं, घ्रंसः अग्निः, भूमिः, वेदिः अकल्पयत्] वृष्टिको घी, उष्णताको अग्नि, भूमिको वेदी बनाया गया। (तत्र अग्निः गीर्भिः एतान् पर्वतान् ऊर्ध्वान् अकल्पयत्) वहां अग्निने शब्दोंसे इन पर्वतोंको ऊंचा बना दिया है ॥ ५३ ॥

१ (अ. शु. भा. कां. १२)

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥
स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥
यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥
यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५७ ॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

अर्थ-(गीर्भिः ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा,रोहितः भूमिं अब्रवीत्) शब्दोंसे पर्वतोंको ऊंचा बनाकर सूर्य भूमिसे बोला कि (यत् भूतं यच्च भाव्यं सर्वं त्वदीयं जायताम्) जो हो चुका और जो होनेवाला है, वह सब तेराही बनकर रहे ॥ ५४ ॥

(सः प्रथमः यज्ञः भूतः भव्यः अजायत) वह पहिला यज्ञ भूत और भविष्यके लिए बना। (तस्मात् इदं सर्वं जज्ञे, यत् किं च इदं विरोचते) उससे यह सब उत्पन्न हुआ, जो कुछ यह विराजता है, वह (ऋषिणा रोहितेन आभृतं) रोहित ऋषिने—सूर्यदेवने भरण किया हुआ है ॥ ५५ ॥

(यः गां च पदा स्फुरति) जो गौको पांवसे ठुकराता है, (सूर्यं च प्रत्यङ् मेहति) किंवा सूर्यके सन्मुख मूत्र करता है, (तस्य ते मूलं वृश्चामि, परं छायां न करवः) उस पुरुषका मूल काटता हूं, उसके पश्चात् तू अपनी छाया वहां नहीं करेगा ॥ ५६ ॥

(यः मां अभिच्छायं अत्येषि) जो तू मुझे अपनी छायामें रखकर चलता है, (मां अग्निं च अन्तरा) मेरे और अग्निके बीचमें गुजरता है, उस तेरा मूल मैं काटता हूं, जिससे तू इस तरह आगे छाया न कर सकेगा ॥ ५७ ॥

हे देव सूर्य ! (यः अद्य त्वां च मां च अन्तरा आयति) जो आज तेरे और मेरे बीचमें आता है, (तस्मिन् दुष्वप्न्यं शमलं दुरितानि च मृज्महे) उसमें दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पाप जमा देते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पर्वत यूप बनाये गये,वृष्टि घीका कार्य करने लगी,और मंत्रपाठपूर्वक यह यज्ञ प्रारंभ हुआ ॥ इसमें वायु ब्रह्मणस्पति होकर कार्य करने लगा। स्वर्ग की दक्षिणा याजकों के लिये रखी गयी। इस यज्ञसे सबमें आत्मिक बल आगया ॥ ४७-५३ ॥

जो भूत, भविष्य और वर्तमान है, वह सब इसीसे संबंधित है ॥ ५४ ॥

यही यज्ञ भूत भविष्यके लिए आदर्श हुआ। इसी यज्ञसे सब कुछ बना ॥ ५५ ॥

जो गायको लात मारता है, सूर्यके सन्मुख मूत्रादि मल त्याग करता है, वह दण्डनीय है ॥ ५६ ॥

जो अपनी छायामें दूसरेको रखता है, अग्नि तथा सूर्य और उपासक के बीच खडा रहता है, वह भी दण्डनीय है ॥ ५७-५८ ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः   ॥ ५९ ॥
यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः ।
तमाहुतमशीमहि   ॥ ६० ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(वयं पथः मा प्रगाम) हम मार्गको न छोडें, हे इन्द्र ! (सोमिनः यज्ञात् मा) हम सोम यागसे भी दूर न जावें, (नः अरातयः अन्तः मा तस्थुः) हमारे शत्रु हमारी उन्नतिके बीचमें न खडे रहें ॥ ५९ ॥ [ऋ० १०। ५७। १]

(यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आततः) जो यज्ञका साधक ज्ञानतन्तु देवोंमें फैला है, (तं आहुतं अशीमहि) उसका सेवन हम करें ॥ ६० ॥

(५) ऋ० १०। ५७। २

भावार्थ- हम अपना शुद्ध मार्ग कभी न छोडें । यज्ञसे दूर न हों । हमारे शत्रु कभी प्रबल न हों ॥ ५९ ॥
जो यज्ञ सब देवोंमें देवत्वका लक्षण होकर रहा है, वह हम सबमें रहे ॥ ६० ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

॥ २ ॥

उदु॑स्य के॒तवो॑ दि॒वि शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते ।
आ॒दि॒त्यस्य॑ नृ॒चक्ष॑सो म॒हिव्र॑तस्य मी॒ढुषः॑   ॥ १ ॥
दि॒शां प्र॒ज्ञानां॑ स्व॒रय॑न्तम॒र्चिषा॑ सुप॒क्षमा॒शुं प॒तय॑न्तमर्ण॒वे ।
स्तवा॑म॒ सूर्यं॒ भुव॑नस्य गो॒पां यो र॒श्मिभि॒र्दिश॑ आ॒भाति॒ सर्वाः॑   ॥ २ ॥

अर्थ—(मीढुषः महिव्रतस्य नृचक्षसः अस्य आदित्यस्य) सिंचन करनेवाले, बडे व्रत करनेवाले, मनुष्योंके निरीक्षक इस सूर्यके (शुक्राः भ्राजन्तः केतवः उत् ईरते) शुद्ध तेजस्वी किरण उदित होकर चमकते हैं ॥ १ ॥

(अर्चिषा प्रज्ञानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाशसे ज्ञापक दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले, (अर्णवे सुपक्षं आशुं पतयन्तं) समुद्रमें उत्तम किरणोंके साथ चलनेवाले, [भुवनस्य गोपां सूर्यं स्तवाम] त्रिभुवनके रक्षक सूर्यकी हम प्रशंसा करते हैं । (यः रश्मिभिः सर्वाः दिशः आभाति) जो अपने किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य से वृष्टि होती है, वह बडा व्रती है, मनुष्योंका निरीक्षण करता है, पृथिवी आदिका धारण करता है, इसके उदय होनेपर चारों ओर स्वच्छ प्रकाश होता है ॥ १ ॥

यह सूर्य अपने प्रकाशसे दस दिशाओंको प्रकाशित करता हैं, अन्तरिक्षमें संचार करता है, यह सब भुवनोंकी रक्षा करने-वाला है, इसकी स्तुति करना योग्य है ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद् यमत्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥
मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् ।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ६ ॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥ ७ ॥

अर्थ-(यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया शीभं यासि) जो तू पूर्व और पश्चिम दिशामें अपनी धारक शक्तिके साथ शीघ्र जाता है, (मायया नानारूपे अहनी कर्षि) अपनी शक्तिसे अनेक रूपवाले दिन और रात बनाता है । हे आदित्य ! (तत् ते महि महि श्रवः) वह तेरा ही बडा महिमा है । (यत् एकः विश्वं भूम परि जायसे) जो अकेला तू सब संसारके ऊपर प्रभाव करता है ॥ ३ ॥

(बह्वीः सप्त हरितः) बडी सात किरणें, (यं भ्राजमानं तरणिं विपश्चितं वहन्ति) जिस तेजस्वी तारनेवाले ज्ञानी देवको ले जाती हैं । (यं अत्रिः स्रुतात् दिवं उन्निनाय) जिसको अत्ता आत्माने स्रवनेवाले जलसे द्युलोक तक पहुंचाया है, (तं त्वा आजिं परियान्तं पश्यन्ति) उस तुझको चारों ओर घूमते हुए देखते हैं ॥ ४ ॥

(परियान्तं आजिं त्वा मा दभन्) चारों ओर घूमनेवाले तुझको शत्रु न दबा देवें । (स्वस्ति, दुर्गान् शीभं अति याहि)सुखरूपतासे कठिन स्थानोंके पार शीघ्रतासे चल । हे सूर्य ! (दिवं च देवीं पृथिवीं च अहोरात्रे विमिमानः यत् एषि) द्युलोक और दिव्य पृथिवीको, अहोरात्रको निर्माण करता हुआ तू जाता है ॥ ५ ॥

हे सूर्य ! (ते चरसे रथाय स्वस्ति) तेरे चलनेवाले रथके लिए शुभमंगल हो । (येन उभौ अन्तौ सद्यः परि यासि) जिससे दोनों सीमाओंतक तत्काल जाता है । (सप्त बह्वीः यदि वा वहिष्ठाः हरिताः शतं अश्वाः यं ते वहन्ति) सात किरणें किंवा चलनेवाली सौ अश्वरूप किरणें जिस तुझको चलाती हैं ॥ ६ ॥

हे सूर्य ! (अंशुमन्तं स्योनं सुवह्निं वाजिनं सुखं रथं अधितिष्ठ) तेजस्वी सुखदायी चलानेवाले गतिवाले उत्तम रथपर चढ । (सप्त०) उस तुझको सात किरणें अथवा सेकडों किरणें ले चलती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ- जो पूर्व दिशामें उदय होकर पश्चिम दिशामें अस्त होता है, जो अपने प्रकाशसे दिन और अप्रकाशसे रात्रि निर्माण करता है, उसका महिमा बडा है, वही संसारमें बडा प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

सात तेजस्वी किरणें सूर्यका प्रकाश प्रभावयुक्त बनाती हैं । ज्ञानी लोग इसका महत्त्व जानते हैं । यह सूर्य द्युलोकमें चढकर सर्वत्र अपना तेज फैलाता है ॥ ४ ॥

तू चारों ओर प्रकाश को फैलाता है, तेरी किरणें शीघ्रगतिवाली हैं, तेरे प्रकाशसे सबका कल्याण होता है । तू द्युलोक और पृथ्वीको प्रकाशित करता हुआ दिन और रात्रिको निर्माण करता है ॥ ५ ॥

तेरा रथ कल्याणरूप है, इसीसे तू उदयसे अस्ततक आक्रमण करता है । सात किरणें और अनंत प्रकाश तेरा प्रभाव बढा रहे हैं ॥ ६ ॥

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥
उद् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥
उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाँल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥ (७)
पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ-(सूर्यः हिरण्यत्वचसः बृहतीः सप्त हरितः यातवे रथे अयुक्त) सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले बडे सात किरण चलनेके लिए अपने रथमें जोडे हैं । (शुक्रः देवः तमो विधूय रजसः परस्तात् अमोचि दिवं आरुहत्) शुद्ध देवने अंधकारको स्थानसे हटाकर रजोलोकसे परे छोड दिया और स्वयं द्युलोकपर चढा ॥ ८ ॥

(देवः बृहता केतुना उत् आगन्) सूर्यदेव बडे प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हुआ है, (तमः अपावृक् ज्योतिः अश्रैत्) उसने अन्धकार दूर किया और तेजका आश्रय किया है । (सः दिव्यः सुपर्णः अदितेः वीरः पुत्रः विश्वा भुवनानि व्यख्यत्) उस दिव्य प्रकाशमान अदितिके वीर पुत्र सूर्यने सब भुवनोंको प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

(उद्यन् रश्मीन् आ तनुषे) उदय होनेपर किरणोंको तू फैलाता है । (विश्वा रूपाणि पुष्यसि) सब रूपोंको पुष्ट करता है । (उभौ समुद्रौ क्रतुना विभासि) दोनों समुद्रोंको यज्ञसे प्रकाशित करता है और (परिभूः भ्राजमानः सर्वान् लोकान्) सबपर प्रभाव करता हुआ तेजस्वी तू सब लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १० ॥ (७)

(एतौ शिशू क्रीडन्तौ मायया पूर्वापरं चरतः) ये दो बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र खेलते हुए, स्वशक्तिसे आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परियातः) समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुंचते हैं । [अन्यः विश्वा भुवना विचष्टे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और (अन्यः ऋतून् विदधत् नवः जायसे) दूसरा ऋतुओंको बनाता हुआ नया नया बनाता है ॥ ११ ॥ (अथर्व० ७।८१ (८६) ।१; १४।१।२३)

भावार्थ-- तेरा रथ तेजस्वी, सुखदायी, गतिमान् बलवान् है । उसकी किरणें तेरा प्रभाव बढा रही हैं ॥ ७ ॥

सूर्य अपने चमकनेवाली किरणोंके साथ अपने रथमें विराजता है । यह प्रकाशमान देव अन्धकारको दूर करके उसको दूर भगा देता है और द्युलोकमें विराजता है ॥ ८ ॥

सूर्य उदय होता है, उससे अन्धकार दूर होता है, उसके प्रकाशसे संपूर्ण विश्व प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

सूर्य उदय होनेपर उसका प्रकाश फैलता है, समुद्रतकके संपूर्ण भूमिपर सब लोक यज्ञकर्म शुरू करते हैं, इस तरह सब जगत् देदीप्यमान होता है ॥ १२ ॥

संसाररूपी घरके छोटे बडे (चंद्र और सूर्य) बालक अपनी शक्तिसे खेलते हुए समुद्र तक पुरुषार्थ करते हुए जाते हैं । उनमें से एक जगतको प्रकाशित करता है, और दूसरा ऋतुओंको बनाता है । इसी तरह सब गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरुषार्थसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ ११ ॥

दि॒वि त्वा॒त्रिर॑धारय॒त् सूर्या॒ मासा॑य॒ कर्त॑वे ।
स ए॑ति सु॒धृ॑त॒स्तप॒न् विश्वा॑ भू॒ताव॒चाक॑शत् ॥ १२ ॥
उ॒भावन्तौ॒ सम॑र्षसि व॒त्सः सं॑मा॒तरा॑विव ।
न॒न्वे॒३॒॑तदि॒तः पु॒रा ब्रह्म॑ दे॒वा अ॒मी वि॑दुः ॥ १३ ॥
यत् स॑मु॒द्रमनु॑ श्रि॒तं तत् सि॑षासति॒ सूर्यः॑ ।
अध्वा॑स्य॒ वित॑तो म॒हान् पूर्व॑श्चाप॑रश्च॒ यः ॥ १४ ॥
तं स॒मा॑प्नोति जू॒तिभि॒स्ततो॒ नाप॑ चिकित्सति ।
तेना॒मृत॑स्य भ॒क्षं दे॒वानां॒ नाव॑ रुन्धते ॥ १५ ॥
उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑ ।
दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म् ॥ १६ ॥

अर्थ-हे सूर्य (मासाय कर्तवे अत्रिः त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अत्रिने तुझे द्युलोकमें धारण किया। (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुधृतः एति) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ स्वयं सुस्थिर होकर चलता है ॥ १२ ॥

[वत्सः मातरौ इव उभौ अन्तौ सं अर्षसि] जैसा बछडा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसा तू दोनों अन्तिम भागोंको प्राप्त होता है। (ननु इतः पुरा अमी देवाः एतत् ब्रह्म विदुः) निश्चयपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस ब्रह्मको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुश्रितं तत् सूर्यः सिषासति) जो समुद्रके आश्रयसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है। (अस्य यः पूर्वः अपरः च महान् अध्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बडा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(तं जूतिभिः समाप्नोति, ततो न अपचिकित्सति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गसे वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता, (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवरुन्धते) उस कारण देवोंके अमृत अन्नके भागसे दूर नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) किरण उस बने हुएको जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय दृशे) समस्त संसार के दर्शनके लिए (उत् उ वहन्ति) उच्च स्थानमें प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १।५०।१, वा० यजु० ७।४१, अथर्व० २०।४७।१३)

भावार्थ- सूर्य महिने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है, वह प्रकाशता है, सबका धारण भी करता है ॥ १२ ॥

जैसा बच्चा माता पिताओंको प्राप्त करता है, वैसाही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है। इसका सब तत्त्व सब देव यथावत् जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रत्नादि है वह सूर्य प्राप्त करता है, इस सूर्य का यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बडाभारी है ॥ १४ ॥

वह अपने मार्गको शीघ्रतासे समाप्त करता है, अपना मन इधर उधर होने नहीं देता। इस कारण उसको अमृतान्नका भाग नियमसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यदेवकी किरणें संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही प्रकाशती हैं और उसको उच्च आसनमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥
अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥
तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥
प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥ (८)
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥
वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

अर्थ- (यथा त्ये तायवः, नक्षत्रा अक्तुभिः अप यान्ति) जैसे वे चोर वैसे नक्षत्रगण रात्रिके साथ दूर भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे सूराय) संसारके प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिए स्थान करते हैं ॥ १७ ॥ (ऋ० १ । ५० । २; अथर्व० २० । ४७ । १४)

(यथा भ्राजन्तः अग्नयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं, (अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अदृश्रन्) इसकी ध्वजरूपी किरण लोगोंके प्रति जाते हुए दीखते हैं ॥ १८ ॥ (ऋ० १ । ५० । ३, वा० य० ८ । ४०; अथर्व. २० । ४७ । १५)

हे (रोचन सूर्य) प्रकाशक सूर्य ! तू (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) तारक विश्वको दर्शानेवाला और प्रकाश करनेवाला है (विश्वं आ भासि) सब जगत् को प्रकाशित करता है ॥ १९ ॥ (ऋ० १।५०।४)

[देवानां विशः प्रत्यङ्] देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू उदित होता है तथा (स्वः दृशे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिए सब विश्वके प्रति जाता है ॥ २० ॥ ८ ॥ [ऋ० १। ५० । ५]

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव ! [येन चक्षसा त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि] जिस नेत्रसे तू मनुष्योंमें भरणपोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है, उससे मुझे देख ॥ २१ ॥ [ऋ० १।५०।६]

हे सूर्य ! [अक्तुभिः अहः मिमानः] रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ [पृथु रजः द्यां एषि] विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और [जन्मानि पश्यन्] सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ २२ ॥ [ऋ० १ । ५० । ७]

भावार्थ— जैसे चोर स्वामीके आनेसे भाग जाते हैं, वैसेही सूर्यके आनेसे सब नक्षत्र भाग जाते हैं और सूर्यदेवके लिए स्थान खुला छोड देते हैं ॥ १७ ॥

चमकनेवाले अग्निके समान इसके किरण अत्यंत तेजस्वी और सबको प्रकाश देनेवाले हैं ॥ १८ ॥

सूर्य तेजस्वी है, तारक है, सबको रूप दर्शानेवाला है, कान्तिको फैलानेवाला है, उसीसे सब जगत तेजस्वी होता है ॥ १९ ॥

दैवी और मानवी प्रजाओंके हितार्थ यह सूर्य उदित होता है । सब विश्वको यह तेजका मार्ग दर्शाता है ॥ २० ॥

सूर्य जिस प्रेममय नेत्रसे पुरुषार्थी मनुष्यको देखता है, उसी नेत्रसे वह मुझे देखे, अर्थात् वह मुझपर प्रेम करे ॥ २१ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ २३ ॥
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥
रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव ॥ २५ ॥
यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः ।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥ २६ ॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते ॥ २७ ॥

अर्थ- हे सूर्यदेव ! [सप्त हरितः शोचिष्केशं विचक्षणं त्वा रथे वहन्ति] सात किरण शुद्ध करनेवाले दर्शक ऐसे तुझको रथमें चलाते हैं ॥ २३ ॥ (ऋ० १ । ५० । ८)

(सूरः रथस्य नप्त्यः सप्त शुन्ध्युवः अयुक्त) ज्ञानमय रथको सात शुद्ध किरण जोडे हैं (ताभिः स्वयुक्तिभिः याति) उनसे अपनी योजनाओंसे वह जाता है ॥ २४ ॥ (ऋ० १।५०।९)

(तपसः तपस्वी रोहितः दिवं आरुहत्) प्रकाशसे तेजस्वी बना सूर्य द्युलोकपर चढा है । [सः योनिं एति] वह मूलस्थानको प्राप्त होता है, [सः उ पुनः जायते] वह पुनः पुनः उत्पन्न होता है, [सः देवानां अधिपतिः बभूव] वह देवोंका स्वामी हुआ है ॥ २५ ॥

[यः विश्वचर्षणिः उत विश्वतः-मुखः] जो सब प्राणिमात्रके रूपवाला और सब ओर मुखवाला है, [यः विश्वतः-पाणिः उत विश्वतः पृथः] जिसके हाथ और भुजा सब ओर हैं, [बाहुभ्यां पतत्रैः सं सं भरति] जो अपने बाहुओं और चरणों द्वारा भरणपोषण करता है, ऐसा [द्यावा-पृथिवी जनयन् देवः एकः] भूलोक और द्युलोकका निर्माण करनेवाला देव एक ही है ॥ २६ ॥ [ऋ० १० । ८१ । ३; वा० य० १७ । १९ पाठान्तरयुक्त]

[एकपात् द्विपदः भूयः विचक्रमे] एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक चलता है, [द्विपात् त्रिपादं पश्चात् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववाले के पीछेसे आकर मिलता है । (द्विपात् ह षट्पदः भूयः विचक्रमे) दो पांववाला निश्चयसे छः पांववालेसे भी अधिक चलता है, [ते एकपदः तन्वं समासते] वे एक पांववालेके शरीरका आश्रय करते हैं ॥ २७ ॥ [ऋ० १० । ११७ । ८; अथर्व. १३।३।२५ पाठान्तरयुक्त]

भावार्थ- सूर्य अन्तरिक्ष लोकमें संचार करता हुआ, और सब लोगोंके व्यवहारोंका निरीक्षण करता हुआ, दिन और रात्रिका विभाग करता हुआ, द्युलोकमें विराजता है ॥ २२ ॥

सूर्यदेवकी सात किरणें उसको रथमें चलाती हैं, वह पवित्र किरणोंवाला और ज्ञानी है ॥ २३ ॥

ज्ञानमय सूर्यके रथमें सात किरणें जोडी हैं, वे शुद्धता करनेवाले हैं । वे अपनी योजनाओंसे चलते हैं ॥ २४ ॥

प्रकाशमान सूर्य द्युलोकमें आरूढ होकर पश्चात् अपने स्थानमें पहुंचता है और फिर उदयको प्राप्त होता है, इस तरह वह सब अन्य देवोंका अधिपति हुआ है ॥ २५ ॥

सब प्राणियोंको रूप देनेवाला सूर्य है । इसका मुख सर्वत्र है, वैसे ही हाथ और भुजाएं सर्वत्र हैं । वह अपने बाहुओं द्वारा सबका पोषण करता है । वह एक ही देव पृथ्वीसे द्युलोक तकके सब पदार्थ मात्रको उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः ।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३० ॥ (९)
अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥
चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अतन्द्रः यास्यन् हरितः यदा आस्थात्) आलस्य न करनेवाला जब जानेकी इच्छा करता है तब वह अपने अश्वोंपर आरूढ होकर (रोचमानः द्वे रूपे कृणुते) प्रकाशित होकर दो रूप बनाता है। हे आदित्य ! (केतुमान् उद्यन् विश्वा रजांसि सहमानः) किरणोंसे युक्त होकर उदयको प्राप्त होनेवाला सब लोकोंको जीतनेवाला तू (प्रवतः विभासि) उच्च स्थानसे चमकता है ॥ २८ ॥

हे सूर्य ! हे आदित्य ! (बट् महान् असि] तू सबसे बडा है (ते महतः महिमा महान्) तुझ महान् देवका महिमा बहुत बडा है ॥ २९ ॥ [ऋ० ८।१०१।११; वा. यजु० ३३।३९; अथर्व० २०।५८।३]

हे (देव पतंग) चालक देव ! तू (दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां अप्सु अन्तः रोचसे) द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोक और जलोंके अन्दर प्रकाशित होता है। (रुच्या उभौ समुद्रौ व्यापिथ) तू अपने तेजसे दोनों समुद्रतक व्यापता है। ऐसा तू (स्वः-जित् देवः महिषः असि) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला देव महासामर्थ्ययुक्त है ॥ ३० ॥ ९ ॥

[आशुः विपश्चित् पतंगः व्यध्वे प्रयतः] शीघ्रगामी ज्ञानी संचालक विशेषतः मार्गमें शुद्ध [परस्तात् अर्वाङ्] ऊपरसे यहां तक [विष्णुः विचित्रः शवसा अधितिष्ठन्] व्यापक और विशेष चिन्तनशक्तिसे युक्त अपने बलसे अधिष्ठाता होता हुआ (केतुना एजत् विश्वं प्र सहते) प्रकाशसे गतिमान् विश्वका धारण करता है ॥ ३१ ॥

[चित्रः चिकित्वान् महिषः सुपर्णः] विलक्षण ज्ञानी, समर्थ, और उत्तम गतिमान् [अन्तरिक्षं रोदसी आरोचयन्] अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोकको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है। ऐसे [सूर्यं अहोरात्रे परिवसाने] सूर्यपर दिन और रात वसते हुए [अस्य विश्वा वीर्याणि प्र तिरतः] इसके सब वीर्य फैलाते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ— यह एक पांववाला होनेपर भी अनेक पांववालोंसे आगे बढता है। सब अनेक पांववाले इसी एक पांववाले के आश्रयसे रहते हैं ॥ २७ ॥

यह आलस्य छोडकर सदा अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है। यह प्रकाश और अंधेरा उत्पन्न करता है। यह किरणोंसे सबको प्रभावित करके उच्च स्थानमें विराजता है ॥ २८ ॥

सूर्य सबसे बडा है, उसकी महिमा भी बहुत बडी है ॥ २९ ॥

यह सूर्य पृथ्वी जल अन्तरिक्ष तथा द्युलोकमें प्रकाशता है, पृथ्वीपर और अन्तरिक्ष के दोनों जलस्थानोंमें अपना प्रकाश यह फैलाता है। यही सबमें अधिक सामर्थ्यशाली है ॥ ३० ॥

यह शीघ्रगामी देखनेवाला संचालक शुद्ध मार्गका दर्शक वहांसे यहांतक सब विश्वको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं १ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः ।
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ ३६ ॥

अर्थ- (तिग्मः विभ्राजन् तन्वं शिशानः) तीक्ष्ण प्रकाशवाला अपने शरीरको तीक्ष्ण करनेवाला, [अरंगमासः प्रवतः रराणः] पर्याप्त गतिवाला उच्च स्थानपर रमनेवाला [ज्योतिष्मान् पक्षी महिषः वयोधाः] तेजस्वी आकाशमें संचार करनेवाला बलवान् और बल धारण करनेवाला (विश्वा: प्रदिशः कल्पमानः आस्थात्) सब दिशाओंमें सामर्थ्ययुक्त होता हुआ स्थिर रहता है ॥ ३३ ॥

[देवानां केतुः चित्रं अनीकं] देवोंका ध्वज, विलक्षण मूल आधाररूप (ज्योतिष्मान् सूर्यः प्रदिशः उद्यन्) तेजस्वी सूर्य दिशाओंमें उदित होता हुआ [शुक्रः विश्वा दुरितानि तमांसि द्युम्नैः अतारीत्] शुद्ध सूर्य सब पापरूप अंधकारोंको अपने तेजोंसे पार करता है, और [दिवा करोति] दिनका प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥ [अथर्व. २०।१०७।१३]

(देवानां चित्रं अनीकं, मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) देवोंका अद्भुत धारक बल, मित्र वरुण और अग्निकी आंख (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्राद्) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीको व्यापता है ऐसा [सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा] सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ॥ ३५ ॥ [ऋ० १ । ११५ । १; वा० यजु० ६ । ४२, १३ । ४६; अथर्व २०।१०७।१४]

(उच्चा पतन्तं सुपर्णं दिवः मध्ये भ्राजमानं तरणिं) उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षी जैसे आकाशके मध्यमें तेजस्वी होकर तैरनेवाले [यं अजस्रं ज्योतिः आहुः तं सवितारं त्वा पश्याम] जिसे विशेष तेजस्वी करके कहते हैं उस तुझ सूर्यको हम देखते हैं, (यत् अत्रिः अविन्दत्) जिसे अत्रि प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ- यह विलक्षण सामर्थ्यशाली इस त्रिलोकीको प्रकाशित करता है। यह दिन और रातको निर्माण करके सबमें पराक्रमशक्तिको समर्पित करता है ॥ ३२ ॥

यह तेजस्वी और तीखा सूर्य, पर्याप्त गतिसे युक्त और सदा उच्च स्थानमें विराजनेवाला पक्षीके समान आकाशमें संचार करता हुआ सब दिशाओंको तेज देता हुआ ठहरा है ॥ ३३ ॥

यह देवोंके आगमनकी सूचना देता है, यह विचित्र अद्भुत बलसे युक्त है, यह जब उदयको प्राप्त होता है, तब सब स्थानका अंधेरा दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥

यह सब देवोंका बल और सबकी आंख ही है। यह अपने प्रकाशसे विश्वको भर देता है। यही सूर्य मानो सब स्थावर जंगम जगत् का आत्मा है ॥ ३५ ॥

यह शीघ्रगामी पक्षीके समान आकाशमें तैरता है। इसका विलक्षण तेज है, जो हम देखते हैं। जो इस तेजका स्वीकार करना चाहे उसको यह प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ ३८ ॥
रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वश्राभरत् ॥ ३९ ॥
रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम् ।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४० ॥ (१०)
सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

अर्थ- (दिवः पृष्ठे धावमानं सुपर्णं अदित्याः पुत्रं) द्युलोकके पीठपर दौडनेवाले पक्षीके समान अदितीके पुत्र-को [नाथकामः भीतः उपयामि] नाथ की इच्छा करनेवाला भयभीत हुआ मैं शरण जाता हूं । हे सूर्य ! (सः नः दीर्घं आयुः प्रतिर) वह तू हमें दीर्घ आयु दे, (ते सुमतौ स्याम, मा रिषाम) तेरी उत्तम बुद्धिमें हम रहें और हमारा नाश न हो ॥ ३७ ॥

(हरेः हंसस्य सहस्राह्ण्यं स्वर्गं पततः अस्य पक्षौ वियतौ) हरणशील हंसके समान गतिशील, हजार दिनके मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलनेवाले इस सूर्यके दोनों ओर किरण फैले हैं । (स सर्वान् उरसि उपदद्य) वह सब देवोंको अपनी छातीपर धारण करता हुआ, (विश्वा भुवनानि सं पश्यन् याति) सब भुवनोंको देखता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥ (अथर्व १० । ८।१८, १३।३।१४)

(रोहितः कालः अभवत्) वह सूर्य ही काल हुआ है, (अग्रे रोहितः प्रजापतिः) आगे सूर्यही प्रजापालक बना है, (रोहितः यज्ञानां मुखं) वही सूर्य यज्ञोंका मुख्य होकर (स्वः आभरत्) प्रकाश प्रदान करता है ॥ ३९ ॥

(रोहितः लोकः अभवत्, दिवं अतपत्) सूर्य ही सब लोक बना और द्युलोक को प्रकाशित करने लगा । (रोहितः रश्मिभिः भूमिं समुद्रं अनु सं चरत्) सूर्यही अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रमें संचार करता है ॥ ४० ॥ (१०)

(दिवः अधिपतिः रोहितः सर्वाः दिशः समचरत्) द्युलोक का स्वामी सूर्य सब दिशाओंमें संचार करता है । (दिवं समुद्रं आत् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति) द्युलोक समुद्र भूमि सब प्राणी आदि सबकी वह रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—आकाशके पृष्ठभागपर दौडनेवाले पक्षीके समान यह सूर्य है । मैं दुःखोंसे पीडित होकर भयभीत हुआ इसकी प्रार्थना करता हूं कि यह हमें दीर्घ आयु देवे और हमें सुरक्षित रखे ॥ ३७ ॥

इस तेजस्वी सूर्यके किरण सब ओर हजार दिनतक प्रवास करते हुए दूरीतक जाते हैं । यही सब देवोंका आधार है, यह सबका निरीक्षण करता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥

यह सूर्य काल, प्रजापालक, यज्ञ, तेज, सब लोकको बनाता है, यही अपने प्रकाशसे सब जगत् को परिपूर्ण करता है॥३९-४०॥

यह द्युलोकका स्वामी सर्वत्र संचार करके सब जगत की रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥
अभ्य१न्यदेति पर्यन्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥ ४३ ॥
पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव ।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥
पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम् ।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥
अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥ (११)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- (अतन्द्रः शुक्रः रोचमानः बृहतीः आरोहन्) आलस्यरहित बलवान् तेजस्वी सूर्य बडी दिशाओंमें आरूढ होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप बनाता है। वह (चित्रः चिकित्वान् महिषः) विलक्षण ज्ञानी और समर्थ (वातं आयाः) वायुको प्राप्त होता है, और (यत् यावतः लोकान् अभि विभाति) जितने लोक हैं उन सबको वह प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

(अहोरात्राभ्यां कल्पमानः महिषः) दिन और रात्रिसे समर्थ होता हुआ यह सूर्य (अन्यत् अभि एति, अन्यत् अभि अस्यते) एक भागके सन्मुख होता है और दूसरा भाग दूसरी ओर फेंका जाता है । [वयं नाधमानाः गातुविदं रजसि क्षियन्तं सूर्यं हवामहे] हम सब त्रस्त हुए मार्गदर्शक और अन्तरिक्षमें निवास करनेवाले सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ ४३ ॥

(महिषः पृथिवी प्रः) बलवान् पृथिवीको पूर्ण करनेवाला (नाधमानस्य गातुः, अदब्धचक्षुः विश्वं परि बभूव) दुखी मनुष्यका मार्गदर्शक, जिसका आंख न दबा है ऐसा सूर्य इस विश्वपर है । यह [विश्वं संपश्यन् सुविदत्रः यजत्रः] सब विश्वको देखनेवाला ज्ञानी याजक [इदं शृणोतु यत् अहं ब्रवीमि] यह सुनें जो मैं कहता हूं ॥ ४४ ॥

[अस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं परि] इस का महिमा पृथिवी और समुद्रके चारों ओर फैला है । [ज्योतिषा विभ्राजन् द्यां अन्तरिक्षं परि] तेजसे प्रकाशता हुआ द्युलोक और अन्तरिक्ष में चारों ओर फैला है । (सर्वं संपश्यन्०) सब को देखता हुआ यह ज्ञानी याजक यह सुनें कि जो मैं कहता हूं ॥ ४५ ॥

[जनानां समिधा अग्निः प्रति अबोधि] जनोंकी समिधाओंसे अग्नि जाग उठा है। (धेनुं इव उषसां आयतीं) गौ जैसी उषा आनेके समय जागती है। (वयां प्र उज्जिहानाः यह्वा इव) शाखाओंको ऊपर फेंकनेवाले पौधोंके समान (भानवः नाकं अच्छ प्र सिस्रते) किरण स्वर्गधामकी ओर पहुंचते हैं ॥ ४६ ॥ [११]

भावार्थ- आलस्य छोडकर समर्थ और तेजस्वी यह सूर्य सबसे ऊंचे स्थानपर आरूढ होता है। अन्धकार और प्रकाश इसीसे उत्पन्न होते हैं । जहांतक लोक हैं वहांतक इसका प्रकाश फैलता है ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन और रात बनाता है, जिस समय यह जिस भूभागके सन्मुख होता है वहां दिन होता है और दूसरे भूभागमें रात्रि होती है । इस अन्तरिक्ष लोकमें विराजमान तेजस्वी सूर्यकी हम स्तुति करते हैं, यह हमें मार्गदर्शक होवे ॥ ४३ ॥

यह सूर्य सामर्थ्यशाली है, दुःखी मनुष्यको यही सुखका मार्ग बताता है । सब विश्वपर इसकी प्रभुता है। यह वर्णन वह सुनें ॥ ४४ ॥

इसकी महिमा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें फैली है । ॥ ४५ ॥

(३)

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतंगो अनु विचाकशीति ॥
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥
यस्माद् वाता ऋतुथा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विक्षरन्ति । तस्य देवस्य ० ॥ २ ॥
यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा । तस्य देवस्य ० ॥ ३ ॥
यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति । तस्य देवस्य० ॥ ४ ॥
यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः ।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ५ ॥

अर्थ-(यः इमे द्यावा-पृथिवी जजान) जो इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता है, (यः भुवनानि द्रापिं कृत्वा वस्ते) जो सब भुवनोंको चोला बनाकर उसमें रहता है, (यस्मिन् षट् उर्वीः प्रदिशः क्षियन्ति) जिसमें छः बडी दिशाएं निवास करती हैं, (याः पतङ्गः अनु विचाकशीति) जिनको गतिमान् सूर्य प्रकाशित करता है । (यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति) जो ऐसे ज्ञानी ब्राह्मणको नाश करता है, या कष्ट देता है, (एतत् आगः तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) इसका पाप उस क्रुद्ध देवके प्रति होता है । हे (रोहित) सूर्य ! उस पापीको (उत् वेपय) कम्पा दे, तथा (प्रक्षिणीहि) उसका नाश कर, (ब्रह्मज्यस्य पाशान् प्रतिमुञ्च) ब्रह्मघातकीके ऊपर पाशोंको गिरा दे, अर्थात् उसे बंधनमें डाल दे ॥ १ ॥

(यस्मात् वाताः ऋतुथा पवन्ते) जिससे वायु ऋतुओंके अनुसार बहते हैं, (यस्मात् समुद्राः अधि वि क्षरन्ति) जिससे समुद्र-जलप्रवाह-विविध प्रकारसे प्रवाहित होते हैं ॥ ० ॥ (यः मारयति प्राणयति) जो मारता है, जो जीवित रखता है, (यस्मात् विश्वा भुवनानि प्राणन्ति) जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं॥ ० ॥ २--३ ॥

(यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयति) जो प्राणसे द्युलोक और भूलोकको तृप्त करता है और (यः अपानेन समुद्रस्य जठरं पिपर्ति) जो अपानसे समुद्रका पेट पूर्ण करता है ॥ ० ॥ (यस्मिन्) जिसमें विराट् परमेष्ठी प्रजापति अग्नि वैश्वानर (सह पंक्त्या श्रितः) पंक्तिके साथ आश्रय लिए हैं ॥ ० ॥ ४-५ ॥

भावार्थ- जनताने जो समिधायें होमी थीं, उनसे यह अग्नि प्रदीप्त हुआ है । जैसी गौ प्रातःकाल जागती है, वैसा यह अग्नि जाग उठा है । जैसे पौधे अपनी शाखाओंको ऊपर आकाशमें फैलाते हैं, वैसेही अग्निकी ज्वालाएं सीधी ऊपर जाती हैं और प्रकाशको फैलाती हैं ॥ ४६ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

जिस परमात्माने यह संपूर्ण जगत् निर्माण किया है और जो उसके अन्दर व्यापकर रहता है, जिसके अन्दर ये सूर्यसे प्रकाशित होनेवाली सब दिशा और उपदिशाएं रहती हैं, वह विश्वाधिपति परमात्मा उसपर बडा क्रुद्ध होता है, जो ज्ञानी मनुष्यको कष्ट देता है, उसको कंपायमान करता है, क्षीणबल करता है और अन्तमें बंधनमें डाल देता है ॥ १ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधिश्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत ॥ तस्य देवस्य० ॥ ६ ॥
यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः ॥ तस्य देवस्य० ॥ ७ ॥
अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ॥ तस्य देवस्य० ॥ ८ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य ॥ तस्य देवस्य० ॥ ९ ॥
यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ १० ॥ (१२)
बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात्।
ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम् ॥ तस्य देवस्य० ॥ ११ ॥

अर्थ- (यस्मिन् षट् उर्वीः पञ्च दिशः अधिश्रिताः) जिसमें छः तथा पांच बडी दिशाएं आश्रित हुई हैं तथा जिसमें (चतस्रः आपः यज्ञस्य त्रयः अक्षराः) चार प्रकारके जल और यज्ञके तीन अक्षर हैं, (यः अन्तरा क्रुद्धः चक्षुषा रोदसी ऐक्षत) जो अंदरसे क्रुद्ध होकर आंखसे द्युलोक और भूलोकको देखता है ॥ ० ॥ ६ ॥

(यः अन्नादः अन्नपतिः उत यः ब्रह्मणस्पतिः बभूव) जो अन्नभक्षक, अन्नका स्वामी और ज्ञानका स्वामी बना है, तथा (यः भुवनस्य पतिः भूतः भविष्यत्) जो जगत् का स्वामी था और रहेगा ॥ ० ॥ [यः अहोरात्रैः विमितं त्रिंशत् अंगं] जो दिन और रात्रीके तीस दिनोंका बना एक महिना ऐसे (त्रयोदशं मासं यः निर्मिमीते) तेरह महिने जो निर्माण करता है ॥ ० ॥ ७-८ ॥

(अपः वसानाः सुपर्णाः हरयः) जलका धारण करनेवाले उत्तम गतिमान् सूर्यकिरण (कृष्णं नियानं दिवं उत्पतन्ति) कृष्ण वर्ण या नीलवर्णवाले सबके स्थानरूप द्युलोक के प्रति चलते हैं, [ते ऋतस्य सदनात् आववृत्रन्] वे किरण जलके स्थानसे पुनः पुनः लौटते हैं ॥ ० ॥ हे [कश्यप] देखनेवाले देव ! (यत् ते चन्द्रं रोचनावत् पुष्कलं संहितं चित्रभानु) जो तेरा आनन्दकारी प्रकाशमय बहुत इकट्ठा हुआ विचित्र तेज है (यस्मिन् सप्त सूर्याः साकं आर्पिताः) इसमें सात सूर्य साथ साथ रहते हैं ॥ ० ॥ ९-१० ॥

[बृहत् एनं पुरस्तात् अनुवस्ते] बृहत् गान इसके सामने होता है और (रथंतरं पश्चात् प्रतिगृह्णाति) रथन्तर साम पीछेसे इसका ग्रहण करता है ॥ ० ॥ (बृहत् अन्यतः पक्ष आसीत्) बृहत् गानका एक पक्ष है और [रथंतरं

भावार्थ- जिसकी प्रेरणासे वायु और जलप्रवाह चल रहे हैं। जो सबको मारता और जीवित करता है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणिमात्र जीवित रहते हैं ॥ जो प्राणसे द्यावापृथिवीको तृप्त करके अपानसे समुद्रको परिपूर्ण करता है, जिसमें अग्नि आदि सब देव पंक्ति बांधकर रहते हैं, जिसमें सब दिशाएं, सब जलप्रवाह, यज्ञके सब विधिज्ञान आश्रित हुए हैं, जो क्रुद्ध होकर अपने आंखसे सबका निरीक्षण करता है ॥ २-६ ॥

जो एक मात्र सबका भक्षक है तथापि जो अन्न और ज्ञान सबको देता है, जो सबका एक मात्र स्वामी था, है और रहेगा, जो दिन रात, महिना और वर्षरूपी कालचक्र निर्माण करता है, जिसके किरण पृथ्वीपरका जल लेकर आकाशमें उडते हैं और वहां मेघमंडलमें वारंवार प्रकाशित होते हैं, जिसका प्रकाश एकत्रित होकर सबको प्रकाशित करता है और जिसमें वे सब सूर्य रहते हैं ॥ ७-१० ॥

बृहदुन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सबले सध्रीची ।
यद् रोहितमजनयन्त देवाः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १२ ॥
स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥
तस्य देवस्य० ॥ १३ ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ तस्य देवस्य० ॥ १४ ॥
अयं स देवो अप्स्व१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः ।
य इदं विश्वं भुवनं जजान ॥ तस्य देवस्य० ॥ १५ ॥
शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १६ ॥
येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।
यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ॥ तस्य देवस्य० ॥ १७ ॥

अन्यतः] रथन्तर गानका दूसरा पक्ष है, [सबले सध्रीची] ये दोनों बलवान् तथा साथ रहनेवाले पक्ष हैं। [यद् रोहितं देवाः अजनयन्त] वहां देवोंने रोहित सूर्यको निर्माण किया ॥ ० ॥ ११-१२ ॥

[सः वरुणः सायं अग्निः भवति] वह वरुण है, परंतु वह सायंकाल अग्नि होता है, [सः प्रातः उद्यन् मित्रः भवति] वह सवेरे उदय होनेके समय मित्र कहलाता है । [सः सविता भूत्वा अन्तरिक्षेण याति] वही सविता बनकर अन्तरिक्षमें संचार करता है, [सः इन्द्रः भूत्वा मध्यतः दिवं तपति] वह इन्द्र होकर द्युलोकके मध्यमें तपता है ॥ ० ॥ १३ ॥

[अर्थ देखो अथर्व० १०।८।१८;१३।२।३८] ॥ ० ॥ १४ ॥

[यः इदं विश्वं भुवनं जजान] जिसने यह सब जगत् निर्माण किया। [अयं सः देवः सहस्रमूलः पुरुशाखः अत्रिः अप्सु अन्तः] वह देव यही है जिसके हजारों मूल और शाखाएं हैं और जो सबका भक्षक है, वह जलोंमें है ॥ ० ॥ १५ ॥

(वर्चसा भ्राजमानं शुक्रं देवं) तेजसे चमकनेवाले पवित्र देवको (रघुष्यदः हरयः दिवि वहन्ति) गतिमान् किरण द्युलोकमें चलाते हैं । (यस्य ऊर्ध्वाः तन्वः दिवं तपन्ति) जिसके ऊपरके भाग सूर्यलोकको तपाते हैं और (अर्वाङ् सुवर्णैः पटरैः विभाति) इस ओर उत्तम रंगवाले तेजोंसे वह चमकता है ॥ ० ॥ (येन हरितः आदित्यान् सं वहन्ति) जिसके साथ किरण सूर्योंको चलाते हैं, (येन यज्ञेन प्रजानन्तः बहवः यन्ति) जिस यज्ञके साथ बहुत ज्ञानी जाते हैं, (यत् एकं ज्योतिः बहुधा विभाति) जो एक तेज अनेक प्रकारसे प्रकाशता है ॥ ० ॥ १६—१७ ॥

भावार्थ-बृहत् और रथन्तर गान इसके आगेपीछे चलते हैं। ये दोनों यज्ञके प्रबल पक्ष है इनका गान होता है तब सूर्य देव उदयको प्राप्त होते हैं । वही वरुण अग्नि मित्र सविता और इन्द्र क्रमशः सायं प्रातः द्वितीय प्रहर और मध्य दिनमें कहलाता है । (मंत्र १४ का भावार्थ १३।२।३८ में देखो) जिसने यह जगत् निर्माण किया वह देव यही है, जिसकी जड और शाखाएं हजारहां हैं, वह जलमें विराजमान है ॥ ११-१५ ॥

तेजस्वी सूर्यको द्युलोकमें किरण प्रकाशित करते हैं। इसके ऊपरके किरण द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और इस ओरके किरण इस ओर प्रकाश देते हैं। एकचक्रवाले सूर्यरथको सात किरण प्रकाशित करते हैं । एकके ही ये सात नाम हैं । [illegible]

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ तस्य देवस्य० ॥ १८ ॥
अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥ तस्य देवस्य ॥ १९ ॥
सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे। तस्य देवस्य० ॥२०॥(१३)
निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म ॥ तस्य देवस्य० ॥ २१ ॥
वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे। तस्य देवस्य० ॥ २२ ॥
त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः। तस्य देवस्य० ॥ २३ ॥

अर्थ- [एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति] एक चक्रवाले रथको सात अश्व-किरण-जोते हैं। [सप्तनामा एकः अश्वः वहति] सात नामवाला एक अश्व उसको चलाता है। इसका [त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं] तीन केंद्रोंवाला जरा रहित और नाश-रहित वह चक्र है, (यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्थुः) जहां ये सब भुवन ठहरे हैं ॥ ० ॥ १८ ॥ [ऋ० १।१६४।२; अथर्व ९।९।२]

(देवानां पिता मतीनां जनिता) देवोंका पालक और बुद्धियोंका उत्पादक (उग्रः वह्निः अष्टधा युक्तः वहति) उग्र अग्नि आठ प्रकारसे युक्त होकर चलता है। [ऋतस्य तंतुं मनसा मिमानः] यज्ञके धागेको मनसे मापता हुआ (मातरिश्वा सर्वाः दिशः पवते) अंतरिक्षमें निवास करनेवाला सब दिशाओंमें गति करता है ॥ ० ॥ १९ ॥

(सम्यञ्चं तन्तुं सर्वाः प्रदिशः अनु) इस सीधे यज्ञके धागेको सब दिशाओंके अनुसार (गायत्र्यां अंतः अमृतस्य गर्भे) गायत्रीके अंदर अमृतके गर्भमें देखते हैं ॥ ० ॥ २० ॥

(तिस्रः निम्रुचः तिस्रः व्युषः) तीन अस्त और तीन उषःकाल हैं। हे (अंग) प्रिय ! (त्रीणि रजांसि तिस्रः दिवः) तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं। हे अग्ने ! (ते त्रेधा जनित्रं विद्म) तेरा तीन प्रकारका जन्म हम जानते हैं। तथा (देवानां त्रेधा जनिमानि विद्म) देवोंके तीन जन्म हम जानते हैं ॥ ० ॥ (यः जायमानः पृथिवीं वि और्णोत्) जो जन्मतेही पृथ्वीको आच्छादित करता है (अन्तरिक्षे समुद्रं आ अदधात्) अन्तरिक्षमें समुद्रको धारण करता है ॥ ० ॥ २१—२२ ॥

हे अग्ने! [त्वं क्रतुभिः, अर्कः केतुभिः हितः] तू यज्ञोंसे और सूर्य किरणोंसे युक्त है, तू (समिद्धः दिवि उत् अरोचथाः) प्रदीप्त होकर द्युलोकमें प्रकाशता है। (मरुतः पृश्निमातरः किं अभ्यार्चन्) भूमिको माता माननेवाले मरुत् सब उसकी अर्चना करने लगे कि (यत् देवाः रोहितं अजनयन्त) जिस समय देवोंने सूर्यको प्रकट किया ॥ ० ॥ २३ ॥

अजर अमर है और इसीके आधारसे सब भुवन रहते हैं। यह सब देवोंका और बुद्धियोंका उत्पादक और पालक है। वह प्रचण्ड अग्नि है और आठ प्रकारका होकर प्रकाशता है। इसीसे यज्ञका अखंड धागा फैलाया जाता है। यह अन्तरिक्षमें रहकर सर्वत्र प्रकाशित होता है। यह यज्ञका तन्तु सब दिशाओंमें फैल रहा है यह गायत्रीमें अमृतके केन्द्रमें है ॥ १८-२० ॥

अस्त, उदय, उषा, द्यु, अन्तरिक्ष ये सब तीन हैं। सबका जन्म तीन प्रकारका है। जन्मतेही पृथ्वीको प्रकाशित करता और अन्तरिक्षमें जलोंको धरता है। अग्नि यज्ञोंके साथ और सूर्यकिरणोंके साथ प्रकाशित होता है। प्रदीप्त अग्नि यज्ञमें और चमकनेवाला सूर्य द्युलोकमें प्रकाशता है। जब देवोंके द्वारा सूर्यका उदय हुआ तब वायु भी बह रहे थे ॥ २१-२३ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यो३ऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः ॥ तस्य देवस्य० ॥ २४ ॥
एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः तस्य देवस्य ॥
क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥
कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत ।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [यः आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे देवाः उपासते] जो आत्मिक बल देनेवाला और शक्ति देनेवाला है, जिसकी आज्ञाका पालन सब देव करते हैं, (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशे) जो इस द्विपाद और चतुष्पादका स्वामी है ०॥२४॥

(एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे) एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक दौडता है, (द्विपाद् त्रिपादं पश्चाद् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववालेके पीछेसे चलता है । (अथर्व० १३ । २ । २७) (चतुष्पाद् द्विपदं अभिस्वरे पंक्तिं संपश्यन् उपतिष्ठमानः चक्रे) चार पांववाला दो पांववालोंको एकस्वरमें रहनेवालोंकी पंक्तिको देखता हुआ और उनसे सेवा लेता है । (तस्य देवस्य०) इस देवके प्रति वह पाप होता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणके नाश करनेसे होता है । उस नाशकको वह कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥ (ऋ. १० । ११७ । ८)

(कृष्णायाः राञ्याः पुत्रः वत्सः अर्जुनः अजायत) काले वर्णवाली रात्रिका पुत्र बच्चा प्रकाशमान सूर्य हुआ है । [सः रोहितः रुहः रुरोह] वह लाल रंगवाला सब बढानेवालोंके ऊपर चढा है, वही (ह द्यां रोहति) निश्चयसे द्युलोक पर चढता है ॥ २६ ॥ (१४)

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

भावार्थ- आत्मिक और शारीरिक बल देनेवाला देव है, इसकी आज्ञा सब मानते हैं, सब द्विपाद चतुष्पाद उसीकी आज्ञामें रहते हैं ॥ २४ ॥

वह देव एकपादवाला होनेपर भी अनेक पांववालोंके आगे बढता है । यह सबकी पूजा स्वीकारता हुआ सबको पंक्तिमें रखकर उपासक बनाता है । इस देवताका अपराध वह करता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको सताता है । वह इस अपराधीको कंपाता, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥

रात्री व्यतीत होकर दिन हुआ और सूर्य उदय हो चुका है । वह उदय होते ही सबसे ऊपर चढने लगा और अंतमें द्युलोकमें विराजमान होकर प्रकाशने लगा है ॥ २६ ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

(४)

[१] स एति सविता स्व॒र्दि॒वस्पृ॒ष्ठेऽव॒चाक॑शत् ॥ १ ॥
र॒श्मिभि॒र्नभ॒ आभृ॑तं महे॒न्द्र ए॒त्यावृ॑तः ॥ २ ॥
स धा॒ता स वि॑ध॒र्ता स वा॒युर्नभ॒ उच्छ्रि॑तम् ।० ॥ ३ ॥
सो॑ऽर्य॒मा स वरु॑णः स रु॒द्रः स म॑हादे॒वः ।० ॥ ४ ॥
सो॑ अ॒ग्निः स उ॒ सूर्यः॒ स उ॑ ए॒व म॑हाय॒मः ।० ॥ ५ ॥
तं व॒त्सा उप॑ तिष्ठ॒न्त्येक॑शीर्षाणो यु॒ता दश॑ ।० ॥ ६ ॥
प॒श्चात् प्रा॒ञ्च॒ आ त॑न्वन्ति॒ यदु॒देति॒ वि भा॑सति ।० ॥ ७ ॥
तस्यै॒ष मारु॑तो ग॒णः स ए॑ति शि॒क्याकृ॑तः ॥ ८ ॥
र॒श्मिभि॒र्नभ॒ आभृ॑तं महे॒न्द्र ए॒त्यावृ॑तः ॥ ९ ॥
तस्ये॒मे नव॒ कोशा॑ वि॒ष्टम्भा॒ न॑व॒धा हि॒ताः ॥ १० ॥
स प्र॒जाभ्यो॒ वि प॑श्यति॒ यच्च॑ प्रा॒णति॒ यच्च॒ न ॥ ११ ॥
तमि॒दं निग॑तं॒ सहः॒ स ए॒ष एक॑ एक॒वृदेक॑ ए॒व ॥ १२ ॥
ए॒ते अ॑स्मिन् दे॒वा ए॑क॒वृतो॑ भवन्ति ॥ १३ ॥

अर्थ- (१) (स्वः सविता दिवः पृष्ठे अवचाकशत् सः एति) वह सूर्य द्युलोकके पृष्ठभागपर प्रकाशता है और अपने तेजको प्राप्त करता है ॥ १ ॥ इसने अपने (रश्मिभिः नभः आभृतं) किरणोंसे आकाशको भरपूर कर दिया। वह (महेन्द्रः आवृतः एति) बडा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ २ ॥ (सः धाता०) वह धाता विधाता और वही (वायुः) वायु है जिसने (नभः उच्छ्रितं) आकाश ऊंचा बनाया है ॥ ३ ॥

वह अर्यमा, वरुण, रुद्र और महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि, सूर्य और महायम भी वही है ॥ ५ ॥ [तं एकशीर्षाणः दश वत्साः युताः उपतिष्ठन्ति) इसके साथ एक मस्तकवाले दस बछडे संयुक्त होकर रहते हैं ॥ ६ ॥

(पश्चात् प्राञ्च आ तन्वन्ति) पीछेसे पूर्व दिशामें तेज फैलाता है (यत् उदेति विभासति) जो उदय होता और प्रकाशता है ॥ ७ ॥

(तस्य न एष मारुतः गणः शिक्याकृतः एति) उसके साथ वह वायु गण छिक्केमें धरेके समान चलता है ॥ ८ ॥ उसने किरणोंसे आकाश व्याप दिया है, वह महा इन्द्र तेजसे आवृत होकर चलता है ॥ ९ ॥ [तस्य इमे नव कोशा विष्टंभाः नवधा हिताः] इसके ये नौ कोश विविध रूपसे नौ प्रकार रखे हैं ॥ १० ॥

(सः प्रजाभ्यः विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न) वह प्रजाओंको देखता है, जो प्राणधारण करते हैं और जो नहीं करते ॥ ११ ॥ (तं इदं निगतं सहः) वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है। (सः एषः एकः एकवृत् एकः एव) वह यह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एक ही है ॥ १२ ॥

(एते देवाः अस्मिन् एकवृतः भवन्ति) ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं ॥ १३ ॥ [१५]

(५)

(२) कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च	॥ १४ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद	॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।०	॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।०	॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।०	॥ १८ ॥
स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ।	॥ १९ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ।०	॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ।०	॥ २१ ॥ (१६)

(६)

(३) ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च	॥ २२ ॥
भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च	॥ २३ ॥
य एतं देवमेकवृतं वेद	॥ २४ ॥
स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं १ स रक्षः	॥ २५ ॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः	॥ २६ ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते	॥ २७ ॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह	॥२८॥(१७)

अर्थ—[२][यः एतं देवं एकवृतं वेद] जो इस देवको एकमात्र एक जानता है उसे कीर्ति, यश, [अम्भः] जल, (नभः) अवकाश और (ब्राह्मणवर्चसं) ब्राह्मतेज, अन्न और (अन्नाद्यं) खानपानके सब भोग प्राप्त होते हैं ॥ १४-१५ ॥ वह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम है (न अपि उच्यते) ऐसा नहीं कहा जाता है ॥१५-१८॥

[स सर्वस्मै विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न] वह सबको देखता है, जो जीवित है और जो नहीं ॥ १९ ॥ [तं इदं०] वह यह इकट्ठा हुआ सामर्थ्य है, वह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एकही है। ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ॥ २०-२१ ॥

(३) (ब्रह्म) ज्ञान, तप, कीर्ति, यश, (अंभः नभः) जल, अवकाश, ब्राह्मतेज, अन्न और खानपानके पदार्थ, भूत, भविष्य, श्रद्धा, (रुचिः) तेज, कान्ति, स्वर्ग और स्वधा उसे प्राप्त होती है, जो (यः एतं देवं एकवृतं वेद) इस देवको एक मात्र व्यापक देव जानता है ॥ २२—२४ ॥ (१६)

वही मृत्यु है, वही अमृत है, वह (अभ्वं) महान् है और वही (रक्षः) रक्षक अथवा राक्षस है ॥ २५ ॥ वह रुद्र (वसुदेये वसुवनिः, नमो वाके अनुसंहितः वषट्कारः) धनदानके समय धन प्राप्त करनेवाला है और वही नमस्कार वाक्यमें उत्तम रीतिसे बोला गया वषट्कार है ॥ २६ ॥ [तस्य प्रशिषं इमे सर्वे यातवः उप आसते] उसकी आज्ञामें ये सब राक्षसादि रहते हैं ॥ २७ ॥ (तस्य वशे अमू सर्वा नक्षत्रा चन्द्रमसा सह) उसके वशमें वे सब नक्षत्र चन्द्रमाके साथ रहते हैं ॥ २८ ॥ (१७)

(७)

(४) स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत ॥ ३० ॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥
स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत ॥ ३६ ॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त ॥ ३७ ॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्मादृचोऽजायन्त ॥ ३८ ॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥ ४३ ॥
तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥
उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥ (१८)

अर्थ— (४) (सः वै अहः, राज्याः, अन्तरिक्षात, वायोः, दिवः, दिग्भ्यः, भूमेः, अग्नेः, अद्भ्यः ऋग्भ्यः, यज्ञात अजायत) वह निश्चयसे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा यज्ञसे हुआ, वैसाही (तस्मात् अहः, रात्रिः, अन्तरिक्षं, वायुः, द्यौः, दिशः, भूमिः, अग्निः, अपः, ऋचः, यज्ञः (अजायत) उससे दिन रात्री अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा और यज्ञ हुआ ॥ २९-३९ ॥

(सः यज्ञः तस्य यज्ञः) वह यज्ञ है, उसीका यज्ञ है। (सः यज्ञस्य शिरस्कृत्) वह यज्ञका सिर करनेवाला है ॥ ४० ॥ (सः स्तनयति, स विद्योतते) वह गर्जता है, वह चमकता है, (सः उ अश्मानं अस्यति) वह पत्थर (ओले) फेंकता है ॥ ४१ ॥ (पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा असुराय वा) पापीके लिए, उत्तम पुरुषके लिये, असुर वृत्तिके पुरुषके लिये ॥ ४२ ॥ (यत् वा ओषधीः कृणोषि, यत् वा वर्षसि) जो ओषधियां निर्माण करता है, जो वर्षा करता है, (भद्रया यत् वा जन्यं अवीवृधः) उत्तम कल्याण बुद्धिसे जो तू जन्मे हुए को बढाता है ॥ ४३ ॥ हे (मघवन्) इन्द्र ! (तावान् ते महिमा) वह तेरा महिमा है, (उपः ते शतं तन्वः) ये सब तेरे सैंकडों शरीर हैं ॥ ४४ ॥ [उपः ते बध्वे बद्धानि] ये सब तेरे करोडों तेरे साथ बंधे हैं, [यदि वा न्यर्बुदं असि] और तू अरबोंकी संख्यामें है ॥ ४५ ॥ [१८]

(८)

(५) भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥
भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥
अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५० ॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५१ ० (१९)

(९)

(६) उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५२ ॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५३ ॥
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥(२०)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

॥ त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [५] [न-मुरात् इन्द्रः भूयान्] अमरसे भी इन्द्र बडा है, [इन्द्र, मृत्युभ्यः भूयान् असि] हे इन्द्र, तू मृत्युओंसे भी बडा है ॥ ४६ ॥ [इन्द्रं अरात्याः भूयान्] हे प्रभो ! शत्रुओंसे भी तू बडा है, [त्वं शच्याः पतिः असि] तू शक्तिका स्वामी है । [विभूः प्रभूः इति त्वा वयं उपास्महे] तू व्यापक और स्वामी है, ऐसी हम तेरी उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

[पश्यत नमस्ते अस्तु] हे दर्शनीय, तेरे लिये नमस्कार है । [पश्यत, मा पश्य] हे शोभन ! तू मुझे देख ॥४८॥ [अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन] खानपान, यश, तेज और ब्राह्मवर्चसके साथ मुझे युक्त कर ॥ ४९ ॥ [अम्भः अमः महः सहः इति वयं त्वा उपास्महे] जल, पौरुष, महत्ता, और बल स्वरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ [अम्भः अरुणं रजः रजतं सहः इति त्वा वयं उपास्महे] जल, लाल बल और श्वेत सामर्थ्यरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥ [१९]

[६] [उरुः पृथुः सुभूः भुवः इति त्वा वयं उपास्महे] महान् विस्तृत उत्तम होनेवाला, ज्ञानयुक्त ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५२ ॥

[प्रथः वरः व्यचः लोकः इति त्वा वयं उपास्महे] विस्तृत श्रेष्ठ, व्यापक और स्थानदाता ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५३ ॥ [भवद्वसुः, इदद्वसुः आयद्वसुः इति त्वा वयं उपास्महे] धनयुक्त, इस धनसे युक्त, सब धनोंको इकट्ठा करनेवाला सब धनोंको पास करनेवाला, मानकर तेरी हम उपासना कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ [पश्यत ते नमः अस्तु] हे दर्शनीय ! तेरे लिये नमस्कार हो [मा पश्य] मुझे देख ॥ ५५ ॥ [अन्नाद्येन०] खानपान, यश, तेज और ब्रह्मवर्चससे मुझे युक्त कर ॥ ५६ ॥ [२०]

भावार्थ- वही देव धाता विधाता, अग्नि वायु रुद्र महादेव आदि है। सब अन्य देवता इसके अंदर हैं। यह एक है, निःसन्देह केवल एक है। जो इसको एक जानता है वही तेजस्वी, वर्चस्वी और खानपानादि भोगसे युक्त होता है। उसीसे सब पदार्थ हुए हैं और सब पदार्थोंमें वही विद्यमान है। यज्ञ भी उसीसे हुआ और यज्ञमें वही रहता है। वह बुरे और भलेके पालनके लिए सब वनस्पतियां बनाता है। यही सब इसकी ही महिमा है इसके सैंकडों हजारों करोडों अरबों शरीर हैं। वह अमरोंसे और मृत्युसे भी महान् है। सब शक्तियां उसीकी हैं, अतः शक्तियोंकी उपस्थिति उसमें है, ऐसी उपासना उसी देवकी सबको करना उचित है ॥ १-५६ ॥

तेरहवां काण्ड समाप्त।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका मनन।

रोहित देवता।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका देवता 'रोहित' है, इस रोहित का स्वरूप क्या है, इसका सबसे प्रथम मनन करना अत्यंत आवश्यक है। इस देवताके विषयके अथर्ववेदकी सर्वानुक्रमणी में ये निर्देश हैं—

उदेहि वाजिन्निति काण्डं ब्रह्माऽध्यात्मं रोहितादित्यदैवत्यं त्रैष्टुभम् ॥ अथर्व० बृ० स० १३।१

"इस तेरहवें काण्डका देवता 'ब्रह्म अध्यात्म, रोहित आदित्य' है।" यहां आदित्य शब्द है कि जो देवताका निश्चय करनेमें सहायक हो सकता है। आदित्यका अर्थ सूर्य है। इस संपूर्ण काण्डका विचार करनेसे पता लगता है कि यहां सूर्य ही देवता प्रामुख्यसे वर्णित हुई है। इस विषयके सूचक मंत्रभाग ये हैं—

रोहित सूर्य।

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य। १।२२

इदं सदो रोहिणी रोहितस्य। १।२३

"रोहिणी नक्षत्र यह रोहितका घर है और यह रोहिणी रोहित को अनुसरती है।" यहां आकाशस्थ रोहितका वर्णन है, अतः यह सूर्यपरक है। द्वितीय सूक्तके २४ मंत्र साक्षात् सूर्यपरक हैं और २५ वें मंत्रमें 'यह तपस्वी रोहित द्युलोकपर चढता है' ऐसा कहा है, अतः यहां रोहित शब्द पूर्वानुवृत्त सूर्यके लिये ही है।

रोहितः कालो अभवत्। २।३९

यहां 'रोहित काल अर्थात् समय है' ऐसा कहा है। सूर्यसे काल होता है यह प्रत्यक्ष अनुभव है, क्योंकि दिनरात उसीसे होते हैं और अन्यत्र सूर्यका 'नाम' काल आया है। आगे-

रोहितो यज्ञानां मुखम्। २।३९

'रोहित यज्ञोंका मुख है।' ऐसा कहा है, वह सूर्य ही है, क्योंकि सूर्योदय होनेसे यज्ञका प्रारंभ होता है। आगे—

रोहितोऽत्यतपद्दिवम् ॥ २।४०

"रोहित द्युलोकपर तपता है।" यह वर्णन सूर्यका स्पष्ट ही है। और इसमें तपनेका उल्लेख सूर्यका ही है, क्योंकि सूर्यके अतिरिक्त तपनेवाला दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। आगे तृतीय सूक्तके अन्तिम मंत्रमें-

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सोऽजायत।

स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ (३।२६)

" कृष्ण वर्णवाली रात्रिका पुत्र श्वेत रंगवाला हुआ। वह रोहित बढता हुआ द्युलोकपर चढा।" इस वर्णन में तो स्पष्टही रोहित नाम सूर्यके लिये आया है। रात्रीका पुत्र सूर्य निःसन्देह है क्योंकि रात्रिके उदरमें वह जन्मता है, ऐसा आलंकारिक वर्णन अन्यत्र वेदमें भी है।

इस तरह इस सूक्तमें रोहित शब्दसे सूर्यका वर्णन मुख्यतया है, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। तथापि अग्निका भी निर्देश इस रोहित सूक्तमें है-

रोहित-अग्नि ।

रोहितो यज्ञस्य जनिता। (१।१३)

' रोहित यज्ञका उत्पादक है।' अग्नि ही यज्ञका उत्पादक है यह बात सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि सूर्योदयके पश्चात् यज्ञ होते हैं, इसलिए सूर्य भी यज्ञका उत्पादक माना जा सकता है और वैसा वह है भी; परंतु साक्षात् अग्निमें आहुतियां होमी जाती हैं, इस कारण अग्नि भी यज्ञका उत्पादक है । यही बात अन्य शब्दोंसे कही है-

रोहितो यज्ञं व्यदधात्। (१।१४)

' रोहित यज्ञको बनाता है' यह अग्नि है इसलिए यज्ञको बना सकता है। अस्तु। इस तरह रोहित नाम अग्निका भी है। अर्थात् ' रोहित ' शब्द द्वारा जैसी अग्निकी वैसी सूर्यकी भी कल्पना इन सूक्तोंमें स्पष्ट है। कोई इसका इन्कार कर नहीं सकता। इन सूक्तों के मंत्र देखनेसे कई मंत्र स्पष्ट सूर्यपरक हैं ऐसा दीखता है, कई अग्निपरक हैं यह बात भी स्पष्ट है, कई दोनोंके वर्णनपरक हो सकते हैं। यह क्या बात है ? सूक्त पढते पढते बीच बीचमें अग्निके और सूर्यके मंत्र मिलजुलकर आते हैं यह बात पढनेवालेके ध्यानमें आ सकती है। ऐसा क्यों है, इसका विचार करना आवश्यक है।

वेदमें आग्नेय पदार्थोंका मुख्य केंद्र सूर्य माना है। अपनी पृथ्वीपर जो अग्नि है वह सूर्यका पोता है। विद्युत सूर्यका पुत्र है और विद्युतका पुत्र अग्नि है,अतः आलंकारिक भाषामें सूर्यका पोता अग्नि हुआ। अग्नि कैसा उत्पन्न होता है,यह प्रश्न यहां हो सकता है। इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्यकी उष्णतासे मेघमंडलमें विद्युत बनती है, यह विद्युत सूखे घास आदिपर गिरकर अथवा वृक्षपर गिरकर अग्नि उत्पन्न होता है। अतः यह अग्नि वास्तविक सूर्यका ही अंश है। वस्तुतः विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी, कि इस पृथ्विपर अथवा इस सूर्यमालिका में जो भी कुछ अग्नितत्त्व अथवा उष्ण पदार्थ किंवा उष्णता उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है, वह सब सूर्यके संबंधके कारण ही उष्णता देनेमें समर्थ है। अग्नि सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह बात इससे पूर्व दर्शायी ही है। अब पाठक लकडीका विचार करें। लकडी जलानेसे उष्णता उत्पन्न होती है, वह उष्णता कहांसे आगयी ? जो उष्णता वृक्ष सूर्यकिरणोंसे प्राप्त करके अपनेमें संग्राहित करते हैं, वही लकडीमें होती है और जलनेसे वही प्रकट होती है वस्तुतः यह सूर्यसे आयी उष्णता ही है। इसी तरह लकडीका कोयला या भूमिके अंदर मिलनेवाला कोयला, मिट्टीका तेल आदि जो जो पदार्थ उष्णता उत्पन्न करनेवाले करके प्रसिद्ध हैं, उनकी सबकी सब उष्णता सूर्यसे प्राप्त होती है। कोई सूर्यसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है जो उष्णता दे सके। अतः सब आग्नेय पदार्थ सूर्यके ही विभिन्न रूप हैं।

तीन अग्नि।

पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत्, द्युलोकमें सूर्य ये तीन अग्नि हैं। वेदमें तीन अग्निका वर्णन अनेक बार आया है वे तीन अग्नि ये हैं। परंतु ये तीन अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हैं। ये सब एक ही अग्निके रूप हैं और वह एक अग्नि सूर्य ही है। क्योंकि सूर्यके ही रूपान्तर होकर ये अग्नि बने हैं। अतः कहा है-

स एति सविता० । सो अग्निः । स इन्द्रः । [४।१—५]

" वह सूर्य ही अग्नि और इन्द्र अर्थात् विद्युत् है।" क्योंकि सूर्य ही रूपान्तरित होकर अग्नि और विद्युत् बना है। इस प्रकार तीन पृथक् अग्नि अनुभवमें आते हैं तथापि वे विभिन्न नहीं हैं, एकही सूर्य तीन रूपोंमें दिखाई देता है।

जब गुरुकुलमें आठ वर्षका बालक प्रविष्ट होता है, तब उसको संध्याके पश्चात् अग्निमें हवन करनेका उपदेश होता है। उस समय वह समझता है कि अपना उपास्य देव अग्नि है। वह श्रद्धाभक्ति से अग्निकी उपासना करता है और मनमें सोचता है कि क्या यह अग्निदेव स्वतंत्र है ? विचार करते करते उसके हृदयमें वृष्टिकालमें आकाशमंडलमें चमकनेवाली विद्युत् आती है, किसी समय वह विद्युत् किसी वृक्षपर गिरती है, उस समय वह वृक्ष जलता है। इस कालमें गुरु उस शिष्य को समझाता है कि अपना अग्नि विद्युत् से इसी प्रकार इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह विद्युत् को महादेव मानता है, परंतु पीछे अधिक विचार करनेपर उसे पता लगता है कि यह विद्युत् भी सूर्यसे ही उत्पन्न हुई है। अतः वह उस समय सूर्यको ही महादेव मानता है। उस समय वह कहता है—

> स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठे० ।
> स धाता स विधर्ता स वायुः०।
> स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
> सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः। (४।१—५)

'वही सविता धाता विधाता वायु वरुण रुद्र महादेव अग्नि सूर्य और महायम है।' इस तरह इस सूर्यमालिकाका कर्ता धर्ता अधिष्ठाता यही सूर्य है, इसका एक मात्र आधार यह सूर्य है, यह ज्ञान उस शिष्यको होता है। इस समय वह अपनी सूर्योपासना गायत्रीमंत्रसे ही करता है–

> तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
> धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इस गुरुमंत्रका अर्थ इस समय वह ऐसा करता है कि 'हम उस सूर्यके बुद्धिको उत्साह देनेवाले तेजका ध्यान करते हैं।' ऐसा ध्यान करता हुआ वह सूर्यको अपने ब्रह्मवर्चसका आदर्श मानता है, अपनी तपस्याका वह नमूना मानता है, अपने ब्रह्मचर्यका प्रतिरूप सूर्यमें वह देखता है। आदित्य ब्रह्मचारी होनेकी उत्कट इच्छा वह धारण करता है। वह विचार करता है कि यदि सभी सूर्यमालिका इस सूर्यसे ही बने है,तो इस पृथ्वीपरके सभी जीवजन्तु और उनमेंसे मैं स्वयं भी सब मिलकर इसी सूर्यके अंश हैं। सूर्यसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं, अतः वेद कहता है कि—

> योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ वा० य० ४०।१६

"जो सूर्यके अंदर पुरुष है, वह मैं हूं।" सूर्यके साथ मेरा इतना घनिष्ठ संबंध है। सूर्य मेरा पिता है और मैं उसका अमृतपुत्र हूँ। जो इस आदित्यमें सत्व है, वही मुझमें है। मेरी परम गति आदित्य है और मेरा प्रारंभभी आदित्यमेंही हुआ है। मैं इसी आदित्यसे जन्मा हूं, मै इसी आदित्यकी शक्तिसे जीवित हूं और अन्तमें मैं आदित्यमेंही मिल जाऊंगा।

> यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति ।
> यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ॥ तै. उ. ३।१

'जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, होनेपर जिससे जीवित रहते हैं, फिर जाकर अन्तमें जिसमें मिलते हैं, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्मका लक्षण वह शिष्य इस समय सूर्यमें सार्थ हुआ अनुभव करता है, क्योंकि सब भूतमात्र सूर्यसे उत्पन्न हुए, सूर्यसे पाले जाते हैं और अन्तमें सूर्यमेंही मिल जाते हैं। यह अनुभव स्पष्टतया दर्शाता है कि सूर्यही हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म है। इस तरह विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी सूर्यकोही अपना उपास्य मानता है, इस समय उसके सन्मुख ये वाक्य आते हैं–

> एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यते। कौ० उ० २ । १२
> आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः ॥ छां० उ० ३।१९।१
> आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते। छां० उ. ३।१९।१०
> स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते ॥ छां. उ. ३।१९।४

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥ तै. उ. २।८।१;३।१०।४
यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एकः । मै. उ. ६।१७, ७।७
आदित्यो ब्रह्म ॥ मै. उ. ६।१६
ब्रह्म तमसः परमपश्यदमुष्मिन्नादित्ये...विभाति ॥ मै. उ. ६।२४
य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी आत्मा ॥ महानि. उ. २३।१
आदित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे । बृ. उ. २।१।२, ३।१२
आदित्यात्मा ब्रह्म । मै. उ. ६।१६
आदित्यवर्णमूर्धस्वन्तं ब्रह्म ।·मै. उ ६।२४

" जो यह सूर्य दीखता है, वही ब्रह्म प्रकाशता है । आदित्य ब्रह्म है यह आदेश है । आदित्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है ।·जो मनुष्यमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है । जो हृदयमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है । वह आदित्यही ब्रह्म है । अंधकारके परे रहनेवाला यह आदित्य है उसमें ब्रह्म प्रकाशता है । इस आदित्यमें जो पुरुष है, वही परमेष्ठी आत्मा है । इस आदित्यमें जो पुरुष है, वह ब्रह्म है ऐसी मैं उपासना करता हूं । आदित्यका आत्मा ब्रह्म है । ब्रह्म तेजस्वी है और सूर्यके रंगका है । "

इस प्रकार अनेक वाक्य हैं जो सूर्यको ब्रह्म बतते हैं । ये वाक्य इस समय इस ब्रह्मचारीके सन्मुख आते हैं और वह आदित्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है । जो ब्रह्मचारी अग्निकी उपासना करता था, वही उस अग्निके बाद विद्युत की उपासना करने लगा था, वही अब सूर्य को अपना आदर्श उपास्य मानता है । सूर्यको कर्ता धर्ता मानता है, वही सब तेजस्विताका केन्द्र है, वही सबका धारक और आकर्षक है, सबको आधीन रखनेवाला वही एक देव है ! जो सब सूर्यमालाके ग्रहों और उपग्रहोंको धारण करता है, वह उस सूर्यमालाके अन्तर्गत पदार्थमात्रको धारण करता है, उसके देव होनेमें क्या संदेह हो सकता है ? ·अत एव अथर्वश्रुति में·कहा है कि—

स धाता स विधर्ता । अथर्व० १३। ४।४

" वही सविता धारण करनेवाला और विशेष रीतिसे आधार देनेवाला है । " पूर्वोक्त उपनिषद्वचनों में ' इस आदित्यमें ब्रह्म है ' ऐसे वचन आगये हैं । इससे आदित्यका देह और उसमें विराजमान ब्रह्म है, यह कल्पना व्यक्त होती है । मानो वही सूर्यका दृश्यमान आकार ब्रह्मका देह है और उसमें व्यापनेवाला ब्रह्म है । जैसा मनुष्य में देह और आत्मा है, वैसाही सूर्यमें देह और परमात्मा है । अतः ' सूर्यमें जो पुरुष है, वह मै हूँ ' इस कथन का तात्पर्य सूर्य में जो ब्रह्म और गोलक हैं, उनका अंश मेरा आत्मा और देह ये हैं, ऐसा स्पष्ट है । जो कुछ इस पृथ्वीपर बना है वह सूर्यके अंशका बना है, यह एकबार मान लिया जाय, तो सभी चराचर पार्थिव और अपार्थिव वस्तु जो भी इस भूमिपर है वह सूर्यसे बनी है, यह सिद्ध होता है ।

पूर्वोक्त प्रकार वह ब्रह्मचारी अपने मनमें इन वाक्यों की संगति लगाता है । वह विचार करता है कि–

स एष एक एकवृदेक एव ।
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ॥ अथर्व १३।५

" वह एक है, एकमात्र एक है, सब देव इसमें एकरूप होते हैं । " जो अग्नि विद्युत आदि विभिन्न देव हैं, वे सब इस सूर्यदेवमें एकरूप हो जाते हैं । पूर्व स्थानमें बताया है कि अग्नि विद्युत्में मिला रहता है और उसी नातेसे विद्युत भी सूर्यमें एक होकर रहती है । अर्थात् सूर्यमें विद्युत और अग्नि एकरूप होकर रहते हैं, इसी तरह यह पृथ्वी भी एक समय सूर्यरूपही थी । यदि यह पृथ्वी सूर्यका एक भाग थी, तो इस पृथ्वीपरके सभी पदार्थ सूर्यरूप में थे इसमें संदेह हो नहीं सकता ।

इस रीतिसे संगति लगा लगाकर, मनन कर करके वह ब्रह्मचारी सोचता है और विचार करता है, अनुभव लेता है, अपने मनकी खोज लगाता है, कल्पना करता है और अपने मत निश्चित और निर्भ्रांत करनेका यत्न करता है, निरंतर ध्यान करता है कि–

• प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ।

• महः इति त्वोपास्महे वयम् ।

• सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ।

• लोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ अ० १३।४, ९ मंत्र ४७-५२

" तू प्रभु है, तू महान् है, तू उत्तम सत्ता और ज्ञानसे युक्त है और तूही सबको स्थान देता है ऐसी हम सब मिलकर तेरी उपासना करते हैं । " (वयं त्वा उपास्महे) हम सब तेरी उपासना करते हैं, इस प्रयोगमें सब मिलकर उपासना है, संघद्वारा होनेवाली यह उपासना है, केवल व्यक्तिद्वारा होनेवाली यह उपासना नहीं है । यह संघ ब्रह्मचारी गणोंका गुरुकुलनिवासी हो, अथवा ग्राम या नगरवालोंका हो । इससे कोई विचारमें भिन्नता नहीं हो सकती । सूर्य ही सब सूर्यमालाके अन्तर्गत वस्तु मात्रका प्रभु और कर्ताधर्ता है, वही सबसे महान् है, वही सबको ज्ञान देनेवाला है और वही सबका उत्तम रीतिसे निवास करनेवाला है, यह निश्चित है । ये और मंत्र ४१से ५१ तक के ११ मंत्र इन मंत्रोंमें जो अनेकानेक गुण वर्णन किये हैं, वे उपासना के समय सूर्यमें कैसे घटते हैं, इसीका विचार उपासक करते हैं । और अपने उपास्य की शक्ति अपने में धारण करनेका यत्न करते हैं । ' जैसा मेरा उपास्य देव है, वैसा मैं तेजस्वी और कर्ताधर्ता बनूंगा, यही आकांक्षा उपासकोंकी सदा रहती है और सतत किए ध्यानसे सफल भी होती है ।

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ।

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ १३।७।४१--४२

' यह हमारा उपास्य देव पुण्यात्मा मनुष्य और पापी राक्षसके लिए समानतया गर्जता, चमकता और ओले बर्षाता और वृष्टि करता है । ' वह किसीका पक्षपात नहीं करता, उसका प्रकाश सबके लिए समान रीतिसे आता है, वह पुण्यात्माके लिये प्रकाशता है और पापीके लिए नहीं, ऐसी बात नहीं । वह सबको ही अपने प्रकाशसे मार्ग दर्शाता है । यहां यह मंत्रभाग देखकर उपासक भी कहने लगता है ' कि मैं भी सब मनुष्यमात्रकी ओर अथवा प्राणीमात्रकी ओर समान भावसे अपनी दृष्टि रखूंगा, किसीका पक्षपात नहीं करूंगा । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद अन्त्यज चांडाल आदि सबकी सहायता समभावसे करूंगा । मेरा उपास्य सूर्य देव है, वह अपना प्रकाश सबको देता है, वही मेरा कर्तव्य बताता है, अतः मैं भी वैसाही करूंगा । समभाव रखनाही मेरा कर्तव्य है । ' सामाजिक आचरणमें विषमता नहीं रखनी चाहिए । यह उपासना सामाजिक उपासना है, सब आवें और संमिलित होकर उपासना करें । जिनपर उस उपास्य सूर्यदेवका प्रकाश पड सकता है, वे सब इस उपासनामें संमिलित हो सकते हैं ।

सब लोगोंको तथा सब जगत्को अंधेरेसे हटाकर प्रकाशमें लानेके लिए रात्रि और दिनके युगमें इस सूर्यदेवका अवतार होता है । प्रत्येक युगमें इस तरह इस देवका अवतार हो रहा है । और यह यहां आकर हमें प्रकाशका मार्ग बताकर हमारा उद्धार करता है । यदि यह देव इस तरह युगयुगमें न आवे तो सब जगत् अंधेरमें रहेगा और जीवमात्रकी स्थितिही नहीं होगी । हम सबका जीवन उसीके प्रकाशके साथ संबंधित है । अहा ! हमारे जीवनका आधार यह देव है । इसीकी जीवनशक्तिसे सबका जीवन हो रहा है, इस तरह इस जगत्का अणुरेणु उसके साथ संबंधित है । इस समय उपासकके सामने ये मंत्र आते हैं-

• तस्मादहरजायत,......रात्रिरजायत,......अन्तरिक्षमजायत......वायु-

रजायत.........द्यौरजायत......दिशोऽजायन्त.........भूमिरजायत......

अग्निरजायत.........आपोऽजायन्त.........ऋचोऽजायन्त.........यज्ञोऽजायत.........

अ. १३।७।२९-३९

" इसी सूर्य देवसे दिवस, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, दिशा, भूमि, अग्नि, जल, मंत्र और यज्ञ होगये हैं । " यदि यह न होता तो इनमेंसे कुछ भी न बनता, इनका कर्ताधर्ता वही हमारा उपास्य देव है ।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ।
………………यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ अ० १३।७।४४-४५

" हे ऐश्वर्यवान् प्रभो ! यह अद्भुत तेरा महिमा है, ये सब सैंकडों (हजारों लाखों करोडों वा) अरबोंकी संख्यामें जो अनंत शरीर हैं, वे सब तेरे ही हैं । " तात्पर्य तूही इस विश्वरूपमें अपने आपको ढालता है, क्योंकि भूमिभी तेरेसे ही बनी और भूमिसे सब पदार्थ बने हैं । अतः तुमसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । यह देव एकमात्र अकेला एक है-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ अ० १३।५।१६—१८

' वह एक है, दूसरा तीसरा चौथा पांचवां छठां सातवां आठवां, नववां दसवां वह नहीं है । ' क्योंकि वह एकमात्र अकेला एक है । सूर्यमालामें सूर्यका यही स्थान है, यही महत्त्व है और यही वैभव तथा ऐश्वर्य है । तथा—

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ।
स रुद्रः वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके० ॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते ।
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ अ० १३।६।२५—२८

" वही मृत्यु है, वही अमृत है, वही बडा देव है और वही रक्षक अथवा राक्षस है । वही रुद्र है । सब ये चलनेवाले ग्रहनक्षत्रादिक, तथा सब नक्षत्र और चन्द्रमा भी उसीकी आज्ञामें रहते हैं । " क्योंकि सूर्यकी आकर्षणमें ये सब ग्रह हैं, जो सूर्यमालामें विद्यमान हैं । सूर्यके आकर्षणका प्रभाव इन सबपर हो रहा है । ऐसा यह महान् सूर्यदेव सबको अमरपन देनेवाला है और सबको मृत्यु देनेवाला भी वही है । वही रुद्र है वही राक्षस है और संरक्षक भी है । अर्थात् वही सब कुछ है ।

सूर्यके न होनेसे अथवा सूर्यके अतितापसे मृत्यु होता है, तथा सूर्यका प्रकाश जीवन देता है, इसलिए वही अमरत्व देनेवाला है । इसलिए इसी एक देवको ये सब नाम लगते हैं। इस समयतक इसके नाम अमृत, मृत्यु, रक्षः, रुद्र ये आगये हैं, इन नामोंके अतिरिक्त इस सूक्तमें आये नाम अब देखिये—

स एति सविता…महेन्द्रः स धाता…विधर्ता…
स वायुः…सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः…स उ सूर्यः स उ एव महायमः । अ. १३।४।१-५

" वह सविता, महेन्द्र, धाता, विधर्ता, वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम है । " इस सूर्यके ये नाम हैं तथा—

इन्द्रः… शच्याः पतिः—विभूः…प्रभूः । अ. १३।८।४६-४७

" इन्द्र, शचीपति, विभु, प्रभु भी वही है । " ये सर्व नाम उसी देवके वाचक हैं । अर्थात् ये सब नाम उसीके गुणवर्णन कर रहे हैं । यदि यह सत्य है तो इन देवताओंके जो मंत्र है वे सब मंत्र इसी सूर्यदेवताका वर्णन करते हैं ऐसा मानना चाहिये। तभी तो ये इसके नाम सार्थ, अन्वर्थक और योग्य हो सकते हैं । इतनी कल्पना उपासक के मनमें आते ही वह इन सब मंत्रोंमें इसका वर्णन देखता है और अपने उपास्य देवका माहात्म्य जानता है और उसको मनमें धारण करता है ।

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ।
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ।
अ० १३।४।१,२,११

' वह द्युलोक के पीठपर प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सब प्रजाओंको विशेष रीतिसे देखता है।' यह सब वर्णन उपासक को प्रत्यक्ष है। सूर्य आकाशमें प्रकाशता है, उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सबको देखता है, यह सब सूर्यके विषय में प्रतिदिन मनुष्यको प्रत्यक्ष हो रहा है। इस तरह अपने उपास्य देवकी महिमा उपासक जानता है और उसके विषयमें अपने मनका आदर बढाता है।

इस काण्डके पहिले तीन सूक्त मुख्यतः सूर्यके वाचकही हैं। इनमें प्रमुखतः जो मंत्र सूर्यका वर्णन करते हैं और जो विशेषकर ब्रह्मचारीके सन्मुख सूर्यका ध्यान करते समय आते हैं, उनका अब मनन करते हैं।

उदेहि वाजिन्। १३।१।१

" हे बलवान् सूर्यदेव ! उदयको प्राप्त हो। " यह प्रार्थना सूर्य को लक्ष्य करके ही है। इसके साथ देखने योग्य मंत्र ये हैं-

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥२५॥
जयांस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि ॥३२॥
ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्य ॥३५॥
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥३९॥
सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम् ॥४५॥
यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ॥५८॥

अ० १३।१

" सूर्यके घोडे सदा प्रकाशयुक्त हैं, इसके रथको सुखपूर्वक चलाते हैं। सर्वत्र पवित्रता करनेवाला सूर्यदेव विविध रंगवाली प्रभाके साथ द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। हे सूर्यदेव ! तू उदयको प्राप्त होता हुआ मेरे शत्रुओंका नाश कर॥ प्रकाशके पोषक देव सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं॥ द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यको सब देखते हैं॥ सूर्य द्युलोक भूमिलोक आदि सबको देखता है। सूर्यही सब जगत् का एकमात्र आंख है। वह द्युलोकपर आरूढ होकर विराजता है॥ हे सूर्य ! जो पुरुष तेरे और मेरे बीचमें विरोध करता है वह पापी है। " इत्यादि मंत्र सूर्यका वर्णन स्पष्ट रूपसे करते हैं, और उपास्य देवका महत्व उपासकके अन्तःकरणमें स्थिर करते हैं। इस प्रथम सूक्तके अन्य मंत्र भी इन मुख्य मंत्रोंके अनुसंधानसे विचारने चाहिए। अब द्वितीय सूक्तके मंत्रोंमें सूर्यका वर्णन कैसा गंभीर रीतिसे किया है, सो देखिए—

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥१॥
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥
विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ॥४॥
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥५॥
स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥६॥
सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ॥७॥
सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ॥८॥
उद्यन्रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ॥१०॥
दिवि त्वात्त्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे ॥१२॥

यत्समुद्रमनुश्रितं तत् सिषासति सूर्यः ॥ १४ ॥
अ० १३।२

"वृष्टि करनेवाले नियमोंसे चलनेवाले मानवोंका निरीक्षण करनेवाले सूर्यके तेजस्वी किरण उदयको प्राप्त होनेके पश्चात् बहुतही चमकते हैं॥ जो अपने तेजस्वी किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, उस सूर्यदेवकी प्रशंसा हम करते हैं, उसके गुण गाते हैं॥ बडे प्रभावशाली सात किरण तेजस्वी ज्ञानी सूर्यदेवको उठाकर ले जाते हैं॥ द्युलोक, भूलोक तथा अहोरात्रको निर्माण करके, हे सूर्य! तू जाता है॥ जिससे दोनों सीमाओं तक तू जाता है, उस चलनेवाले रथके लिये स्वस्ति हो ? बडी सात किरणें किंवा गतिमान् सौ किरणें तुझको चला रहीं हैं॥ हे सूर्य! तू ऐसे सुखदायी गतिमान् उत्तम रथपर चढ॥ सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले तेजस्वी किरण वेगके लिये अपने रथको जोते हैं। उदय होनेपर तू किरणोंको फैलाता है और सब रूपोंको प्रकाशित करता है॥ महिनेका विभाग करनेके लिये तुझे द्युलोकमें रखा है। जो समुद्रके आश्रयसे रहता है, वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है॥"

यहांतकके सब मंत्र प्रायः सूर्यपरक ही हैं। जो मंत्र यहां अधूरे दिये हैं, उनके शेष भाग पाठक पूर्वस्थलमें देखें और उनके अर्थका मनन करें। इससे यहांतकके सब मंत्र सूर्यके गुणगायन करनेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट हो जायगा। इसके (१६ से २४ तक) आगेके ९ मंत्र ऋग्वेदमें मंडल १।५० में आगये हैं और वहां भी इनकी सूर्यदेवताही है। अतः ये सूर्यका गुणवर्णन कर रहे हैं, इसमें कोई संदेहही नहीं। इनमेंसे कुछ मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी दूसरे स्थान पर आगये हैं और सर्वत्र सूर्यदेवताकेही ये मंत्र हैं। इस कारण इनके संबंधका अधिक विचार करनेकी यहां कोई आवश्यकता नहीं है। इसके आगेके मंत्रोंमें सूर्यविषयक मंत्र देखिये—

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो विभासि॥ २८॥
बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि॥ २९॥
रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतंग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः॥ ३०॥
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने० ॥ ३२॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवा करोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वा तारीद् दुरितानि शुक्रः॥ ३४॥
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ३५॥
उच्चापतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः॥ ३६॥
स नः सूर्य प्रतिर दीर्घमायुः॥ ३७॥
रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः॥ ३९॥
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरेत्॥ ४१॥
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः॥ ४३॥ अ. १३।२

"कभी आलस्य न करनेवाला यह सूर्यदेव अपने किरणरूप अश्वोंपर आरूढ होकर जाता है और इस जगतमें छाया और प्रकाशमय दो रूप बनाता है। किरणोंसे युक्त होनेवाला यह विजयी सूर्य उच्च स्थानसे चमकता है॥ सूर्य सबसे बडा है, सूर्यका महिमा बहुत ही बडा है॥ सूर्य द्युलोकमें, अन्तरिक्षलोकमें, पृथ्वीमें, समुद्रमें प्रकाशता है॥ सूर्यके ऊपर दिन और रात्रि अवलंबित हैं॥ देवोंका झंडा जैसा अत्यंत प्रकाशमान् यह सूर्य अंधकारको हटाता है और सर्वत्र प्रकाश फैलाता है॥ यह सूर्यही स्थावर जंगम पदार्थोंका जीवन है॥ आकाशमें उच्चसे उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षीके समान आकाशमें तैरनेवाले इस

तेजस्वी सूर्यका प्रकाश हम सर्वत्र देखते हैं ।। यह सूर्य हमें दीर्घ आयु देता है ॥ सूर्यही शमन है और सूर्यही प्रजाका पति है । इस सूर्य देवने अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रको प्रकाशित किया है ।। सूर्य हमारा मार्गदर्शक है, हम उसीके गुणगान करते हैं ।।''

ये सब मंत्र स्पष्टतया सूर्यके वर्णनपरक हैं । यदि यह निश्चय हो जावे कि इनमें सूर्यका वर्णन है, तो इनके बीचके मंत्रोंमें सूर्यस्तुतिही है, इसमें कोई संदेहही नहीं हो सकता । अब तृतीय सूक्तमेंसे कुछ मंत्र देखिये-

> कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
> त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य० ।। ९ ।।
> यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु । यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः साकं ॥ १० ।।
> स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ।। १३ ।।
> शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।
> यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति ॥ १६ ।।
> सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा ।। १८ ।।
> कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्याः वत्सोऽजायत ।
> स ह द्यामधि रोहति ॥२६॥ अ० १३।३

''जलका धारण करनेवाले सूर्यकिरण नीलवर्णवाले आकाशकी दिशासे ऊपर जाते हैं, वे जलके अर्थात् मेघोंके स्थानको पहुंचते हैं ।। हे सूर्य ! जो आनन्द देनेवाला चन्द्रप्रकाश है, उसमें सूर्यके सात किरण ही समर्पित हुए हैं (अर्थात् सूर्यके किरण चन्द्रमें जाकर वहांसे जो प्रकाश हमें प्राप्त होता है, वह चन्द्रमा कहकर प्रसिद्ध है ।।) वही सूर्य जब अन्तरिक्षमें होता है, तब उसको सविता कहते हैं और जब मध्याह्नमें तपता है, उस समय उसको इन्द्र कहा जाता है (अर्थात् ८ बजेसे १०॥ बजेतकके सूर्यका नाम 'सविता' है और ११ से १ बजेतकके सूर्यका नाम 'इन्द्र' है ।।) सूर्यरूपी पवित्र देवका प्रकाश आकाशमें फैला है, जिसके किरण एक ओर द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और दूसरी ओर भूमंडलकी ओर वही विविध प्रकाश के साथ चमकता है । सूर्यके रथको सात अश्व जोते हैं (अर्थात् सात किरण हैं) ॥ कृष्णा नामक काले रंगवाली रात्रिका पुत्रही यह प्रकाशमान सूर्य है, वह द्युलोकपर चढता है॥''

इस तरह तीनों सूक्तोंमें जो मंत्र हैं वे सब सूर्यका वर्णन कर रहे हैं। इनमें कई मंत्र अत्यंत स्पष्ट हैं,कई अग्निके मिषसे सूर्यका वर्णन करते हैं,कई विद्युतके मिषसे सूर्यकाही वर्णन करते हैं।और कई स्पष्ट रूपसे सूर्यकाही वर्णन करते है।पाठक इन मंत्रोंका शब्दार्थ जो पूर्व स्थलमें दिया है,वारंवार देखें,मनन करें और मंत्रोंके आशयको जानें और देखें कि यहां सूर्यकी स्तुति किस तरह है।

इस काण्डकी देवता आदित्य, रोहित और अध्यात्म है । आदित्य और रोहित ये नाम सूर्यके हैं । रोहित नाम अग्निका भी है, परंतु अग्नि परंपरया सूर्यका पौत्र होनेसे सूर्यके साथ संबंधित है । अध्यात्म पक्षमें यही सूक्त आत्माके पक्षमें देखना चाहिये । इसका तात्पर्य व्यक्तिगत आत्माके विषयमें विचार करनेपर व्यक्ति भी सूर्यका ही अंश है इसलिये जो प्राकृतिक अंश सूर्यमें है और ब्रह्मका सत्व सूर्यमें है वह अंशरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें आया है, क्योंकि इस सूर्यमालामें जो अणुरेणु है वह सूर्यसेही आया है इस तरह विचार जो इसके पूर्व बताया ही है,वह ध्यानमें लानेसे व्यक्तिगत सूर्यकी सत्ताका अनुभव प्राप्त होता है यही सूर्यका अध्यात्म-विज्ञान है :

परमात्मा सर्वव्यापक और पूर्ण निराकार है, उसकी उपासना निर्विषयध्यानादि द्वारा होती है। परंतु हरएक मनुष्य प्रारंभसे अन्ततक अमूर्त ब्रह्मकी उपासना यथायोग्य रीतिसे कर सकता है, ऐसी बात नहीं है । उदाहरणके लिये सद्य उपनीत बालक ब्रह्मचारी ६ या ८ वर्षकी आयुमें अमूर्त ब्रह्मका ध्यान कैसा करे ? इसके लिये यह असंभव है । ध्यानधारणाकी सिद्धिके पश्चात् यह उपासना होना संभव हो सकती है । यह निरालंबोपासना उन्नतिकी अवस्थामें संभवनीय है । तब तक सालंबोपासना करनेकी अवस्था रहती है, उसमें अग्निहोत्रकी अग्निसे बढता हुआ और सूर्योपस्थान करता हुआ उपासक अपनी प्रगति कर सकता है। यह सालंब उपासना इस काण्डके इन सब सूक्तोंमें बताई है और इस उपासनाके लिये 'सूर्य' का निर्देश यहां किया है ।

निरुक्तादि ग्रंथोंमें जहां देवताओंका निरूपण किया है, वहां भी सब वेदके देवताओंके नाम सूर्यपर घटानेका ही यत्न किया है । और देवशत्रु असुरोंके नाम मेघोंपर घटानेका यत्न किया है । यदि वह प्रकरण पाठक सूक्ष्म विचार के साथ वहां अनुसंधान करके देखेंगे, तो उनको वही बात वहां दीख सकती है ।

इस सूक्तमें भी सूर्यके नाम जो गिनाये हैं, उनमें रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, सविता, आदित्य, धाता, विधाता, विधर्ता, पतंग, अर्यमा, वरुण, यम, महायम, देव, महादेव, एक, एकवृत्, रोहित, सुपर्ण, अरुण इत्यादि नाम गिनाये हैं । अर्थात् इन नामोंके अनेक देवताओंके सूक्तोंसे एक ही सूर्यदेवका वर्णन होता है, यह बात इस रीतिसे स्पष्ट हो जाती है । सब अन्य देव एक ही सूर्यमें मिल जाते हैं इस तरहके वर्णनसे अनेक देवोंका भेदभाव सूर्यमें नष्ट होता है यह स्पष्ट है, अर्थात् अनेक देवताओंके मंत्रोंसे वेदमें सूर्यका ही वर्णन है और वह उपासना के लिये ही है ।

पुराणोंमें भी सूर्यपर ही 'विष्णु' का रूपक करके अनेक अवतारोंका वर्णन और अनेक कथाओंके प्रसंग वर्णन किये हैं । श्रीमद्भागवतमें भी प्रातःकालके सूर्यका नाम ब्रह्मा, मध्याह्नके सूर्यका नाम विष्णु और रात्रिके समय के सूर्यका नाम शिव कहकर त्रिमूर्तिको सूर्यमें ही बताया है । इस तरह सूर्यके रूपकपरही ब्रह्मा विष्णु शिवकी अनंत कथाएं कल्पित हैं, यह बात वहां स्पष्ट हो गयी है । ब्रह्मा की पुत्री सावित्री, विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी और शिवकी पत्नी काली यह सब इस तरह सूर्यपर ही रूपक है । इसका संपूर्ण विवेचन करनेसे सहस्रों पृष्ठोंका महाग्रंथ बनेगा, वैसा यहां बनाने का विचार नहीं है और वैसी यहां आवश्यकता भी नहीं है। यहां जितना दिग्दर्शन किया है उतना इस वैदिक विषयके ज्ञानके लिये पर्याप्त है। वेदके अन्यान्य वर्णन जैसे सूर्यपर घटते हैं वैसे हि ब्राह्मण ग्रंथकी कथाएं और इतिहास पुराणकी कथाएं भी सूर्यपर रूपकालंकार से रचित हैं यही बात यहां संक्षेपसे बताना है । इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्रत्येक पंक्ति सूर्यपरक है। परंतु इतनाही समझे कि मुख्य कथाप्रसंग सूर्यपर अलंकार मानकर रचा गया था। उपप्रसंगोंमें विविध संचार हुए ही होंगे । इस तरह सब ग्रंथोंके वर्णन मुख्यतया सूर्यपरक है । इतना कहनेसे सबकी उपास्य देवता सूर्य है यह बात सूचित होती है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किसी स्वतंत्र ग्रंथ में करेंगे इतनाही यहां बताकर इस काण्डका विवेचन यहां समाप्त करते हैं ॥

बोध वाक्य ।

इस काण्डमें कई वाक्य अन्यान्य रीतिसे विशेष उपदेश देते हैं, उनका विचार अब संक्षेपसे करेंगे-

प्रथम सूक्त ।

१ उदेहि वाजिन् (१) = हे बलवान् ! अभ्युदयको प्राप्त हो ! अपना अभ्युदय करो, कदापि अवनत न हो ।

२ इदं राष्ट्रं प्रविश सूनृतावत् = इस सत्यनिष्ठ राष्ट्रमें आवेश उत्पन्न कर, इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट होकर कार्य कर।

३ स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु = वह तुझे अपने राष्ट्रकी उन्नतिके हेतु उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त करे । तू अपने राष्ट्रमें राष्ट्रीय उन्नतिके लिये उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त होकर विराजमान हो ।

४ उद्वाज आगन् (२) = अपना बल उन्नतिके लिये प्रकट कर, उन्नतिके ही कार्यमें अपना सामर्थ्य लगा दो ।

५ विश आरोह त्वद्योनयो याः = प्रजाजनोंमें उच्च हो, जिनमें तुम्हारी उत्पत्ति है। तू अपनी जातिमें उन्नत हो, उच्च स्थान प्राप्त कर ।

६ अप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आवेशयेह = जलस्थानों, औषधियोंके उद्यानों, गौवों, चतुष्पादों और द्विपादोंको यहां अपने देशमें उत्तम रीतिसे रहने दो । वे रहें और उन्नत होवें ।

७ यूयमुग्राः पृश्निमातरः (३) = तुम बडे उग्रवीर भूमिको माता माननेवाले हो । शूरवीर सब अपने मातृभूमिका सत्कार करें ।

८ प्रमृणीत शत्रून् = शत्रुओंका नाश करो ।

९ रुहो रुरोह (४) = बढनेवाले बढें । जो उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं, वे न रुकें उनके मार्गमें रुकावट कोई न हो ।

१० यातु प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः = उन्नतिके मार्गको देखता हुआ तू यहां राष्ट्रको उन्नति के मार्गपर रख।

११ आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽऽहार्षीत् (५) = तेरे राष्ट्रको इस (परिस्थितिमें) उसी वीरने लाया है, उसीका सन्मान करना तुझे योग्य है।

१२ व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत् = उसने शत्रु दूर भगा दिये और तेरे लिए निर्भयता की है।

१३ सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन (८) = तेरे राष्ट्रमें दूध और घी भरपूर हो, ये पौष्टिक पदार्थ विपुलतामें प्राप्त हों।

१४ ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विक्षि राष्ट्रे जागृहि (९) = ज्ञान और दूध से पुष्ट होता हुआ तू अपने प्रजाजनोंमें और राष्ट्रमें जागता रह, कभी न सो जा। राष्ट्रमें जाग्रत रहकर राष्ट्रको उन्नत करनेका यत्न कर।

१५ यास्ते विशस्तपसः संबभूवुः (१०) = जो प्रजाएं तपके लिये संघटित होती हैं (उनकी उन्नति होती है।)

१६ तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन = वे प्रजाजन शुभ मनोभावनाके साथ तेरे साथ सत्कार्यमें प्रविष्ट हों, सब मिलकर शुभ कार्य करें।

१७ विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः (११) = तरुण कवि अनेक काव्य के रूपक बनाता है, अनेक रूपक निर्माण करता है।

१८ तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा विभाति = अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशके साथ प्रकाशता है।

१९ गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि (१२) = मेरे गौओंका और वीरोंका पोषण होता रहे।

२० वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि (१३) = वाणी, कान और मनके साथ हवन करता हूं, (वाणीसे मंत्रोच्चारण, कानसे मंत्रश्रवण और मनसे मनन करता हुआ हवन करता हूं।)

२१ स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु = वह मुझे उन्नतियोंके साथ समितिके लिए उन्नत बनावे।

२२ तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः (१४) = उस (यज्ञ) से अनेक तेज मुझे प्राप्त हो गये हैं। यज्ञसे विविध तेज प्राप्त होते हैं।

२३ आ त्वा रुरोह रेतसा सह (१५) = वीर्यके साथ वह तुझे उन्नत करे, पराक्रम के साथ वह (यज्ञ) तुझे बढावे।

२४ वाचस्पते पृथिवी नः स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा (१७) = हे वाणीके पति! पृथ्वी हमारे लिए कल्याण करनेवाली होवे, घर हमारे लिए सुखदायक होवे, बिछौने हम सबके लिए कल्याणकारी होवें।

२५ इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु = यहां ही प्राण हमारी मित्रतामें रहे, हम दीर्घायु हों।

२६ तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु = हे परमात्मन्! अग्नि तुझे आयु और तेजके साथ युक्त करे।

२७ वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः (१९) = हे वाणीके अधिष्ठाता! मेरा मन सुविचार युक्त हो, गोशालामें गौवें हों और हमारे घरमें संतान हों।

२८ सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहि (२०) = सब शत्रुओंपर चढाई करता हुआ आगे बढ, सब शत्रुओंका नाश कर और उन्नत हो।

२९ इदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत् = इस राष्ट्रको सत्यनिष्ठ तथा आनंदप्रसन्न बनाओ।

३० अनुव्रता रोहिणी सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः (२२) = विदुषी उत्तम वर्णवाली तेजस्विनी बढनेवाली अनुकूल स्त्री वृद्धिका कारण होती है।

३१ तया वाजान् विश्वरूपान् जयेम = वैसी विदुषी अनुकूल स्त्रीके साथ सब प्रकारके अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे।

३२ तया विश्वाः पृतना अभिष्याम = उससे सब शत्रुसेनाओंको परास्त करेंगे।

३३ तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् (२३) = कविलोग प्रमाद रहित होकर उसकी रक्षा करते हैं।

३४ अश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृता सुखं रथं(२४) = वेगवाले तेजस्वी घोडे सदा उत्तम सुखदायी रथको उत्तम रीतिसे ले चलाते हैं।

३५ वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं धेनुरनपस्पृगेषा (२७) = दूध और घी देनेवाली गौको विशेष रीतिसे तैयार कर, यह दोहनेके समय हलचल न करनेवाली उत्तम गौ है।

३६ क्षेमो अस्तु, विमृधो नुदस्व = सबका कल्याण हो, शत्रु दूर हो जांय।

३७ अभीषाड् विश्वाषाड् सपत्नान् हन्तु ये मम (२८) = जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश विजयी वीर करे।

३८ हन्त्वेनान्प्रदहत्वरिर्यो नः पृतन्यति (२९) = जो शत्रु हमपर सेनाके साथ हमला करता है, उसको मारा जावे।

३९ वयं सपत्नान् प्रदहामसि = हम सब शत्रुओंको जलावेंगे।

४० अवाचीनानव जहि अधा सपत्नान्मामकान् (३०) = हमारे शत्रुओंको नीचे करके दबा दे।

४१ सपत्नानधरान्पादयस्वास्मत् (३१) = हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो।

४२ अस्मद्व्यथया सजातमुत्पिपानं = हमारे सजातीय शत्रुको व्यथासे युक्त कर, दुःखी कर।

४३ अवरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः (३१) = हमारे शत्रु निष्फलक्रोधवाले होकर नीचे गिर जांय।

४४ सपत्नानव मे जहि, अवैनानश्मना जहि,ते यन्त्वधमं तमः(३४) = मेरे शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंका पत्थरोंसे नाश कर, मेरे शत्रु अंधेरेमें जावें।

४५ वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति (३३)= बच्चेको ज्ञानवान् होते हुए भी ज्ञानके साथ बढाते हैं।

४६ पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह, प्रजां च रोह, अमृतं च रोह (३४) पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा और अमरपन की वृद्धि कर।

४७ ये राष्ट्रभृतः, तेष्टे राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानाः (३५) = जो राष्ट्रपोषक वीर हैं, उनके द्वारा मेरे राष्ट्रका उत्तम मनके साथ धारण होवे।

४८ भूमिमब्रवीत्, त्वदीयं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्यम् (५४) – उसने मातृभूमिसे कहा कि 'जो हुआ और जो होनेवाला है, वह सब तेरे लिये अर्पण हो जाय।'

४९ स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किंचेदं विरोचते। (५१) = वह पहिला बना हुआ और बननेवाला यज्ञ हुआ, उससे बना यह सब जो कुछ चमकता है।

द्वितीय सूक्त।

५० स्तवाम भुवनस्य गोपां (२) = भुवनके रक्षक की प्रशंसा करते हैं।

५१ मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं (५) = युद्धमें जानेवाले तुझे शत्रु न दबावें।

५२ स्वस्ति दुर्गां अति याहि शीघ्रं = कुशलतापूर्वक शीघ्र कठिन स्थानोंके परे जा।

५३ रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनं (७) = तेजस्वी, सुखदायी, बलवान्, उत्तम चलनेवाले सुंदर रथपर चढ।

५४ द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः (२६) = एक ही ईश्वरने द्युलोक और भूलोक बनाये हैं।

५५ अतन्द्रो यास्यन् (१८) = आलस्य छोडनेपर ही प्रगति करता है।

इस तरह अनेक उपदेशपर वाक्य इस काण्डमें हैं, जो मुख्य देवताका वर्णन करते हुए अन्यान्य बोध पाठकोंको देते हैं। पाठक इस रीतिसे इस काण्डका अध्ययन करें।

अथर्ववेद।

त्रयोदश काण्डकी विषयसूची।

त्रयोदश काण्ड समाप्त।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

चतुर्दशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार

अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, आनन्दाश्रम पारडी, (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००६, शक १८७१, सन १९५०

दम्पती वियुक्त न हो ।

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥

(अथर्व० १४ । १ । २२)

"हे वर व वधू ! हे विवाहित स्त्रीपुरुषो ! (इह एव स्तं) तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें रहो (मा वि यौष्टं) तुम कभी वियुक्त न हुआ करो । [पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नातियोंके साथ खेलते हुए और [मोदमानौ] उनके साथ आनन्द करते हुए [सु-अस्तकौ] उत्तम घरद्वारसे युक्त होकर [विश्वं आयुः व्यश्नुतं] पूर्ण आयुतक उपभोग करते रहो "

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

चतुर्दश काण्ड ।

यह चतुर्दश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय बृहद्विभागमें द्वितीय है । इस काण्डमें ' विवाह-संस्कार ' यही एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः जो पाठक इस काण्डका विशेष मननपूर्वक अध्ययन करेंगे, उनको " वैदिक विवाह-पद्धति " का यथायोग्य ज्ञान हो सकता है ।

इसमें दो अनुवाक हैं । प्रथमानुवाकमें ६४ मंत्रोंका एक सूक्त है और द्वितीयानुवाकमें ७५ मंत्रोंका एक सूक्त है । सब मिलकर १३९ मंत्र इस काण्डमें हैं । ये दोनों सूक्त दशतिविभागसे विभक्त हुए हैं, प्रथम सूक्तमें १० मंत्रोंकी ५ दशतियां हैं और छठी दशति १४ मंत्रोंकी है, इसी तरह द्वितीय सूक्तमें ७ दशतियां दस मंत्रोंकी है और आठवी दशति ५ मंत्रोंकी है । परंतु यह दशतिविभाग केवल मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है, इसका अर्थके साथ विशेषसा संबंध नहीं है । अब इस काण्डके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	ऋषि	मंत्रसंख्या	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	सावित्री सूर्या	६४	आत्मदैवत्यं (स्वयं) १-५ सोमः; ६ स्वविवाहः, २३ सोमार्कौ, २४ चन्द्रमाः, २५ विवाहमंत्राशिषः; २५, २७ वधूवाससंस्पर्शमोचनं;	अनुष्टुभ्; १४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५ आस्तार पंक्तिः १९, २०, २३, २४, ३१-३३, ३७, ३९, ४० ४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, (५८, ५९, ६१) त्रिष्टुभः (२३, ३१, ४५ बृहतीगर्भा त्रि०;) २१, ४६, ५४, ६४; जगत्यः (५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुभौ); २९, ५५ पुरस्ताद्बृहत्यौ; ३४ प्रस्तार पंक्तिः; ३८ पुरोबृहती त्रिपदा पुरोष्णिक्; (४८ पथ्यापंक्तिः) ६० पराबृहती

द्वितीयोऽनुवाकः ।

२ सावित्री सूर्या ७५	आत्मदेवत्य (सर्वं) १० यक्ष्मनाशनं; ११ दंपत्योः परिपंथिनाशनं; ३६ देवाः	अनुष्टुभ्, ५, ६, १२, ३१, ३७, ३९, ४० जगत्यः; (३७, ३९ भुरिक् त्रिष्टुभौ;) ९ त्र्यवसाना षट्पदा विराडत्यष्टिः; १३, १४, १७-१९ (३४, ३६, ३८) ४१, ४२, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५ त्रिष्टुभः; १५, ५१ भुरिजौ; २० पुरस्ताद्बृहती १३, २४, २५, ३२, ३३ पुरोबृहती; (२६ त्रिपदा विराण्नाम गायत्री;) ३३ विराडास्तार पंक्तिः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्, ४३ त्रिष्टुब्गर्भा-पंक्तिः; ४४ प्रस्तारपंक्तिः; (४७ पथ्याबृहती) ४८ सतः पंक्तिः; (५० उपरिष्टाद्बृहती) निचृत्;) ५२ विराट् पुरोष्णिक्; ५९, ६०, ६२ पथ्यापंक्तिः; (६८ पुरोष्णिक्;) ६९ त्र्यव० षट्प० अतिशक्वरी; ७१ बृहती ।

इस सूक्तमें ' आत्मादेवता ' का अर्थ जो ऋषि है वही देवता है । अर्थात् सावित्रीसूर्याने अपनेही विवाहका वर्णन, जैसा विवाह हुआ, वैसा किया है । इस विवाहका स्पष्टीकरण इस काण्डके अन्तमें दिया जायगा । इस चतुर्दश काण्डके दोनों सूक्त विवाहप्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पष्टीकरण करेंगे । प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखें—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

चतुर्दशं काण्डम् ।

(१)

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥१॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही । अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥२॥

अर्थ—(सत्येन भूमिः उत्तभिता) सत्यने भूमिको उठाया है । और (सूर्येण द्यौः उत्तभिता) सूर्यने द्युलोक उठाया है। (ऋतेन आदित्याः तिष्ठन्ति) ऋतसे आदित्य रहते हैं । और (सोमः दिवि अधि श्रितः) सोम द्युलोकमें आश्रित हुआ है ॥ १ ॥

(सोमेन आदित्याः बलिनः) सोमसे आदित्य बलवान् हुए हैं । तथा (सोमेन पृथिवी मही) सोमसेही पृथ्वी बडी हुई है । (अथो एषां नक्षत्राणां उपस्थे) और इन नक्षत्रोंके पास (सोमः आहितः) सोम रखा है ॥ २ ॥

भावार्थ- सत्यसे मातृभूमिका उद्धार किया जाता है, सूर्यके प्रकाशसे आकाश तेजस्वी होता है, सरलता के कारण आदित्य अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं और सोम द्युलोक के प्रकाशमें आश्रय लेकर रहा है । (इसी प्रकार ये वधूवर सत्य, सूर्यप्रकाश, सरलता और द्युलोक अर्थात् स्वर्ग के आधारसे अपना जीवनक्रम चलावें ।) ॥ १ ॥

सोमसे आदित्यमें बल आया और पृथ्वीका विस्तार हुआ है, और नक्षत्रों में भी सोम ही तेज बढा रहा है। इसी तरह ये वधूवर सोम आदि वनस्पति भक्षण कर अपने बल, महत्त्व और तेज की वृद्धि करें ॥ २ ॥

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥३॥
यत्त्वां सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥४॥
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः। ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः॥५॥
चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥६॥
रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृता ॥७॥

अर्थ— (यत् ओषधिं संपिंषन्ति) जब सोम नामक औषधिको पीसते हैं, तब (पपिवान् सोमं मन्यते) सोमपान करनेवाला सोमरस पिया ऐसा मानता है। (ब्रह्माणः यं सोमं विदुः) ज्ञानी लोग जिसको सोम करके समझते हैं, (तस्य पार्थिवः न अश्नाति) उसका भक्षण कोई पृथ्वीपर रहनेवाला मनुष्य नहीं करता ॥ ३ ॥

हे (सोम) सोम ! (यत् त्वा प्रपिबन्ति) जब तुझे पीते हैं, [ततः पुनः आप्यायसे] उसके पश्चात् पुनः तू वृद्धिको प्राप्त करता है। [वायुः सोमस्य रक्षिता] वायु सोमका रक्षक है, और [समानां आकृतिः मासः] वर्षोंकी आकृति महिना ही है ॥ ४ ॥

हे सोम ! [आच्छत् विधानैः गुपितः] आच्छादनोंसे सुरक्षित [बार्हतः रक्षितः] बडोंसे रक्षित हुआ तू [ग्राव्णां इत् शृण्वन् तिष्ठसि] इस रस निकालनेवाले पत्थरोंका शब्द सुनता हुआ रहता है। [पार्थिवः ते न अश्नाति] कोई मनुष्य तेरा रस भक्षण नहीं करता ॥ ५ ॥

[यत् सूर्या पतिं अयात्] जब सूर्या अपने पतिके पास गयी, तब [चित्तिः उपबर्हणं आः] संकल्प सिरोना हुआ, [चक्षुः अभि अञ्जनं आः] आंख अञ्जन बना तथा (द्यौः भूमिः कोशः आसीत्) द्यौ और पृथिवी खजाना था ॥ ६ ॥

[रैभी अनुदेयी आसीत्] रैभी ऋचा विदायीकी भाषा हो गई, [नाराशंसी न्योचनी] नाराशंसी मंत्र स्वागतका भाषण बने, [सूर्यायाः वासः भद्रं इत्] सूर्याका वस्त्र बहुत कल्याणकारी है। वह सूर्या [गाथया परिष्कृता एति] गाथाओंसे सुशोभित होकर आती है ॥ ७ ॥

भावार्थ- जब यज्ञमें सोमका रस निकालने लगते हैं, तब सोमरस पीनेका निश्चय सबको होता है। परंतु जिसको ज्ञानी सोम जन समझते हैं, वह भिन्नही है, कोई साधारण मनुष्य उसका रस पी नहीं सकता। (ये वधूवर उसी सोमरसको पीनेका पुरुषार्थ करें) ॥ ३ ॥

यह सोम जब पिया जाता है, तब पुनः वृद्धिको प्राप्त होता है। यह नष्ट नहीं होता है। क्योंकि प्राण ही इसका रक्षक है। जैसे क्रमसे महिने आनेसे वर्ष होता है, (इसी तरह नये पत्ते आनेसे सोम वल्ली पूर्ववत् हरीभरी हो जाती है, ऐसे ही वधूवर सांसारिक आपत्ति आनेपर हताश न हों, परंतु द्विगुणित उत्साहसे अपना जीवन व्यतीत करें।) ॥ ४ ॥

सोम सब प्रकारसे सदा सुरक्षित है, आंतरिक और बाह्य रक्षण साधनोंसे वह सुरक्षित हुआ है। इस सुरक्षित हुए दिव्य सोमका भक्षण कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता। [ये वधूवर इसी तरह अपने आपको सुरक्षित रखें और अपने आपको किसीका भक्ष्य होने न दें।] ॥ ५ ॥

जब वधू वरके घर आती है, तब उसका मनही उसका सिरोना और आंख ही अञ्जन होता है, (अर्थात् बाह्य साधन उसके सुखके कारण नहीं होते, उसके मनके भावही उसको सुख देते हैं) मानो उसके लिये यह सब आकाश का खजाना खुला जानेके समान प्रतीत होता है, क्योंकि पतिका घर ही उसका सब सुख होता है। ॥ ६ ॥

वेदमंत्रोंसे उस वधूकी पितृगृहसे विदाई होती है और उसी प्रकार मंत्रोंसे ही उसका पतिगृहमें स्वागत होता है। मंत्रोंद्वारा पुनीत हुआ पतिके घरका वस्त्र उस वधूका कल्याण करनेवाला होता है ॥ ७ ॥

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः । सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः ॥८॥
सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥९॥
मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः । शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या पतिम् ॥१०॥
ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् । श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥११॥
शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः । अनो मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥१२॥

अर्थ—[स्तोमाः प्रतिधयः आसन्] स्तुतिके मंत्र अक्ष बना था, [कुरीरं छन्द ओपशः] कुरीर नामक छन्द उसके सिरके भूषण बने । [अश्विनौ सूर्यायाः वरौ] दोनों अश्विदेव सूर्याके साथी थे और [अग्निः पुरोगवः आसीत्] अग्निदेव अग्रेसर था ॥ ८ ॥

[सोमः वधूयुः अभवत्] सोम वधूकी इच्छा करनेवाला था, [उभौ अश्विनौ वरौ आस्तां] दोनों अश्विदेव साथी थे । [यत् सविता मनसा शंसन्तीं सूर्यां पत्ये अददात्] जब सविताने मनसे स्तुति करनेवाली सूर्याको पतिके हाथमें दान किया ॥ ९ ॥

[अस्या मनः अनः आसीत्] इसका मन रथ बना था, [उत द्यौ छदिः आसीत्] और द्युलोक छत हुआ । [शुक्रौ अनड्वाहौ आस्तां] दो बलवान् बैल जोते थे । [यत् सूर्या पतिं अयात्] जब सूर्या पतिके पास गयी ॥ १० ॥

(ऋक्—सामाभ्यां अभिहितौ ते गावौ) ऋग्वेद मंत्रों और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए तेरे दोनों बैल (सामनौ ऐतां) शान्तिसे चलते हैं । (श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां) दोनों कान तेरे रथके दो चक्र थे । (दिवि पन्थाः चराऽचरः) द्युलोकमें तेरा मार्ग चर और अचर रूप समस्त संसार है ॥ ११ ॥

(ते यात्याः चक्रे शुची) तेरे जानेके रथके दोनों चक्र शुद्ध हैं । (अक्षे व्यान आहतः) उसके अक्षके स्थानपर व्यान नामक प्राण रखा है । (पतिं प्रयती सूर्या) पतिके पास जानेवाली सूर्या इस ((मनः-मयं आ रोहत्) मनोमय रथ पर चढती है ॥ १२ ॥

भावार्थ—पतिके घरके यज्ञ ही वधूके लिये भोग और वेदमंत्रही उसके भूषण होते हैं । जो वधूकी मंगनी के लिये आते हैं, वे मानो अश्विदेव होते हैं । ओर जो पहिले बातचीतके लिये जाता है, वह सबका प्रकाशक अग्निदेव ही है ॥ ८ ॥

जो वर है वह मानो सोम है, मंगनी करनेवाले आश्विनीदेव हैं और वधूका पिता सूर्य है, जो अपनी पुत्रीको वरके हाथमें दान करता है । वधू भी पतिके विषयमें मनमें प्रशंसाके भाव रखती है । [वधूवरकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये ।] ॥ ९ ॥

जब वधू अपने पतिके घर जाये तब वह रथमें बैठकर जाये । उसको दो उत्तम बैल (या घोडे) जोते हुए हों । संभव हुआ तो वे उत्तम श्वेतवर्ण के हों । (वस्तुतः वधूका मनही यह रथ है, बाह्य रथकी अपेक्षा वधूका मनही ऐसा चाहिये कि जिस में ये सब आदि बाह्य आडम्बर कल्पनासेही पूर्ण हों ।) ॥ १० ॥

इस वधूके रथके वाहक वेदमंत्रों द्वारा चलाये जांय, साथसाथ सामवेद मंत्रोंका गायन होता रहे । यह वधू इसलिये गृहस्थाश्रम स्वीकारने के लिये पतिके घर जाती है, कि इसका स्वर्गका मार्ग सुगम्य हो अर्थात् पतिपत्नी मिलकर ऐसा आचरण करें कि जिससे उनको सहज स्वर्ग प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

वह वधू पतिके घर जाते समय जिस मनोमय रथपर बैठती है, उसके चक्र शुद्ध हों । (यहां आत्मबलकी शुद्धता और मनोरथों की पवित्रता वधू धारण करे यह बात सूचित की है ।) ॥ १२ ॥

सूर्याया वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥१३॥
यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
क्वैकं चक्रं वामासीत्क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१४॥
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥
द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः। अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥१६॥
अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥१७॥

अर्थ- (यं सविता अवासृजत्) जिसको सविताने भेजा था वह (सूर्यायाः वहतुः प्रागात्) सूर्याका दहेज आगे गया है। (मघासु गावः हन्यन्ते) मघा नक्षत्रोंमें गौवें भेजी जाती हैं। और (फल्गुनीषु व्युह्यते) फल्गुनी नक्षत्रोंमें विवाह होता है ॥ १३ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (यत् सूर्यायाः वहतुं) जब सूर्याका दहेज लेकर (पृच्छमानौ त्रिचक्रेण अयातं) तुम दोनों पूछते हुए तीन चक्रोंवाले रथसे चले; तब [वां एकं चक्रं] तुम्हारा एक चक्र (क आसीत्) कहां था, और तुम दोनों देष्ट्राय क तस्थथुः) दर्शानेके लिये कहां ठहरे थे ? ॥ १४ ॥

हे [शुभस्पती] शुभ करनेवाले ! तुम दोनों (यत् वरेयं सूर्यां उप अयातं) जब वरके द्वारा पूछने योग्य सूर्याके समीप गये, [वां तत् विश्वे देवाः अन्वजानन् [तुम्हारा वह कर्म सब देवोंने पसंद किया था, (पूषा पुत्रः पितरं अवृणीत) पूषाने पुत्र पिताको स्वीकार करनेके समान तुम्हारा स्वीकार किया ॥ १५ ॥

हे (सूर्ये) सूर्या ! (ते द्वे चक्रे ब्रह्माणः ऋतुथा विदुः) तेरे दोनों चक्रों को ज्ञानी लोग ऋतुके अनुसार जानते हैं। (अथ यत् एकं चक्रं गुहा) और जो एक चक्र गुप्त है, (तत् अद्धातय इत् विदुः) उसको विशेष ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १६ ॥

(सुबन्धुं पतिवेदनं) उत्तम बन्धुबांधवोंसे युक्त पतिका ज्ञान देनेवाले (अर्यमणं यजामहे) श्रेष्ठ मनवालेका हम सत्कार करते हैं। (उर्वारुकं बन्धनात् इव) खरबूजा जैसा बेलके बन्धनसे दूर होता है, उस प्रकार(इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृकुलसे तुझे छुडाता हूं, (न अमुतः) परंतु पतिकुलसे नहीं अलग करता, अर्थात् पतिकुलसे जोडता हूं ॥१७॥

भावार्थ- वधूका पिता वरको समर्पण करनेके लिये गौरूपी दहेज पहिले वरके स्थानपर पहुंचावे। वह पहिले वहां पहुंचे और पश्चात् विवाह हो। जैसा मघा नक्षत्रमें गौवें भेजी जांय, तो फल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होवे ॥ १३ ॥

वधुकी ओरसे जो दहेज वरके पास लेजाना हो वह कोई दो सज्जन (यहां दो अश्विनी देव) अपने रथमें बैठकर ले जावें। पूछ पूछ कर ठीक वरके स्थानपर पहुंच जाय। ये ही वधुके रथको वरके स्थानका मार्ग दर्शानेवाले होंगे, इसलिये ये किसी योग्य स्थानपर ठहरें ॥ १४ ॥

वरकी ओरसे मंगनी करनेवाले (दोनों अश्विनीकुमार) दो वैद्य वधुके पिताके पास कन्याकी मंगनी करनेके लिये जांय, अन्य सब लोग उनको संमति देवें। जैसा पुत्र पिताका आदरके साथ स्वागत करता है, वैसा उन मंगनी करनेके लिये आये हुओंका स्वागत वधूका पिता करे ॥ १५ ॥

सूर्या नामक सविताकी पुत्री तीन चक्रोंवाले रथपर बैठकर अपने पतिके घर गई थी। इसी तरह वधू रथमें बैठकर पतिके घर जावे। रथके व्यक्त और गुप्त चक्रोंको ज्ञानी लोग जानें ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मनवाला बन्धुबांधवोंसे युक्त सज्जनही वरका पता देवें। वरका पता किसी हीन मनुष्यसे कभी न लिया जाय। जैसा फल अपने बंधनसे मुक्त होता है, उस प्रकार वधू अपने पितृकुलसे अपना संबन्ध छोड देवे, परंतु पतिकुलसे वधूका संबंध कभी न छूटे ॥ १७ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् । यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥
प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥
भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥ २० ॥ (२)
इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ २१ ॥
इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥२२॥

अर्थ- (इतः प्रमुञ्चामि न अमुतः) यहां [पितृकुल]से तुझे मुक्त करता हूं, परंतु वहां (पतिकुल)से नहीं। (अमुतः सुबद्धां करं) वहांसे तो मैं उत्तम प्रकार बंधी हुई करता हूं। हे (मीढ्वः इन्द्र) दाता इन्द्र ! [यथा इयं] जिससे यह वधू (सुपुत्रा सुभगा असति) उत्तम पुत्रवाली और उत्तम भाग्यसे युक्त होवे ॥ १८ ॥

(त्वा वरुणस्य पाशात् प्र मुञ्चामि) तुझको मैं वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं (येन त्वा सुशेवाः सविता अबध्नात्) जिससे तुझे सेवा करनेयोग्य सविताने बांधा था। (ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके) सदाचारीके घरमें और सत्कर्म कर्ताके लोकमें (सह-संभलायै ते) पतिके सहवर्तमान तुझे (स्योनं अस्तु) सुख होवे ॥ १९ ॥

(भगः त्वा हस्तगृह्य इतः नयतु) भग तुझे हाथ पकडकर यहांसे चलावे, आगे (अश्विनौ त्वा रथेन प्र वहतां) अश्विदेव तुझे रथमें बिठलाकर पहुंचावें। अपने पतिके (गृहान् गच्छ) घरको जा। (यथा त्वं गृहपत्नी वशिनी असः) वहां तू घरकी स्वामिनी और सबको वशमें रखनेवाली हो। वहां (त्वं विदथं आवदासि) तू उत्तम विवेकका भाषण कर ॥२०॥

(इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यतां) यहां तेरे संतानके लिये प्रिय की वृद्धि हो, (अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि) इस घरमें गृहस्थधर्मके लिये जागती रह। (एना पत्या तन्वं संस्पृशस्व) इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर (अथ जिर्विः) और तू वृद्ध होनेपर (विदथं आ वदासि) उत्तम उपदेश कर ॥ २१ ॥

(इह एव स्तं) यहांही रहो (मा वि यौष्टं) कभी वियुक्त न हो। [पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नातियोंसे खेलते हुए [मोदमानौ स्वस्तकौ] आनंदित होकर अपने घरदारसे युक्त होते हुए [विश्वं आयुः व्यश्नुतं] पूर्ण आयुका भोग करो ॥ २२ ॥

भावार्थ- वधूका संबंध पितृकुलसे छूटे, परंतु पतिके कुलसे न छूटे। पतिकुलसे संबंध सुदृढ होवे। परमेश्वर इस वधूको पतिकुलमें उत्तम पुत्रोंसे युक्त और उत्तम भाग्यसे युक्त करे ॥ १८ ॥

विवाह होते ही कन्या वरुणके बन्धनोंसे मुक्त होती है। सविता देवनेही कन्याको वरुणके धर्मपाशोंसे बांधा होता है। कन्याका विवाह होते ही वह पतिके घर सदाचारी और सत्कर्म करनेवालोंके घरमें पहुंचती है। पतिका घर वधूको धर्मशिक्षा देनेवाला बने ॥ १९ ॥

वधूका हाथ पकडकर भाग्यका देव उसको पहिले चलावे, अश्विनीदेव रथमें बिठलाकर विवाहके पश्चात् पतिके घर पहुंचावें इस तरह वधू पतिके घर पहुंचे। वहां पतिके घरकी स्वामिनी और सबको अपने वशमें रखनेवाली होकर रहे। ऐसी स्त्री ही योग्य प्रसंगमें उत्तम संमति दे सकती है ॥ २० ॥

इस धर्मपत्नीके संतान उत्तम सुखमें रहें। यह धर्मपत्नी अपना गृहस्थाश्रम उत्तम रीतिसे चलावे। वह धर्मपत्नी अपने पतिके साथ सुखसे रहे। जब इस तरह धर्ममार्गसे गृहस्थाश्रम चलाती हुई यह स्त्री वृद्ध होगी, तब यह योग्य संमति देने योग्य होगी ॥ २१ ॥

स्त्री पुरुष अपनेही घरमें रहें, कभी विभक्त न हों। अपने बालबच्चोंके साथ खेलें, अपने घरमें आनंद मनावें और धर्मानुसार गृहस्थाश्रम चलाते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लें ॥ २२ ॥

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् । सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति ॥२८॥
तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे । सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥
स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् । प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति
युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु ॥३०॥
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥
इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥ ३२ ॥

अर्थ-[आशसनं विशसन] धारीवाला वस्त्र, सिरका वस्त्र तथा [अथो अधिविकर्तनं] और सर्वांगपर रहनेवाला वस्त्र इनमें [सूर्यायाः रूपाणि पश्य] सूर्याके रूप देख। [उत तानि ब्रह्मा शुम्भति] इनको ब्राह्मण तेजस्वी करता है ॥ २८ ॥

[एतत् तृष्टं] यह तृषा उत्पन्न करनेवाला है, [कटुकं] यह कडुवा है, [अपाष्ठवत् विषवत्] यह दूषित और यह विषयुक्त अन्न है अतः [एतत् अत्तवे न] यह खानेके योग्य नहीं है। [यः ब्रह्मा सूर्यां वेद] जो ब्राह्मण सूर्याको इस तरह सिखाता है, [सः इत् वाधूयं अर्हति] वह निःसंदेह वधूकी ओरसे वस्त्र लेनेयोग्य है ॥ २९ ॥

[सः इत्] वही निश्चयसे (तत् सुमंगलं स्योनं वासः हरति) उस मंगल और सुखकर वस्त्रको लेता है। [यः प्रायश्चित्तिं अध्येति] जो प्रायश्चित्त प्रकरण अर्थात् चित्त शुद्ध करनेका अध्ययन कराता है (येन जाया न रिष्यति) जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

(युवं ऋत-उद्येषु ऋतं वदन्तौ) तुम दोनों सत्य व्यवहारोंमें रह कर सत्य बोलते हुए (समृद्धं भगं संभरतं) समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो। हे ब्रह्मणस्पते! (पतिं अस्यै रोचय) पतिके विषयमें इस स्त्रीके मनमें रुचि उत्पन्न कर। (संभलः एतां वाचं चारु वदतु) पति इस वाणीको सुंदरतासे बोले ॥ ३१ ॥

हे (गावः) गौवो! (इह इत् असाथ) तुम यहां ही रहो। [न परः गमाथ] मत दूर जाओ। (इमं प्रजया वर्धयाथ) इसको उत्तम संततिके साथ बढाओ। हे [उस्रियाः] गौवो! आप [शुभं यतीः सोमवर्चसः] शुभको प्राप्त करानेवाली और चन्द्रके समान तेजस्वितासे युक्त होओ। [विश्वे देवाः वः मनांसि इह क्रन्] सब देव तुम्हारे मनोंको यहां स्थिर करें ॥ ३२ ॥

भावार्थ— एक वस्त्र धारीवाला होता है, दूसरा दुशाला जैसा चमकदार होता है, तीसरा ओढनेका वस्त्र होता है। इन वस्त्रोंसे वधूके रूपकी सुंदरता लायी जावे। इन वस्त्रोंके संबंधका योग्य ज्ञान ब्राह्मण गृहस्थियोंको देवे, जिससे वस्त्रोंके दोष दूर हो जाय ॥२८॥

एक अन्न तृष्णाको बढानेवाला, दूसरा कडुवा, तीसरा सडा हुआ और चौथा विषयुक्त होता है। इस प्रकारके अन्न गृहस्थियोंको खानेयोग्य नहीं हैं। इस तरह की शिक्षा देनेवाले ब्राह्मणको वधूकी ओरसे वस्त्र दिया जावे ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण चित्त शुद्ध करनेका ज्ञान जानता है, जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे स्त्री का विनाश नहीं होता, इस प्रकारकी सुशिक्षा देनेवाले अध्यापक ब्राह्मणको ही मंगल और सुंदर वस्त्र देना योग्य है और ऐसा ब्राह्मण ही वस्त्रका दान लेवे ॥ ३० ॥

गृहस्थी स्त्रीपुरुष सीधे व्यवहार करें, सदा सत्य बोलें, और धनसंपत्ति कमावें। पत्नीके मनमें पतिके विषयमें सदा आदरभाव रहे और पति भी सुंदर और मधुर भाषण करे ॥ ३१ ॥

गृहस्थीके घरमें गौवें रहें, गौवें भाग न जावें। गौवें बछडे देती रहें। उनकी संख्या बढ जाय। गौवें शुभलक्षणवाली और तेजयुक्त हों और गौवें भी घरवालोंपर प्रीति करें ॥ ३२ ॥

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम् ।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ॥ ३३ ॥
अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥ ३४ ॥
यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् । यद्गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसाऽवतम् ॥ ३५ ॥
येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा । येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसाऽवतम् ।३६।
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु ।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥ ३७ ॥

अर्थ- हे [गावः] गौवें ! [इमं प्रजया सं विशाथ] इसके घरमें अपनी संतानके साथ प्रवेश करो । [अयं देवानां भागं न मिनाति] यह देवोंके भागका लोप नहीं करता है । [पूषा सर्वे मरुतः] पूषा और सब मरुत [धाता सविता] विधाता और सविता [अस्मै अस्मै वः वः सुवाति] इसी मनुष्यके लिये तुमको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

[पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु] सब मार्ग कण्टकरहित और सरल हों, [येभिः नः सखायः वरेयं यन्ति] जिनसे हमारे सब मित्र कन्याके घरके प्रति पहुंचते हैं । [धाता भगेन अर्यम्णा वर्चसा सं सं सं सृजतु] विधाता, भग और अर्यमाके द्वारा तेजसे इसे संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [यत् वर्चः अक्षेषु] जो तेज आंखोंमें होता है और [यत् सुरायां आहितं) जो संपत्तिमें रखा होता है, [यत् च वर्चः गोषु) जो तेज गौवोंमें है, [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

हे [अश्विनौ] अश्विदेवो ! [येन महानघ्न्याः जघनं] जिससे बडी गौका जघन अर्थात् पिछला दुग्धाशयका भाग, [येन वा सुरा] जिससे संपत्ति, [येन अक्षाः अभ्यषिच्यन्त] जिससे आंखें भरपूर रहती हैं [तेन वर्चसा इमां अवतं] उस तेजसे इस वधूकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

[यः अप्सु अन्तः अनिध्मः दीदयत्) जो जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकता है, [यं विप्रासः अध्वरेषु ईडते] जिसकी ज्ञानी लोग यज्ञोंमें स्तुति करते हैं । हे [अपां नपात् ! मधुमतीः अपः दाः] जलोंको न गिरानेवाले देव ! वैसा मधुर जल हमें दो । [याभिः वीर्यावान् इन्द्रः वावृधे] जिनसे वीर्यवान् इन्द्र बढता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ- गौवें अपने बछडोंके साथ घरमें प्रवेश करें । गृहस्थ देवयज्ञ प्रतिदिन करे, कभी यज्ञका लोप न हो । सब देव इस गृहस्थीके घरमें गौवोंकी संख्या बढावें ॥ ३३ ॥

वरके तथा वधूके घर जानेके मार्ग कंटकरहित और सरल हों । परमेश्वर इन गृहस्थियोंको तेजस्वी करके समृद्ध करे ।३४।

जो तेज आंखोंमें, ऐश्वर्यमें और गौवोंमें होता है, उस तेजसे यह वधू युक्त हो । यह स्त्री तेजस्विनी हो ॥ ३५ ॥

जिस तेजसे गौका दुग्धाशय तेजस्वी हुआ है, जो तेज ऐश्वर्यमें और आंखमें होता है, उस तेजसे यह स्त्री युक्त होवे और यह स्त्री धर्माचरणमें सुरक्षित रहे ॥ ३६ ॥

जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकनेवाला तेज है, यज्ञोंमें द्विजोंका ज्ञानरूप तेज है, और जलोंमें मधुरता है और वीर्य भी है। इस तेज, ज्ञान, माधुर्य और वीर्य से ये गृहस्थी युक्त हों । इन्द्र इन्हींके आधिक्यसे सबसे महान् हुआ है ॥ ३७ ॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।

अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म ।

शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व ॥ ४० ॥ (४)

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो । अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाऽकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् । पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- [इदं अहं तनूदूषिं रुशन्तं ग्राभं अपोहामि] यह मैं शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले विनाशक रोगको दूर करता हूं। और [यः भद्रः रोचनः तं उदचामि] जो कल्याणमय तेजस्वी है, उसको पास करता हूं ॥ ३८ ॥

[ब्राह्मणाः अस्यै स्नपनीः आपः आहरन्तु] ब्राह्मण लोग इसके लिये स्नानका जल ले आवें। [अवीरघ्नीः आपः उदजन्तु] वीरका नाश न करनेवाला जल ले आवें। [अर्यम्णः अग्निं पर्येतु] वह अर्यमाकी अग्निकी प्रदक्षिणा करे । हे [पूषन्] पूषा ! [श्वशुरः देवरः च प्रतीक्षन्ते] ससुर और देवर प्रतीक्षा करें ॥ ३९ ॥

[ते हिरण्यं शं] तेरे लिये सुवर्ण कल्याणकारी होवे. [उ आपः शं सन्तु] और जल सुखकर होवे, [मेथिः शं भवतु] गौ बांधनेका स्तंभ सुखदायी हो। तथा (युगस्य तर्द्म शं] युगका छिद्र सुखकर हो. [ते शतपवित्राः आपः शं भवन्तु] तेरे लिये सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला जल सुखदायी होवे। [पत्या तन्वं शं संस्पृशस्व] पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श सुखकारक रीतिसे कर ॥ ४० ॥

हे [शतक्रतो इन्द्र] सैकडों कर्म करनेवाले इन्द्र ! [रथस्य खे] रथके छिद्रमें, [अनसः खे] गाडेके छिद्रमें और [युगस्य खे] युगके छिद्रमें [अपालां त्रिः पूत्वा] अयोग्य रीतिसे पाली हुई युवतीको तीन वार पवित्र करके [सूर्यत्वचं अकृणोः] सूर्यके समान तेजस्वी त्वचावाली तूने किया ॥ ४१ ॥

[सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं आशासाना] उत्तम मन, संतान सौभाग्य और धन की आशा करनेवाली तू [पत्युः अनुव्रता भूत्वा] पतिके अनुकूल आचरण करनेवाली होकर [अमृताय कं सं नह्यस्व] अमरत्वके लिये सुखपूर्ण रीतिसे सिद्ध हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगबीजोंको दूर करना चाहिये और जिससे शरीर नीरोगी और आनन्दप्रसन्न होता है, उनको पास करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण लोग बतावें कि यह जल स्नान करनेयोग्य है, यह जल भीरुता का नाश करके बल बढानेवाला है। वधूवर श्रेष्ठ मन धारण करके अग्निको प्रदक्षिणा करें। श्रेष्ठ गुणवाली वधूकी प्रतीक्षा पतिगृहमें ससुर और देवर करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सुवर्ण, जल, गौका बंधनस्तंभ, जुगके भाग आदि सब कुटुंबके कल्याण करनेवाले हों। जल तो सौ प्रकारसे पवित्रता करनेवाला है। गृहस्थके घरमें धर्मपत्नी पतिके साथ दिल जमाकर रहे ॥ ४० ॥

गृहस्थ तथा स्त्री अपनी तीन प्रकारकी शुद्धता प्रभुकी कृपासे कराके सूर्यके समान तेजस्वी बनकर यहां विराजें ॥ ४१ ॥

गृहस्थके घरमें स्त्री उत्तम मन, संतान, सौभाग्य व धन की इच्छा करती हुई, पतिके अनुकूल कर्म करती हुई, अमरत्व प्राप्तिके श्रेष्ठ सुखदायी मार्गका आक्रमण करे ॥ ४२ ॥

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा । एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥४३॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु । ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ॥४४॥
या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः ॥४५॥
जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः ।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे ॥४६॥
स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥४७॥

अर्थ- [यथा वृषा सिन्धुः] जैसा बलशाली समुद्र [नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] नदियोंका साम्राज्य चलाता है, [एव त्वं पत्युः अस्तं परेत्य] वैसी तू पतिके घर पहुंचकर [साम्राज्ञी एधि] सम्राज्ञी होकर वहां रह ॥ ४३ ॥

[श्वशुरेषु सम्राज्ञी एधि] ससुरोंमें स्वामिनीके समान होकर रह । [उत देवृषु सम्राज्ञी] देवरोंमें भी महारानीके समान आदरसे रह । [ननान्दुः सम्राज्ञी एधि] ननदके साथ भी रानीके समान रह और [उत श्वश्र्वाः सम्राज्ञी] सासके साथ भी सम्राट्की नाई समान होकर रह ॥४४॥

[याः देवीः अकृन्तन्] जिन देवियोंने स्वयं सूत काता है, [याः च अवयन्] जिन्होंने बुना है, [याः च तत्निरे] जो ताना तानती है, [याः च अभितः अन्तान् ददन्त] और चारों ओर अन्तिम भागोंको ठीक रखती हैं, [ताः त्वा जरसे सं व्ययन्तु] वे तुझे वृद्धावस्थातक रहनेके लिये बुनें । तू [आयुष्मती इदं वासः परि धत्स्व] दीर्घ आयुवाली होकर इस वस्त्रको धारण कर ॥ ४५ ॥

[जीवं रुदन्ति] जीवित मनुष्यके बिदाई पर लोग रोते है, [अध्वरं विनयन्ति] यज्ञको साथ ले जाते हैं, [नरः दीर्घां प्रसितिं अनु दीध्युः] मनुष्य दीर्घ मार्गका विचार करते हैं । [ये पितृभ्यः इदं वामं समीरिरे] जो लोग अपने मातापिताके लिये यह सुन्दर कार्य करते हैं, वह [पतिभ्यः मयः जनये परिष्वजे] पतिके लिये सुखदायी है, जो स्त्रीको आलिंगन करना है ॥ ४६ ॥

[देव्याः पृथिव्याः उपस्थे] पृथ्वी देवीके पास [ते प्रजायै स्योनं ध्रुवं अश्मानं धारयामि] तेरी संतानके लिये सुखदायी स्थिर पत्थर जैसा आधार करता हूं । [तं आतिष्ठ] उसपर खडा रह, [अनुमाद्या] आनंदित हो, [सुवर्चाः] उत्तम तेजसे युक्त हो । और [सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु] सविता तेरी आयु लंबी बनावे ॥ ४७ ॥

भावार्थ— जैसा महासागर नदियोंका सम्राट् है, इस प्रकार पतिके घर पहुंचकर यह वधू गृहस्थको सम्राट् और अपनेको उसकी सम्राज्ञी बनाकर व्यवहार करे ॥ ४३ ॥

ससुर, देवर, ननद और सास आदि सबके साथ रानीके समान बर्ताव करे और सबको सुख देवे ॥ ४४ ॥

घरमें देवियां सूत कातें, कपडा बुनें, ताना तानें, कपडेके अन्तिम भाग ठीक करें । ऐसा उत्तम कपडा बुनें कि जो वृद्धावस्थातक काम देवे । स्त्री दीर्घायु बनकर इस कपडेको पहने ॥ ४५ ॥

बिदाईपर मनुष्य रोया करते हैं । परंतु यह कन्या यद्यपि पितृकुलसे बिदा होती है, तथापि पतिके घरमें गृहयज्ञ करनेके लिये जा रही है, अतः इस गृहस्थाश्रमके दीर्घ मार्गका लोग विचार करें और न रोयें । पितृघरके लोगोंको तो यह सुख का दिन है, क्योंकि यह वधूके यज्ञका प्रारंभ है । यह वधू पतिको सुख देती है और पति इसको आलिंगनसे सुख देता है । परस्पर सुखवृद्धि करनाही गृहस्थका यज्ञ है ॥ ४६ ॥

इस भूमिपर तेरी संतान सुखपूर्वक दीर्घ काल रहे इसलिये यह पत्थरका आधार रखता हूं । इसपर चढ, आनंदित और तेजस्वी हो । इस तरह गृहस्थाश्रममें सुदृढ रहनेसे तेरी आयु दीर्घ होगी ॥ ४७ ॥

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥४८॥
देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥४९॥
गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥५०॥(५)
भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाऽहं गृहपतिस्तव ॥५१॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम् ॥५२॥

अर्थ- [येन अग्निः] जिससे अग्निने [अस्याः भूम्याः दक्षिणं हस्तं जग्राह] इस भूमिका दायां हाथ ग्रहण किया, [तेन ते हस्तं गृह्णामि] उसी उद्देश्यसे तेरा हाथ मैं पकडता हूं, [मा व्यथिष्ठाः] दुःख मत कर, [मया सह प्रजया च धनेन च] मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ॥ ४८ ॥

[सविता देवः ते हस्तं गृह्णातु] सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे। [राजा सोमः सुप्रजसं कृणोतु] राजा सोम उत्तम सन्तानयुक्त करे। [जातवेदाः अग्निः पत्ये सुभगां पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु] जातवेद अग्नि पतिके लिये सौभाग्य युक्त स्त्री वृद्धावस्थातक जीनेवाली करे ॥ ४९ ॥

[ते हस्तं सौभगत्वाय गृह्णामि] तेरा हाथ मैं सौभाग्यके लिये पकडता हूं। [यथा मया पत्या जरदष्टिः असः] जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक जीनेवाली होकर रह। भग, अर्यमा, सविता, पुरंधि। और सब देवोंने [त्वा मह्यं गार्हपत्याय अदुः] तुझको मेरे हाथमें गृहस्थाश्रम चलानेके लिये दिया है ॥ ५० ॥

[भगः ते हस्तं अग्रहीत्] भगने तेरा हाथ पकडा है, [सविता हस्तं अग्रहीत] सविताने हाथ पकडा है, [त्वं धर्मणा पत्नी असि] तू धर्मसे मेरी पत्नी है, [अहं तव गृहपतिः] मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

[इयं मम पोष्या अस्तु] यह स्त्री मेरी पोषण करनेयोग्य हो। [बृहस्पतिः त्वा मह्यं अदात्] बृहस्पतिने तुझे मुझको दिया है। हे [प्रजावति] संतानवाली स्त्री! [मया पत्या शरदः शतं संजीव] मुझ पतिके साथ तू सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ५२ ॥

भावार्थ-जैसा अग्नि और भूमिका संबंध है, वैसे संबंधके लिये मैं इस वधूका पाणिग्रहण करता हूं। वधूको कष्ट न हों। यह वधू मेरे साथ प्रजा, धन और ऐश्वर्यसे युक्त हो ॥४८॥

सविता जैसा तेजस्वी बनकर पति स्त्रीका पाणिग्रहण करे, और सोम जैसा कलायुक्त होकर धर्मपत्नीमें संतान उत्पन्न करे। पतिपत्नी मिलकर दोनों इस गृहस्थाश्रममें वृद्धावस्थातक आनन्दसे रहें ॥ ४९ ॥

हे स्त्री! मैं पति तेरा पाणिग्रहण सौभाग्यप्राप्तिके लिये करता हूं। मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक रह। सब देवोंने तुझको गृहस्थाश्रम चलानेके लिये मेरे हाथमें सौंप दिया है ॥ ५० ॥

भग अर्थात् धनवान होकर और सविता जैसा समर्थ और तेजस्वी होकर तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूं। धर्मसे तू धर्मके अनुसार मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तेरा गृहपति हूं ॥ ५१ ॥

यह धर्मपत्नी मेरे (पतिके) द्वारा पोषण होने योग्य है। परमेश्वरने यह मेरे हाथमें दी है। यहां यह सन्तानोंसे युक्त हो और मुझ पतिके साथ सौ वर्ष रहे ॥ ५२ ॥

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥ ५३ ॥
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥
बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥
इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम् ।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान् ॥ ५६ ॥
अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अर्थ-[त्वष्टा वासः] त्वष्टाने वस्त्र [शुभे कं] कल्याण और सुख होनेके लिये [बृहस्पतेः कवीनां प्रशिषा] बृहस्पति और कवियोंके आशीर्वादके साथ [व्यदधात्] बनाया है । [तेन इमां नारीं] उससे इस स्त्रीको [सविता भगः सूर्या इव] सविता और भग सूर्याको जैसा पहिनाता है, उस प्रकार (प्रजया परिधत्तां) संतानके साथ संयुक्त करे ॥ ५३ ॥

(इन्द्राग्नी) इन्द्र, अग्नि, (द्यावापृथिवी) द्युलोक, भूमि,(मातरिश्वा,वायु, मित्र,वरुण भग,(उभौ अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमार, बृहस्पति, मरुत, ब्रह्म, सोम ये सब (इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु] इस स्त्रीको संतानके साथ बढावें ॥ ५४ ॥

(बृहस्पतिः प्रथमः) बृहस्पतिने सबसे प्रथम (सूर्यायाः शीर्षे केशान् अकल्पयत्] सूर्याके सिरपर केशोंको बढाया । [तेन] उस तरह (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (इमां नारीं पत्ये सं शोभयामसि] इस स्त्रीको पतिके लिये सुशोभित करें ॥ ५५ ॥

[यत् योषा अवस्त, तत् रूपं इदं) जो स्त्रीने वस्त्र धारण किया उसका रूप यह है । [मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे] मनसे भ्रमण करनेवाली स्त्रीको मैं जानता हूं । (नवग्वैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) यज्ञों और ऋत्विजोंके साथ उसका मैं अनुसरण करता हूं । (कः विद्वान् इमान् पाशान् वि चचर्त) कौन ज्ञानी इन पाशोंको काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

(अहं वि ष्यामि) मैं खोलता हूं (अस्याः मयि रूपं) जो इसका रूप मुझमें है । (मनसः कुलायं पश्यन् इत् वेदत्) मनका घोंसला देखकर ही ज्ञान होता है । (न स्तेयं अद्मि) मैं चोरी करके अन्न नहीं खाता हूं । मैं (स्वयं वरुणस्य पाशान् श्रथ्नानः) स्वयं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ (मनसा उत अमुच्ये] मनसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थ— इस कारीगरने इसके लिये बनाया यह वस्त्र है, ज्ञानी ब्राह्मणोंने इसको आशीर्वाद दिया है । यह धर्मपत्नी इसको पहने और ईश्वरकी कृपासे उत्तम संतानोंसे युक्त होवे ॥ ५३ ॥

इन्द्राग्न्यादि सब देवी शक्तियां इस नारीको उत्तम संतानों के साथ बढावें ॥ ५४ ॥

कन्याके सिरपर उत्तम बाल हों और वह नारी पति की प्राप्तिके लिये सुशोभित हो ॥ ५५ ॥

स्त्रीका उत्तम वस्त्रधारण करनेसे जो रूप बनता है, वही देखनेयोग्य है । मनका चालचलन कैसा है, वही स्त्रीके विषयमें देखना चाहिये । पति यज्ञकर्मोंमें धर्मपत्नीको अपने साथ सदा रखे । विषयोंके पाशोंको कौन विद्वान् काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

मैं इन बन्धनोंको खोलता हूं । इस मेरी धर्मपत्नीका रूप केवल मेरे लिये हैं । इसके मन की परीक्षा करके ही मैंने यह प्राप्त किया है । मैं जो भोग करता हूं वह स्वकष्टसे कमाये धनका भोग करता हूं, चोरीके धनका भोग मैं नहीं करता । मैं वरुणके पाशोंको शिथिल करता हुआ मनके बलसे मुक्त होता हूं ॥ ५७ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेवाः ।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥५८॥
उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात ।
धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥
भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि ।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥
सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥
अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते । इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥६२॥

अर्थ- हे (वधु) स्त्री ! [त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि] तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूं । [येन सुशेवाः सविता त्वा अबध्नात्) जिससे सेवा करनेयोग्य सविताने तुझे बांध दिया था । [तुभ्यं सहपत्न्यै] तुझ सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरुं लोकं सुगं पन्थां कृणोमि] यहां विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूं ॥ ५८ ॥

[उद् यच्छध्वं] अपने शस्त्रोंको ऊपर उठाओ । (रक्षः अप हनाथ) राक्षसोंको मारो । (इमां नारीं सुकृते दधात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो । (विपश्चित् धाता अस्मै पतिं विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है । (भग राजा प्रजानन् पुरः एतु) राजा भग जानता हुआ आगे बढे ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततक्ष] भगने चार पावोंको बनाया, उनपर (भगः चत्वारि उष्पलानि ततक्ष) भगने चार कमलोंको बनाया । [त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनु पिपेश] त्वष्टाने मध्यमें कमरपट्टोंको बनाया । (सा नः सुमंगली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ ६० ॥

हे (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकिंशुकं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रं वहतुं आरोह) उत्तम पुष्पोंसे युक्त, अनेक रूपवाला, सोनेके रंगके समान चमकनेवाला, उत्तम वेष्टनोंसे युक्त, उत्तम चक्रोंसे युक्त इस रथपर चढ । (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतके लोकपर चढ । (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतियोंके लिये सुखदायी कर॥६१॥

हे(वरुण बृहस्पते इन्द्र सवितः)देवो! (अभ्रातृघ्नीं) यह वधू भाईयोंका वध न करनेवाली,(अपशुघ्नीं,अपतिघ्नीं,पुत्रिणीं अस्मभ्यं वह)पशुका वध न करनेवाली पतिका नाश न करनेवाली और पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त करो॥६२॥

भावार्थ- सविताने तुझे इस समयतक जिन पाशोंसे बांध रखा था, उन वरुणके पाशोंको मैं खोलता हूं । तुझ जैसी सुयोग्य धर्मपत्नीके लिये यहां विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और उन्नतिका मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोग हथियार सदा सुसज्जित रखो । सदा इस स्त्रीको पुण्यकर्ममें लगाओ, ज्ञानी विधाताकी संमतिसे इसको यह पति प्राप्त हुआ है, राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

भगने पांवोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कमरमें धारण करनेयोग्य कमरपट्टा बनाया है । इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधू उत्तम फूलोंसे युक्त, सुंदर, सोनेके नकशी कामसे सुशोभित उत्तम चक्रवाले रथपर चढकर अमर पदके मार्गका आक्रमण करे । यह धर्मपत्नीको विवाहमंगल पतिके घरवालोंके लिये सुखकारक होवे ॥ ६१ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें पतिके भाई, पशु आदिकोंको सुख देवे । पतिको सुख देवे । पुत्रोंको उत्पन्न करे । और सबका आनन्द बढानेवाली बने ॥ ६२ ॥

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि । शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥६३॥
ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥६४॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[२]

तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह । स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥१॥
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥२॥
सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥३॥

अर्थ- हे (स्थूणे) दोनों स्तंभो ! (देवकृत पथि) देवोंके बनाये मार्गपर (कुमार्यं मा हिंसिष्टं) इस कुमारी वधूकी हिंसा न कर । (देव्याः शालायाः द्वारं वधूपथं स्योनं कृण्मः) घररूप देवताके द्वारमें वधू जानेके मार्गको हम सुखकर करते हैं ॥ ६३ ॥

(अपरं पूर्वं अन्ततः मध्यतः सर्वतः ब्रह्म युज्यतां) आगे पीछे अन्तमें बीचमें अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् ईशप्रार्थनाके मंत्रोंका प्रयोग किया करो । हे वधू ! तू (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) व्याधिरहित देवनगरीको प्राप्त होकर (पतिलोके शिवा स्योना वि राज) अपने पतिके स्थानमें कल्याणकारिणी और सुख देनेवाली होकर प्रकाशित हो ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

अर्थ- हे अग्ने ! (अग्ने तुभ्यं) आरंभमें तेरे लिये (वहतुना सह सूर्यां पर्यवहन्) दहेजके साथ सूर्याको ले जाते थे । (सः) वह तू (नः पतिभ्यः) हम सब पतियोंको (प्रजया सह जायां दाः) संतानसहित पत्नीको प्रदान कर ॥१॥

(आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य और तेजके साथ (अग्निः पत्नीं पुनः अदात्) अग्निने पत्नीको पुनः प्रदान किया । (अस्याः यः पतिः) इसका जो पति है, वह (दीर्घायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहता है ॥ २ ॥

(प्रथमं सोमस्य जाया) सबसे प्रथम सोमकी स्त्री है, (ते अपरः पतिः गन्धर्वः) तेरा दूसरा पति गन्धर्व है । (ते तृतीयः पतिः अग्निः) तेरा तीसरा पति अग्नि है और [ते तुरीयः मनुष्यजाः] तेरा चतुर्थ पति मानव है ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वधू देवोंके मार्गसे जा रही है, अतः इसको किसी तरह कष्ट न हो । इसके पतिके घरका मार्ग और इसके पतिके घरका द्वार इसके लिये सुखदायी होवे ॥ ६३ ॥

इस वधूके चारों ओर ज्ञान और ईशप्रार्थनाका वायुमंडल हो । जहां व्याधि नहीं है ऐसी पतिके घररूप देवनगरीको यह वधू प्राप्त हो । पतिके घरमें सुखयुक्त और कल्याणयुक्त बनकर यह विराजे ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

दहेज पतिके घर भेजनेके पूर्व कन्या अग्निकी उपासना प्रथम करती है, जिससे उस कन्याको पतिके घर सुख और उत्तम संतान प्राप्त होती है ॥ १ ॥

अग्नि उपासना अर्थात् यजन अथवा हवन करनेसे दीर्घ आयुष्य, और शारीरिक कान्ति प्राप्त होती है । कन्याका पति भी इस हवनसे दीर्घजीवी अर्थात् शतायु हो सकता है ॥ २ ॥

सोम, गन्धर्व, अग्नि ये बचपनमें कन्याके तीन पति हैं । और पश्चात् उस कन्याका विवाह मनुष्य पतिके साथ होता है॥३॥

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥४॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अरंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्यां अशीमहि ॥५॥
सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥६॥
या ओषधयो या नद्योई यानि क्षेत्राणि या वना। तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥७॥
इमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्। यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥८॥

अर्थ-- जिसको [सोमः गन्धर्वाय ददत्] सोमने गन्धर्वको दी, [गन्धर्वः अग्नये ददत्] गन्धर्वने अग्निको दी, [अथो इमां] और इसी कन्याको तथा [रयिं च पुत्रान् च अग्निः मह्यं अदात्] धन और पुत्रोंको अग्निने मुझे प्रदान कि। ॥ ४ ॥

[वां सुमतिः आगन्] आपकी उत्तम मति प्राप्त हुई है। हे [वाजिनीवसू अश्विनौ] बल और धनयुक्त अश्विनी-देवो! [कामाः हृत्सु नि अरंसत] हमारी शुभ इच्छाएं हृदयोंमें स्थिर हो गई हैं। हे [शुभस्पती] शुभके पालको! [मिथुना गोपा अभूत] तुम दोनों इन्द्रियोंके पालक बनो। [अर्यम्णः प्रियाः दुर्यान् अशीमहि] आर्य मनवाले श्रेष्ठ देवके प्रिय होकर हम उत्तम घरोंको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

[सा मन्दसाना] वह आनन्दित रहनेवाली तू स्त्री [शिवेन मनसा] शुभ भावनायुक्त मनसे [सर्ववीरं वचस्यं रयिं धेहि] सर्व वीरोंसे युक्त प्रशंसनीय धनकी धारणा कर। हे (शुभस्पती) शुभके पालको! हमारे लिये (तीर्थं सुगं) तैरनेका स्थान सुगम हो, (सुप्रपाणं) उत्तम जल पीनेका स्थान हो, तथा (पथिष्ठां स्थाणुं) मार्गमें प्रतिबंध करने-वाले स्तंभ जैसी (दुर्मतिं) दुष्ट बुद्धिवाले शत्रुको (हतं) मार कर दूर करो ॥ ६ ॥

हे वधु! (याः ओषधयः) औषधियां, जो (याः नद्यः) जो नदियाँ, (यानि क्षेत्राणि) जो क्षेत्र, और (याः वना) जो वन हैं (ताः) वे सब पदार्थ (पत्ये प्रजावतीं त्वा) पतिके लिये संतानयुक्त तुझको (रक्षसः रक्षन्तु) राक्षसोंसे सुरक्षित रखें ॥ ७ ॥

(इमं पन्थां आरुक्षाम) इस मार्गसे चलें, यह [सुगं स्वस्तिवाहनं] सुगम और गाडीके लिये भी सुखकर है, (यस्मिन् वीरः न रिष्यति) जिसमें वीरका नाश नहीं होगा और (अन्येषां वसु विन्दते) दूसरोंकी अपेक्षा यहां धन अधिक मिलता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— सोम गन्धर्वको देता है, गन्धर्व अग्निके हाथमें समर्पण करता है और अग्नि पुत्रोत्पादनशक्तिके साथ मनुष्यके स्वाधीन इस कन्याको करता है ॥ ४ ॥

उक्त देवोंके आधिपत्यमें कन्याको उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है। पश्चात् उसके हृदयमें कामको स्थान मिलता है। उस समय अश्विनी देव इन वधुवरोंके रक्षक होते हैं। इस समय अपना मन श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त करके अपने घरोंमें रहको वास करना उचित है ॥ ५ ॥

अपने पतिके घरमें आनन्दसे रहनेवाली धर्मपत्नी अपने मनमें शुभसंकल्प धारण करे और वीरभावयुक्त संतान और प्रशंसा योग्य धनकी स्वामिनी बने। इस दंपतीके मार्ग सुगम हों, इनको पर्याप्त खानपान प्राप्त हो, और इनके उन्नतिके मार्ग निष्कण्टक हों और दुष्ट बुद्धि इनसे दूर हो ॥ ६ ॥

औषधियां, नदियां, खेत, स्थान, वन आदि सब स्थानोंमें संतानोंवाली और पतिके घर जानेवाली इस स्त्रीकी रक्षा हो, अर्थात् कोई राक्षस इसको दुःख न पहुंचावे ॥ ७ ॥

जो मार्ग सुगम और निर्भय हो उससे आगे बढो। और उस मार्गसे जाओ कि जिसमें उत्तम निवासके साधन मिलते हों॥८

इदं सु मे नरः शृणुत ययाऽऽशिषा दम्पती वाममश्नुतः ।
ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः ।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥९॥
ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु । पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥१०॥
मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती । सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥११॥
सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु ॥१२॥
शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

अर्थ- हे (नरः) मनुष्यो! (मे इदं सुशृणुत) मेरा यह भाषण सुनो । (यया आशिषा) जिस आशीर्वादसे (दम्पती वामं अश्नुतः) ये वर और वधू सुखको प्राप्त होते हैं । (एषु वानस्पत्येषु) इस वनमें (ये गन्धर्वाः देवीः अप्सरसः अधि तस्थुः) जो गन्धर्व और अप्सराएं ठहरी हैं, (ते अस्यै वध्वै स्योना भवन्तु) वे इस वधूके लिये सुखदायी हों और (उह्यमानं वहतुं मा हिंसिषुः) दहेज ले जानेवाले इस रथका नाश न करें ॥ ९ ॥

(ये यक्ष्माः जनान् अनु) जो रोग मनुष्योंके संबन्धसे (वध्वः चन्द्रं वहतुं यन्ति) वधूके तेजस्वी दहेज रथके पास पहुंचते हैं, (तान् आगताः यज्ञियाः देवाः) उन रोगोंको वहां आये यज्ञके देव (पुनः यतः आगताः नयन्तु) फिरसे जहांसे आये वे वहां ले जावें ॥ १० ॥

(ये परिपन्थिनः आसीदन्ति) जो लुटेरे समीप प्राप्त होंगे, वे (दम्पती मा विदन्) इस पतिपत्नीको न जानें । वे वधूवर (सुगेन दुर्गं अतीतां) सुगमतासे कठिन प्रसंगसे पार हो जांय । और इनके (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

(वहतुं) वधूके दहेजयुक्त रथको (गृहैः ब्रह्मणा अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा) चारों ओरके घरवाले लोग ज्ञानपूर्वक शांत और मित्रताकी आंखसे देखें, ऐसा मैं (सं काशयामि) इनको प्रकाशित करता हूं । (यत् विश्वरूपं पर्याणद्धं अस्ति) जो विविध रूपवाला बन्धा हुआ है, उसको (सविता पतिभ्यः स्योनं कृणोतु) ईश्वर पतिके लिये सुखदायी बनावे ॥१२॥

(इयं शिवा नारी अस्तं आगन्) यह कल्याकारिणी स्त्री पतिके घर आगयी है । (धाता अस्यै इमं लोकं दिदेश) ईश्वरने इस पतिलोकका मार्ग दर्शाया है । (अर्यमा भगः उभा अश्विना प्रजापतिः) ये सब देव (तां प्रजया वर्धयन्तु) उसको प्रजाके साथ बढावें ॥ १३ ॥

भावार्थ— सब लोग इस घोषणाको सुनें, कि यह विवाहित स्त्रीपुरुष इस संसारमें सुखपूर्वक रहे । वनवासी तथा ग्रामवासी कोईभी इनको दुःख न देवे । ये ग्रामान्तरमें चलने लगें, तो भी किसी प्रकार इनको दुःख न हो ॥ ९ ॥

जनसमुदायमें जानेसे जो रोग संसर्गके कारण होते हैं, और वधूको मार्गमें भी जो रोग होना संभव है, वे सब रोग यज्ञसे दूर होंगे ॥ १० ॥

मार्गपर जो लुटेरे होंगे, उनसे इस दम्पतीको कष्ट न हों, ये पतिपत्नी सुगमतया कठिन प्रसंगोंके पार हो जावें । और इनके सब शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

जब दहेजका रथ या पत्नीका पतिके घर जानेका रथ मार्गसे चला जावे, तब दोनों ओरके घरवाले उस कन्याको प्रेमकी मित्रदृष्टिसे देखें । जो भी कुछ विविध रंगरूपवाले पदार्थ हों, वे सब ईश्वरकी कृपासे इस पतिपत्नीके लिये सुखदायी बनें ॥ १२ ॥

यह सुस्वभाववाली स्त्री पतिके घर जाती है, क्यों कि विधाताने यही स्थान इसके लिये निर्दिष्ट किया था । सब देव इसको उत्तम संतान दें॥ १३ ॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥
प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति । सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥१५॥
उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत । मादुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥१६॥
अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ॥१७॥

अर्थ— (आत्मन्वती ऊर्वरा इयं नारी आगन्) आत्मिक बलसे युक्त तथा सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली यह नारी पतिके घर आगई है । (नरः तस्यां अस्यां बीजं वपत) हे मनुष्यो ! उस स्त्रीमें बीज बोओ, वीर्यका आधान करो । (सा वः) वह तुम्हारे लिये (ऋषभस्य दुग्धं रेतः बिभ्रती) वीर्यवान् पुरुषका वीर्य धारण करती हुई (वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्) अपने गर्भाशयसे संतान उत्पन्न करे ।। १४ ॥

हे स्त्री ! तू (प्रति तिष्ठ) यहां प्रतिष्ठित हो, तू (विराट् असि) विशेष तेजस्वी है । तुम्हारा पति (विष्णुः इव इह) विष्णुके समान यहां है । हे (सरस्वति, सिनीवालि) विद्या देवी और अन्नवती देवी ! इसे (प्रजायतां) संतान हो और यह (भगस्य सुमतौ असत्) भाग्यके देवकी सुमतिमें रहे ॥ १५ ॥

(वः ऊर्मिः शम्याः उत् हन्तु) आपकी लहर शान्तिका-स्थिरताका भंग करे । हे (आपः) जलो (योक्त्राणि मुञ्चत) युगोंको छोड दो । (अदुष्कृतौ व्येनसौ अघ्न्यौ) दुष्ट कर्म न करनेवाले, गाडीसे छोड हुए दोनों बैल [अशुनं मा आरतां] अशुभको न प्राप्त हों ॥ १६ ॥

[गृहेभ्यः] अपने घरोंके लिये [अघोर चक्षुः अपतिघ्नी स्योना] क्रूर दृष्टि न करनेवाली, पतिहत्या न करनेवाली, सुखकारिणी [शग्मा सुशेवा सुयमा] कल्याणकारिणी, सेवा करने योग्य, सुनियमोंसे चलनेवाली! [वीरसूः देवृकामा] वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, देवरकी इच्छा पूर्ण करनेवाली, और [सुमनस्यमाना] उत्तम अन्तःकरणसे युक्त [त्वया एधिषीमहि] तुझसे हम संपन्न हों ॥ १७ ॥

भावार्थ—यह स्त्री आत्मिक बलसे युक्त है और पुत्र उत्पन्न होनेकी शक्तिसे युक्त है अर्थात् यह वंध्या नहीं है । पति इस स्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है और पश्चात् वह स्त्री उस वीर्यको धारण करती हुई अपने गर्भाशयसे संतानोत्पत्ति करती है ॥ १४ ॥

स्त्री अपने पतिगृहमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हो, स्त्री घरकी सम्राज्ञी है, उसका पति देव है और यह उसकी देवी है । इस पतिपत्नी-को उत्तम संतान प्राप्त हो और वे दोनों उत्तम बुद्धि धारण करें ।। १५ ॥

प्रवासमें जब शान्तिका भंग होवे, अर्थात् मनको कष्ट प्रतीत हो, उस समय वाहनके बैल छोडे जांय और उनको उत्तम स्थानमें सुरक्षित रखा जाय ॥ १६ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें आकर आनन्दसे रहे, आंखें क्रोधयुक्त न करे, पतिकी हितकारिणी बने, धर्मनियमोंका पालन करे, सबको सुख देवे, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे, देवर आदिको संतुष्ट रखे, अन्तःकरणमें शुभ भाव रखे । ऐसी स्त्रीसे घर सुसंपन्न होता है ॥ १७ ॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमाः सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥१८॥
उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥१९॥
यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् । अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥२०॥ (८)
शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे । सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥२१॥
यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन । तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥२२॥

[अदेवृघ्नी अपतिघ्नी] देवरका नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली, [पशुभ्यः शिवा] पशुओंका हित करनेवाली, [सुयमा सुवर्चाः] उत्तम नियमोंसे चलनेवाली और उत्तम तेजसे युक्त [प्रजावती वीरसूः] संतानयुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली [देवृकामा स्योना] पतिके घरमें देवर रहें ऐसी कामना करनेवाली सुखदायिनी तू [इम गार्हपत्यं अग्निं सपर्य] इस गार्हपत्य अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

हे [निर्ऋते] दरिद्रते ! [उत् तिष्ठ] उठ, कहो कि [किं इच्छसि] तू क्या चाहती हुई [इदं आगाः] यहां आगई है। [अहं अभिभूः] मैं तेरा पराभव करनेवाला [स्वात् गृहात् त्वा ईडे] अपने घरसे तुझे हटा देता हूं। [या शून्य-एषि] जो घरको शून्य करना चाहती हुई तू [आजगन्थ] यहां आगई है, हे [अ-राते] शत्रुभूत दरिद्रते ! [उत्तिष्ठ] यहांसे उठ और [प्र पत] दूर भाग जा। [इह मा रंस्थाः] यहां मत रममाण हो ॥ १९ ॥

(यदा इयं वधू) जब यह स्त्री (गार्हपत्यं अग्निं पूर्वं असपर्यैत्) गार्हपत्य अग्निकी पहिले पूजा करे, (अधा) तत्पश्चात् हे (नारि) स्त्री ! तू (सरस्वत्यै पितृभ्यः च नमस्कुरु) सरस्वतिको और पितरोंको नमन कर ॥ २० ॥

(अस्यै नार्यै) इस स्त्रीके लिये (उपस्तरे एतत् शर्म वर्म) बिछानेके लिये यह सुख और संरक्षण (आहर) ले-आ। हे (सिनी-वालि) अन्न देनेवाली देवी ! (प्र जायतां) यह स्त्री उत्तम रीतिसे संतति उत्पन्न करे और (भगस्य सुमतौ असत्) भगवान्‌की उत्तम मतिमें रहे ॥ २१ ॥

(यं बल्बजं न्यस्यथ) जो चटाई नीचे बिछाते हैं (च चर्म उपस्तृणीथन) और चर्म ऊपर बिछाते हैं। (या कन्या पतिं विन्दते) जो कन्या पतिको प्राप्त करती है, वह (सुप्रजा तत् आरोहतु) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली उस पर चढे ॥ २२

भावार्थ— स्त्री पतिगृहमें आकर देवर और पतिका हित करे, पशुओं का उत्तम पालन करे, धर्मनियमोंके अनुसार चले, तेजस्विनी बने, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे और अग्निकी हवनद्वारा उपासना करे ॥ १८ ॥

गृहस्थोंके घरमें दरिद्रता न रहे। गृहस्थ अपने प्रयत्नसे दारिद्र्य दूर करे। जो घर पुरुषार्थसे शून्य होता है, उसमें दारिद्र्य रहता है। अतः प्रयत्नद्वारा दरिद्रताको दूर करना योग्य है ॥ १९ ॥

स्त्री पतिघरमें प्रतिदिन सबसे पहिले गार्हपत्याग्निकी हवनद्वारा उपासना करे, पश्चात् विद्यादेवीकी और पश्चात् पितरोंकी पूजा करे ॥ २० ॥

पति अपनी स्त्रीके लिये हरएक प्रकारसे सुख देवे, और उसकी उत्तम रक्षा करे। यह स्त्री उत्तम अन्न सेवन करके उत्तम संतान उत्पन्न करे और ऐसा आचरण करे कि ईश्वर का आशीर्वाद इसे प्राप्त हो ॥ २१ ॥

पहिले घासकी चटाई बिछाई जावे, उसपर कृष्णाजिन बिछाया जावे। जो स्त्री पतिको प्राप्त करती है, वह सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली स्त्री इस बिछोनेपर चढे ॥ २२ ॥

उप स्तृणीहि बल्बजमधि चर्मणि रोहिते । तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥२३॥
आरोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥
वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥२५॥
सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥२६॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥२७॥
सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥२८॥

अर्थ— (बल्बजं उपस्तृणीहि) पहिले चटाई फैला दो, पश्चात् (अधि चर्मणि रोहिते) लाल चर्मके ऊपर (तत्र सुप्रजा उपाविश्य) वहां सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली यह स्त्री (इमं अग्निं सपर्यतु) इस अग्निकी उपासना करे ॥ २३ ॥

(चर्म आरोह) इस चर्मपर चढ, (अग्निं उप आसीद) अग्निके समीप बैठ । (एषः देवः सर्वाः रक्षांसि हन्ति) यह देव सब राक्षसोंका नाश करता है । (इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर । (ते एषः पुत्रः सुज्यैष्ठ्यः भवतु) तेरा यह पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

(अस्याः मातुः उपस्थात्) इस माताके पास (जायमानाः नाना रूपाः पशवः वि तिष्ठन्तां) उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पशु ठहरें । (सुमंगली संपत्नी इमं अग्निं उपसीद) उत्तम मंगल कामनावाली और उत्तम पतिके साथ यह स्त्री इस अग्निकी उपासना करे । और (इह देवान् प्रतिभूष) यहां देवोंकी सेवा करे, शोभा बढावे ॥ २५ ॥

(सुमंगली) उत्तम मंगल आभूषण धारण करनेवाली (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको दुःखसे दूर करनेवाली (पत्ये सुशेवा) पतिकी उत्तम सेवा करनेवाली (श्वशुराय शंभूः) श्वशुरको सुख देनेवाली, (श्वश्र्वै स्योना) सासको आनंद देनेवाली तू (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

(श्वशुरेभ्यः स्योना भव) श्वशुरोंके लिये सुख देनेवाली हो, (पत्ये गृहेभ्यः स्योना) पति और घरके लिये हित-कारिणी हो, (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इस सब प्रजासमूहको सुखदायिनी, (स्योना एषां पुष्टाय भव) सुखदायक होकर इन सबकी पुष्टिके लिये हो ॥ २७ ॥

(इयं सुमंगली वधूः) यह मङ्गलयुक्त वधू है । (समेत, इमां पश्यत) इकट्ठे होओ और इसको देखो । [अस्यै सौभाग्यं दत्त्वा] इसको सौभाग्यका आशीर्वाद देकर [दौर्भाग्यैः वि परेतन] दुष्ट भाग्यको दूर करते हुए वापस जाओ ॥ २८ ॥

भावार्थ—पहिले चटाई फैलाओ, उसपर चर्म बिछा दो, वहां उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री बैठकर अग्नि की उपासना करे २३

इस चर्मपर चढ, अग्निकी पूजा कर । यह अग्निदेव सब दुष्ट राक्षसोंका नाश करता है । इस संसारमें अपने पतिके लिये संतान उत्पन्न कर । यह तेरा पहिला पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

जब यह स्त्री माता होगी, तब उसके साथ विविध रंगरूपवाले गौ आदि पशु रहेंगे । यह स्त्री उत्तम मंगल धारणा की कामना करके अग्निकी उपासना करे और देवोंको सुभूषित करे ॥ २५ ॥

उत्तम मंगल कामनावाली, गृहवालोंको दुःखसे छुडानेवाली, पतिकी सेवा करनेवाली, श्वशुरको सुख देनेवाली, सासका हित करनेवाली स्त्री अपने घरमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

यह स्त्री श्वशुरोंका हित करे, पतिको सुख दे, सब घरवालोंका हित करे और सबको पुष्ट रखे ॥ २७ ॥

सब भाईबंधु इकट्ठे होकर यहां आवें और इस वधूका दर्शन करें । यह वधू बहुत कल्याण करनेवाली है । अतः वे इस वधूको शुभाशीर्वाद देकर, इसके जो दुष्ट भाग्य हैं, उनको दूर करके वापस अपने घर जावें ॥ २८ ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चो न्व१स्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन ॥२९॥
रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् । आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥३०॥
आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥३१॥
देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्व१स्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ॥३२॥
उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा ।
जामिमिच्छ पितृषदं न्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥३३॥

अर्थ-[या दुर्हार्दः युवतयः] जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियां हैं और [याः च इह जरतीः अपि] जो यहां वृद्ध स्त्रियां हैं, वे [अस्यै नु वर्चः सं दत्त] इसको निश्चयपूर्वक तेज देवें, [अथ अस्तं विपरेतन] और अपने घरको वापस जावें ॥ २९ ॥

[रुक्मप्रस्तरणं] सोनेके बिछोनेसे युक्त (विश्वा रूपाणि बिभ्रतं) अनेक सुंदर सजावटोंको धारण करनेवाले, [कं वह्यं] सुखदायक रथपर [सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय आरोहत्] सूर्या सावित्री बडे सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये चढी है।॥ ३० ॥

[सुमनस्यमाना तल्पं आरोह] उत्तम मनके भाव धारण करती हुई स्त्री बिस्तरेपर चढे। [इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय] यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर। [इन्द्राणी इव सुबुधा] इन्द्राणीके समान उत्तम ज्ञानवाली होकर [ज्योतिः अग्राः उषसः बुध्यमाना] जिसके बाद सूर्यकी ज्योति आनेवाली है ऐसी उषाओंके पूर्व जागकर [प्रति जागरासि] निद्रा छोडकर उठ ॥ ३१ ॥

[अग्रे देवाः पत्नीः नि अपद्यन्त] पूर्व समयमें देव लोग अपनी स्त्रियोंके साथ सोते थे। [तन्वः तनूभिः सं अस्पृशन्त] अपने शरीरोंसे स्त्रियोंके शरीरको स्पर्श करते थे। उस प्रकार हे [नारि] स्त्री ! तू [इह] इस संसारमें [सूर्या इव] सूर्यप्रभाके समान [महित्वा विश्वरूपा] महत्त्वसे अनेक रूपवाली होकर [प्रजावती पत्या संभव] प्रजायुक्त होकर पतिके साथ संतान उत्पन्न कर ॥ ३२ ॥

हे [विश्वावसो] सब धनसे युक्त वर ! [इतः उत्तिष्ठ] यहांसे उठ, [त्वा नमसा ईडामहे] तेरी नमस्कारोंसे पूजा करते हैं। [पितृषदं न्यक्तां जामिं इच्छ] पिताके घरमें रहनेवाली सुशोभित वधूको तू प्राप्त करनेकी इच्छा कर। [सः ते भागः] वह तेरा भाग है। [तस्य जनुषा विद्धि] उसका जन्मसे ज्ञान प्राप्त कर ॥ ३३ ॥

भावार्थ— जो दुष्ट हृदयवाली और बूढी स्त्रियां हैं, वे भी सब स्त्रियां इस वधूको अपना तेज अर्पण करें और अपने घरको वापस चली जावें ॥ २९ ॥

जिसपर सोनेके कलाबत्तूका काम किया है ऐसे गद्दे जिसमें लगे हैं और विविध हुनरोंसे जिसकी शोभा बढाई है, ऐसे सुन्दर रथपर यह वधू चढे और पतिके घर प्राप्त होकर बडा सौभाग्य प्राप्त करे ॥ ३० ॥

यह स्त्री मनके उत्तम भाव धारण करती हुई बिस्तरेपर चढे, और पतिके लिये उत्तम संतान निर्माण करे। उत्तम ज्ञान संपादन करके उषःकालके पूर्व जागकर निद्रासे निवृत्त होकर उठे ॥ ३१ ॥

पूर्व समयमें देव भी अपनी धर्मपत्नीयोंके संग सोते रहे, अपने शरीरसे स्त्रीके शरीरको आलिंगन देते रहे। उसी प्रकार यह स्त्री भी अनेक प्रकार अपने रूपकी सजावट करती हुई, उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी इच्छासे पतिके साथ मिलकर रहे ॥ ३२ ॥

हे धनवाले पुरुष ! वहांसे उठकर यहां आ, हम आपका स्वागत करते हैं। यह वधू इस समयतक पिताके घर रहती थी, आप इस वधूको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, तो यह आपका भाग हो सकता है। इस आपके भाग के- इस स्त्रीके -जन्मसे सब वृत्तान्त आप चाहे तो जान सकते हैं ॥ ३३ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च ।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥२४॥
नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः ।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि ॥२५॥
राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम् ।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥२६॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥२७॥

अर्थ-[हविर्धानं अन्तरा सूर्यं च] हविर्धान और सूर्यके मध्यमें [अप्सरसः सधमादं मदन्ति] अप्सराएं साथ साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले कर्ममें आनन्दित होती हैं। [ताः ते जनित्रं] वह तेरा जन्मस्थान है। [ताः अभि परेहि] उनके पास जा। [गन्धर्व-ऋतुना ते नमः कृणोमि] गन्धर्वके ऋतुओंके साथ तुझे मैं नमन करता हूं ॥ २४ ॥

[गंधर्वस्य नमसे नमः] गंधर्वके नमस्कारको हम नमस्कार करते हैं। उसकी [भामाय चक्षुषे च नमः कृण्मः] तेजस्वी आंखके लिये हम नमन करते हैं। हे (विश्वावसो) सब धनसे युक्त! (ते ब्रह्मणा नमः) तुझे हम ज्ञानके साथ नमन करते हैं। [अप्सरसः जायाः अभि परेहि] अप्सरा जैसी स्त्रियोंके साथ परे जा॥ २५ ॥

[वयं राया सुमनसः स्याम] हम धनके साथ उत्तम मनवाले हों। (इतः गंधर्वं उत् आवीवृताम्) यहांसे गंधर्वको घेरे, स्वीकार करें, प्राप्त करें। (सः देवः परमं सधस्थं अगन्) वह देव परम श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त हुआ है। (यत्र आयुः प्रतिरन्तः अगन्म) जहां आयुको दीर्घ बनाते हुए हम पहुंचते हैं ॥ २६ ॥

हे [पितरौ] मातापिताओ! [ऋत्विये संसृजेथां] ऋतुकालमें संयुक्त होवो! [रेतसः माता च पिता च भवाथः] वीर्यके योगसेही तुम माता और पिता बनोगे। [मर्यः इव एनां योषां अधिरोहय] मर्दके समान इस स्त्रीके साथ बिस्तरेपर चढ। [इह प्रजां कृण्वाथां] यहां संतान उत्पन्न करो और [रयिं पुष्यतं] धनको पुष्ट करो अर्थात् बढाओ ॥ २७ ॥

भावार्थ— इस यज्ञस्थानभूमि और सूर्य इनके बीच अन्तरिक्षमें अप्सराएं [सूर्य प्रभाएं] एक घरमें आनन्दसे रहकर बहुत आनन्द प्राप्त करती हैं। इस प्रकार गृहस्थ अपने घरमें आनन्दसे रहे। स्त्रियां ही सबकी उत्पत्तिका स्थान है,अतः उनके साथ पुरुष रहे। और ऋतुके अनुसार आदरपूर्वक ऋतुगामी होवे ॥ २४ ॥

दूसरेके नमस्कार करनेपर उसको नमन करना उचित है, उसकी तेजस्वी आंखके साथ अपनी आंख मिलाकर नमन करना उचित है। इस तरह परस्परको जानकर नमस्कार किया जावे। और युवती स्त्रीके साथ पुरुष दूर जाकर एकान्त करे ॥ २५ ॥

मनुष्यको जैसा जैसा धन मिले वैसा वैसा वह मनके शुभ संस्कारोंसे युक्त बने। और वे ईश्वरको माननेवाले हों। वह ईश्वर परम उच्च स्थानपर विराजमान है, जहां हम आयुको दीर्घ करते हुए पहुंच सकते हैं ॥ २६ ॥

हे स्त्री पुरुषो! तुम अपने रजवीर्यके बलसेही मातापिता बन सकते हो, अर्थात् सन्तान उत्पन्न कर सकते हो। अतः ऋतुकालमें संयुक्त होवो। मर्दके समान स्त्रीसे युक्त होवो, सन्तान उत्पन्न करो और धन भी प्राप्त करो और बढाओ ॥ २७ ॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥३८॥
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु ॥३९॥
आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा ।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४०॥ (१०)
देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद् रक्षांसि तल्पानि हन्ति ॥४१॥
यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम् ।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम् ॥४२॥

अर्थ- हे [पूषन्] पूषा ! [तां शिवतमां एरयस्व] उस कल्याणमयी स्त्रीको प्राप्त कर । [यस्यां मनुष्याः बीजं वपन्ति] जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं। [या उशती नः ऊरू विश्रयाति] जो इच्छा करती हुई हमारे लिये अपना शरीर देती है। [यस्यां उशन्तः शेपः प्रहरेम] जिसकी कामना करनेवाले हम विषय-सेवन करें॥ ३८ ॥

[ऊरुं आरोह] ऊपर की ओर चढ, [हस्तं उप धत्स्व] हाथ लगा दो । [सुमनस्यमानः जायां परि ष्वजस्व] उत्तम मनसे युक्त होकर स्त्रीको आलिङ्गन कर । [इह मोदमानौ प्रजां कृण्वाथां] यहां आनंद भोगते हुए प्रजाको उत्पन्न करो । [सविता वां दीर्घं आयुः कृणोतु] सविता आप दोनोंकी दीर्घ आयु करे ॥ ३९ ॥

[प्रजापतिः वां प्रजां जनयतु] प्रजापति ईश्वर तुम दोनोंकी संतान उत्पन्न करे । [अर्यमा अहोरात्राभ्यां समनक्तु] अर्यमा तुम दोनोंको दिनरात संयुक्त करे । [अ-दुर्मंगली इमं पतिलोकं आविश] अशुभभावको न धारण करनेवाली तू स्त्री इस पतिस्थानको प्राप्त कर। [नः द्विपदे चतुष्पदे शं भव]हमारे द्विपाद और चतुष्पादके लिये सुखदायी हो॥४०॥

[देवैः दत्तं] देवोंद्वारा दिया हुआ [मनुना साकं] मनुके साथ प्राप्त हुआ [एतत् वाधूयं वासः] यह विवाहके समयका वस्त्र [वध्वः च वस्त्रं] और जो वधूका वस्त्र है, यह [यः चिकितुषे ब्रह्मणे ददाति] जो ज्ञानी ब्राह्मणको दान करता है । [स इत् तल्पानि रक्षांसि हन्ति] वह निश्चयसे बिस्तरेपर रहनेवाले राक्षसोंका नाश करता है ॥४१॥

हे [बृहस्पते] बृहस्पति! और [साकं इन्द्रः च] साथ रहनेवाले इन्द्र! तुम दोनों [वधूयोः वाधूयं वासः] वधूका विवाहके समयका वस्त्र और [वध्वः च वस्त्रं] जो वधूका वस्त्र है । [यं ब्रह्मभागं मे दत्तः] उस ब्राह्मणके भागको तुम दोनों मुझको देते हो । [युवं ब्रह्मणे अनुमन्यमानौ ब्रह्मणे दत्तं] तुम दोनों ब्राह्मणको प्रदान करनेकी संमति देनेवाले ब्राह्मणको उक्त वस्त्र प्रदान करते हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शुभ संस्कारोंसे युक्त वधूको पुरुष प्राप्त करे । मनुष्य उत्तम स्त्रीमें ही बीज बोते हैं । पुरुषप्राप्तिकी इच्छासे स्त्री अपना शरीर पुरुषको समर्पण करती है, जिसमें पुरुष वीर्याधान करे ॥ ३८ ॥

पुरुष स्त्राके साथ प्रेमसे मिले, उसे आदरके साथ आलिंगन देवे, दोनों स्त्रीपुरुष आनन्दसे रममाण होवें और सन्तान उत्पन्न करें । इन स्त्रीपुरुषोंकी आयु सविता अति दीर्घ बनावे ॥ ३९ ॥

प्रजापालक ईश्वर इन स्त्रीपुरुषोंमें संतान उत्पन्न करे । वही दिन रात इनको प्रेमके साथ इकट्ठे रखे । वधूमें कोई कुछ दुर्गुण न हो और उत्तम शुभगुणवाली स्त्रीही पतिको प्राप्त करे । इस स्त्रीसे घरके सब द्विपाद चतुष्पादका कल्याण हो ॥ ४० ॥

वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणको दान देनेसे शयनस्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुसंस्कार दूर हो सकते हैं॥४१॥

वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र ब्राह्मणका भाग है । वह अनुमतिपूर्वक ब्राह्मणको दिया जावे ॥ ४२ ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥४३॥
नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥४४॥
शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते । आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥४५॥
सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च । ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥४६॥
य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥४७॥

अर्थ—[हसामुदौ महसा मोदमानौ] हास्यविनोद करनेवाले, महत्त्वके विचारसे आनंदित होनेवाले [स्योनात् योनेः अधि बुध्यमानौ] सुखदायक शयनमंदिरसे जागकर उठनेवाले, [सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ] उत्तम इंद्रियों और गौओंसे युक्त, उत्तम बाल बच्चोंवाले, उत्तम घरवाले [जीवौ] दो जीव अर्थात् स्त्री और पुरुष [विभातीः उषसः तराथः] प्रकाशमय उषःकाल-वाले दीर्घ आयुष्यके दिनोंको सुखके साथ तैर जाओ ॥४३॥

मैं [नवं वसानः सुरभिः सुवासाः जीवः] नवीन वस्त्र पहनता हुआ सुगंध धारण करके उत्तम वस्त्र पहननेवाला जीवधारी मनुष्य [विभातीः उषसः उदागां] तेजस्वी उषःकालोंमें उठता हूं। [अण्डात् पतत्री इव] अण्डसे निकलने-वाले पक्षीके समान मैं विश्वस्मात् एनसः परि अमुक्षि] सब पापसे मुक्त होऊं ॥ ४४ ॥

[द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते शुम्भनी] द्यौ और पृथिवी ये दोनों लोक समीपसे सुख देनेवाले, बडे नियम पालन करनेवाले, और शोभावाले हैं। [देवीः सप्त आपः सुस्रुवुः] दिव्य सातों जलप्रवाह चल पडे हैं। [ताः अंहसः नः मुञ्चन्तु] वे जलप्रवाह पापसे हम सबका बचाव करें ॥ ४५ ॥ [अथर्व] ७।११२।१

[सूर्यायै देवेभ्यः मित्राय वरुणाय च] उषा, अग्नि आदि देव, सूर्य वरुण तथा [ये भूतस्य प्रचेतसः] जो भूतोंके ज्ञानदाता देव हैं [तेभ्यः इदं नमः अकरं] उनके लिये यह नमस्कार मैं करता हूं ॥ ४६ ॥ [ऋ. १०।८५।१७]

[यः ऋते अभिश्रिषः] जो चिपकनेके विना तथा [चित् जत्रुभ्यः आतृदः]गर्दनकी हड्डीमें सुराख करनेके विना [संधिं संधाता] जोडको जोडनेवाला और [विह्रुतं पुनः निष्कर्ता] फटे हुएको पुनः ठीक करनेवाला ऐसा [पुरूवसुः मघवा] उत्तम पर्याप्त धन देनेवाला धनवान् ईश्वर है ॥ ४७ ॥ [ऋ० ८।१।१२]

भावार्थ—स्त्रीपुरुष हास्यविनोद करते हुए, आनंद मनाते हुए, सुखदायक शयनमंदिरमें सोकर योग्य समयमें जागते हुए, उत्तम गौवोंसे युक्त, उत्तम पुत्रोंसे युक्त, उत्तम घरवाले होकर, दीर्घ आयुके सब दिन आनंदपूर्वक व्यतीत करें ॥ ४३ ॥

मैं उत्तम वस्त्र पहनकर, सुगंध धारण करता हुआ, शरीरको सुशोभित करके, ऐसा सदाचारसे रहूंगा कि जिससे सब प्रकारके पाप दूर हो जांयगे ॥ ४४ ॥

द्युलोक और पृथ्वी लोक ये सबको सुख देनेवाले हैं, वे अपने नियमसे चलते हैं। इनके मध्यमें सात प्रवाह बह रहे हैं। ये हम सबको पापसे बचावें ॥ ४५ ॥

सूर्य, अन्य देव, मित्र वरुण आदि सबको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४६ ॥

जो ईश्वर मानवी शरीरमें दो हड्डियोंको विना चिपकाये और विना सुराख किये जोडता है, वही सबको जोडनेवाला है। वह सब टूटे हुएकी मरम्मत करता है ॥ ४७ ॥

*

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत्।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या संजामि ॥४८॥
यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः।
व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि ॥४९॥
या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम ॥५०॥(११)
ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥५१॥
उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥५२॥

अर्थ- [यत् नीलं पिशंगं उत लोहितं तमः] जो नीला, पीला अथवा लाल रंगका मैलापन है, वह [अस्मत् अप उच्छतु] हम सबसे दूर होवे। [या निर्दहनी पृषातकी अस्मिन्] जो जलानेवाली दोषस्थिति इसमें है, (तां स्थाणौ अधि आ सजामि) उसको इस स्तंभमें लगा देता हूं ॥ ४८ ॥

[यावतीः कृत्याः उपवासने] जो हिंसाकृत्य उपवसनमें हैं, [यावन्तः राज्ञः वरुणस्य पाशाः] जितने राजा वरुणके पाश हैं, [याः व्यृद्धयः याः असमृद्धयः] जो दरिद्रताएं और दुरवस्थाएं हैं, [ताः अस्मिन् स्थाणौ अधि सादयामि] उन सबको मैं इस स्तम्भमें स्थापन करता हूं ॥ ४९ ॥

[या मे प्रियतमा तनूः] जो मेरा अत्यंत प्रिय शरीर है, [सा मे वाससः बिभाय] वह मेरे वस्त्रसे डरता है। इसलिये हे [वनस्पते] वृक्ष! [अग्रे त्वं तस्य नीविं कृणुष्व] पहिले तू उसकी ग्रंथी बना, जिससे [वयं मा रिषाम] हम दुखी न हों ॥ ५० ॥ [११]

[ये अन्ताः यावतीः सिचः] जो झालरें हैं और किनारियां हैं, [ये ओतवः ये च तन्तव] जो बाने हैं और जो धागे हैं, [यत् वासः पत्नीभिः उतं] जो वस्त्र स्त्रियोंने बुना है, [तत् नः स्योनं उपस्पृशात्] वह हमारे शरीरको सुख-स्पर्श करनेवाला बने ॥ ५१ ॥

[उशतीः इमाः कन्यकाः] पतिकी इच्छा करनेवाली ये कन्याएं [पितृलोकात् पतिं यतीः] पिताके स्थानसे पतिके घर जाती हुई [दीक्षां अव सृक्षत, सु-आहा] दीक्षाव्रतको धारण करे, यह उत्तम उपदेश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ- जो सब प्रकारका हमारा अज्ञान है वह हम सबसे पूर्णतासे दूर हो जावे। जो हृदयको जलानेवाली दोषस्थिति है, वह हम सबसे दूर हो ॥ ४८ ॥

जो कुछ हिंसा और घातपातके कृत्य हैं, जो दरिद्रताएं और दुष्ट स्थितियाँ हैं, वे सबकी सब हमसे दूर हों ॥ ४९ ॥

मेरा शरीर सुडौल और हृष्टपुष्ट है। वस्त्रधारणसे उसकी शोभा घटती है। तथापि ओढकर हम वस्त्र धारण करते हैं, जिससे हमें कोई कष्ट न हों ॥ ५० ॥

जो हमारे स्त्री वर्गने उत्तम वस्त्र बुना है, जिसको सुंदर किनारियां और झालरें लगी हैं, वह वस्त्र हमें सुख देनेवाला हो ॥ ५१ ॥

ये कन्यायें उपवर होनेके कारण पतिकी कामना करती हैं और पतिके पास पहुंचती हैं। अर्थात् गृहस्थधर्मकी दीक्षाएं स्वीकारती हैं ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५४॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५५॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५६॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५७॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन्। रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५८॥
यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥
यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य१घम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६०॥(१२)
यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६१॥
यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६२॥
यं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥६३॥

अर्थ- [बृहस्पतिना अवसृष्टां] बृहस्पतिने रची हुई इस दीक्षाको [विश्वे देवाः अधारयन्] सब देवोंने धारण किया है। [यत् वर्चः गोषु प्रविष्टं] जो बल गौवोंमें प्रविष्ट हुआ है, [तेन इमां सं सृजामसि] उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥५३॥

बृहस्पतिने रची हुई इस दीक्षाको सब देवोंने धारण किया है। जो [तेज ... भगः ... यशः ... पयः ... रसः] तेज, भाग्य, यश, दूध और रस गौवोंमें प्रविष्ट हैं, उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥ ५४-५८ ॥

[यदि इमे केशिनो जनाः] यदि ये लंबे बालवाले लोग [ते गृहे समनर्तिषुः] तेरे घरमें नाचते रहे और [रोदेन अघं कृण्वन्तः] रोनेसे पाप करते रहे० ॥ [यदि इयं दुहिता] यदि यह पुत्री [विकेशी तव गृहे अरुदत्] बालोंको खोलकर तेरे घरमें रोती रही और (रोदेन अघं कृण्वती) रो रोकर पाप करती रही० ॥ [यत् जामयः यत् युवतयः] जो बहिनें और स्त्रियां तेरे घरमें रोती रहीं और रोकर पाप करती रहीं० ॥ [यत् ते प्रजायां पशुषु यत् वा गृहेषु निष्ठितं] जो तेरी प्रजामें, पशुओंमें और जो तेरे घरमें (अघकृद्भिः अघं कृतं) पापियोंने पाप किया है, [अग्निः सविता च] अग्नि और सविता [तस्मात् एनसः त्वा प्रमुञ्चतां] उस पापसे तुझे बचावें ॥ ५९-६२ ॥

[इयं नारी पूल्यानि आवपन्तिका] यह स्त्री पूले हुए धान्यकी आहुति देती हुई [उप ब्रूते] कहती है कि [मे पतिः दीर्घायुः अस्तु] मेरा पति दीर्घायु होवे, वह [शरदः शतं जीवाति] सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- यह गृहस्थाश्रमकी दीक्षा बृहस्पतिने शुरू की है। जो बल, तेज, भाग्य, यश, दूध और रस गौओंमें है, वह सब इस गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको प्राप्त हो ॥ ५३—५८ ॥

जो बालोंवाले लोग, जो कुमारिकाएं, जो स्त्रियां रोते पीटते पाप करतीं हैं, जो बाल खोलकर चिल्लाती हैं, इस प्रकारका जो पाप घरों, संतानों और पशुओंके संबंधमें हो रहा है, वह सब पाप दूर होवे ॥ ५९—६२ ॥

यह नारी धान्यका हवन करती हुई ईश्वरकी प्रार्थना करती है कि मेरा पति दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य॑श्नुताम् ॥ ६४॥
यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्। विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि ॥६५॥
यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्। तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ ६६॥
संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्। अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ६७॥
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः। अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥६८॥
अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्व॑न्तरिक्षम्।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितृंश्च सर्वान् ॥६९॥

अर्थ- हे इन्द्र! [चक्रवाका इव] चक्रवाक पक्षीके जोडेके समान (इमौ दम्पती इह सं नुद) ये पतिपत्नी इस संसारमें प्रेरित कर। [एनौ सु-अस्तकौ प्रजया) ये दोनों उत्तम घरवाले होकर संतानके साथ [विश्व आयुः व्यश्नुतां] सब आयु का उपभोग करें ॥ ६४ ॥

[यत् आसंद्यां] जो बैठकपर, कुर्सीपर, [यत् उपधाने] जो बिस्तरेपर, सिरहनेपर, (यत् वा उपवासने कृतं) जो उपवस्त्रपर किया था, तथा [विवाहे यां कृत्यां चक्रुः] विवाहमें जिस हिंसक प्रयोगको किया था, [तां आस्नाने नि दध्मसि] उसको हम स्नानमें धो डालते हैं ॥ ६५ ॥

[यत् विवाहे यत् च वहतौ] जो विवाहमें और जो बरातके रथमें [दुष्कृतं यत् शमलं] जो दुष्ट कृत्य और मलीन कर्म किया [तत् दुरितं संभलस्य कम्बले मृज्महे] वह पाप हम संभलके कंबलमें धो देते हैं ॥ ६६ ॥

[संभले मलं सादयित्वा] संभलमें मल डालकर, और [दुरितं कंबले] पापको कंबलमें रखकर, [वयं यज्ञियाः शुद्धाः अभूम] हम यज्ञ करनेयोग्य शुद्ध हों। वह [नः आयूंषि प्र तारिषत्) हमारी आयुओंको दीर्घ बनावे ॥ ६७ ॥

[यः एषः शतदन् कृत्रिमः कंटकः] जो यह सैकडों दांतवाला कृत्रिम कंगवा है वह [अस्याः शीर्षण्यं मलं अप अप लिखात्] इसके मस्तकके मलको दूर करे ॥ ६८ ॥

[वयं अस्याः अंगात् अंगात् यक्ष्मं] हम इसके प्रत्येक अंगसे रोगको [अप निदध्मसि] दूर करते हैं [तत् पृथिवीं मा प्रापत्] वह रोग पृथ्वीको न प्राप्त हो, [उत देवान् मा] और देवोंको न प्राप्त हो, [दिवं उरु अन्तरिक्षं मा प्रापत्] द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भी न प्राप्त हो। हे अग्ने! [एतत् मलं अपः मा प्रापत्] यह मल जलको प्राप्त न हो, [यमं सर्वान् पितॄन् च मा प्रापत्] यमको और सब पितरोंको न प्राप्त हो ॥ ६९ ॥

भावार्थ- हे प्रभो! पतिपत्नी मिलकर सदा एक विचारसे रहें। चक्रवाकपक्षीके जोडेके समान आनंदसे रहें। उत्तम घरदार कर और उत्तम संतान निर्माण करके संपूर्ण आयु आनंदसे व्यतीत करें ॥ ६४ ॥

बैठक, सिरहना, बिस्तरा, वस्त्र तथा विवाहके विषयमें जो कुछ पाप या घातक दोष होते हों, वे सबके सब आत्मशुद्धिसे दूर किये जावें ॥ ६५ ॥

विवाहमें और बरातमें जो कुछ पाप या दोष होता हो, वह भी विचारके साथ दूर किया जावे ॥ ६६ ॥

अपने मल और दोष दूरकर हम सब पूज्य पवित्र और दोषरहित तथा दीर्घायु बनें ॥ ६७ ॥

कंगवा लेकर स्त्रीके मस्तकका मल दूर किया जावे और वहांकी स्वच्छता की जावे ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार स्त्रीके शरीरका प्रत्येक भाग स्वच्छ किया जावे, परंतु यह मल पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, जल, वनस्पति आदिके पास न जावे कहां ऐसे स्थानपर मल गाड दिया जावे कि जो फिर किसीको कष्ट न दे सके ॥ ६९ ॥

सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॑सा पृथि॒व्याः सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॒सौष॑धीनाम् ।
सं त्वा॑ नह्यामि प्र॒जया॒ धने॑न॒ सा संन॑द्धा सनुहि॒ वाज॒मेमम् ॥७०॥(१३)
अ॒मोऽहम॑स्मि॒ सा त्वं साम॒ाहम॒स्म्यृक्त्वं द्यौर॒हं पृ॑थि॒वी त्वम् ।
ता॒वि॒ह सं भ॑वाव प्र॒जामा ज॑नयावहै ॥७१॥
ज॒नि॒यन्ति॑ ना॒वग्र॑वः पु॒त्रि॒यन्ति॑ सु॒दान॑वः । अरि॑ष्टासू सचेवहि बृ॒ह॒ते वाज॑सातये ॥७२॥
ये पि॒तरो॑ वधू॒द॒र्शा इ॒मं व॑ह॒तुमाग॑मन् । ते अ॒स्यै व॒ध्वै संप॑त्न्यै प्र॒जाव॒च्छर्म॑ यच्छन्तु ॥७३॥
येदं पूर्वाग॑न् रश॒नाय॑माना प्र॒जाम॒स्यै द्रवि॑णं च॒ेह द॒त्त्वा ।
तां व॑ह॒न्त्वग॑त॒स्यानु॒ पन्थां॑ वि॒राडि॒यं सु॑प्र॒जा अत्य॑जैषीत् ॥७४॥

अर्थ- [त्वा पृथिव्याः पयसा संनह्यामि] तुझे पृथ्वीके पोषक पदार्थसे मैं युक्त करता हूं। (त्वा ओषधीनां पयसा संनह्यामि] तुझे औषधियोंके पौष्टिक सत्वसे युक्त करता हूं। [त्वा प्रजया धनेन संनह्यामि] तुझे प्रजा और धनसे युक्त करता हूं। [सा संनद्धा इमं वाजं सनुहि] वह तू जो उक्त गुणोंसे युक्त होकर इस बलको प्राप्त कर ॥ ७० ॥ [१३]

[अहं अमः अस्मि] मैं प्राण हूं और [सा त्वं] शक्ति तू है। [साम अहं ऋक् त्वं] साम मैं हूं और ऋचा तू है, [द्यौः अहं पृथिवी त्वं] द्युलोक मैं हूं और पृथ्वी तू है। [तौ इह संभवाव] वे हम दोनों इकट्ठे हों और [प्रजां आ जनयावहै] संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

[अग्रवः नौ जनियन्ति] अविवाहित लोग हम जैसेही विवाहकी इच्छा करते हैं। [सुदानवः पुत्रियन्ति] दाता लोग पुत्रकी कामना करते हैं। [अरिष्टासू बृहते वाजसातये सचेवहि] प्राण रहनेतक हम दोनों बडे बलप्राप्तिके लिये साथ साथ मिलकर रहें ॥ ७२ ॥ [ऋ. ७।९६।१४]

[ये वधूदर्शाः पितरः] जो वधूको देखनेकी इच्छा करनेवाले बडे लोग [इमं वहतुं आगमन्] इस बरातको देखने आयगे हैं, (ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै) वे इस वधू अर्थात् उत्तम पत्नीके लिये (प्रजावत् शर्म यच्छन्तु) प्रजायुक्त सुख प्रदान करें ॥ ७३ ॥

[या रशनायमाना पूर्वा इदं आ अगन्] जो रशनाके समान सुसंबंध युक्त पहिली स्त्री इस स्थानपर प्राप्त हुई, वह [अस्यै प्रजां द्रविणं च इह दत्वा) इसके लिये संतान और धन यहां देकर (तां अगतस्य पंथां अनु वहन्तु) उस-को भविष्यकालके मार्गसे सुरक्षित ले जावें। (इयं विराट् सुप्रजा अति अजैषीत्) यह वधू तेजस्विनी और उत्तम प्रजावा-की होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

भावार्थ- स्त्रीको पृथ्वी और औषधियोंके पौष्टिक रससे पुष्ट किया जावे। उसको धन दिया जावे और उत्तम संतान उत्पन्न हो। स्त्री बलशालिनी होकर घरमें विराजे ॥ ७० ॥

पुरुष प्राण है और स्त्री रयी है, पुरुष सामगान है और स्त्री मंत्र है। पुरुष सूर्य है और स्त्री पृथ्वी है। ये दोनों मिलकर इस संसारमें रहें और उत्तम संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

अविवाहित स्त्री पुरुष अपने सहधर्माचरणके लिये योग्य पुरुष और योग्य स्त्री की अपेक्षा करते हैं। जो उदार दाता होते हैं उनको ही उत्तम संतान होते हैं। ये मनुष्य बनकर उत्तम बलकी प्राप्तिका यत्न करें ॥ ७२ ॥

नव वधूको देखनेके लिये बरातके समय अनेक स्त्री पुरुष जमा होते हैं। वे सब नववधूको सुसंतान होनेका शुभ आशी-र्वाद देवें ॥ ७३ ॥

जैसे डोरीमें अनेक धागे मिलकर रहते हैं, वैसेही गृहस्थाश्रम मिलकर रहनेका आश्रम है। गृहस्थाश्रममें इकट्ठे हुए सब लोग स्त्रीको धन और सुसंतान प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देकर, उसको शुभ मार्गसे चलावें; इस तरह यह स्त्री तेज-स्विनी, यशस्विनी तथा सुसंतान युक्त होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥७५॥(१४)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

॥ चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ-(सुबुधा बुध्यमाना) उत्तम ज्ञानयुक्त जागती रहकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय प्र बुध्यस्व) सौ वर्षके दीर्घजीवनके लिये जागती रह। [गृहान् गच्छ] अपने पतिके घरको जा, (यथा गृहपत्नी असः) गृहस्वामिनी जैसी बनकर रह। (सविता ते आयुः दीर्घं कृणोतु) सविता तेरी आयु दीर्घ बनावे ॥ ७५ ॥

भावार्थ- स्त्री विदुषी होवे. सवेरे प्रातःकाल उठे, सौ वर्षको दीर्घ आयुके लिये ज्ञानप्राप्तिपूर्वक प्रयत्न करे। अपने पतिके घरमें रहे। अपने घरकी स्वामिनी बनकर विराजे। परमात्मा इसको दीर्घायु करे ॥ ७५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त।

चतुर्दश काण्ड समाप्त।

वैदिक विवाहका स्वरूप ।

प्रथम-सूक्त ।

अथर्ववेदके इस चतुर्दश काण्डमें वैदिक विवाहका स्वरूप और वैदिक विवाह-पद्धति दर्शायी है। जो पाठक अपनी विवाह पद्धतिका विचार करना चाहते हैं वे इन दो सूक्तोंका विशेष मनन करें । प्रथम सूक्तके प्रारंभमें पांच मंत्र केवल सामान्य उपदेश देनेवाले हैं । इनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी और सोम आदिका वर्णन है, परंतु इन मंत्रोंमें इन देवताओंका वर्णन करते हुए विवाहका तथा पतिपत्नीका आदर्श बताया है, देखिये

द्यौः और भूमि ।

प्रथममंत्रमें भूमि पत्नीके स्थानपर और सूर्य अथवा द्युलोक पतिके स्थानपर वर्णन किये गये हैं । मानो सबकी माता पृथ्वी है और सबका पिता सूर्य है । यह सब संसार मानो पृथ्वी और सूर्य इन मातापिताओंका संतानरूप है । एकही परिवारक हम सब हैं । जितने भी संसारके मनुष्य या पशुपक्षी हैं, ये सब एकही परिवारके हैं । संपूर्ण मनुष्योंमें तो भाईभाईका नाता है । पतिका आदर्श सूर्य है या द्युलोक है । द्युलोक वह है जो खगोल है, सदा प्रकाशित है । वह सबको प्रकाश देता है । इसी प्रकार पति अपने परिवारको उत्तम ज्ञानका प्रकाश देवे और सब संतानोंको ज्ञानवान करे । इसी तरह भूमि सबको आधार देती है, फल और अन्न देकर सबकी तृप्ति करती है । इसी तरह माता सब संतानोंको अपने प्रेमका आधार देवे और सब को खानपान द्वारा योग्य रीतिसे पुष्ट रखे । इस तरह विचार करनेपर तथा द्यावाभूमिके आदर्शका मनन करनेसे स्त्री पुरुषके अथवा पतिपत्नीके आदर्श उपदेश इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकते हैं ।

गृहस्थधर्मका आधार सत्य है, यह बात इस सूक्तका प्रारंभ-ही ' सत्य ' शब्द द्वारा करके बतायी है । स्त्रीपुरुषका व्यव-हार सत्यकी मर्यादासेही होवे, उसमें असत्य, कपट, छल आदि कभी न आवें । इसीसे आदर्श गृहस्थधर्म हो सकता है । दूसरा शब्द ' ऋत ' है । ऋतका अर्थ सरलता है । सत्य और ऋत ये दो ही उन्नतिके नियम हैं । सब धर्मनियमोंका यही सार है। सत्य और ऋतको छोडकर कोई धर्म स्थानपर रह नहीं सकता ।

सोम

द्वितीय मंत्रमें ' सोम ' का माहात्म्य वर्णन किया है । यह सोम स्वर्गमें है, पृथ्वीपर है और नक्षत्रोंमें भी है । पाठक जान सकते हैं कि नक्षत्रोंमें जो सोम है वह चन्द्र ही है । यह सब नक्षत्रोंकी शोभा बढाता है, रात्रीके समय इसकी अवर्णनीय शोभा है । यह शान्तिका आदर्श है । मनुष्य इस शान्तिके आदर्शको सदा मनमें धारण करें और शान्त रहें । क्रोध अ-शांति आदि दुर्गुणोंको दूर रखें । यह आदर्श सोम द्वारा पतिके लिये इस मंत्रमें दिया है ।

पृथ्वीपर भी ' सोम ' है, यहां सोमका अर्थ ' वनस्पति तथा अन्न ' है । आकाशके सोमका यह पृथ्वीपर रहनेवाला प्रतिनिधि है । यह पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों और पशुपक्षियों-की तृप्ति करता है। पाठक यहां पृथ्वीके सोमको और आकाश-के सोमको यथावत् जानें । दोनोंका नाम सोम है, परंतु ये दोनों एक नहीं हैं । सोमके अनेक अर्थ हैं और सोम शब्द द्वारा अनेक पदार्थोंका बोध वेदमें होता है। अतः सर्वत्र सोम शब्दसे एकही पदार्थका बोध मानना अयोग्य है ।

आगे तृतीय मंत्रके पूर्वार्धमें सोमरसका पान करनेका वर्णन है । यह सोमपान यज्ञमें होता है इसको सब जानतेही हैं । परंतु इसी मंत्रमें आगे उत्तरार्धमें विशेष अर्थसे सोमपानका उल्लेख है । वहां कहा है कि " जो सोमपान ब्रह्मज्ञानी पीते हैं, वह सोमपान कोई अन्य मनुष्य कर नहीं सकता । " यहां का सोमपान ब्रह्मानंदका पान है । जो ब्रह्मज्ञानीही कर सकता है । यह भी सोम है । यही परमात्माका अखंड आनंदका रस है । परमात्माको एकरस कहतेही हैं । यही अन्तिम और अति-श्रेष्ठ सोमपान है । धर्म मनुष्यको इसी सोमपानके लिये योग्य बनाता है । साधारण मनुष्य इस सोमपानको कर नहीं सकता, क्योंकि विशेष उच्च अवस्था प्राप्त होनेपर ही यह सोमपान होना संभव है ।

पाठक यहां देखें कि परमात्माके अखंडानन्दस्वरूप सोमके विचारके साथ साथ वनस्पतिके सोमतकको अनेक सोमविषयक

कल्पनाएँ वेदने यहां बतायी है। इनके बीच सब प्रकारके सोम आ चुके हैं। इस प्रकार यह सोमपानका माहात्म्य है। इसका वर्णन यहां करनेका उद्देश यह है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें सोमपान करें। सर्वसाधारणतया सोमपानका अर्थ है औषधिरस का सेवन करना। यह सब गृहस्थी करें। गृहस्थियोंका यह अन्न है। वनस्पति, धान्य फल, शाक आदिका सेवन गृहस्थियोंके परिवारोंमें होता रहे। मांस, रक्त, अण्डे आदिका सेवन निषिद्ध है। पृथ्वी माता जिस सोमरससे सबकी पुष्टि कर रही है, वह यही वानस्पत्य सोम है। यहां गृहस्थधर्ममें रहनेवालोंका सर्वसाधारण वानस्पत्यान्न होना चाहिये यह बात यहां कही है।

इसके पश्चात् ऋषि मुनि साधु संत आदि अपनी आध्यात्मिक उन्नति करते हुए परमात्माके आनंदका रसपान करते हैं। यह भी सोमपान ही है। इसकी योग्यता सर्वसाधारण गृहस्थियोंके पास नहीं होती। गृहस्थाश्रमका धर्म इस योग्यताको मनुष्यमें उत्पन्न करता है। अर्थात् गृहस्थाश्रमके धर्मका योग्य रीतिसे पालन करनेपर वानप्रस्थाश्रमधर्मके पालनपूर्वक संन्यासाश्रममें मनुष्यके अन्दर यह योग्यता प्राप्त हो सकती है। गृहस्थाश्रमसे आगे चलकर साध्य होनेवाली यह बात है। यह सूचित करनेके लिये और गृहस्थियोंपर की जिम्मेवारी बतानेके उद्देशसे ये सब प्रकारके सोमपान यहां इन मंत्रोंमें बताये हैं।

बरातका रथ

आगे मंत्र ६ से १२ तक बरातके रथका वर्णन है। यह सब आलंकारिक वर्णन है। यह तो मनकाही काल्पनिक ('मनो मनस्मयं। मं० १२' तथा 'मनो अस्या अन आसीत्। मं० १०') रथ है। तथापि यह काल्पनिक रथका वर्णन इसलिये दिया है कि मनुष्य विवाहके समय ऐसे उत्तम रथ बनावें और बरात निकालें और वधूको पतिके घर बडे ठाटसे ले आवें। इस बरातका रथ कैसा हो इस विषयमें इन मंत्रोंका वर्णन देखनेयोग्य है।

बरातके रथका नमूना पाठक यहां देखें। जब (सूर्या पतिं अयात्) सूर्यकी पुत्री अपने पतिके घर चली, तब इस प्रकारके सुंदर रथपर वह बैठकर चली थी। यही नमूना सब पुत्रियोंके बरातके समय रखा जाये। इस समय (उपबर्हणं। मं० ६) उत्तम तकिया रथमें था, स्त्रियोंने अपनी आंखोंमें (आञ्जन) काजल लगाया था, पर्याप्त (कोशः) धन साथ लिया था। यह आभूषण हों या मुद्रारूपमें धन हो। परंतु यह इस रथमें चाहिये। जब रथ चलने लगा तब सब लोगोंने (अनुदेयी। मं० ७) अनुकूल आशीर्वाद दिये, सब लोगोंने वधूकी प्रशंसा (नाराशंसी) की। इस तरह सब वायुमंडल अनुकूल बन गया था। उस मंडलमें एक भी मनुष्य इनके प्रतिकूल न था। न कोई विरोध करनेवाला था। सब आनन्दप्रसन्न थे और सभी वधूवरका हित एकचित्तसे चाहते थे।

(भद्रं वासः) इस समय सूर्याका वस्त्र उत्तम था, बहुत ही सुंदर वस्त्र था। ऐसे सुंदर वस्त्रोंसे युक्त होकर सब स्त्रियां वधूके साथ रहीं थी।

इस बरातमें आगे उत्तम गायक थे, वे सुंदर छंदोंमें और मधुर स्वरमें मंगल पद्य गाते हुए आगे चल रहे थे। सबसे आगे दो वैद्य चल रहे थे, इनके साथ अग्नि मार्गदर्शक था। इसके प्रकाशमें वह बरात चल रही थी।

जिस रथमें यह वधू बैठी थी, उस रथपर सुंदर छत थी, मंदर जैसा उसका शिखर था, अंदरसे सुंदर आकाशके समान दिखाई देता (द्यौः छदिः। मं० १०) था। दो श्वेत बैल (शुक्रौ अनड्वाहौ) इस रथको जोते थे। यह बरात सोमके घर चल रही थी। क्योंकि सोमही इस सूर्याका पति था। सोमनेही इस सूर्याकी मंगनी की थी और सोमके साथ इस सूर्याका विवाह हुआ था।

जब सोमने मंगनी की थी, उस समय वहां दोनों अश्विनी कुमार देवोंके वैद्य थे। अर्थात् वैद्योंके सामने यह मंगनी हुई थी। इस मंगनीका स्वीकार सूर्यके पिताने किया था।

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्॥ मं० ९

"सविताने मनसे पतिके विषयमें पूज्यभाव रखनेवाली अपनी सूर्याका दान पतिके हाथमें किया था।" इसमें सविता अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है ऐसा वर्णन है। यह ब्राह्मविवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके सम्मुख रखा है। इसमें वधूका पिता अपनी कन्याका दान करता है और इस दानविधिसे कन्या वरको प्राप्त होती है। यहां गांधर्व विवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके सामने रखा नहीं है। वर अपने लिये वधूकी मंगनी करता है, वधूका पिता उस मंगनीका स्वीकार करता है, और सुमुहूर्तपर अपनी पुत्रीका दान करता है। इससे स्पष्ट है कि कन्यापर अधिकार पहिले पिता का होता है और इस कन्यादानविधिसे कन्यादानके पश्चात् पतिका अधिकार होता है। वैदिक धर्मकी दृष्टिसे स्त्री स्वतंत्र अर्थात् स्वेच्छाचारी न रहे। या तो वह पिताके अधिकारमें रहे अथवा पतिके आधीन रहे। इन दोनोंकी अनुपस्थितीमें वह ज्येष्ठ पुत्र, भाई या अन्य श्रेष्ठ पुरुषकी आज्ञामें

रहे परंतु स्वतंत्र न रहे। (अदात्) दान जो होता है वह स्वतंत्रका नहीं हुआ करता, जो स्वतंत्र नहीं होता उसीका दान होना संभव है। पुरुषका दान कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र है। कन्याकाही दान यहां किया है।

सूर्यां सविता पत्ये अदात्। [अथर्व. १४।१।९]

मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। (ऋ० १०।८५।३६; अथर्व० १४।१।५०)

इन दोनों स्थानोंपर अर्थात् ऋग्वेदमें और अथर्ववेदमें (अदात्, अदुः) कन्यादान ही लिखा है। अतः जो लोग समझते हैं कि वैदिक कालमें स्त्रियां स्वतंत्र थीं, यह उनकी भूल है।

न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।

यह स्मृतियोंका कथन वेदके संमत ही है, ऐसा यहां प्रतीत होता है। जो लोग इस स्मृतिवचनका उपहास करते हैं, वे इस वेदवचनका अधिक मनन करें। स्त्रियां स्वतंत्र न रहें, बालपनमें मातापिताकी शिक्षामें रहें, विवाहित होनेपर पतिसे शिक्षा प्राप्त करें। वर कन्याकी मंगनी वधूके पिताके पास करे और पिता (मनसा अदात्) अपने मनसे संमति दे। तब विवाह हो। कन्या स्वयं पिताकी अनुमतिके विना अपना स्वयंवर न करे, स्वयंवर करना भी हो, तो उसके लिये भी पिताकी संमति हो। वेदमें स्वयंवरके मंत्र किसी स्थानपर अबतक देखनेमें नहीं आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि स्वयंवर की प्रथा पीछेसे चल पडी है। अस्तु।

इस तरह कन्यादानपूर्वक विवाह होनेके पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जाती है। उस समय सुंदर रथ सिद्ध किया जावे। उसमें गादियां और तकिये हों, रथ सुंदर सजाया जावे। उत्तम बैल उसको जोते जांय। कोई घोडे जोते, उसके लिये प्रतिबंध नहीं है। रथके चक्र भी (शुची) सुंदर, स्वच्छ और सजावटसे युक्त हों। इस तरह सब प्रकारसे सुंदर और सजावटसे मनोरम बनाये सुखदायी रथपर आरूढ होकर वधू अपने पतिके घर चली आवे।

दहेज।

विवाह होनेके पूर्व वधूका पिता अपने दामादके लिये अपने सामर्थ्यके अनुसार (वहतुः) दहेज भेज देवे। मंत्र १३ में [गावः] गौवें दहेजके रूपमें भेजनेका उल्लेख है। गौवें ही बडा धन है। अन्य धन इससे कम योग्यतावाला है। गौवोंके दूधसे घरके सब आबालवृद्धोंकी पुष्टि होती है, इसीलिये वधूका पिता अपनी कन्याके पतिको उत्तम उत्तम गौवें देवे और ये गौवें विवाहके पूर्व पतिके घर पहुंचें। पश्चात् विवाह होवे और तत्पश्चात् वधू अपने पतिके घर चली जावे। चन्द्रमा मघा नक्षत्रमें होनेके समय दहेज भेज दिया, तो चन्द्रमा फल्गुनी नक्षत्रमें जानेके समय विवाह हो। प्रायः यह कमसे कम पंद्रह दिनका समय है, अधिकसे अधिक पंद्रहके बातमें जितना आ-सकता है उतना मान सकते हैं। दामादके घर गौवें पहुंचनेके पश्चात् उन गौवोंको वहांका प्रेम लगनेके पश्चात् विवाह हो, यह तात्पर्य है। जब यह वधू अपने पतिके घर चली जायगी, तब उसको अपनीही परिचित गौवें मिलेंगीं। और गौवोंको भी अपने परिचयकी स्वामिनी मिलनेसे, परस्परका प्रेम परस्पर होनेके लिये सुभीता होगा। इस तरह यह कन्यादानके पूर्व गौओंका दान वैदिक विवाहमें एक मुख्य बात है।

मंत्र १४ और १५ में कहा है कि वधूपक्षके दो मनुष्य (अश्विनौ) घोडोंपर सवार होकर वरपक्षके पास पहुंचते हैं। वरके पास उस दहेजको समर्पण करते हैं। इस तरह इस परस्पर-संमेलनको सब पारिवारिक लोग संमति और अनुमति देते हैं। ऐसे ढंगसे यह विवाह होता है और सब जातिकी संमति उसको रहती है। मंगनी के समय, विवाहके समय और बरातके समय सब पारिवारिक जन, सब जातिके सज्जन उपस्थित होते हैं। यह बात 'देवाः' पदसे सिद्ध होती है। सूर्यदेव और सोमदेवके पारिवारिक जन तथा जातिके सज्जन [देवाः] देव हैं। इसी तरह मनुष्योंमें विवाह होनेके समय वधू और वर पक्षके पारिवारिक तथा जातिके लोग संमिलित होने चाहिये, यह बात उसी वर्णनसे स्वयंसिद्ध होती है। क्योंकि वैदिक विवाह सूर्यने जैसा अपनी पुत्री सूर्याका सोमके साथ किया, वैसाही मानवोंने अपनी पुत्रियोंका करना है। वस्तुतः सूर्यने जो अपनी पुत्री सूर्याका विवाह किया वह एक आलंकारिक बात है। यह वर्णन इसलिये वेदमें किया है कि इसको देखकर लोग अपने विवाह इस विधिके अनुसार करें। वेदका यह रूपक सूर्यका किरण चन्द्रमाको प्रकाशित करता है, इस मूल बातको लेकर रचा गया है। और विवाहके आवश्यक सिद्धांत इस आलंकारिक वर्णनमें उत्तम रीतिसे संग्रहीत किये गये हैं।

पुराना और नया संबंध ।

मंत्र १७ और १८ में वधूका संबंध पितृकुलसे कैसा छूटता है और पतिकुलसे कैसा बनता है, इसका उत्तम वर्णन है —

इतः बंधनात् प्रमुञ्चामि, न अमुतः । (मं० १७)
इतः प्रमुंचामि न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करम् ।
[मं० १८]

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि " इस पुत्रीको हम पितृकुलसे छुडाते हैं, और पतिकुलके साथ ऐसा सुसंबद्ध करते हैं कि यह पतिकुलसे कभी न छूट सके । " कन्याका पितृकुलसे छूटना तो आवश्यक ही है, परंतु प्रश्न यहां यह उत्पन्न होता है कि यह कन्या पतिकुलसे किसी न किसी प्रकार छूट सकती है, या नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें वेदका यह कथन है कि कन्या पतिकुलसे अपना संबंध नहीं छोड सकती । किसी भी अवस्थामें उसका संबंध पतिकुलसे छूटना वैदिक धर्मकी दृष्टिसे असंभव है । उक्त मंत्रोंमें सुस्पष्ट रीतिसे कहा है कि [न अमुतः, अमुतः सुबद्धां करं] नहीं, पतिकुलसे तो उसको उत्तम पक्की रीतिसे बांधता हूं । इस सुबद्ध करनेका तात्पर्य यह है कि वह पतिकुलसे कभी विमुक्त न होवे । नियोगकी रीतिमें नियुक्त पुरुषके साथ संबंध होनेसे भी पतिकुलका संबंध सुदृढ रहता है और संतान तो पूर्व पतिकीही होती है । परंतु पुनर्विवाह तो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पुनर्विवाहसे तो पतिकुलका संबंध छूट जाता है । इस कारण वैदिक धर्ममें स्त्रीका पुनर्विवाह संभव नहीं है । वैदिकधर्मी द्विजातियोंमें तो सर्वथा पुनर्विवाह असंभव है ।

आजकलका पतित्याग (डायव्होर्स) या पत्नीत्याग तो नितांत अवैदिक है । आजकल यूरोप, अमरीकाका अनुकरण करनेवाले कई थोडे भारतीय लोग विवाहित संबंध अदालतसे तोडनेके पक्षपाती दीखते हैं । परंतु यह रीति वैदिक धर्मके अनुकूल नहीं है । स्वयंवर की प्रथामें भी पतिपरित्याग या पत्नीपरित्याग संमत नहीं है, फिर ब्राह्मविवाहके अनुसार तो कैसे संभव हो सकता है ? पूर्वोक्त मंत्रमें उपमा दी है कि जैसा कोई फल (उर्वारुकं बंधनात्) अपने वृक्षसे या बेलसे परिपक्व होनेपर बंधनसे छूटता है, वैसी यह कन्या पितृकुलके संबंधसे विवाहके समय मुक्त हो गयी है । इसका संबंध पतिकुलसे हुआ है और वह संबंध सुबद्ध अर्थात् दृढतर हो चुका है, वहांसे मुक्तता नहीं हो सकती । यहां पाठक वैदिक विवाह की कल्पना ठीक प्रकार मनमें धारण करें । वह स्थिर संबंध है, यूरोप अमेरीका के समान क्षणभंगुर नहीं है ।

आगे १९ वें मंत्रमें कहा है कि यह कन्या वरुणके पाशसे पितृकुलसे सुसंबद्ध हुई थी । विवाहके समय वे पाश तोड दिये गये हैं । वरुणके पाश किसी अन्य कारणसे टूट नहीं सकते । पितृकुलसे संबंध तोडकर पतिके कुलसे नया संबंध जोड दिया है । यह संबंध जो पतिके कुलसे हो गया है वह (सह-संभलाये) साथ साथ संभाल होनेके लिये है । पतिके कुलके परिवारके साथ इस स्त्रीका संभाल होता रहे । अर्थात् यह कन्या बाल्यमें पितृकुलसे पाशोंके साथ बांधी थी, वरुणदेवके पाशोंसे बांधी थी, और वरुणके पाश ऐसे होते हैं कि वे तोडनेका सामर्थ्य किसीके अन्दर नहीं होता है । ये वरुणके पाश विवाहविधिसे टूट जाते हैं, परंतु वही वधू पतिकुलसे ऐसी बांधी जाती है कि वहांसे आमरण वह अपना संबंध छोड नहीं सकती । इस पतिकुलमें रहती हुई यह—

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनम् ॥ [मं० १९]

"सत्यके घरमें और पुण्यवानोंके स्थानमें जो सुख प्राप्त हो सकता है, वह इसको पतिके घर प्राप्त हो । " अर्थात यह पतिके घरमें रहती हुई सत्य मार्गसे चले और पुण्य कर्म करती हुई सुखको प्राप्त हो । यह स्त्रीका धर्म है । पति रहनेतक या पतिके मरनेके पश्चात् भी स्त्रीका यही धर्म है, इस धर्मसे वह पतित न हो, और इस धर्मका आचरण करती हुई सुखको प्राप्त करे । स्त्रीका स्वतंत्रआचार या स्वेच्छाचार सर्वदा गर्हित है । न स्त्री पितृघरमें स्वतंत्र है, न पतिके घरमें स्वतंत्र है और न पतिके मरनेके पश्चात् वह स्वतंत्र हो सकती है ।

कन्याके बालकपनमें तो सविता देवने वरुणके पाशसे उसे पितृकुलसे बांध रखा था (मं० १९), विवाह होनेके समय वे पाश तो टूट गये, परंतु भगदेवताने उसका हाथ पकडकर बरातके रथतक चलाया, पश्चात् जब वह पतिके घर जानेके लिये रथमें बैठी तब अश्विनीदेव उसके रक्षक बने [मं० २०], जबतक यह वधू पतिके घर नहीं पहुंचती, वहांतक अश्विनी देवोंकी रक्षामें वह रहती है । पश्चात्—

गृहान् गच्छ, गृहपत्नी यथाऽसो वशिनी त्वम् ॥ (मं० २०)

पतिके घर यह नव वधू पहुंचती है और वहां वशिनी होकर रहती है । स्वयं अपनी इंद्रियां वशमें रखती है, घरके परिवारको वशमें रखती है और स्वयं बडे लोगोंकी आज्ञामें

रहती है। इस तरह यह पतिके घर पहुंचनेके पश्चात् बर्ताव करती है। तत्पश्चात् यह पितृगृहमें वरुणके पाशोंसे बंधी रहती है। स्वतंत्र नहीं होती। इसके ऊपर या तो पिता और माता निगरानी करते हैं, देवताओंकी निगरानी रहती है, और पश्चात् पतिकी निगरानी होती है। कुछ भी हुआ तो स्त्री को वैसी स्वतंत्रता नहीं रखी है, जैसी कि आजकल यूरोप, अमेरीका और विशेषतया रूसमें इस समय स्त्रियोंकी स्वतंत्रता मानी जाती है। नियमबद्ध परतंत्रतामें जितनी स्वतंत्रता हो सकती है, उतनी तो अवश्य है। विद्या, कला, संस्कृति आदिके विकास के लिये जितनी आवश्यक है, उतनी स्वतंत्रता है, परंतु आजकल की कुमारिकाएं कुमारोंके साथ मिलजुल-कर कालेजोंमें सीखती हैं वैसी शिक्षापद्धति भी वैदिक समयमें नहीं थी। उस समय प्रत्येक कुमारी अपने मातापितासे आवश्यक शिक्षा पाती थी और पश्चात् पतिसे। स्वतंत्र रीतिसे कालजोंमें रहना और कुमारोंमें मिलकर शिक्षा पाना, यह उस वैदिक समयमें प्रायः असंभवसा प्रतीत होता है।

गृहस्थाश्रमका आदर्श।

आगे मंत्र २१-२३ तक गृहस्थाश्रमका सुंदर वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थी इस सुखका अधिकारी है। जो धर्मानुकूल रहे और गृहस्थीका धर्म पालन करे। वह इस सुखको प्राप्त कर सकता है।

(१) अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। (मं० २१)

इस पतिके घरमें अपने गृहस्थ-धर्मका जागते हुए पालन कर" अपने गृहस्थ धर्ममें अशुद्धि न कर, दक्षतासे अपने पतिके घरमें रह और अपना कर्तव्य कर।

(२) इह ते प्रजायै प्रियं समृध्यताम्। [मं० २१]

"इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपने संतानका प्रिय, शुभ और कल्याण करना तेरा मुख्य कर्तव्य है।" सुसंतान निर्माण करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थधर्मका यह पुष्प और फल है, यह सुयोग्य बननेके लिये जो यत्न किया जाय वह थोडा है। मातापिताके सब संस्कार अंशरूपसे संतानमें आते हैं, अतः मातापितापर यह जिम्मेवारी है कि वे अपनेपर कोई अशुभ संस्कार न होने दें। शरीरके रोग, बुरी आदतें और अन्य कुसंस्कार संतानोंमें अंशरूपसे उतरते हैं, अतः मातापिताओंको उचित है कि वे स्वयं परिशुद्ध रहें और शुभ संतान निर्माण करनेका यत्न करें। इस तरह प्रयत्न करते करते संतानोंके लिये शुभ संस्कारही मिलते जायगे, और क्रमशः संतान सुधरती और सुसंस्कारसंपन्न होती जायेंगी।

[३] एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्व। [मं० २१]

"इस पतिके साथ आनंदप्रसन्न होकर रह।" सब प्रकार के धर्मानुकूल उपभोग प्राप्त कर। सदा प्रसन्नतासे दिनचर्या व्यतीत कर। दुःखी कष्टी रहनेसे वैसा चिडचिडापन संतानमें आ जायगा, इसलिये प्राप्त ऐश्वर्यके उपभोगसे चित्तकी प्रसन्नता रख और इसी तरह अन्यान्य प्रसंगोंमें अन्तःकरण सदा शुभवृत्तिवाही रखना योग्य है। इस संसारमें रहनेका यही मुख्य नियम है।

[४] अथ जिर्विः विदथं आ वदासि। [मं० २१]

"इस ढंगसे गृहस्थाश्रममें रहते हुए जब तारुण्य चला जाय, और वृद्ध अवस्था प्राप्त हो, अर्थात् बहुत अनुभव आ जाय, तब तू अपने अनुभवके सिद्धान्त उपदेशद्वारा दूसरोंको कह।" इससे पूर्व नहीं। इसके पूर्वका समय ज्ञानग्रहण करनेका है, उपदेश देनेका नहीं। उपदेश देना अनुभवी वृद्धोंकाही कर्म होगा। इस संसारमें पर्याप्त अनुभव आनेपर ही मनुष्य उपदेश करे। इसके पूर्व जो उपदेश करते हैं, उससे लाभकी अपेक्षा हानिकी अधिक संभावना हो सकती है। अनुभव जैसा जिसको अधिक होता है, वैसा उसका अधिकार उपदेश करनेमें अधिक होता है।

[५] इहैव स्तं, मा वियौष्टं, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् (मं०२२)

"पतिपत्नी इस गृहस्थाश्रममें रहें, उनमें वियोग न हो, पूर्ण आयुकी समाप्तितक वे दोनों एक विचारसे रहें।" यह है विवाहित कुटुंबका आदर्श। नहीं तो विवाह होतेही वैवाहिक संबंधका परित्याग करनेकी कुप्रथा जो अनार्य देशोंमें चली है, वह तो वैदिक विवाहमें सर्वथा नहीं है। वेद चाहता है कि जो विवाह एक समय हुआ वह जीवनके अन्ततक स्थिर रहे, उसमें किसी तरह विरोध न खडा हो, झगडे होकर उनका वैवाहिक संबंध न टूटे।

[६] स्वस्तकौ मोदमानौ पुत्रैः नप्तृभिः क्रीडन्तौ।
(मं० २२)

"पतिपत्नी उत्तम घरवाले हों, आनंदप्रसन्न हों और पुत्रोंके साथ तथा नातियोंके साथ खेलते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कर्तव्य करते रहें।" गृहस्थाश्रममें रहनेवाले सुखी

विछोविरे न हों, मन आनन्दप्रसन्न रखकर सुखके साथ अपने कर्तव्य गृहस्थी कोम करते रहें।

(७) सूर्यचन्द्रके समान तेजस्वी पुत्र हों ।

(मं० २३)

" जैसे सूर्य और चन्द्र सब जगत्‌को प्रकाश देनेवाले हैं, वैसेही गृहस्थोंके घरमें उत्तम तेजस्वी संतान हों, वे विविध खेलोंमें (क्रीडन्तौ) प्रवीण हों, (मायया चरतः) कौशल्यके साथ जगत्‌में भ्रमण करें, अर्थात् कुशलताके कर्म करें,कलावान् हों और विश्वका भ्रमण करें । अपनी कलाका खूब विकास करें । उक्त उपमामें चंद्रमा कलायुक्त होता है, उसको कला-निधि कहते हैं, वैसा ही यह कलाओंका निधि बने । और कलाकुशलतासे अपनी तथा अपने राष्ट्रकी उन्नति सिद्ध करे । अपनी संतानोंको कला-कारीगरीकी शिक्षा देनी चाहिये, यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है ।

ब्राह्मणोंको धन और वस्त्रदान ।

मंत्र २५ में (ब्राह्मणेभ्यो वसु विभज, शामुल्यं च देहि । मं. २५) ब्राह्मणोंको धन दान दो और वस्त्रका दान करो। यह ब्राह्मणोंको दान करनेकी आज्ञा यहां की है। विवाहके समय सुयोग्य विद्वान् ब्राह्मणोंको धन और वस्त्र देना चाहिये। गौ, भूमि आदिका भी दान दिया जावे । यह दान वधूके समक्ष दिया जावे, और इसका सात्विक परिणाम वधूके ऊपर होवे । यह दान देना चाहिये यह बात इस प्रकार नव वधूके मनपर प्रतिबिंबित हो । यदि दान देनेका गुण वधूमें न रहा, और केवल भोगमेंही उस वधूका मन अत्यधिक रमने लगा तो वह एक कुटुंबका नाश करनेवाली राक्षसी सिद्ध होगी । ऐसी भोगी स्त्री-

कृत्या पद्वती भूत्वा जाया पतिं विशते ॥ (मं. २५)

"यह एक दो पांववाली विनाशक राक्षसी भार्यारूपसे पतिके घर प्रवेश करती है ।" जिस स्त्रीके मनपर दान देनेका भाव प्रतिबिंबित नहीं हुआ,वहभोगी स्त्री ऐसीही घातक राक्षसी माननी चाहिये । गृहस्थीका भूषण उदार स्त्री है । उदारता की शिक्षा उस वधूको अपने पिताके घरमें मिलनी चाहिये और पतिके घरमें भी मिलनी चाहिये । इसलिये दान देनेका महत्त्व उस स्त्रीके मनपर स्थिर करना चाहिये। गृहशिक्षाका यह एक विशेष महत्त्वका भाग है।

जिसमें दानभाव स्थिर नहीं हुआ उसके मनमें (कृत्या स-क्तिः) विनाश या घातपात करनेकी बुद्धि प्रकट होती है। किसी स्त्रीमें ऐसी क्रूर बुद्धि न हो इसलिये दानकी बुद्धि वधूमें बढानी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ और स्त्री स्वैराचरण करनेवाली हुई तो अन्तमें पतिकुलकाही नाश होता है—

एधन्ते अस्या ज्ञातयः, पतिर्बन्धेषु बध्यते । (मं०२६)

"इसकी ज्ञातियोंमें कलह प्रबल होता है,और अन्तमें बिचारा पति कलहके बंधनमें बांधा जाता है । " इसलिये कन्या और वधूमें प्रारंभसे ही दान की बुद्धि, परोपकार करनेकी बुद्धि स्थिर होनी चाहिये । अपने सुखका त्याग करके भी सज्जनोंकी सेवा करनेकी सुबुद्धि स्थिर होनी चाहिये । धर्मसेवा, रुग्णसेवा, आदि सेवाभाव सबमें बढे और इस सेवासे ही सब द्वेषभाव दूर होगा, यह बात सब लोग जानें ।

पुरुष स्त्रीका वस्त्र न पहने ।

मंत्र २७ में कहा है कि पुरुष कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने । पुरुषका शरीर कितना भी सुंदर हो परंतु स्त्रीका वस्त्र पहननेसे वह अश्लील बनता है, शोभारहित होता है ।

यह निषेध स्त्रीका पहना वस्त्र पुरुषके पुनः पहननेके लिये है, या नाट्योंमें जो पुरुष स्त्रीवेष धारण करते हैं उस कार्यका यह निषेध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। पाठक इसका अधिक विचार करें परिवारमें पति कभी स्त्रीका वस्त्र न पहरे, यह बोध यहां निःसन्देह है । इस प्रकारका निषेध पुरुषका वस्त्र स्त्रीके पहननेके विषयमें नहीं है, यह बात विशेष मनन करने-योग्य है । इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंके पहने वस्त्र आरोग्यकी दृष्टिसे पहननेके अयोग्य होते हैं। यहां स्त्रीका वस्त्र दूसरी स्त्री पहने या न पहने, इस विषयमें भी निषेध नहीं है । स्त्रीका वस्त्र पुरुष न पहने यह बात यहां स्पष्ट और असंदिग्ध है । पाठक इस बातका अधिक विचार करें और निश्चय करें।

विविध वस्त्र पहननेसे स्त्रीके रूप विशेष शोभायुक्त होते हैं, यह बात मं० २८ में कही है। (आशसनं) धारीवाला वस्त्र, (विशसनं)सिरपर ओढने योग्य ओढनी, और (अधिविक-र्तनं) यह सर्वांगपर ओढनेका वस्त्र है । स्त्रियोंके पहननेके ये तीन वस्त्र हैं । इनके विविध रंगरूपोंके कारण स्त्रियोंके स्वरूपकी सुंदरता बढती है ।

कन्याका गुरु ।

कन्या की शिक्षा कैसी होनी चाहिये, यह एक बडा विकट प्रश्न है। आजकल तो कन्या और पुत्र एकही पाठशालामें पढते हैं और उनकी पाठविधि समान होती है। वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषों और स्त्रियोंके कार्य इस संसारमें विभिन्न होते हैं, अतः एकही पाठविधि दोनोंके लिये लाभदायिनी नहीं हो सकती। आजकल स्त्रियोंका पुरुषीकरण हो रहा है और पुरुषोंका स्त्री-करण किया जाता है। मिश्रपाठविधिका और सहशिक्षाका यह दोष है। वेदके उपदेशानुसार स्त्रीपुरुषोंकी पाठविधि भिन्न होनी चाहिये। स्त्रियोंको विशेषतः सूपशास्त्र अर्थात् अन्नका पाक कर-नेकी विधिका उत्तम ज्ञान होना चाहिये। [एतत् तृष्टं] यह पदार्थ तृषा उत्पन्न करनेवाला अर्थात् पित्तकारक है, [एतत् कटुकं] यह कटु है, [एतत् अपाष्ठवत् विषवत्] यह पदार्थ स्वास्थ्यका बिगाड करनेवाला है,ये पदार्थ विषके समान मृत्यु लानेवाले हैं, (एतत् अत्तवे न) ये पदार्थ खानेयोग्य नहीं हैं, इसी तरह निषिद्ध पदार्थोंका ज्ञान कन्याओंकी पाठ-विधिमें देना चाहिये। तथा खाने योग्य पौष्टिक और सात्विक पदार्थोंका भी योग्य ज्ञान स्त्रियोंको पढाया जावे। स्त्रियोंके ऊपर बालबच्चोंके लालन पालनका भार रहता है, इसलिये उनको भक्ष्य भोज्य लेह्य पेय आदि खाद्यपदा-र्थोंका उत्तम ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार की पाठविधि स्त्रियोंके लिये होनी चाहिये और उनपर जो कार्यका भार आनेवाला है, वह पूर्ण करनेकी योग्यता उनमें उत्पन्न करनी चाहिये।

जो गुरु इस तरह की शिक्षा कन्याओंको देता है उसको उस कन्याके विवाहके समय उत्तम वस्त्र दान करना योग्य है। इसी तरह मंत्र ३० में कहा है कि, जो गुरु (प्रायश्चित्तिं अध्ये-ति) चित्तशुद्ध करनेका उपदेश देता है, चित्त बुरे मार्गसे जाने लगा तो उसको धर्ममार्गपर लानेका विवेक जिस सद्गुरु-की कृपासे मनमें उत्पन्न होता है, उस शिक्षक का सम्मान करना चाहिये। उस कन्याके विवाहके समय (सुमंगलं स्योनं वासः) उत्तम मंगल और शुभ वस्त्र उस ब्राह्मणको अवश्य दिया जावे, जिसने उस कन्याको पूर्वोक्त ज्ञान दिया है, पढाया है, उत्तम शिक्षा दी है। क्योंकि इसी ज्ञानसे (येन जाया न रिष्यति) उस स्त्रीकी गिरावट नहीं होती। वह सुशिक्षित स्त्री अपने धर्मपथमें रहती हुई सबको आनन्द देती है। यह शिक्षाका प्रभाव है, ऐसी शिक्षा स्त्रीको देनी चाहिये।

स्त्रीको योग्य शिक्षा न दी, तो वह कैसे पतिकुलका नाश करती है, इसका वर्णन मं० २५—२६ में पूर्व स्थानपर किया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंको सुशिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा न होनेसे बडे भयानक परिणाम होते हैं।

सद्व्यवहारसे धन कमाओ।

गृहस्थाश्रममें धनकी आवश्यकता सदा रहती है। कोई कर्म धनके बिना हो नहीं सकता। अतः गृहस्थीको धन कमाने की अत्यंत आवश्यकता है। यह धन कैसा कमाया जावे, यह एक बडी भारी समस्या गृहस्थियोंके सन्मुख सदा रहती है। इसका उत्तर ३० वें मंत्रने दिया है।

(ऋत—उद्येषु ऋतं वदन्तौ) सरल व्यवहारोंमें सरल भाषण करो। उसमें छलकपट न हो। सबसे प्रथम टेढे व्यव-हारमें न जाओ। जो व्यवहार करना हो, वह सरल व्यवहार हो और उसके करनेके समय भी सरल भाषण करो। और इस प्रकारके धर्मानुकूल सरल व्यवहार करके—

(समृद्धं भगं संभरतं) बहुत धन प्राप्त करो। अपने लिये जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन कमाओ। धर्मानुकूल व्यवहार करनेसे निःसंदेह यश प्राप्त होगा और समृद्धि भी होगी।

पतिपत्नी अपने घरमें प्रेमके साथ रहें। पति (संभलः चारु वाचं वदतु) अपनी धर्मपत्नीके साथ मीठा भाषण बोले, मंगल भाषण करे, सुंदर वचन कहे तथा [अस्यै पतिं रोचय] इस स्त्रीको पतिके विषयमें बडी रुचि हो, बडा प्रेम हो। इस तरह दोनों प्रेमके साथ रहें,व्यवहार करें और उन्नति करते रहें।

गोरक्षा।

मंत्र३२ और ३३में गृहस्थी लोग गोरक्षा करें, इस विषयका बडा उपयोगी उपदेश है। गौवें घरकी शोभा हैं, बालकोंकी उन्नति इसीसे होती है। सब प्रकारका उत्कर्ष गौवोंसे होता है, इसलिये गोपालन गृहस्थीका धर्म है।

सरल मार्ग।

सबके चलनेके मार्ग सरल और निष्कंटक हों, इस विषयमें ३४ वें मंत्रका आदेश ध्यानमें धरने योग्य है—

पन्थानः अनृक्षराः ऋजवः सन्तु ॥ (मं० ३४)

" मार्ग कंटकरहित और सरल हों। " घरको पहुंचनेके मार्ग, घरके पास के मार्ग, राष्ट्रमें जाने आनेके सब मार्ग निष्कंटक और सीधे हों। उनमें जहांतक हो वहांतक टेढापन न हो। मनुष्योंके सब व्यवहारके मार्ग भी सीधे ही हों। यहां जानेके और आनेके मार्ग सीधे हों, यह बात कहनेका हेतु नहीं है, क्योंकि ये मार्ग तो जैसी भूमि होगी वैसे हो सकेंगे। परंतु मनुष्योंके व्यवहारके मार्ग सीधे हों, यह बात विशेषतया यहां कही है। बीचमें कांटे न बिछाये जावें। आजकलके राष्ट्रके और समाजके व्यवहार देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि, मनुष्य स्वयंही अपनी मतिहीनतासे अपने मार्गपर कांटे बिछाते हैं और सीधा व्यवहार होनेकी संभावना होनेपर भी टेढेपनसे व्यवहार करते हैं और इस कारण सुखप्राप्तिके प्रयत्नसे सदा दुःख ही प्राप्त करते हैं। इस तरह ये गृहस्थी अपनी उन्नतिके मार्गमें कांटे न डालें यह उपदेश वेद यहां गृहस्थाश्रमके प्रारंभमें दे रहा है। सब गृहस्थी इसको अवश्य स्मरण रखें। इस प्रकारके सीधे मार्गसे चलनेपर [धाता भगेन वर्चसा सं सृजतु] परमेश्वर धन और तेज देवे। वह परमात्मा तो सरल व्यवहार करनेवालोंको यह फल अवश्य ही देगा। इसमें किसीको संदेह करनेकी आवश्यकता नहीं है। परमेश्वरकी सहायता प्राप्त करनेका मार्ग भी सीधा और निष्कंटक है। यही धर्ममार्ग है। इससे चलकर सब मनुष्य सुखधाम को पहुंच सकते हैं। इस प्रकार इस मंत्रका उपदेश बडा मनन करने योग्य है और प्रत्येक गृहस्थीको सदा ध्यान रखनेयोग्य है, क्योंकि सबकी उन्नति सरल और निष्कंटक मार्गसेही होनी संभव है। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

तेजस्वी बनो

गृहस्थी तेजस्वी बनें, उत्साही बनें, कदापि निरुत्साही न हों। गृहस्थीका धर्म उत्साहका है, यह तेजस्वी मनुष्योंका धर्म है इसीलिये वेद उपदेश देता है कि गृहस्थी तेजस्वी बने। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि गृहस्थी तेजस्वी कैसा बने? उत्तरमें वेद कहता है कि—

यद् वर्चः अक्षेषु सुरायाम् ॥ (मं० ३५)

" जो तेज आंखोंमें अथवा द्यूतके फासोंमें होता है और जो मद्यमें होता है " वह तेज इन गृहस्थियोंमें आवे। यह पढकर पाठक कहेंगे कि यह क्या अनर्थ है? वेद ऐसा उपदेश क्यों देता है? क्या वेद इस उपदेशसे गृहस्थियोंको जुआरी और मद्यपी बनाना चाहता है? कदापि नहीं। वेद तो इन दुर्व्यसनोंसे गृहस्थियोंको बचाना चाहता है, परंतु यहां तेजस्वी उत्साहका वर्णन है। किन लोगोंमें तेजस्वी उत्साह अत्यधिक होता है? उत्तरमें जुआरी और मद्यपमें होता है, ऐसाही कहना पडेगा। देखिये, जुआ खेलनेके कार्यमें सरकारी प्रतिबंध है, जुआरी को राजपुरुष पकडते हैं और कारागृहमें डालते हैं, न्यायालयोंमें इनको दण्ड दिया जाता है, घरवाले इस जुआरीके विरोधी होते हैं। इष्ट मित्र तथा परिवार के लोग चाहते हैं कि यह जुआ न खेले, इस तरह सब लोग इसका विरोध करते रहते हैं, तथापि जूवेबाज मनुष्य रातके समय, अंधेरेमें, कष्ट सहन करते हुए, छिपते और छिपाते हुए जुवेके घरमें पहुंचता है, न उसको किसीका भय होता है और न भूख प्यास होती है एकमात्र निश्चय पर अटूट होता है कि मैं जुआ खेलूंगा। सब जगत् विरुद्ध होनेपर भी वह अपने निश्चय पर अटूट रीतिसे स्थिर रहता है; यह इसका निश्चय, प्रयत्न, उत्साह और एकाग्र मन देखने योग्य है। यदि येही तेजस्वी गुण जो इसके पासोंके खेलमें लगे वेही यदि श्रेष्ठ पुरुषार्थके कर्ममें लग जांय, तो उसका बेडा पार होनेमें क्या संदेह है? अतः वेद कहता है कि जो तेज और उत्साह तथा निश्चय जुआरी लोग अपने खेलमें बताते हैं वही तेज और उत्साह गृहस्थी मनुष्य अपने गृहस्थधर्मपालनमें बतावें, उतना मनोनिग्रह उतना निश्चय, उतना उत्साह, उतना प्रयत्न गृहस्थी अपने धर्मपालनमें दर्शावें, यह उपदेश यहां है।

मद्यपी भी इसी तरह मद्यपानका समय आया तो मद्यपानके स्थानपर जाता है और मद्य पीता ही है, समय टालता नहीं, अपने साथ इष्ट मित्रोंको भी पिलाता है, यह उदारता भी मद्यपीमें होती है। इस मद्यपीमें समयपर वह कार्य करनेकी जो आतुरता होती है और अपने साथियोंको पिलानेकी जो उदारता होती है, वह आतुरता और उदारता गृहस्थियोंमें अवश्य रहे। गृहस्थी अपने कर्तव्य कर्म बडी आतुरतासे करें और उदारतासे दान देते रहें। यह उपदेश गृहस्थी लोग ले सकते हैं।

यही सुरा और पासोंका दृष्टांत मंत्र ३६ में पुनः अन्य रीतिसे आगया है। उसका भी भाव यही है। इसमें जो उपदेश

लेना है वही लेना चाहिये बडे महात्मा लोग कुत्तेसे और चीटि-योंसे भी उपदेश लेते रहते हैं। जाग्रत निद्रा और स्वामिभक्तिका उपदेश कुत्तेसे और प्रयत्नशीलताका उपदेश चींटियोंसे लिया जाता है। इसके अन्य दुर्गुणोंकी ओर महात्मा लोग देखते नहीं हैं, केवल उनके गुणोंको अपनाते हैं। इसी तरह मद्यपी और जुआरी भी गृहस्थियोंको पूर्वोक्त उपदेश देते हैं। ये उपदेश इनसे गृहस्थी प्राप्त करें और अपने गृहस्थधर्मका पालन उत्तम रीतसे करके कृतकृत्य बनें।

पाठक पूछेंगे कि ये उपदेश यहां क्यों दिये हैं? क्या उत्तम उदाहरण जगत् में नहीं मिलेंगे? उत्तर में निवेदन है कि मनुष्य की तन्मयता जो व्यसनोंमें होती है वैसी सदाचारमें नहीं होती। प्रायः यही नियम सर्वत्र है। संसारमें रहते हुए मनुष्य परमार्थसाधन कैसा करे? इसके उत्तरमें व्यभिचारिणी स्त्रीके समान करे ऐसा उत्तर शास्त्रकार देते हैं। जैसी व्यभिचारिणी स्त्री अपने विवाहित पतिके सब कार्य करती हुई अपने मनमें परपुरुषका ध्यान सदा करती है और समय मिलते ही उसके पास उपस्थित होती है, उसी प्रकार संसारी जीव संसारके कार्य करते हुए अपना सब ध्यान परमात्मामें रखें और जो समय मिल जावे उस समय परपुरुष परमात्माकी उपासना करें, यही पर पुरुष किंवा परम पुरुष और उपास्य सबके लिये है। यह उपमा यद्यपि हीन है तथापि पूर्ण है। ऐसी ही द्यूति और मद्यपी की उपमा भी पूर्ण है। मनुष्योंको चाहिये कि वे उनकी कार्यतत्परता अपनेमें लावें और उससे सुयोग्य कार्य करके कृतकृत्य बनें।

मंत्र १५ और १६ में गौओंके स्तनोंमें तेजस्विता दुग्धरूप से रखी है, इस तेजस्वितासे सब गृहस्थी युक्त हों, ऐसा कहा है। "[गोषु वर्चः। महानग्न्या जघनं]" इन शब्दोंद्वारा गौका दुग्धस्थान दर्शाया है। सचमुच गौका दूध अत्यंत तेजस्वी है। भैंस का दूध सुस्ती लानेवाला है, गौका दूध सुस्ती हटानेवाला है। अतः सब गृहस्थी और उनके घरके बालबच्चे गौका ही दूध पीकर तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी, आयुष्मान और पुरुषार्थी बनें।

मंत्र १७ में कहा है कि जलोंमें एक प्रकारका तेज है जिससे तेजस्विता, माधुर्य, वीर्य और सामर्थ्य बढता है। गृहस्थियों को इस जलसे ये गुण प्राप्त हों। वेदमें अनेक जलको जीवनका मूल मान पावन बताया है, रोगनाशक कहा है, आरोग्यवर्धक माना है, यही सब आशय इस मंत्रमें सारांशरूपसे कहा है। गृहस्थी इस मंत्रका उत्तम मनन करें।

मंत्र १८ तो सब लोगोंको मनन करनेयोग्य मंत्र है। इसको सभी कण्ठमें रखें।

[१] तनूदूषिं पाप्मानं अपोहामि ॥
[२] मधुः शोचनः तं दधामि ॥ [मं० १८]

"[१] जो शरीरको क्षीण करनेवाला, शरीरमें विष उत्पन्न करनेवाला और शरीरमें आकर स्थिर रहनेवाला रोग-बीज या दोष होगा, उसको मैं हटाता हूं, और (२) जो शरीरका तेज बढानेवाला और अपना सर्वथा कल्याण करनेवाला है, उसको मैं अपने पास करता हूं।" यह नियम तो सब मनुष्योंको सदा सर्वदा ध्यानमें धारण करना चाहिये और इसी प्रकार आचरण करना चाहिये। हरएक स्थानमें दोषोंको दूर करना और गुणोंको अपनेमें बढाना योग्य है। उन्नतिका यही एकमात्र उपाय है। वधूवर तो अपने घरमें यही नियम पालन करें।

मंत्र १९ में कहा है कि (श्वशुराः देवराः च प्रतीक्षन्ते) पतिके घरमें श्वशुर और देवर वधूके आनेकी मार्गप्रतीक्षा करते हैं। वधूका स्वागत करनेके लिये सब लोग उत्सुक हो गये हैं। यह मंगल वधू अपने पतिके घर प्रविष्ट हो, वहां पहुंचते ही अग्निकी प्रदक्षिणा करे, अग्निको नमन करे और पश्चात् श्वशुर आदिका दर्शन करे। वहां ब्राह्मण मंत्रपूत जलसे इस वधूका अभिषेक करे। यह जल वधूके अंदर जो भीरुता (अवीरघ्नीः आपः) होगी, उसको दूर करेगा। यह अत्यंत महत्त्वकी बात है। आर्योंमें भीरुता रहनी नहीं चाहिये। आर्य तो सदा निडर और धैर्यके मेरु होने चाहियें। इसलिये वधू गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर पतिके घर जो प्रथम स्नान करती है, वह स्नान ब्राह्मणों द्वारा वेदमंत्रसे पवित्र और निर्दोष हुए जलसे करे। जिस मंत्र-पवित्र जलके स्नानसे इस वधूके भीरुता आदि सब दोष दूर हों और वह पवित्र मंगल और धैर्यवाली बने। ऐसी सुयोग्य गृहस्वामिनी बने कि जो अपनी संतानोंको सुयोग्य उपदेश द्वारा उत्तम आर्य बनावे।

पतिके घरके सुवर्ण रत्न आदि आभूषण इस नववधूको कल्याणकारी हों, गिरानेवाले न हों। नहीं तो धन मनुष्यको गिराता है। धनसे उत्पन्न हुआ घमंड मनुष्यकी अधोगति करता है। इसलिये सावधानताकी सूचना देनेके लिये यहां कहा है कि

सुवर्ण आदि धन वधूको निराश न करे। दूसरे घरकी स्त्रियोंके उत्तमोत्तम आभूषण देखकर अपने लिये वैसे आभूषण चाहिये ऐसा हठ स्त्रियां करती हैं और पतिको बडे क्लेश देती हैं, ऐसा कोई स्त्री न करे और प्राप्त सुवर्णमें ही वह संतुष्ट रहे। सुवर्ण, आभूषण, गाडी, घोडे आदि सुखसाधन, सबके सब भोगसाधनोंमें आते हैं। भोगेच्छाके कारण घरमें विविध झगडे होते हैं, अतः कहा है कि इन भोगसाधनोंमें कोई झगडे न हों, परंतु (शं भवतु) पतिके घरमें शान्ति रहे. झगडे होकर अशांति न बने। और पत्नी (पत्या तन्वं शं स्पृशस्व) अपने पतिके साथ सुखसे आनन्दप्रसन्न रहे। पतिपत्नी ऐसे एकविचारसे रहें कि वहां किसी भी कारण विवाद न हो, घरमें अशांति न बढे और दोनोंको कौटुंबिक सुख यथायोग्य प्राप्त हो।

स्त्रीकी इच्छा।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ॥ (मं० ४२)

पतिके घर आयी हुई नववधू अर्थात गृहिणी किस बातकी आशा करती है, अर्थात् क्या चाहती है, यह प्रश्न कोई पूछे तो उसके उत्तरमें निवेदन है कि वह स्त्री [सौ-मनसं] अपने घरके सब लोग आनन्दप्रसन्न रहें, झगडाफिसाद न हो, परस्परका व्यवहार प्रेमपूर्वक हो, घरमें उत्तम शान्ति, आनंद और प्रसन्नताका राज्य रहे, यही इच्छा कुलस्त्री की हो। दूसरी इच्छा यह होनी चाहिये कि, (प्रजां) उत्तम संतान उत्पन्न होवे, अपनी संतान सुयोग्य बने, अपनी सुसंततिसे कुलका वृक्ष हराभरा रहे। तीसरी इच्छा यह होवे कि [सौभाग्यं] उत्तम भाग्य प्राप्त हो, अपने पतिके घरमें उत्तम भाग्य वृद्धिंगत होता रहे। सौभाग्यमें उस भाग्यका विशेष कर समावेश होता है कि जो पतिसे पत्नीको और पत्नीके कारण पतिको सुख होता है और जिस सुखके लिये विवाह होते रहते हैं। यह सौभाग्य अपने घरमें बढे यही इच्छा धर्मपत्नी की हो। इसके पश्चात् चतुर्थ इच्छा यह है कि [रयिं] धन प्राप्त हो, अपने पतिके घर किसी प्रकार दरिद्रता न रहे। ऐश्वर्य धन सुवर्ण आभूषण आदि सब विपुल रहे और इस अर्थसे सबको सुख प्राप्त होता रहे। धर्मपत्नी की पतिके घरमें यही चार प्रकारकी इच्छा हो। यहां पाठक ध्यानमें रखें कि सबसे प्रथम उत्तम मनकी इच्छा की है, उसके अंतर पतिपत्नीके उत्तम सुखकी इच्छा है, और अन्तमें धनकी इच्छा है। क्योंकि धन सुखका साधन तो है, परन्तु वह धन सु-मन न होनेपर, घरमें सुसंतान न होनेकी अवस्थामें, पति-पत्नीसंबंधकी विपरीततामें कोई सुख नहीं देता, परंतु इन अवस्थाओंमें, दुःखदायी होता है। इसलिये कौनसी आशा प्रथम करनी चाहिये और कौनसी अन्तमें करनी चाहिये, इसका विचार गृहस्थी लोग इस मंत्रके समझते जानें।

स्त्री कैसी हो!

(पत्युः अनुव्रता) पतिके अनुकूल रहकर नियमपालन करनेवाली स्त्री हो। स्त्री कभी पतिके प्रतिकूल आचरण न करे। इस नियमके अंदर यद्यपि स्त्रीके लिये पतिके अनुकूल होनेकी आज्ञा कही है तथापि इसीसे पति भी स्त्रीके अनुकूल रहे यह भी भाव निकलता है। पति जैसा चाहे वैसा आचरण करे और केवल पत्नी ही पतिके आधीन रहे, यह भाव इस मंत्रका नहीं है। धर्मोपदेश समान हुआ करता है और वह एकके निर्देशसे दूसरेका लेना योग्य है। तात्पर्य यह है कि जैसी धर्मपत्नी पतिके अनुकूल रहे उसी प्रकार पति भी पत्नीके अनुकूल रहे। दोनों परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरेका सुख बढावें और गृहको स्वर्गधाम बनावें। (अमृताय कं संनह्यस्व) अमृत की प्राप्ति होनेके लिये सुखपूर्वक सिद्ध हो। धर्मपत्नी और पति ये दोनों अपना साध्य अमृतत्व है अर्थात् मोक्ष है, ऐसा नित्य प्रति ध्यानमें रखें। उस अमृतमय मोक्षधामको पहुंचनेका जो मार्ग है वह मार्ग सुखसे चलनेके लिये इस गृहस्थाश्रमका योग है यह कोई गृहस्थी न भूले। इस बातके लिये सब गृहस्थी सिद्ध हों। सब व्यवहार वे इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये करें। अर्थात् धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए मोक्षकी सिद्धि प्राप्त करें। प्रत्येक गृहस्थीका यह कर्तव्य है। प्रत्येक गृहस्थी प्रत्येक व्यवहार करनेके समय स्मरण रखे कि मेरा यह कर्म मोक्षका साधक हो, और कभी बाधक न हो। प्रत्येक कर्म योग्य रीतिसे करनेपर मोक्षके लिये साधक हो सकता है। यदि प्रत्येक कर्म फलत्यागपूर्वक किया जाय, लोभका त्याग किया जाय, तो सभी कर्म उसी मोक्षधामको प्राप्त होनेके लिये सहायक हो सकते हैं। फलभोग की आकांक्षासे ही मनुष्यकी गिरावट होती है, अतः कहा है कि (मा गृधः। यजु. ४०।१) मत ललचाओ, सब प्रकारका लोभ छोड दो और कर्म करो। इस संबं

का निर्लोभतासे किया हुआ कर्म मोक्षके मार्गमें सुख देनेवाला होता है। गृहस्थधर्मके सभी कर्म सुख देते हुए मोक्षमार्गके साधक होनेवाले हैं।

गृहस्थीका साम्राज्य ।

गृहस्थीका घर एक बड़ा भारी साम्राज्य है। साधारण राज्य नहीं है, बड़ा साम्राज्य है। यजमान गृहस्थी स्वयं सम्राट् है। पत्नी उसकी सम्राज्ञी है। यह गृहस्थीकी सहधर्मचारिणी उसकी मंत्रणा देनेवाली है इसमें जो परिवार है वे सब प्रजाजन हैं। इन प्रजाजनोंमें घरके पारिवारिक जन हैं, इतना ही नहीं, परंतु गौ, घोडे, आदि जो घरके उपयोगी पशु पक्षी हैं, वे सब इस साम्राज्य की प्रजा है और इस प्रजाका यथायोग्य पालन करना गृहस्थीका आवश्यक कर्तव्य है। (साम्राज्यं सुवुवे वृषा । मं० ४३) जो बलवान होगा वही इस साम्राज्यका पालन और संवर्धन कर सकता है। अशक्तका कार्य यहां नहीं है। (वृषा) जो बलयुक्त होगा वही इस गृहस्थधर्ममें यशस्वी होगा। बलवानोंका ही साम्राज्य हो सकता है। अशक्तोंका साम्राज्य नष्ट होगा। यह नियम इस स्थानमें पाठक देख सकते हैं।

पति सम्राट् बने और उसकी धर्मपत्नी साम्राज्ञी बने। इसका अर्थ पूर्व अनुसंधानसे यह है कि पति भी बलवान् बने और पत्नी भी बलशालिनी बने और दोनों मिलकर इस गृहस्थाश्रमके साम्राज्यको योग्य रीतिसे चलावें। (मंत्र ४८ में) नववधूसे कहा है कि वह श्वशुर, देवर, ननद तथा सास आदि पारिवारिक जनोंके साथ योग्य बर्ताव साम्राज्ञी बनकर करे, इसका अर्थ यह है कि पतिके घर इस स्त्रीका वही दर्जा रहे कि जो साम्राज्यमें साम्राज्ञी का रहता है। जो लोग वैदिक धर्ममें स्त्रीकी योग्यता कितनी होती है, इसका विचार करते हों, उनको उचित है कि वे इस साम्राज्ञी शब्द का ही विचार करें। वैदिकधर्मानुसार धर्मपत्नी 'साम्राज्ञी' है और पति सम्राट् है। अर्थात् स्त्रीका अधिकार असाधारण श्रेष्ठ है। पूर्व स्थानमें कहा है कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है, या तो वह मातापिताके आधीन रहेगी अथवा पतिके आधीन रहेगी, इस कथन के साथ यह विधान विरोधक नहीं है। क्योंकि कोई सम्राट् या साम्राज्ञी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती। साम्राज्यके नियमोंसे बंधी होती है। वह संसारिक स्त्रीके समान इधर उधर जा नहीं सकती। उसके साथ सदा शरीररक्षक रहते हैं। इस प्रकार साम्राज्ञी परतंत्र होती हुई भी विशेष सम्मानित होती है। यही बात गृहिणी की है। धर्मनियमोंसे बंधी हुई धर्मपत्नी परतंत्र होती हुई भी पूर्ण रीतिसे साम्राज्ञी है। धार्मिक उन्नति करने के लिये स्वतंत्र है, पाठक इस तरह विचार करनेपर जान सकते हैं कि वैदिक धर्मकी परतंत्रता भी अन्य स्थानकी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है। मनुष्यको अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करना है, यही उसका ध्येय है। इस ध्येयकी सिद्धिके लिये जितनी स्वतंत्रता चाहिये उतनी यहां है। इससे जो अधिक स्वातंत्र्य है वह गिरानेका हेतु है।

स्त्रियोंका सूत कातना ।

वैदिक धर्मानुसार सर्वसाधारणतया स्त्रीपुरुषोंका और विशेषकर स्त्रियोंका घरेलू व्यवसाय सूत कातना और उसका कपडा बुनना है। प्रत्येक गृहस्थीके घरकी सब स्त्रियां इस सूत्र निर्माणके कर्मको अवश्य करें। (देवीः अकृन्तन् । मं० ४५) घरकी देवियां सूत कातें, जो सूत्र कातती हैं वेही देवियाँ हैं इसकारण ही सत्य रीतीसे हम देवियां कह सकते हैं। येही देवियां (तन्विरे) ताना तानती हैं, सूत्रको ठीक करके योग्य रीतिसे ताना तानतीं हैं तथा (अभितः अन्तान् ददन्त) चारों भागोंके अन्तिम भागोंको ठीक करतीं हैं, दोनों ओरकी किनारियां और दूसरे ओरकी झालरें कपडा बुननेके पूर्व ठीक करनी चाहिये। इसमें यदि कुछ दोष हुआ तो कपडा खराब होगा। इस तरह सब उत्तम रीतिसे ठीक होनेपर (अवयन, सं०यम्य) उक्त देवियां कपडा बुनें, ठीक तरह बुनें, तारुण्यकी अवस्थामें कपडा विशेष श्रमके साथ बुनें, तथा (जरसे) वृद्धावस्थामें, जब कि विशेष श्रम होना संभवनीय नहीं है, काममें आवे। (आयुष्मती इदं वासः परिधत्स्व) दीर्घ आयु प्राप्त करती हुई यह स्त्री अपने प्रयत्नसे निर्माण किया हुआ वस्त्र परिधान करे। यही वस्त्र स्त्रियोंका और पुरुषोंको भूषणावह है। प्रत्येक परिवार इस तरह वस्त्रस्वावलंबी बने। अपने वस्त्रके लिये दूसरोंपर निर्भर रहना सर्वथा अयोग्य है। यह उपदेश यहां वेद दे रहा है। वेदके उपदेशानुसार प्रत्येक परिवारके लोग यदि वस्त्र निर्माण करनेका व्यवसाय घरेलू व्यवसायके रूपमें करेंगे तो कितना कल्याण होगा, इसका विचार पाठक कर सकते हैं। जो लोग वैदिक धर्मी हैं, उनको उचित है कि वे

अपने घरमें चर्खा रखें, सूत कातें और कपडा बुनें।

मंत्र ४६ में कहा है कि स्त्री पुरुष अपने दीर्घ जीवनके मार्गको (दीर्घां प्रसितिं अनुदीध्युः) ध्यानमें रखकर, अपने (पितृभ्यः चामं) मातापिताके लिये सुख देवें और स्त्री पुरुष परस्परको सुख देते हुए आनन्दसे अपना कर्तव्य करें । गृहस्थाश्रमका मार्ग अति-दीर्घ है, कमसे कम सौ वर्ष इस मार्गका आक्रमण करना पडता है। सौ वर्ष चलनेपर भी यह धर्ममार्ग समाप्त नहीं होता। इतना लंबा मार्ग यह गृहस्थियोंके सामने है। इतने लंबे मार्गपर सुखके साथ प्रवास करना चाहिये। इस कारण अपने मातापिताको सुख देना चाहिये । मातापिताका सत्कार करना यह एक आवश्यक कर्तव्य है । यदि एक गृहस्थी अपने मातापिताका संभाल न करेगा तो उसके बालबच्चे भी उसका संभाल नहीं करेंगे। स्वयं अपने मातापिता का संभाल करनेसे अपनी संतानोंको सुयोग्य शिक्षा मिलती है, जिससे वे भी अपने मातापिताका आदरसत्कार करनेमें प्रवृत्त होते हैं। सब गृहस्थाश्रम सुखमय करना हो तो वृद्धों और बालकोंकी पालना उसमें उत्तम रीतिसे होनी चाहिये । गृहस्थाश्रममें सुखवृद्धि करनेका यह महातत्त्व है।

गृहस्थियोंके ऊपर सुप्रजा निर्माणका बडा भारी भार है। प्रत्येक गृहस्थीको उचित है कि वह (प्रजायै स्योनं ध्रुवं) अपनी संतानके लिये सुख और स्थैर्य प्राप्त करनेका प्रबंध करे। अपनी सब संतानें सुखी हों, और स्थिर हों, सुदृढ हों तथा दीर्घायु बनें । संतानकी दीर्घ आयु किस रीतिसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदका कहना है कि (सविता आयुः दीर्घं कृणोति । मं० ४७) सूर्य ही मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाता है । सूर्यप्रकाशसे मनुष्यकी दीर्घायु हो सकती है। मनुष्य सूर्यकिरणोंमें विचरे, सूर्यातपस्नान करे, सूर्यकी उपासना करे और अपनी आयु दीर्घ बनावे।

पाणिग्रहण ।

पुरुष स्त्रीका पाणिग्रहण करता है। यह पाणिग्रहण होतेही स्त्री पुरुषका पत्नी और पतिका नाता शुरु होता है। इस समय पति अपनी पत्नीसे प्रेमके साथ बातचीत करे और उससे कहे--

(१) ते हस्तं गृह्णामि, (मा व्यथिष्ठाः,

(२) मया प्रजया धनेन सह ॥ (मं० ४८)

" हे पत्नी ! तेरा हाथ मैं पकडता हूं, दुःख मत कर और मेरे साथ तथा संतानों और धनोंके साथ सुखसे निवास कर।' इस तरह प्रेमपूर्वक पति अपनी धर्मपत्नीके साथ भाषण करे। नववधू दूसरेके कुलसे आती है, उसका कोई परिचित यहां नहीं होता है, इसलिये पतिके घरके लोग उस नववधूके साथ प्रेमका बर्ताव करें। पति नववधूसे कहे कि " हे पत्नी ! मैंने तेरा हाथ पकडा है, इससे तू समझ कि तुझे मैंने सब अवस्थाओंमें आधार दिया है । हाथ पकडनेका अर्थ आधार देना है, अतः जबतक मैं हूं तबतक तुझे डरनेका कोई कारण नहीं। तू यहां सब तरह सुरक्षित है । मेरा जो धन है, वह भी तेरा-ही धन है । उससे जैसा मुझे वैसा तुझे भी सुख प्राप्त हो सकता है। हम दोनोंको जो संतान उत्पन्न होंगे उनका यथायोग्य पालन करना हम दोनोंका कार्य है। यदि हम यह कार्य करें तो वे सब हमारी संतानें भी हमारे सुखके हेतु हो सकते हैं। इस तरह हे पत्नी ! मेरे साथ रहकर तू इस संसारमें सुखसे रह और हम दोनों गृहस्थधर्मका पालन करते हुए मोक्षके मार्गका आक्रमण करें ।" इस ढंगसे पति और पतिके घरके लोग नववधूके साथ मधुर, प्रिय और सुखकारक भाषण करें और उसके मनमें पतिके घरके विषयमें प्रेम उत्पन्न करें।

जहां जहां वेदमें पाणिग्रहणका विषय आगया है, वहां वह पति पत्नीका पाणिग्रहण करता है, ऐसे ही शब्दप्रयोग हैं।

(१) ते हस्तं गृह्णामि । [अथर्व. १४।१।४८; ५०]

(२) ते हस्तं गृह्णातु । [अथर्व. १४।१।४९]

(३) ते हस्तं गृभ्णामि । [ऋग्वेद १०।८५।३६]

(४) ते हस्तं अग्रहीत् । [अथर्व. १४।१।५१]

इन स्थानोंमें हाथ पकडनेवाला पुरुष है और जिसका हाथ पकडा जाता है, वह स्त्री है। इससे भी गृहस्थाश्रममें पुरुषकी विशिष्टता है, यह बात स्पष्ट होती है। वेदमें किसी भी स्थानपर स्त्री पुरुषका हाथ नहीं पकडती है, परंतु सर्वत्र पुरुष ही स्त्रीका हाथ पकडता है । पाणिग्रहण करनेका अधिकार पुरुषका है, यह इन मंत्रोंसे निश्चित होता है। इसीलिये मंत्र ४३ में [सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे] कहा है "एक समुद्र अनेक नदियोंका सम्राट होता है, अर्थात् एक पति अनेक स्त्रियोंका पाणिग्रहण करता हुआ गृहस्थाश्रमरूपी बडे साम्राज्यका सम्राट् होता है, इस उपमासे अनेक पत्नियोंका होना सूचित

त किया है । उपमामें यह भाव निःसन्देह है कि जिस प्रकार एक समुद्रको अनेक नदियाँ आ मिलती हैं,उसीप्रकार एकपुरुषको अनेक स्त्रियां प्राप्त होती हैं,यदि पूर्वोक्त उपमामें यह भाव नहीं है तो उस उपमामें बहुवचन का और कौनसा रहस्य है? इस बातका विचार पाठक करें । पति ही स्त्रीका पाणि-ग्रहण करनेवाला है, इस कथनसे भी पतिका ही मुख्य होना सिद्ध है । स्त्रीका दान पतिको किया जाता है, इस विषयके मंत्र भी हमने पूर्वस्थानपर देखे हैं । इन सब बातोंसे निःसन्देह वैदिक धर्म के द्वारा गृहस्थाश्रममें पुरुषका मुख्य स्थान है, यह दर्शाया है ।

आगेके तीनों मंत्रोंमें पाणिग्रहण का ही विषय है और उन मंत्रों में स्त्रीका हाथ पुरुष पकडता है ऐसाही भाव है । तथा आगे विशेष स्पष्ट करके कहा है कि—

त्वं धर्मणा पत्नी असि, अहं तव गृहपतिः ॥ [मं०५१]
इयं मम पोष्या, मह्यं त्वा प्रजापतिः अदात् ॥ मं०५२

"पुरुषकी स्त्री धर्मसे पत्नी है, और पति स्त्रीका गृहपालक है । यह स्त्री पतिके द्वारा पोषण होने योग्य है, क्योंकि इस पतिके अधिकारमें प्रजापतिने इस स्त्रीको सौंप दिया है ।

स्त्रीके पोषणका भार पतिके ऊपर है, यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट है । पति पत्नीका पालन पोषण करें । पालन-पोषणका विचार पत्नी न करे । पोषण की सामग्री घरमें आनेके पश्चात पत्नी उस सामग्रीका योग्य विनियोग करके सबको यथायोग्य अन्न भाग पहुंचावें ।

सुपुत्र निर्माण करने में देवताओंकी सहायता प्राप्त होनी चाहिये । वह सहायता इस स्त्रीको प्राप्त हो, इस प्रकारका आ-शीर्वाद मंत्र ५३और ५४ में है । इन्द्र अग्नि आदि सब देवताएं इस स्त्रीको अपना तेज अर्पण करें और इस स्त्रीके अन्दर उत्तम संतान उत्पन्न करें और ऐसे सुसन्तानोंके साथ यह स्त्री उदार। हँसती रहे ।

केशोंकी सुंदरता ।

सिरपर [शीर्षे केशान् अकल्पयत्] परमेश्वरने बडे बडे केश निर्माण किये हैं । विशेषतः स्त्रीके सिरकी शोभा केशोंकी सुव्यवस्थासे बढती है । (तेन इमां नारीं पत्ये संशोभयामसि) अतः पतिके लिये सुंदरदीखने योग्य स्त्रीके सिरकी सजावट की जाती है और स्त्रीके सिरकी शोभा बढाई जाती है । स्त्रीके सिर पर के बालोंकी सुव्यवस्था रखना और शोभाके लिये यत्न करना योग्य है ।

(मनसा चरन्तीं जायां जिज्ञासे) मनसे चालचलन स्त्रीका कैसा है यह जानना चाहिये । केवल बाह्य चालचलन द्वारा किसीकी परीक्षा करना योग्य नहीं है । मन कैसा है, विचार कैसे हैं, मनसे किस बातका विचार करती है, मनमें किसका मनन करती है, यह देखना चाहिये । जो मनसे शुद्ध है, वही शुद्ध समझना चाहिये । अतः मन शुद्ध रहनेके लिये जो शिक्षा देनी योग्य है वही देनी चाहिये । स्त्री हो या पुरुष, उनके मन शुद्ध रखनेयोग्य पाठविधि बनानी चाहिये । प्रचलित पाठविधि इस दृष्टिसे कैसी है इस बातका विचार पाठक करें और आर्य संतानोंको सुसन्तान बनानेके लिये क्या करना योग्य है, यह किया जावे ।

(योषा यत् अवस्त, तत् रूपं) स्त्री जो वस्त्रपरिधान करती है, उससे उसका रूप शोभायान होता है । अर्थात् स्त्रीको इस प्रकारके वस्त्र परिधान करनेके लिये देने चाहिये कि जिससे उसकी सुंदरता बढे । यहां सूर्यासावित्रीका उदाहरण पाठक देखें । सं[illegible]में कितने विविध रंगके वस्त्र यह सूर्यपुत्री संध्या पहनती है और अपने रूपकी शोभा बढाती है । प्रतिदिन सूर्य-पुत्रीकी यह सजावट कैसी की जाती है यह पाठक देखें और अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रियोंको उत्तम वस्त्र पहनावें यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री प्रतिदिन नये नये वस्त्र पहने, परंतु जो वस्त्र पहने हैं वे ऐसे सुव्यवस्थित हों कि उनसे उस स्त्री-की शोभा बढे । घरकी देवी स्त्री है और घरघरमें इस गृहस्वा-मिनीकी मंगल वस्त्र भूषणोंसे पूजा होती रहे और यह पूजा घरके स्वामीकी आर्थिक अनुकूलताके अनुसार होती रहे ।

(यज्ञैः सखिभिः तां अन्वर्तिष्ये) जिसमें भी गौवों अ-र्थात सब इंद्रियोंका समर्पण किया जाता है, उन यज्ञोंके साथ और जो हमारे मित्र जन उन यज्ञोंमें भाग लेते हैं उनके साथ यज्ञमय जीवन बनाकर उस स्त्रीके साथ मैं सब व्यवहार करता हूं । अर्थात् मैं स्वयं और अपनी धर्मपत्नी मिलकर हमारा सब जीवन हम यज्ञरूप बनाते हैं । जो जो कर्म हम करते हैं वह यज्ञरूप करते हैं । इससे हम दोनों यज्ञरूप बनेंगे और अन्तमें हमारे यज्ञसे यज्ञस्वरूप परमेश्वर प्रसन्न होगा और हम कृतकृत्य बनेंगे ।

[विद्वान् पाशान् विचर्तत] जो पुरुष विद्वान् होकर अपने

पाशोंको काटें और बंधनसे मुक्त हों। सब प्रयत्न बंधनसे मुक्त होनेके लिये होने चाहिये। मनुष्य अनेक प्रकारके पाशबंधनोंमें फंसता है, और स्वयं अपने लिये बंधन निर्माण करता है और उन बंधनोंसे बंधा जाता है। वे सब बंधन काटने चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यह मुक्त होनेका ज्ञान जिसको होता है उसी को ज्ञानी अथवा विद्वान् कहते हैं। मनुष्य-स्त्री या पुरुष-इस मुक्तिकी विद्याको प्राप्त करें और उसकी सहायतासे मुक्त हो जांय।

प्रत्येक मनुष्य कहे कि (अहं विष्यामि) मैं ये सब बंधन तोडता हूं, मैं बंधनसे मुक्त होनेका यत्न करता हूं। क्योंकि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता बंधमुक्त होने में है मनुष्यका जन्म ही इस कार्य के लिये है। ये सब बंधन मनके कारण होते हैं अतः कहा है कि (मनसः कुलायं पश्यन् वदन) मनका यह घोसला है यह बात मनुष्य देखे और मनद्वारा उत्पन्न हुए ये सब बंधन हैं, ऐसा जाने यदि मनुष्यको इस बातका ज्ञान होगा कि (मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः) मनही मनुष्योंके बंधनके लिये अथवा मोक्षके लिये कारण है, तो उस मनुष्यका बेडा पार होगा। साधारण मनुष्योंको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बंधन बाह्य कारणोंसे हुए हैं, परंतु वस्तुतः यह असत्य है। बाह्य कारण मनुष्यको बंधनमें फंसानेके लिये असमर्थ हैं। मनुष्यका मनही अपने बंधन तैयार करता है और उसमें स्वयं फसता है और मनुष्यको फंसाता है। इसलिये बंधसे मुक्त होनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह अपने मनको ज्ञानसे शुद्ध करे और उस शुद्ध मनसे वह अपने सब पाश काट देवे। निश्चय यह है कि [मनसा तत् अमुच्ये] अपने मनसे ही मनुष्य उन्नत होता हुआ मुक्त होता है। मनुष्य अपने मनसे बंधनोंमें बांधा जाता है और अपने मनसे ही बंधनोंसे मुक्त होता है। पाठक यहां देखें कि कितनी शक्ति मनुष्यके मनमें रखी है। इतनी शक्ति प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हुई भी मनुष्य अपने आपको असमर्थ मानता है और सहायताकी याचना करता रहता है। परंतु यदि वह स्वयं अपनी शक्तिसे बंधनमें पडा है तो वह अपनीही शक्तिसे बंधनोंको तोडकर मुक्त हो सकता है। अर्थात् मुक्त होनेकी शक्ति इसीके अन्दर है। अतः कहा है कि [स्वयं अध्नामि] स्वयं मैं अपने पाशोंको शिथिल करता हूं। तुम्हारे पाशोंको दूसरा कोई शिथिलकर नहीं सकता। यदि तुम अपने बंधनोंको तोडना चाहते हो तो तुमही तोड सकते हो, यदि बंधनोंमें ही पडना चाहते हो तो वैसाभी हो सकता है। जो तुम्हारे मनमें होगा वही वहां हो सकता है। तुमही अपने उद्धारक और तुमही अपने घातक हो। दूसरा तुम्हें कष्ट देता है यही बडा भारी भ्रम है यह बात जैसी वैयक्तिक मुक्तिमें सत्य है वैसी ही सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्तिमें भी सत्य है। अतः सब स्त्री पुरुषोंको उचित है कि वे अपने बंधन शिथिल करनेका स्वयं यत्न करें और प्रयत्न करके स्वयं मुक्त हों। यदि प्रयत्न किया जाय तो यह सिद्ध हो सकता है।

चोरीका अन्न न खाओ।

इस योग्यता को प्राप्त करनेकी इच्छा है तो यह नियम करना चाहिये कि (न स्तेयं अद्मि,) मैं चोरीका अन्न नहीं खाता हूं। सब पाठकोंको विचार करना चाहिये कि हम जो अन्न खाते हैं वह अन्न चोरीका है या नहीं। यहां पाठक विचार करेंगे तो उनको पता चलेगा कि प्रायः लोग जो अन्न खाते हैं। वह स्वकष्टार्जित नहीं होता है। वह चोरीका होता है जिसपर दूसरे का अधिकार होता है। यदि हम उसको भक्षण करेंगे तो वह चोरी है। यह चोरी घरमें भी होगी और समाजमें भी होगी। यदि कोई पदार्थ घरमें आता है और वह सब मनुष्योंको न बांटते हुए अकेला ही उसको खाता है तो वह चोरीका अन्न खाता है। अपने ग्राममें जो अन्न उत्पन्न होता है वह ग्रामके सब लोगोंके लिये होता है। यदि ग्रामके कई लोगोंने अपने पास अन्नसंग्रह अधिक किया और इस कारण ग्रामके कई लोग भूखे मरने लगे, तो निःसन्देह अधिक संग्रह करने वाले चोरीका अन्न खाते हैं इस तरह विचार करनेपर स्तेयकी व्याप्ति कितनी है इसका विचार पाठकोंको हो सकता है। यह सब विचार करके कुटुंबियोंको निश्चय करना चाहिये कि हम चोरीका अन्न खाते हैं या यज्ञका अन्न खाते हैं। मनुष्यको उचित है कि वह यज्ञशेष अन्न खावें और पवित्र बनें। जो मनुष्य यज्ञ न करके स्वयं अपने लियेही पकाता है वह चोर है। मनुष्य मात्र को जो शिक्षा मिलनी चाहिये, वह यह है।

येन त्वा बध्नात्, पाशात् त्वा प्रमुञ्चामि॥ (मं० ५८)

" जिस बंधनसे तुझे बांध रखा था, उस बंधनसे तुझे मैं मुक्त करता हूं।" यह वचन पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है, और उसको विश्वास देता है कि मेरी सहायतासे तू अब (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को प्राप्त हुई है तेरे लिये विस्तृत कर्मभूमि यहां प्राप्त हुई है और (अत्र तुभ्यं सुगं पंथां कृणोमि)

वहां तेरे लिये सुगममार्ग मैं बना देता हूं। इस मार्गसे तू जायगी तो तेरा कल्याण होगा। यह गृहस्थाश्रम एक बडाभारी अतिविस्तृत कार्यक्षेत्र है, पुरुषार्थी मनुष्य यहां पुरुषार्थ करके अपना भाग बढा सकता है। यहां पुरुषार्थ करके अपना भाग बढा सकता है। यहां अनेक मार्ग हैं परंतु यहां सरल मार्ग ही मनुष्यको आक्रमण करना योग्य है। अस्तु। पतिको उचित है कि वह अपनी स्त्रीको सुशिक्षा देवे, उसको सीधे मार्गसे चलावे और उसके बंधन तोडनेके लिये जो जो पुरुषार्थ करने आवश्यक हैं वे सब स्त्रीसे करावे। पाठक यहां विचार करें कि पुरुषपर यह कितनी भारी जिम्मेवारी रखी है। पुरुषको अपनी मुक्ति सिद्ध करनी चाहिये और अपनी स्त्रीको भी मुक्तिके पथपर रखना चाहिये। स्त्रीके योग्य अथवा अयोग्य आचरण का उत्तरदातृत्व पुरुषपर है। स्त्रीशिक्षाका सब भार पुरुषपर है यदि स्त्री विद्याहीन है तो उसका दोष पुरुषपर है। पाठक विचार करें और अपना इस विषयका कर्तव्य जान करके उसको पूर्ण करें। यही अगले ५९ मंत्रमें कहा है—

(इमां नारीं सुकृते दधात। मं. ५९) इस स्त्रीको पुण्यमार्गमें रखो, इससे पुण्यकर्म होंगे ऐसी व्यवस्था करो। यदि स्त्री बुरा व्यवहार करती है, तो पुरुषने उसको सुशिक्षा नहीं दी है यह बात सिद्ध होगी। पुरुषका यह कर्तव्य है कि वह स्त्रीको अपने कर्तव्यका आवश्यक ज्ञान करा देवे। और स्त्रीको धर्मशील बना देवे। (धाता अस्यै पतिं विवेद) परमेश्वरने इस स्त्रीके लिये पति प्राप्त करा दिया है इसके पश्चात् इस स्त्रीकी शिक्षाका उत्तरदातृत्व पतिपर है। वह पति (रक्षः अप हनाथ) राक्षसी भावोंका नाश करे। इस स्त्रीमें जो आसुरी वृत्तियां हैं उनका नाश करना पतिका कर्तव्य है। पति स्त्रीको ऐसी सुशिक्षा देवे कि जिससे स्त्रीके अन्दर की सब आसुरी वृत्तियां दूर हों और उसमें दैवी वृत्तियां स्थिर होजांय और वह सचमुच "देवी" बने। इस स्त्रीको (उत् नयत) उच्च बनाने के लिये अपने आपको सज्ज रखो, तैयार रखो, अपने शस्त्रास्त्र ऊपर उठाओ, उसका उत्तम रक्षण करो, उसको उत्तम धर्मनियम में रखो। जिन प्रयत्नोंसे स्त्रीकी सच्ची उन्नति हो सकती है वे सब प्रयत्न करो। स्त्रीकी उन्नतिका भार छोटेपनमें पितृकुलपर और विवाह होनेके पश्चात् पतिकुलपर है। इसकी उन्नति करनेके लिये ही (धाता पतिं विवेद) ईश्वरने इसको पति प्रदान किया है, अतः पतिका कर्तव्य है कि वह अपनी धर्मपत्नीकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये यत्न करे।

(सा सुमंगली अस्तु। मं० ६०) वह स्त्री उत्तम मंगल करनेवाली बने, मंगल की मूर्ति बने, उस स्त्रीके कारण घरका और कुलका मंगल हो, इस स्त्री की मंगलमूर्ति देखकर सब लोग आनंदित हों। इसकी उन्नतिके लिये सब देवताएं (भग, धाता, त्वष्टा आदि) सहायता दें।

बरातका रथ।

बरातके रथका वर्णन पुनः मंत्र ६१ में है। वह रथ उत्तम (सु किंशुकं) फूलोंसे सुशोभित किया जावे, तथा उत्तम सुंदर लाल पुष्पोंसे सजाया जावे। (विश्व-रूपं)

अनेक प्रकार की सजावट उसपर की जावे, (हिरण्य-वर्णं) सुवर्णके रंगका वह रथ हो, उत्तम चमकदमक उसपर हो, (सुवृतं सुचक्रं) उत्तम झालरें लगी हों और उसके चक्र उत्तम हों। इस तरह का सजासजाया रथ (वहतु) बरातके कममें लाया जावे। यह बरात पतिके घर पहुंचे और वहांके स्थानको (अमृतस्य लोकं कृणु) अमर लोक, सुखपूर्ण स्थान बनावे। धर्मपत्नी अपने पतिके घर पहुंचकर वहांका सुख बढावे। पतिके घर धर्मपत्नी (अ-भ्रातृ-घ्नी) भाईयोंका पालन करनेवाली, भाईयोंका नाश न करनेवाली, (अ-पशु-घ्नी) पशुओंका पालन करनेवाली, गाय घोडे आदि पशुओंका योग्य प्रतिपाल करनेवाली, (अ-पति-घ्नी,) पतिका पालनपोषण करनेवाली, पतिको कष्ट न देनेवाली, पतिका सुख बढानेवाली पतिका घातपात न करनेवाली, (पुत्रिणी) पुत्रोंसे युक्त, संतानोंसे युक्त, ऐसी स्त्री पतिके घर इस बरातसे प्राप्त हो। यह स्त्री (देवकृते पथि) देवोंके बनाये सन्मार्गसे जाना चाहती है, अतः इसका विवाह हुआ है, इस कारण इस (कुमार्यं मा हिंसिष्ट) इस समयतक कुमारी रही हुई यह नववधू है, इसको यहां पतिघरमें किसी प्रकारका कष्ट न हो। (वधूपथं स्योनं कृण्मः) इस वधूका मार्ग हम सुखदायक करते हैं। इसका चलनेका जो देवमार्ग है वह इस वधूके लिये सुखदायी हो, ऐसा प्रबंध हम करते हैं। (शालायाः द्वारं स्योनं कृण्मः) इस स्त्रीके लिये गृहप्रवेशके समय पतिके घरका द्वार हम सुखमय बनाते हैं। इस स्त्रीको पतिगृहमें उत्तम सुख प्राप्त हो और वह अपनी उन्नति यथायोग्य रीतिसे प्राप्त करे, निर्विघ्नतासे वह देवी उत्कर्षको प्राप्त हो।

इस स्त्रीको (अपरं पूर्वं मध्यतः ब्रह्म सुरुवती। मं० ६४) आगे, पीछे, बीचमें और सब ओरसे ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञानसे

उनकी उन्नति होती है। यहां ' ब्रह्म ' शब्दके अर्थ- "ईश्वर, मंत्र, वेदज्ञान, यज्ञ, शक्ति, तप, धर्म पवित्रता, ब्रह्मचर्य, धन, शब्द" ऐसे होते हैं। स्त्री पतिघरमें जहांजावे वहां ये पदार्थ उपस्थित हों, इनसे विमुखता कभी न होने पावे। वह धर्मपत्नी (अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य) व्याधिरहित दिव्य नगरीको अर्थात् पतिके स्थानको प्राप्त होकर, पतिगृहमें रोगरहित रहकर, नीरोगताके साथ अपना सब व्यवहार करके (शिवा स्योना पतिलोके विराज) शुभमंगलमयी गृहदेवता होकर पतिके स्थानमें विराजती रहे। वह स्त्री पतिके घरकी शोभा बढावे, सुखकी वृद्धि करे और सबके मंगलका हेतु बने॥

यहांतक प्रथम सूक्तके मंत्रोंका विचार किया। अब हम द्वितीय सूक्तका विचार करते है—

द्वितीय सूक्तका विचार।

द्वितीय सूक्तमें भी विवाहकाही विचार है। पहिले चार मंत्रोंमें कुमारिकाके चार पति होनेका उल्लेख है। इस विषयमें इस तरह स्पष्ट कहा है-

सोमस्य जाया प्रथमं गंधर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ मं० ३॥

" कुमारिकाका पहिला पति सोम, दूसरा पति गंधर्व, तीसरा अग्नि, और चौथा मनुष्य-योनिमें उत्पन्न (अर्थात् मनुष्य) है " यहां चार पति कौमार्यमें होनेका उल्लेख है। ऋग्वेदमें यह मंत्र इस प्रकार है-

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ४० ॥
(ऋग्वेद १० । ८५)

इस मंत्रका अर्थ वैसाही है जैसा ऊपर दिया है। इस कन्याको सोमने पहिले प्राप्त की, तीसरा पति अग्नि है और चतुर्थ मानव है। इस मंत्रमें चतुर्थ पतिको ' मनुष्यज ' कहा है इस बातसेही पूर्वके पति मनुष्य योनिके नहीं है इस की सिद्धि होती है। अतः यद्यपि इस मंत्रमें चार पतियोंका उल्लेख है, तथापि यह मंत्र नियोग अथवा बहुपतित्वकी सिद्धता करता है ऐसा मानना असंभव है। क्योंकि इसकी सिद्धता होनेके लिये तीनों पतिभी ' मनुष्य-ज ' होने चाहिये। यहां स्पष्ट मंत्रमें कहा है कि पहिले तीन पति मनुष्यज नहीं हैं, केवल चतुर्थ पतिही मनुष्यज है। इस कारण इससे नियोग अथवा पुनर्विवाह सिद्ध होना असंभव है।

चतुर्थ मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि सोमने इस कन्याको गंधर्वके पास दी, गंधर्वने अग्निके सुपुर्द की और अग्निने मानवी पतिके हाथमें दे दी। इसलिये पहिले तीनों पति दैवी शक्तिके देव हैं यह सिद्ध है। मातापिताके घर रहती हुई कन्या बाल्य अवस्थामें इन देवतोंके आधीन रहती है किंवा इनका प्रभाव उसपर रहता है। जब विवाह होम होता है, तब वह हवनाग्नि इस कन्याको मानवी पतिके हाथमें देता है।

कई उन्मत्त लेखक इस मंत्रपर ऐसी विचित्र कल्पना कर बैठे हैं और लेख भी लिख चुके हैं कि पूर्वकालमें कन्याका विवाह होनेके पूर्व उसको सोम, गंधर्व और अग्नि संज्ञक जातियोंके पुरुषोंके पास रखा जाता था और तत्पश्चात् वह कन्या उनकी अनुमतिसे मानव को प्राप्त होती थी !! सचमुच यह कल्पना विचित्र और हास्यास्पद है। इसमें तो व्यभिचार ही धर्म हुआ है ! परंतु हमने जहां तक देखा है वहां तक हमें सोम और अग्नि नामकी कोई जाती थी, इस विषयमें प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। गंधर्व थी। परंतु यहां एकसे काम न चलेगा। अतः हमें यह कल्पना तिरस्कारार्ह प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त संपूर्ण वैदिक वाङ्मयमें स्त्रीको इतना स्वातंत्र्य दिया नहीं है जिससे वह पतिके आधीन रहेगी। इस प्रकार अन्य पुरुषोंके पास जाकर रहनेके लिये उसको समयही नहीं है। वेदमें किसी भी अन्य स्थानमें इस तरह विवाहके पूर्व तीन पति होनेका निर्देश भी नहीं है, अतः यह भयानक कल्पना असत्य है। जो इसको करते हैं उनके मस्तिष्कमें कुछ विकार हुआ है ऐसाही हमें प्रतीत होता है। क्यों कि मंत्रोंमें स्पष्ट है कि मनुष्य पतिके पूर्व ये तीन पति अमानुष हैं अर्थात देवत हैं। देवताओंका स्वामित्व किसी भी प्रकार दोषमय नहीं हो सकता। जैसा कोई भक्त अपने उपास्य देवको अन्न समर्पण करके पश्चात वह अन्न स्वयं भक्षण करता है, उसमें उच्छिष्ट भक्षणका दोष नहीं होता, क्योंकि वह अन्न समर्पण एक भावनाकी बात है। इसी तरह मातापिता कन्याके बालकपनमें समझें कि अपनी कन्या इस समय सोमदेवताके प्रभावमें है, पश्चात् वह गंधर्व देवताके प्रभावमें है, तदनंतर वह अग्निदेवताके प्रभावमें है। तत्पश्चात् वह मानवी पतिके आधीन होगी। कुमारीका जीवन इस प्रकार देवतामय होना चाहिये। केवल

ओंके समीप होनेका अर्थ पवित्राचरण अवश्यमेव होनेका है। यदि कोई मनुष्य राजाके समीप किंचित् काल रहेगा, तो वह उस समय अधिक पवित्र रहेगा, इसी तरह जब यह कन्या इन देवोंके पास रहेगी तो उसकी पवित्रता अधिक होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। देवताएं सर्वज्ञ होतीं हैं। अतः हमारा पाप उनसे छिप जाना असंभव है, इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि ये तीन देवी पति केवल मनोभावनाके बढानेके अर्थ हैं। चतुर्थ मानवी पति ही सच्चा पति है। अर्थात् इस मंत्रपर जो अनेक पतिकी कल्पना की जाती है, वह निराधार है।

विवाहका समय।

अगले दो मंत्रोंमे विवाहके समय वधू और वर की आयु कितनी होनी चाहिये, अर्थात् कितनी आयुमें विवाह हो, इसका निर्णय हो सकता है। (सुमतिः आगन्। मं० ५) उत्तम मति आगई है। इससे विवाहके संस्कार बुद्धिपर होनेकी बात सिद्ध होती है। उत्तम विद्या प्राप्त होनेपर विवाहका विचार करना चाहिये। बुद्धि सुसंस्कृत होनेपर विवाह हो। (हृत्सु कामाः अरंसत। मं० ५) हृदयोंमें कामने अपना स्थान जमाया है। इतनी प्रौढ अवस्था प्राप्त हुई है, तब विवाह करना चाहिये। हृदयमें काम का बीज उत्पन्न होना चाहिये। (वाजिनी वसू) अन्न और धनसे युक्त होना चाहिये। तत्पश्चात् विवाह हो। विद्या प्राप्त होनेके पश्चात् धन प्राप्त कर प्रौढ आयुमें विवाह का विचार करना चाहिये। (मिथुना शुभस्पती गोपा अभूतं) साथ साथ रहनेकी इच्छा करनेवाले, उत्तम पालक संरक्षक जब होंगे, तब विवाहका विचार करें। (अर्य-म्णः = अर्य-मनः) आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मनवाले वधूवर हों; तब विवाहका समय होगा। पाठक इन शब्दोंका अच्छी प्रकार मनन करें और विवाहका समय जानें।

विवाहके समय स्त्री भी (मन्दसाना। मं० ६) आनन्द, प्रसन्न, आनन्दित चित्तवाली, (शिवेन मनसा) शुभ मनवाली, कल्याणपूर्ण विचारसे युक्त हो। (सर्ववीरं वचस्य रयिं) सब प्रकारके वीरता के भाव जिसमें हैं, उत्तम वक्तृत्व जिसमें है, इस तरहकी शोभा धारण करे और (दुर्मतिं हतं) दुष्ट बुद्धिका नाश करें। इस तरह स्त्री की योग्यताके विषयमें निर्देश हमें मिलते हैं।

अर्थात् विवाहके समय स्त्री और पुरुष विद्या, धन, बल, सुविचार आदि गुणोंसे युक्त होने चाहिये। कुटुंबका सब भार सिरपर लेनेकी शक्ति उनमें चाहिये। इस निर्देशका विचार करनेपर पता चलता है कि वधूवर प्रौढ आयुमें ही विवाह करें अर्थात् बालकपनमें विवाह न हो। वैदिक मंत्रोंका अर्थ और मंत्रोक्त प्रतिज्ञाका भाव समझने योग्य बुद्धिवाले वधूवर हों। वैदिक मंत्रोंमें मातापिताका अधिकार कुमार—कुमारिकाओंपर पूर्ण है, तथा कन्यादान भी वेदमें कहा है। इससे कुमार-कुमारियोंका स्वयंवर वेदको अभीष्ट नहीं है यह बात सिद्ध होती है। स्वयंवरका उल्लेख वेदमें किसी स्थानपर स्पष्टतया नहीं है और कन्यादान-पद्धतिमें स्वयंवरको स्थान मिलना असंभव है। जहां स्वयंवर हो वहां कन्याका दान कैसे हो सकता है? कन्यादान की प्रथा वैदिक होनेके कारण मातापिताका अधिकार कुमार कुमारीपर है और इस कारण मातापिताकी अनुमतिसे ही वैदिक विवाह हो सकता है। अतः जो समझते हैं कि वेदमें युरोपियनोंके समान स्वयंवर की रीति है और जो स्वयंवरको वैदिक विवाह कहते हैं और जो " प्रथम दर्शनसे ही प्रेम " होनेकी संभावना वैदिक विवाहमें मानते हैं वे सब वैदिक धर्मके उच्छेदक हैं, अस्तु। इस तरह वैदिक विवाहमें कुमार कुमारिकाओंका प्रौढ और सुमनस्क होना सिद्ध है, तथापि मातापिताकी संमतिभी उतनी ही प्रबल है यह बात विशेषतया ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

आगे मंत्र ७ से ९ तक नवविवाहित वधूवरोंको अभीष्टार्थ सिद्धिपूर्वक आशीर्वाद है। राक्षस, दुष्ट, दुराचारियोंसे वधूकी रक्षा होनेकी प्रार्थना सातवे मंत्रमें है। सब मार्ग वधूके लिये सुरक्षित होनेका आशीर्वाद अष्टम मंत्रमें है। और नवम मंत्रमे वधूवरोंको गंधर्व, अप्सरस्, देवी आदि सुखदायक हों और इन वधूवरोंको कोई हिंसा न करें यह इच्छा है।

यज्ञसे यक्ष्मनाश।

दशम मंत्रमें यज्ञसे यक्ष्मरोगका नाश होनेका संदेश बडी काव्यमयी वाणीसे दिया है। उसका विचार किंचित् विशेष विचारके साथ करना उचित है।

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ [मं० १०]

" जो [यक्ष्मा] यक्ष्म रोग [जनान् अनु यन्ति] मनुष्योंके साथ साथ चलते हैं, वे (वध्वः चन्द्रं वहतुं) वधूके तेजस्वी

बरातके रथके साथ आजावे हों तो (तान्) उन यक्ष्म रोगोंको [यज्ञियाः देवाः नयन्तु] यज्ञके देव दूर ले जावें, अर्थात् वधू या वरके साथ आने न दें।" यज्ञके देव अग्नि वनस्पति आदि हैं, जिनसे यज्ञ होता है और यज्ञमें जिनका नामनिर्देश हुआ करता है। वे सब देव मनुष्योंके साथ आये यक्ष्म रोगोंको दूर करें। इस मंत्रके मननसे यह बात सिद्ध होती है कि जहां मनुष्योंकी भीड होती है वहां रोगी मनुष्योंके साथ यक्ष्मादि रोगके बीज आना संभव है। बरातमें जहां सैकडों आदमी इकट्ठे होते हैं वहां किसको कौनसा रोग है इसका ज्ञान होना भी असंभव है। अतः ऐसे भीडके प्रसंग में स्पर्शजन्य रोगकी बाधा होनेकी संभावना होती है, इसलिये ऐसे प्रसंगमें बृहत् हवन करके ऐसे यक्ष्मोंका शमन करना योग्य है। जहां जहां बरात जैसे बहुत मनुष्योंके समाज जमा होते हैं वहां वहां यही नियम ध्यान में रखना योग्य है।

शत्रु दूर हों।

ग्यारहवें मंत्रमें शत्रुको दूर करनेका उपदेश है। पूर्व मंत्रमें व्याधिरूप शत्रुको दूर करनेका उपाय कहा और इस मंत्रमें मानवी शत्रुओंको दूर करनेकी सूचना दी है। (परिपन्थिनः मा विदन्) दुष्ट मार्गमें आनेवाले दुराचारी इस दंपतीको न प्राप्त हों। दुराचारी अनेक प्रलोभन बनाकर मनुष्यको धोखा देते हैं, ठगते हैं, फंसाते हैं लूटते हैं और अपना मतलब साधते हैं। अतः ऐसे दुष्टोंके संबंधसे नवविवाहित वधूवर दूर रहें इतना ही नहीं परंतु अन्य लोगभी दूर रहें। यह सर्व सामान्य उपदेश है। (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जावे, अनुदार मनुष्य जो इन नवविवाहित स्त्रीपुरुषों को फंसानेके इच्छुक हों वे दूर हों। इनसे ये दंपति सुरक्षित रहें। तथा ये स्त्रीपुरुष (सुगेन दुर्गं अतीतां । मं० ११) सुखपूर्वक सब कठिन प्रसंगोंसे मुक्त हो जांय।

द्वादशवें मंत्रमें प्रार्थना है कि "सबका उत्पादक सविता देव इस सब विश्वके रूपको हम पतिपत्नी के लिये सुखदायक बनावे।" अर्थात् यह सब विश्व इस दंपतीको सुख देवे, इनको दुःख न होवे। यहां पाठक जान रखें कि जगत् के सब पदार्थ सुखदायक भी हो सकते हैं और दुःखदायक भी हो सकते हैं। अपने व्यवहारपर सुख या दुःखकी प्राप्ति अवलंबित है। अतः वधूवर ऐसे धार्मिक नियमोंसे व्यवहार करें कि जिससे उनको सदा सुख होता रहे और दुःख कदापि न हो।

विवाहमें ईश्वर का हाथ।

तेरहवें मंत्रमें (धाता इमं लोकं अस्यै विवेद । मं० १३) विधाताने यह पतिका स्थान इस वधूके लिये निर्दिष्ट किया है, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य आशय यह है कि जब स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है, तब उसके लिये विवाहकी योजना विधाताद्वारा निश्चित होती है। विधाताके संकेतको लेकर जो चलते हैं, उनके लिये यथायोग्य धर्मपत्नी मिलती है। जो स्वयं अपना हठ बीचमें लाते हैं, वे कष्ट भोगते हैं। जो ब्रह्मचर्य आजन्म पालते हैं उनका यह हेतु भी ईश्वरकी कृपासे ही सिद्ध होता है। जो विवाहेच्छुक होता है उसको उचित है कि वे अपना आचरण धर्मानुकूल रखें उत्तम सुनियमोंका पालन करें और समयकी प्रतीक्षा करें। विधाताके नियमानुसार सुयोग्य वधूके साथ अवश्य संबंध होगा। पाठक यहां उपहास न करें। धर्मानुकूल संयमपूर्वक रहनेसे मनुष्यका सब योगक्षेम ईश्वरीय नियमानुसार चलता है। जिसका परम पिता एकमात्र सहायक बना हुआ उसको किसी बातकी न्यूनता नहीं होगी।

[इयं शिवा नारी अस्तं आगन्] यह शुभ आचारवाली स्त्री पतिके घर आगयी है। यह शुभ आचारवाली स्त्री ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषको प्राप्त होती है और उसका गृहस्थाश्रम सुखपूर्वक चलनेमें सहायता होती है। धर्मपत्नी शुभ आचारवाली मिलना एक भाग्यका लक्षण है और वह धर्माचारसे ही सिद्ध होता है।

(देवाः प्रजया वर्धयन्तु । मं० १३) सब देव इस दंपतीको उत्तम संतानके साथ बढावें, सुसंतति देवें, अन्य सब प्रकारका भाग्य देवें और हर एक प्रकारका सुख इस दंपतिको मिले। यह सब ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त होता है। विधाताकी कृपासे ही सब होता है।

गर्भाधान।

विवाहके पश्चात् गर्भाधान प्रकरण आना स्वाभाविक और क्रमप्राप्त है। उस संबंधका निर्देश १४ वें मंत्रमें है। [आत्मन्वती उर्वरा नारी] आत्मिक बलवाली, सुपुत्रवाली [illegible] होनेसे कठिन प्रसंगमें जिसका [illegible] नहीं होता, ऐसी स्त्री होवे। 'उर्वरा' शब्द उपजाऊ [illegible] वाचक है। ऐसी [illegible]

शोभा बनकर पतिके घरमें रहे, (पशुभ्यः शिवा) पशु आदि-योंका भी हित गृहिणी करे, पशुओंको घास दाना पानी मिला है या नहीं, उनका आरोग्य कैसा है, इत्यादि विचार कर इस संबंधमें जो आवश्यक कर्तव्य हो वह करे। (गार्हपत्यं सपर्य) गार्हपत्याग्निमें प्रतिदिन हवन करे ईश्वर उपासना करे।

आगे मं० २६ और २७ में भी यही विषय पुनः आगया है। उसमें इसी तरह गृहपत्नीके कर्तव्य शब्दोंद्वारा इसी तरह कहे हैं, स्त्री (सुमंगली) उत्तम मंगल करनेवाली शुभमंगल कामनावाली, (प्र-तरणी) दुःखसे पार करनेवाली (सुसेवा) उत्तम सेवा करनेवाली, उत्तम सेवनीय, [पत्ये श्वशुराय शंभूः] पतिका और श्वशुरका हित करनेवाली, [श्वश्र्वै स्योना] सासको सुख बढानेवाली, (श्वशुरेभ्यः, गृहेभ्यः, पत्ये, अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) श्वशुर, घरवाले पति और सब पारिवारिक लोगोंके लिये सुख देनेवाला गृहणी हो।

इस उपदेशको ध्यानमें धारण करके जो स्त्री अपने पतिके घर में व्यवहार करेगी वह सबके आदरकेयोग्य निःसन्देह होगी इसमें संदेह है ? गृहिणीका उत्तम आदर्श इस तरह यहां दिया है। स्त्रीका आचरण पतिके घर कैसा होवे,इस विषयमें इसी काण्डके प्रथम सूक्तके ४२ से ४७ तकके मंत्र और उनका स्पष्टीकरण पाठक यहां अवश्य देखें। और प्रौढ उपवर कन्याओंको इन मन्त्रोंका भाव अवश्य समझा देवें।

दरिद्रताको दूर करो।

पतिके घर धर्मपत्नीका प्रवेश होनेके पश्चात् वधू और वरका मिलकर प्रयत्न इसलिये होना चाहिये कि अपने घरका दारिद्य दूर हो जाय,अपने घरमें न रहे। इस विषयका उपदेश देते हुए १९ वें मंत्रने कहा है कि—

हे निर्ऋते ! प्रपत, इह मा रंस्था । अभिभूः स्वात् गृहात्। ...। [मं० १९)

वधू और वर कहें कि " हे दारिद्रते ! हमसे दूर भाग जा यहां हमारे घरमें न रह, मैं तुम्हारा पराभव करूंगा। और अपने घरसे तुम्हें निकाल दूंगा, यह सच सच कहता हूं।" इस प्रकारके निश्चयपूर्ण वाक्य दारिद्र्यसे कहे जांय। इसका तात्पर्य यह है कि पति और पत्नी अपने घरका दारिद्र्य दूर करनेका निश्चय करें और तदनुसार प्रयत्न करे।

बडोंको नमस्कार।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि, जब वधू अग्निकी पूजा करे, और अपनी ईश्वरोपासना समाप्त करे, तब वह (पितृभ्यः नमस्कुरु मं० २०) अपने घरके बडे स्त्री पुरुषोंको नमस्कार करे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे। यहां एक बडाभारी वैदिक आदर्श दर्शाया है। स्त्री प्रातःकाल उठे, शरीरशुद्धिके स्नानादि कर्म करे, ईश्वर उपासना हवन आदिसे निवृत्त होकर अपने घरके बडे लोग अर्थात् पति, पतिके मातापिता उसके बडे भाई तथा अन्यान्य गुरुजन जो भी घरमें होंगे उनको यथायोग्य रीतिसे नमस्कार करे, उनका आशीर्वाद लेवे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे। यह नियम न केवल नववधूके लिये ही उत्तम है, परंतु यह घरके सब कुमार कुमारिकाओंके लिये भी अत्यंत उत्तम है। हमें बहुत आशा है कि प्रत्येक आर्यके घरमें यह प्रणाली शुरू हो और इस तरह गुरुजनोंको नमस्कार करना एक प्रतिदिनका आवश्यक कर्म समझा जाय।

इस तरह गुरुजनोंको सबेरे नमस्कार करना यह एक (शर्म वर्म एतत् । मं० २१) सुखदायक और संरक्षक कवच है। यह रीति अनेक आपत्तियोंसे कुमारों और कुमारिकाओंकी रक्षा करती है। अतः इस पद्धतिका प्रचार आर्य-गृहोंमें होना युक्त है।

[सूचना—मंत्र १५ वें का दूसरा भाग यही मंत्र २१ में पुनः आगया है।]

नववधू ईश्वर उपासना और अग्निमें हवन करनेके समय चर्मपर—प्रायः कृष्णाजिन पर—बैठे और अपना उपासनाका कार्य करे। (देखो मं० २२-२०)

रोहिते चर्मणि उपविश्य सुप्रजा अग्निं सपर्यतु। (मं० २३)

" कृष्णाजिनपर बैठकर उत्तम प्रजा निर्माण करनेवाली स्त्री अग्नि की उपासना करे " अग्निकी उपासना करनेका कारण वेदमंत्रने इस तरह दिया है—

एष देवः सर्वा रक्षांसि हन्ति। (मं० २४)

" यह अग्नि देव सब रोगोंउत्पन्न राक्षसोंका नाश करता है" और कुटुंबियोंको नीरोग करता है। यह अग्नि उपासनाका महत्त्व है। अतः हवन प्रत्येक कुटुंबमें होना चाहिये। इस तरह जो स्त्री करती है उसका (कुटुंबमें पुत्र ... मं० २४)

उत्तम श्रेष्ठ पुत्र होता है। सुप्रजा निर्माण करनेके लिये ईश्वर उपासना की अत्यंत आवश्यकता है, इससे मातापिता और कुटुंबियोंके मन सुसंस्कार संपन्न होते हैं और उसका परिणाम सुप्रजा निर्माण होनेमें होता है। २५ वें मंत्रमें भी इसी कारण पुनः-

प्रतिभूष देवान्। (मं० २५)

" देवोंको सुभूषित करो" ऐसी आज्ञा दी है। ईश्वरोपासना करनेके लियेही यह आज्ञा प्रेरित करती है। देवताओंको आभूषणोंसे सुभूषित करो, यह आज्ञा यहां है। मातृदेव, पितृदेव, अतिथिदेव पतिदेव आदि अनेक देव घरमें होते हैं, उनको सुभूषित करनेके विषयमें यह आज्ञा होना संभवनीय है। घर में जो जो देवताएं होंगी उनकी शोभा बढाना गृहस्थियोंका परम कर्तव्य ही है।

[कई लोग " देवताओंकी मूर्तियोंकी सजावट करो " ऐसा इस मंत्रका अर्थ मानते हैं और इस मतके लोग कहते हैं कि वेदमें इन्द्रादि देवताओंकी मूर्तियां वर्णन की हैं, इस विषयमें उनके प्रमाण ये होते हैं—

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ऋ० ४। २४। १०
महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥
ऋ० ८। १। ५

"(इमं इन्द्रं) इस इन्द्रको (दशभिः धेनुभिः) दस गौवें देकर (क्रीणाति) खरीद लेता है। मैं सैकडों और सहस्रों गौवें मिलनेपर भी (शुल्काय न परा देयां) कितना भी मूल्य मिलनेपर इस इन्द्रको न बेचूंगा ॥" इन मंत्रोंमें ये लोग कहते हैं कि इन्द्रकी मूर्ति खरीदने और बिकनेका उल्लेख है। श्री० बाबू अविनाशचन्द्र दास एम० ए० पीएच्० डी० ने अपनी 'वैदिक कल्चर' नामक पुस्तकमें पृ० १४५-१४८ पर इन मंत्रोंका विचार किया है। अन्तमें उन्होंने इतने मंत्र देकर भी वेदमें निःसन्देह मूर्तिपूजा है ऐसा अपना मत नहीं दिया। इसलिये उनके मतसे भी वेदमें मूर्तिपूजाका होना सिद्ध नहीं हुआ। अतः जिस विषयमें इस पक्षके उत्थापकको ही संदेह है उस विषयका खंडनमंडन हमें यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं। हमने यह मत यहां इसलिये दिया है कि इन मंत्रोंपर पूर्वोक्त बाबू महाशय यह कल्पना करते हैं। जो पाठक वेदमंत्रोंकी दृष्टिसे अध्ययन करते हों वे इन मंत्रोंका अधिक विचार करें। उक्त बाबू महाशयजीका और भी कथन यह है कि (ऋ० ८। ६९। १५-१६ जैसे) मंत्रोंमें जहां इन्द्रके रथमें बैठनेका उल्लेख है वहां इन्द्रमूर्तिका रथपर सवार होना ऐसा अर्थ समझना चाहिये। यदि इस तरह कल्पना करना हो तो प्रायः सभी देवताओंकी मूर्तियां वेदमें वर्णित हैं, ऐसा ये कह सकते हैं, क्योंकि वेदमें अनेक देवताओंके वर्णनोंमें रथमें बैठनेका वर्णन है। देवताके रथमें बैठनेका क्या आध्यात्मिक अर्थ है इसकी चर्चा हमने " वैदिक अग्निविद्या " नामक पुस्तकमें अग्निदेवताके विषयमें की है। इसी प्रकार इन्द्रदेवतापर स्वतंत्रतासे एक पुस्तक लिखकर उसमें इन्द्रदेवताके रथपर बैठनेका आशय क्या है इसका विचार करेंगे। वह विचार यहां संक्षेपसे कहनेसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, इसलिये वह विषय हम यहां नहीं लेते हैं। हमारे विचारसे यहां के " देवान् प्रति भूष " का अर्थ अपने परिवारमें जो गुरुजन हैं उनको सुभूषित करो, ऐसा है। आगे खोज होकर जो बात सिद्ध होगी वह प्रकाशित करेंगे अस्तु।

उक्त प्रकारकी सुमंगल वधूको सज्जन स्त्रीपुरुष देखें, और आशीर्वाद दें, उसका भला चाहें और उसकी सहायता करें, यह भाव २८ वे मंत्रका है। जो दुष्ट हृदयवाली (दुर्हार्दः युवतयः) स्त्रियां तरुण युवतियोंको धोखा देती रहती हैं और उनको कुमार्गमें प्रवृत्त करती हैं, ऐसी दुष्ट युवतियां इस नव विवाहित वधूवरके समीप न आवें। अर्थात् ऐसी दुष्ट स्त्रियोंके और दुष्ट पुरुषोंके प्रभावसे ये नवविवाहित स्त्रीपुरुष बचे रहें

गुप्त बात।

इसके पश्चात् मंत्र ३० से मंत्र ४० तक स्त्रीपुरुषसंबंधका अर्थात् गर्भाधानसंस्कारका वर्णन है। इसमें उत्तम मनन करने योग्य अनेक निर्देश हैं, तथापि यह विषय केवल गृहस्थियोंके ही उपयोगी है, और ब्रह्मचारी इसको पढ नहीं सकते, अतः यह गुप्त विषय है। इस कारण इसका विवरण हम यहां नहीं करते। जो पाठक इसको जानना चाहें वे मंत्रके अर्थसे विचार करके जानें।

वधूका वस्त्र।

वधूके विवाहके समय ज्ञानी ब्राह्मणको वस्त्रका दान करनेका आदेश मंत्र ४१ और ४२ में है। यह वस्त्र देना वधूके आरो-

सकता है, क्योंकि यह (ब्रह्मौदनः) ब्राह्मणका भाग है, यह दान (देवैः दत्त) देवोंद्वारा दिया था (मनुना साकं) मनुके साथ यह पका है, या मनुके साथ यह चला आया है, यह (ब्रह्मणे) ब्राह्मणको देने योग्य दान है। यह (चिकित्सुषे ब्रह्मणे यः ददाति) जो दानी ब्राह्मणको इस प्रकार दान करता है उसका लाभ होता है। इस तरह अन्नदान की महिमा इन मंत्रोंमें वर्णन की है। ब्राह्मणोंको इस तरह अन्नदान किये जाय यह इसका तात्पर्य है। विद्वान् ब्राह्मणोंको ऐसे दान देकर उनका योगक्षेम चलाना चाहिये, यह उपदेश यहां इन मंत्रोंसे मिलता है। यह गृहस्थियोंपर एक प्रकारका धार्मिक भार है। इस प्रकारके दान गृहस्थी देते रहेंगे तो उस दानसे बड़े बड़े गुरुकुल चल सकते हैं और विद्याका प्रसार भी बड़ा हो सकता है।

गृहस्थियोंके घर ।

४३ वें मंत्रसे गृहस्थियोंके घर कैसे हों, इस विषयके आदेश मिल सकते हैं। (सुगृहौ) स्त्री पुरुष उत्तम घरमें रहें, घर अंदर बाहरसे उत्तम सुव्यवस्थित हो, जैसा वैसा न हो, प्रत्येक कमरा और घरके बाहरका भाग सब यथायोग्य स्वच्छ, सुंदर और सुडौल हो। (उत्तमात् योनेः अधि बुध्यमानौ) स्त्रीपुरुषोंका शयन करनेका कमरा अत्यंत सुखदायक हो, गर्मीके दिनोंमें वह शान्त रहे और शीतके दिनोंमें वही सुखदायक बने, वृष्टिसे कोई कष्ट उसमें रहनेवालोंको न हो। ऐसे सुखदायी कमरेमें गृहस्थी स्त्री पुरुष सोया करें। इस कमरेका स्वास्थ्य उत्तम होनेसे जो स्त्री पुरुष उसमें सोयेंगे, उनको उत्तम निद्रा आवेगी, और वे ब्राह्ममुहूर्तमें (अधि बुध्यमानौ) अपने शयनमंदिरसे उठ सकते हैं और अपने धर्मकर्मको प्रारंभ कर सकते हैं। वे स्त्री पुरुष अपने सुंदर मंदिरमें रहें और (हसामुदौ) हास्यविनोद करते हुए अपना दैनिक व्यवहार करें। कभी किसीपर क्रोध द्वेष आदि विकारयुक्त आचरण न करें। आनंदके साथ रहें, (महसा मोदमानौ) महत्त्वके तेजके साथ आनंदप्रसन्न रहें। उन स्त्रीपुरुषोंके पारस्परिक व्यवहारसे ऐसा प्रतीत हो जाय कि वे बड़े आनंदसे अपना व्यवहार कर रहे हैं। उनके मुखारविंदसे उनका आनन्द व्यक्त हो।

(सु-गू) उत्तम गौवोंका पालन करनेवाले वे गृहस्थी हों, घरमें दूध देनेवाली उत्तम उत्तम गौवें हों, उनका दूध दही, छाछ मक्खन, घी आदि कुटुंबियोंको प्रतिदिन प्राप्त होता रहे और वे उसका सेवन करके हृष्ट, पुष्ट और [illegible] होते रहें। 'सु-गू' शब्दका दूसरा अर्थ उत्तम इंद्रियोंसे युक्त ऐसा भी है। वे स्त्री पुरुष अपने उत्तम घरमें रहते हुए ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके अपने इंद्रियोंको उत्तम अवस्थामें रखें। (सु-पुत्रौ) जिनको उत्तम बालक बच्चे हुए हैं और वे उत्तम सुशिक्षासे संपन्न हो रहे हैं, ऐसे वे माता पिता हों। सुसंतान उत्पन्न करना और उनको यथायोग्य रीतिसे सुसंस्कारयुक्त करना प्रत्येक गृहस्थीका कर्तव्य है। विशेष प्रयत्नके साथ रहनेसे उत्तम संतान उत्पन्न हो सकती है। इस तरह सब गृहस्थी अपने घरमें आनंद प्रसन्न रहें और अपने दीर्घायुष्य प्राप्तिका साधन करें। यहां उत्तम घरका आदर्श बताया है। पाठक इसको स्मरण रखें और अपना घर ऐसा करनेका प्रयत्न करें।

(अण्डात् पतत्री इव) जैसा अण्डेसे पक्षी मुक्त होता है, और स्वेच्छासे आकाशमें संचार करनेका आनंद प्राप्त करता है, उस प्रकार प्रत्येक गृहस्थी प्रयत्न करके (विश्वस्मात् एनसः परि अमुक्षि। मं० ४३) सब पापसे मुक्त होकर निष्पाप होकर विचरे, यही प्रत्येक गृहस्थीका आदर्श होवे। मैं निष्पाप बनूंगा ऐसा निश्चय प्रत्येक गृहस्थी करे और उस सिद्धिके लिये अपने प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा करे। प्रतिदिन (नवं वसानः) नया अर्थात् धोया हुआ स्वच्छ वस्त्र परिधान करें और (सुवासाः) उत्तम शोभायमान वस्त्रोंसे अपने आपको सुशोभित करें। अपने शरीरकी सजावट करें। शरीरकी सुंदरता बढानेके यत्नमें दक्षचित्त रहे। इस विषयमें उदास न रहे। स्त्री पुरुष सुंदर वस्त्रों और सुंदर आभूषणोंसे अपने शरीर अधिकसे अधिक सुंदर और रमणीय तथा दर्शनीय बनावें। (सुरभि) सुगंध चंदन इत्र आदि धारण करके आनंद प्रसन्न रहें। शरीरपर दुर्गंधियुक्त कोई पदार्थ न हो। स्नानसे प्रतिदिन शरीर दुर्गंधरहित किया जावे। प्रतिदिन धोये वस्त्र परिधान किये जाय तथा चंदनादि लेपनादि द्वारा सुगंध का धारण किया जावे। इस प्रकार सुंदर बनकर स्त्री पुरुष अपने घरसे (विभातीः उषसः अनु) प्रकाशमान उषःकालमें ही अपने घरसे बाहर निकल कर प्रातःकाल स्नान उपासनादिसे निवृत्त होकर इस सुखदायक उषःकालमें भ्रमण करें। उषःकालमें कोई स्त्री या पुरुष बिस्तरेपर न सोता रहे। इस प्रकारका आलसी गृहस्थी कोई न रहे। [illegible] भी, प्रयत्नशील और सुसंस्कारसंपन्न ऐसे गृहस्थी प्रशंसनीय रीतिसे अपने [illegible] प्रकाशित होवें।

निःसन्देह आवश्यक होता। इस आशासे गृहस्थियोंका बचाव करनेका एक मात्र उपाय यह है कि प्रत्येक घरमें सूत काता जाय और उस का वस्त्र बनाकर वही उस घर के लोग पहने। आपत्तिसे बचने-का और संपत्तिमान बननेका एक मात्र उपाय यह है। प्रत्येक घरमें इस वैदिक धर्मके आदर्शका पालन होता रहे। अपने बनाये वस्त्रोंसे कोई मनुष्य घृणा न करे और परकीयों द्वारा बनाये वस्त्रपर कोई मनुष्य प्रेमभी न करे। यही एक मात्र साधन उद्धारका है।

मंत्र ५२ में कहा है कि 'पतिकी इच्छा करके पतिके घरमें पहुंचनेवाली कन्या इस दीक्षाव्रतका पालन करे। यह दीक्षाव्रत स्वयं सूत कातना और उसका वस्त्र घरवालोंके लिये बनाना है। जो स्त्री इस व्रतका पालन करेगी वही दीक्षाको धारण करनेवाली होगी और कुलका उद्धार करेगी। परंतु जो स्त्री स्वयं सूत कातेगी नहीं और परकीयों द्वारा बनाये वस्त्र पहननेका आग्रह करेगी, वह अपने घरमें स्वयं दरिद्रताको बुलावेगी। इस कारण घरके पारिवारिक सब पुरुषोंका उचित है कि वे सबके सब इस दीक्षा व्रतको धारण करें और इस व्रतका पालन करके उन्नतिको प्राप्त हो। वेदका यह आदेश सब गृहस्थियोंको है। जो इसका पालन करेंगे वे अभ्युदय प्राप्त करेंगे और जो इससे विमुख होंगे वे असफल जीवनमें गिर जायेंगे।

गौवोंका यश।

मंत्र ५३ से ५८ तक गौवोंके यशका वर्णन है। सब गृहस्थि-योंको उचित है कि वे अपने घरमें गौवोंका पालन करें और उनका ही दूध दही मक्खन घी आदिका सेवन करें। गौवोंका (वर्चः) तेज, (तेजः) फुर्ती, [भगः] ऐश्वर्य, [यशः] यश, [पयः] दूध, [रस] अन्नरस है। गौवोंके दूधसे इनकी प्राप्ति मनुष्यको होती है। इसके अतिरिक्त शुद्ध गौका मूत्र, गोमय आदि भी औषधि गुणोंसे युक्त हैं। इन सब पदार्थोंद्वारा गौ मनु-ष्योंको सुख देती है। ये सब लाभ गौकी पालना घरमें करनेके बिना नहीं हो सकते। अतः गृहस्थियोंको अपने घरमें गौवोंकी पालना करके वर्चस्वी, तेजस्वी, भगवान् और यशस्वी होना चाहिये।

आगे मंत्र ५९ से ६२ तकके मंत्रमें पापसे बचनेका उपदेश किया है जो अपने (केशिनः) बाल बढाते हैं, (अघं कृण्वन्तः) पाप करते हैं, (रोदेन समनर्तिषुः) रोते हैं। नाचते कूदते हैं। स्त्रियां [विकेशी] बालोंको खोलकर घरमें रोती पीटती हैं, आक्रोश करती हैं। घरकी स्त्रियां घरमें जिस कारण आक्रोश करती हैं, नानाप्रकारके पातक करती हैं। ये सबके सब पाप-कारी लोग हैं और वे समाजसे दूर होने योग्य हैं। जो पापकारी भाव हैं वे मनसे दूर हों और जो पापकारी मानव हैं वे समाज से दूर हों। इस तरह पापी विचारोंसे मन शुद्ध हो और पापी जनोंसे समाज शुद्ध हो। और मनसे और समाजसे दोनो पापों-का मूल कारण दूर हो जाय और संपूर्ण समाजमें आनंद प्रस-न्नता निवस सके। यही गृहस्थधर्मका ध्येय है।

मंत्र ६३ और ६४ में कहा है कि [मे पतिः दीर्घायुः अस्तु] अपना पति दीर्घायु हो यह स्त्रीकी इच्छा हो। स्त्री कभी अपने पतिका अहित न चाहे। पतिका हित करनेमें सदा दक्ष रहकर उसके दीर्घायुका चिंतन करती रहे। [चक्रवा-केव दम्पती] जैसे चक्रवाक पक्षी रहते हैं, आपसके प्रेमके साथ विहार करते हैं वैसे ही स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रममें प्रेमके साथ रहें। पत्नीके लिये एक मात्र पति, और पतिके लिये एक मात्र पत्नी चक्रवाक पतिकी जातिमें होती है, वैसीही स्थिति गृह-स्थाश्रमियोंमें होवे। धर्मपत्नीके लिये एक मात्र पति और पति-के लिये एकमात्र धर्मपत्नी प्रेमका स्थान होकर रहे। उनमें व्यभिचारादि दोष उत्पन्न न हों। एक दिलसे और एकविचार-से वे गृहस्थाश्रममें रहें। इस प्रकार [सु = अस्तौ] अपने उत्तमोत्तम घरबार करके उसमें रहें और [विश्वं आयुः व्यश्नुतां] सब पूर्ण आयु व्यतीत करें। इस तरह गृहस्था-श्रममें पति और पत्नी सुखसे रहें और आनंद प्रसन्नताके साथ गृहस्थधर्मका कार्य चलावें।

आगे मंत्र ६५ से ६७ तक के तीन मंत्रोंमें विशेष रीतिसे कहा है कि जो विवाहादि समय (कृत्या) घातपातके विचार किये हों, जो (दुष्कृतं, दुरितं) जो दुराचार अथवा पापवि-चार हुए हों, जो (मलं) मलीन आचार तथा (दुरितं) बुरे व्यवहार बन गये हों, वे सबके सब हमसे दूर हों, और हम (शुद्धाः यज्ञियाः अभूम) शुद्ध, पवित्र और पूज्य बन जाय और (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमें दीर्घ आयु प्राप्त हो। साधारणतः यह नियम है कि बडे उत्सवोंमें विवाह जैसे मंगल कार्योंमें जहां अनेकानेक बुरे भले मनुष्योंका संबंध आता है, वहां किसी न किसी रीतिसे कुछ न कुछ हीन आचार हुआ करते हैं, कुछ दोष होते रहते हैं। ऐसे दोष वहां समाज इकट्ठा होनेके कारण बनते हैं, ऐसा मानकर, उनसे अपने आपको

बचानेका उद्योग करना चाहिये और शुद्ध पवित्र और यज्ञके लिये योग्य बननेका यत्न प्रत्येक गृहस्थीको करना चाहिये। पूर्व समयमें दोष होगये तो भी उनकी विशेष चिंता करनेमें समय व्यतीत न करते हुए आगेके समयमें आत्मशुद्धि करनेके प्रयत्नमें दत्तचित्त होना चाहिये। इस तरह शुद्ध और पवित्र बनकर गृहस्थियोंको आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये।

बालोंकी पवित्रता।

स्त्रियोंके केशोंकी स्वच्छता और पवित्रता करनेका उपदेश मंत्र ६८ और ६९ में किया है। (कंटकः अस्याः केश्यं मलं अपालिखात्। मं० ६८) कंगवा इस स्त्रीके केशोंके मलको दूर करे। यह प्रतिदिनका कार्य है। स्त्रीको उचित है कि वह अपने बाल खोलकर उत्तम स्वच्छ तेल लगावे और कंगवेसे सब बाल स्वच्छ करे और फिर केशोंका प्रसाधन यथेष्ट रीतिसे करे। चार या आठ दिनोंमें एक या दो वार अपने बाल किसी मलनिवारक साधनसे पानी के साथ धोकर, पवित्र वस्त्रसे पानी दूर करके बालोंको सुखावे और फिर कंगवा करके केशप्रसाधना अच्छी प्रकार करे। केशोंकी निर्मलता रखना स्त्रियोंके लिये एक आवश्यक कर्म है। जिस स्त्रीके केशोंमे दुर्गंधी आती है, वह स्त्री किसी धर्मकर्मके लिये अयोग्य समझी जाती है। इसलिये स्त्रीका केशप्रसाधन कर्म एक अत्यंत आवश्यक कर्म है।

स्त्रीके (अंगात् अंगात् यक्ष्मं अपनिदध्मसि। मं० ६९) प्रत्येक अंग और अवयवसे मल अथवा रोगबीजको दूर करना चाहिये। क्योंकि स्त्री राष्ट्रीय संतानोंकी जननी है। वह यदि मलिन, अपवित्र अथवा रोगयुक्त रहेगी, तो राष्ट्रकी भविष्य संतान भी वैसी ही होगी। इसलिये स्त्रियोंके शरीर पवित्र, नीरोग और सबल होने चाहिये, जिससे संतान उत्तमोत्तम निकलती रहें। सब मल जलसे दूर होता है यह सत्य है, इसीलिये जलस्थान पवित्र रखनेका यत्न होना चाहिये। नहीं तो जलस्थानोंमें लोग स्नान करेंगे और पीनेके जलमें ही वह मल जायगा और जिस जलसे पवित्रता होनेवाली है, उसी जलसे अपवित्रता और रोगी अवस्था बढेगी, इसलिये कहा है कि (आपः मलं मा प्रापत्। मं० ६९) जलस्थानमें मल न प्राप्त हो, अर्थात् संपूर्ण जलस्थान स्वच्छ, पवित्र और निर्मल रहें। आजकल तालावोंमें, कूवोंमें, नदियोंमें तथा अन्यान्य जलाशयोंमें लोग स्नान करते हैं, कपडे धोते हैं और अन्य प्रकारसे अस्वच्छता करते हैं, और उसी स्थानसे पीनेका पानी भी लाते हैं। इससे अनंत रोग उत्पन्न होते हैं। अतः वेदका यह आदेश गृहस्थियोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये। किसी भी जलाशयमें किसी प्रकारसे मनुष्य मलिनता न करें। जलाशयको पवित्र, स्वच्छ और नीरोगी अवस्थामें रखें। और ऐसे शुद्ध जलका, उपयोग करके अपने शरीरका आरोग्य साधन करें। जलकी स्वच्छतापर मनुष्योंका और पशुपक्षियोंका आरोग्य निर्भर है, यह जानकर सब लोग इस वैदिक आदेशका विशेष स्मरण रखें।

पुष्टिका साधन

इस द्वितीय सूक्तके ७० वे मंत्रमें गृहस्थियों की पुष्टिका साधन कहा गया है। इससे किस अन्नका सेवन करना चाहिये इसका उपदेश हमें मिलता है। (पृथिव्याः पयसा) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले दूधका सेवन करना चाहिये। तथा (ओषधीनां पयसा) औषधियोंके दूधका सेवन करना चाहिये। यहां औषधियोंका रस और भूमिका रस ये दो ही रस गृहस्थियोंके भोजनके लिये कहे हैं। औषधियोंके रसको सब जानते ही हैं। औषधी, फल, फूल, पत्ते आदियोंका सेवन मनुष्य करते ही हैं। गृहस्थियोंको चाहिये कि वे पुष्टिकारक औषधियोंको बढावें और उनका सेवन करके पुष्ट और हृष्ट बनें। भूमिका दूध सेवन करनेको भी इस मंत्रमें कहा है। भूमिका रस एक तो शुद्ध और पवित्र स्रोतका जल है, दूसरा भूमिका रस धान्य आदि भी है। अस्तु इस तरह शुद्ध जल, शुद्ध अन्न और शुद्ध फलादि का सेवन करना चाहिये। यहां पाठक स्मरण रखें कि किसी भी स्थानमें पशुके मांसका भोजन मनुष्योंके लिये नहीं कहा है। अर्थात् मांसका भोजन मानवोंके लिये वैदिक मर्यादाके अनुकूल नहीं है। हमने जहां जहां भोजनका विषय वेदमें देखा है, वहां वहां किसी भी स्थानपर हमने मांसका नामतक देखा नहीं है। परंतु वहां धान्य, औषधि, वनस्पति, फलमूल आदिका ही उल्लेख देखा है, अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक भोजन शुद्ध निर्मांस भोजन अर्थात् शाक भोजन ही है। इस शाक भोजन से ही (वाजं जनुहि) बलको प्राप्त करो, यह वेदका आदेश है।

आगेके ७१ वे मंत्रमें स्त्री और पुरुष किस तरह व्यवहार करें, इस विषयका उत्तम उपदेश है, वह कोष्टक रूपमें अब देखिये—

पुरुष	स्त्री
अमः	सा
साम	ऋक् (ऋचा)
द्यौः	पृथिवी

यहां स्त्री और पुरुष आपसमें एकमतसे रहें यह उत्तम उपदेश है। ऋग्वेदके मंत्रको तान और आलापके साथ गायन करनेसे साम मंत्र होता है। वस्तुतः ऋक्‌मंत्र और साममंत्र एक ही है। इसी तरह स्त्री और पुरुष एक ही हैं, केवल एक स्थानपर सौम्य गुणोंका विकास और दूसरे स्थानपर उग्र गुणोंका विकास है। यही भाव स्त्रीको पृथ्वी और पुरुषको द्युलोक बताकर वर्णन किया है। स्त्री पुरुष इस प्रकारके ऐकमत्यके साथ रहें। आपसमें झगडा आदि कुछ भी न हो। आनन्द प्रसन्नताके साथ सब गृहस्थधर्मके आचारव्यवहार करें। वे दोनों [इह संभवाव प्रजां आजनयावहै। मं० ७१] यहां संतान उत्पन्न करें, सुप्रजा निर्माण करें। अपने बालबच्चोंको सुसंस्कारसे संपन्न करें और सब प्रकार की उन्नतिसे युक्त हों। दोनोंको प्रयत्न इस बातका करना चाहिये कि सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस उत्तम रीतिसे सिद्ध हो।

(अग्रवः जनियन्ति) आगे बढनेवाले लोग ही स्त्रीको प्राप्त करनेकी इच्छा करें। पीछे रहनेवाले, प्रयत्न न करनेवाले लोग विवाहित होनेकी इच्छा न करें। क्योंकि ऐसे आलसी लोगोंको वैसे ही अप्रबुद्ध संतान होंगे और अंतमें जातिको उनके दोषोंके कारण कलंक लगेगा। (सुदानवः पुत्रियन्ति) उत्तम दान देनेवाले, परोपकार करनेवाले, मानव समाजका भला करनेके लिये, आत्मसमर्पण करनेवाले ही पुत्रप्राप्तिके इच्छुक हों, क्योंकि ऐसे लोगोंके शुभसंस्कार पुत्रोंमें आ सकते हैं और शुभसंतान उत्पन्न होनेसे राष्ट्रका तथा मानव समाजका भला हो सकता है। इसलिये उत्तम दान करनेवाले विवाहित होकर संतान उत्पन्न करें और जो दान न करनेवाले स्वार्थी हों वे अविवाहित रहें। (अ-रिष्ट-असू वाजसातये सचेवहि। मं० ७२) अपने प्राणोंको सुरक्षित रखते हुए बडा बल प्राप्त करनेके लिये ये स्त्री पुरुष यत्न करें। हरएक स्त्री पुरुषको उचित है कि वे बडा बल प्राप्त करें, कोई कमजोर, निर्बल न रहे। बल प्राप्त करके जगतके व्यवहारयुद्धमें आगे बढकर विजय प्राप्त करें। अपुरुषार्थवृत्ति कोई धारण न करे। सब लोग पुरुषार्थी बनें और अपने अपने कर्तव्य करते रहें।

आशीर्वाद।

अन्तिम तीन मंत्रोंमें नवविवाहित वधूवरको शुभ आशीर्वाद दिया है। मंत्र ७३ में कहा है कि संबंधी और ज्ञातिबांधव बरातमें संमिलित हुए हों, वे अपने अपने घर वापस जानेके पूर्व (ते अस्यै संपत्न्यै प्रजावत् शर्म यच्छन्तु। मं० ७३) वे इस शुभपत्नीके लिये प्रजायुक्त सुख देवें, अर्थात् इसको सुप्रजा निर्माण हो और इसको उत्तम गृहसौख्य प्राप्त हो ऐसा शुभाशीर्वाद देवें और पश्चात् वे अपने घर वापस चले जावें।

जो स्त्रियां इस बरातमें आगयीं हों, वे अपने घर जानेके पूर्व प्रजा और धन प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देवें और (अगतस्य पंथां अनुवहन्तु) भविष्यके मार्गका आक्रमण इनसे सुयोग्य रीतिसे होने योग्य आचारके निर्देश इनको देवें तथा यह (विराट् सुप्रजा) विशेष सम्राज्ञी जैसी बनकर उत्तम प्रजायुक्त होवे, ऐसा सुंदर आशीर्वाद देवें और पश्चात् अपने घरको वापस जावें। बरातमें आये कोई स्त्रीपुरुष आशीर्वाद दिये बिना वापस न जावें।

विवाहित स्त्री अर्थात् धर्मपत्नी (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घायु और शतायु बननेका प्रयत्न करे। ऐसा आहारविहार करे कि जिससे घरवाले दीर्घजीवी बनें। (बुधुधा बुध्यमाना प्रबुध्यस्व) उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका यत्न करे। हरएक प्रकारकी सुविद्या प्राप्त करके उत्तम शुभमंगलमय संस्कारोंसे युक्त बने। अपने पतिके घरमें जाकर (गृहपत्नी) अपने घरकी स्वामिनी बनकर वहां रहे। स्वामिनी-घरकी देवी बननेका इसका अधिकार है। इसकी (सविता दीर्घं आयुः करोतु। मं० ७५) सविता दीर्घ आयु बनावे। इस प्रकार दीर्घायु बनकर अपने पतिके घरमें यह विराजे।

अथर्ववेदके चौदहवें काण्डमें विवाहविषयक दो सूक्त हैं। इन सूक्तोंके सब मंत्रोंका आशय यह है, जो पाठक इन मंत्रोंका मनन करेंगे, वे इससे भी अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं। पाठकोंसे यहां हमारा निवेदन है कि वेदने जो उपदेश इन मंत्रोंमें दिये हैं उनका मननपूर्वक स्मरण करें और उनको प्रयत्नसे आचरणमें लानेका यत्न करें, क्योंकि वेदका धर्म केवल शब्दज्ञानसे ही सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत आचार करनेसे ही सिद्ध हो सकता है।

सब लोगोंका गृहस्थाश्रम धर्मानुकूल हो और वह सबको सुख देकर जगत का उपकार करनेवाला बने।

चतुर्दश काण्ड समाप्त।

चतुर्दश काण्डकी विषयसूची

चतुर्दश काण्ड समाप्त ॥ १४ ॥

—o—

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

पञ्चदशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार.

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल आनन्दाश्रम किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७ शक १८७२ सन १९५०

प्रजाका रञ्जन करनेवाला राजा।

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥
स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथर्व० कां० १५ सू० ८–९

" वह प्रजाका रंजन करने लगा। अतः वह राजन्य (क्षत्रिय—राजा) हुआ। वह प्रजा, बन्धुबांधव और अन्नादि भोगोंको प्राप्त हुआ। जो इसका तत्व जानता है वह प्रजा, बन्धुबांधव अन्नादि भोग आदिका प्रियस्थान होता है ॥ वह प्रजाओंको अनुसरने लगा। अतः सभा, समिति, सेना और धनकोश उसको अनुकूल हुए। जो इसका तत्व जानता है वह सभा, समिति, सेना और धनकोश का प्रिय स्थान बनता है ॥ "

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवलेकर, B. A.
भारतमुद्रणालय, स्वाध्याय-मण्डल, किल्ला-पारडी, (जि० सूरत)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चदश काण्ड ।

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'व्रात्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः व्रात्य विषयक एक ही सूक्त है, परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि, प्रत्येक काण्डमें एक ही विषयके सूक्त हुआ करते हैं। जैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं, वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एक ही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'व्रात्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म'का विषय है; अतः इसकी देवता भी अध्यात्म ही है, और यहां का 'व्रात्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' का वाचक है, इसलिये यही मंगलसूचक व्रात्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आगया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छंदोंका विचार करते हैं।

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
१	८	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नीपंक्ति.; २द्विप० साम्नी बृहती; ३ एकप० यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्; एकप०विराड् गायत्री ;५ साम्नी अनुष्टुप्;६ ४त्रिप०प्राजापत्या बृहती;७ आसुरीपंक्तिः८ त्रिप०अनुष्टुप्
२	२८ (४)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र० १-४; ४ ष, १ ष, साम्नी अनुष्टुप्; द्वि० १,३,४ साम्नी त्रिष्टुप्; तृ.१ द्विपआर्षी पंक्तिः; च. १,३,४द्वि. ब्रा. गायत्री; पं० १-४ द्विप. आर्षी जगती; ष.२ साम्नीपंक्तिः ष० ६ आसुरी गायत्री; स० १—४ पदपंक्तिः अ. १-४ त्रिप० प्राजा० बृहती; द्वि. २ एकप० उष्णिक्, तृ. २ आर्षी भुरिक् त्रिष्टुप्, च. २ आर्षी परानुष्टुप् तृ. ३ विराडार्षी पंक्तिः, तृ. ४ निचृदार्षी पंक्तिः।
३	११	,,	,,	१ पिपीलिकमध्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्; ३ याजुषी जगती; ४ द्विप० आर्षी उष्णिक् ५ आर्ची बृहती; ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री; ८ आसुरी पंक्तिः, ९ आसुरी जगती; १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ११ विराड् गायत्री।
४	१८ (६)	,,	,,	प्र० १, ५, ६ दैवी जगती; प्र. २, ३, ४ प्राजापत्या गायत्री, द्वि. १ द्वि. ३ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १, ४ द्विप० प्राजापत्या जगती, द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः, तृ. २, आर्ची गायत्री; तृ. ३ भौमार्ची त्रिष्टुप्, द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्, द्वि ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५, ६ द्विप० आर्ची पंक्ति, द्वि. ६ आर्ची उष्णिग्।

५	१६ (७)	अथर्वा	रुद्रः	प्र. १ त्रिप. समविषमा गायत्री; द्वि. १ त्रिप० भुरिगार्ची त्रिष्टुप्; तृ. १-७ द्विप. प्राजापत्यानुष्टुप्; प्र. २ त्रिप. स्वराट् प्राजापत्या पंक्तिः; द्वि. २-४,६ त्रिप. ब्राह्मी गायत्री, प्र. ३,४,६ त्रिपदा ककुभ्; प्र. ५,७ भुरिग् विषमा गायत्री; द्वि. ५ निचृद्ब्राह्मी गायत्री; द्वि. ७ विराट् ।
६	२६ (९)	,,	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १,२ आसुरी पंक्तिः; प्र.३-६,९ आसुरी बृहती; प्र.८ परोष्णिक्; द्वि. १,६ आर्ची पंक्तिः; प्र. ७ आर्ची उष्णिक्; द्वि. २, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ३ साम्नी पंक्तिः; द्वि- ५, ८ आर्षी त्रिष्टुप्; द्वि. ७ साम्नी अनुष्टुप्; द्वि. ९ आर्ची अनुष्टुप्; तृ. १ आर्षी पंक्तिः; तृ.२, ४ निचृद्-बृहती; तृ. ३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; तृ. ५,६ विराट् जगती तृ. ७ आर्ची बृहती; तृ. ९ विराड् बृहती ।
७	५	,,	,,	१ त्रिप. निचृद् गायत्री; २ एकप. विराड् बृहती; ३ विराडुष्णिक्; ४ एकप. गायत्री; ५ पंक्तिः ।
८	३	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	१ साम्नी उष्णिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३ आर्ची पंक्तिः ।
९	३	,,	,,	१ आसुरी जगती; २ आर्ची गायत्री; ३ आर्ची पंक्तिः ।
१०	११	,,	,,	१ द्विप. साम्नी बृहती; २ त्रिप. आर्ची पंक्तिः, ३ द्विप० प्राजापत्या पंक्तिः; ४ त्रिप. वर्धमाना गायत्री; ५ त्रिप साम्नी बृहती; ६, ८, १० द्विप. आसुरी गायत्री. ७, ९ साम्नी उष्णिक्, ११ आसुरी बृहती ।
११	११	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ द्विप, पूर्वात्रिष्टुबतिशक्वरी, ३-६, ८, १० त्रिप. आर्ची बृहती (१० भुरिक्); ७, ९ द्विप. प्राजापत्या बृहती; ११ द्विप. आर्ची अनुष्टुप् ।
१२	११	,,	,,	१ त्रिप. गायत्री; २ प्राजा० बृहती; ३, ४ भुरिक्प्राजा० अनुष्टुप् (४ साम्नी); ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री; ८ विराड् गायत्री; ७, ११ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप् ।
१३	१४ (९)	,,	,,	प्र. १ साम्नी उष्णिक्; द्वि. १, ३ प्राजा० अनुष्टुप्; प्र. २-४ आसुरी गायत्री; द्वि २, ४ साम्नी बृहती; प्र. ५ त्रिपदा निचृद् गायत्री; द्वि० ५ द्विप. विराड् गायत्री; ६ प्राजा० पंक्तिः; ७ आसुरी जगती; ८ सतः पंक्तिः; ९ अक्षर पंक्तिः ।

१४	२४ (१२)	अथर्वा	अध्यात्मं व्रात्यः	प्र. १ त्रिप. अनुष्टुप्; द्वि. १--१२ द्विप. आसुरी गायत्री (द्वि. ६--९ भुरिक्प्राजा० अनुष्टुप्); प्र. २, ५ पुरउष्णिक्; प्र. ३ अनुष्टुप्; प्र. ४ प्रस्तारपंक्तिः; प्र. ६ स्वराड् गायत्री; प्र. ७, ८ आर्ची पंक्तिः; प्र. १० भुरिङ्नागी गायत्री; प्र. ११ प्राजा० त्रिष्टुप्,
१५	९	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २ आसुरीबृहती; ३, ४, ७, ८ प्राजा० आनुष्टुप् (४, ७, ८ भुरिक्); ५, ६ द्विप. साम्नी बृहती, ९ विराड् गायत्री ।
१६	७	,,	,,	१, ३ साम्नी उष्णिक्; २, ४, ५ प्राजा० उष्णिक् ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ७ आसुरी गायत्री ।
१७	१०	,,	,,	१—५ प्राजा० उष्णिक्; २, ७ आसुरी अनुष्टुप्; ३ याजुषी पंक्तिः; ४ साम्नी उष्णिक्; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ८ त्रिप. प्रतिष्ठार्ची पंक्तिः; ९ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्; १० साम्नी अनुष्टुप् ।
१८	५	,,	,,	१ दैवी पंक्तिः; २, ३ आर्ची बृहती, ४ आर्ची अनुष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक् ।
	२२०			

इस काण्डकी कुल मंत्र संख्या २२० है । इस काण्डका ऋषि अथर्वा है . क्योंकि जहां विशेष रीतिसे उल्लेख नहीं होता, वहां अथर्ववेदके सूक्तोंका अथर्वा ऋषि हुआ करता है ।

यद्यपि इस सब काण्डकी देवता ' व्रात्य ' (अध्यात्म) है, तथापि स्थानस्थानपर जहां मंत्रोंमें अन्यान्य देवतावाचक नाम आते हैं, वहां वेही मन्त्रोक्त देवता मानना उचित है। परंतु सब देवताओंका आशय अन्तमें व्रात्यमें किंवा अध्यात्ममें अर्थात् 'आत्मा देवता' में ही सार्थ होना है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

यह सब काण्ड एक ही देवताका होनेसे, यद्यपि इस एक सूक्तमें १८ पर्याय हैं, तथापि सबका मिलकर एक ही सूक्त होनेसे, सब मंत्रोंका अर्थ देनेके पश्चात् ही अन्तमें सबका मिलकर एकत्र स्पष्टीकरण करेंगे । क्यों कि सबका संबंध अत्यंत घनिष्ठ है। आशा है कि यह विवरण पाठकोंके लिये बोधप्रद सिद्ध होगा।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

पञ्चदशं काण्डम्

अध्यात्म प्रकरण।

(१)

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥ १ ॥

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत् ॥ २ ॥

तदेकमभवत्तल्ललामममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद्ब्रह्माभवत्तत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत ॥ ३ ॥

सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत् ॥ ४ ॥

---

१ [१] (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात् समूहोंका हित करनेवाला समूहपति सबका प्रेरक था, (सः प्रजापतिं सं ऐरयत्) उसने प्रजापालकको उत्तम प्रेरणा की ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्णं अपश्यत्) आत्मा को उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा । और (तत् प्र अजनयत्) उसने सबको उत्पन्न किया॥ २ ॥

(तत् एकं अभवत्) वह एक होगया, (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ, (तत् महत् अभवत्) वह बडा हुआ, (तत् ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ, (तत् ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ, (तत् तपः अभवत्) वह तपोवाला हुआ, (तत् सत्यं अभवत्) वह सत्य हुआ, (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

(सः अवर्धत) वह बढ गया, (सः महान् अभवत्) वह बडा हुआ, (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बडा देव हुआ ॥ ४ ॥ (सः देवानां ईशां परि-ऐत्) वह सब छोटे देवोंका अधिष्ठाता हुआ, (सः ईशानः अभवत्) वही

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥ स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः ॥ ६ ॥ नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥ नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

[२]

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥ श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (१)
स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् ॥ ९ ॥

ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक व्रात्यः अभवत्) वह एकमात्र सब समूहोंका स्वामी हुआ, (सः धनुः आदत्त) उसने धनुष्यका ग्रहण किया, (तत् एव इन्द्रधनुः) वही इन्द्रधनुष्य है ॥६॥ (अस्य उदरं नीलं) इसका पेट नीला है और (पृष्ठं लोहितं) पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अप्रियं भ्रातृव्यं प्र ऊर्णोति) अप्रिय शत्रुको घेरता है और (लोहितेन द्विषन्तं विध्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको वेधता है, (इति ब्रह्मवादिनः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ ८ ॥

[२] (सः उत् अतिष्ठत्) वह ऊपर उठा। (सः प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पूर्व दिशा की ओर अनुकूल रीतिसे चला ॥ १ ॥ (तं बृहत् च रथंतरं च आदित्याः च विश्वे देवाः च अनुव्यचलन्) उसको बृहत्, रथंतर, आदित्य, विश्वे देव अनुकूल हुए ॥ २ ॥ (यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान् व्रतधारीको बुरे शब्द बोलता है वह बृहत्, रथन्तर, आदित्यों और विश्वेदेवोंका (आ वृश्चते) अपराधी होता है ॥ ३ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह बृहत् रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेवोंका प्रियधाम बनता है ॥ (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्चली) श्रद्धा स्त्री,(मित्रः मागधः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला, (विज्ञानं वासः)विज्ञान वस्त्र,(अहः उष्णीषं) दिन पगडी,(रात्री केशाः) रात्री बाल, (हरितौ प्रवर्तौ) किरण कुंडल (कल्मलिः मणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥४-५॥ (भूतं च भविष्यत् च परिष्कंदौ) भूत काल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विपथं) मन इसका युद्धरथ होता है ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा च पवमानः च विपथवाहौ) श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे हैं, (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चाबुक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरौ) अग्रगामी हैं। (एनं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है। इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [१]

[सः०] वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुकूल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥

तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्य॑चलन् ॥ १० ॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥
उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥
अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ १४ ॥ (२)
स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्य॑चलत् ॥ १५ ॥
तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्य॑चलन् ॥ १६ ॥
वैरूपाय च वै स वैराजाय चाद्भ्यश्च वरुणाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ १७ ॥
वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीच्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥
अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०।० ॥ २० ॥ (३)
स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्य॑चलत् ॥ २१ ॥
तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्य॑ऽचलन् ॥ २२ ॥

[तं] उसको यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और [पशवः च अनुव्यचलन्] पशु भी अनुकूल होते हैं ॥१०॥ [यः एवं विद्वांसं व्रात्यं उपवदति] जो ऐसे विद्वान् व्रतचारी का उपहास करता है वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंके विषयमें [आवृश्चते] अपराधी होता है ॥११॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है, वह यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रियस्थान बनता है । उसको दक्षिण दिशामें [उषाः पुंश्चली] उषा स्त्री, [मन्त्रः मागधः] मंत्र-प्रशंसा करनेवाला, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणिके समान होते हैं ॥ १२—१३ ॥ [अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ] आमावास्या और पूर्णिमा उसके संरक्षक होते हैं, और मन उसका युद्धरथ है। श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे, प्राण सारथी और वायु उसका चाबुक है [आगे पूर्ववत्] ॥ १४ ॥ [२]

(सः०) वह उठा और (सः प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशा की ओर अनुकूलताके साथ संचार करने लगा ॥ १५ ॥ तब उसको वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण अनुकूल हुए ॥ १६ ॥ जो ऐसे विद्वान् व्रतचारीका अपमान करते है, वह वैरूप, वैराज, आप् और राजा वरुण के प्रति अपराधी होते हैं ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप, वैराज, आप्—जल, और राजा वरुण का प्रिय धाम बनता है । उसके लिये पश्चिम दिशामें (इरा पुंश्चली) भूमि स्त्री, (हसः मागधः) हास्य प्रशंसक, विज्ञान वस्त्र० ॥ १९ ॥ (अहः च रात्री च परिष्कन्दौ) दिन और रात्री उसके रक्षक होते हैं [आगे पूर्ववत्]

(सः०) वह उठा और वह (उदीचीं दिशं) उत्तर दिशामें अनुकूल होकर चला ॥ २१ ॥ (तं श्यैतं च सप्तर्षयः च राजा सोमः च अनुव्यचलन्) उसके अनुकूल श्वेत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥

श्यैताय॑ च॒ वै स नौ॑धसाय॑ च सप्तर्षिभ्य॑श्च॒ सोमा॑य च॒ राज्ञ॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥ २३ ॥ श्यैतस्य॑ च॒ वै स नौ॑धसस्य॑ च सप्तर्षी॒णां च॒ सोम॑स्य च॒ राज्ञः॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्योदी॑च्यां दि॒शि ॥ २४ ॥ वि॒द्युत् पुं॑श्च॒ली स्त॑नयि॒त्नुर्मा॑ग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासोऽह॑रुष्णी॒षं रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्रव॒र्तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः ॥ २५ ॥ श्रु॒तं च॒ विश्रु॑तं च परि॒ष्क॒न्दौ मनो॑ विप॒थम् ॥ २६ ॥

मा॒तरि॑श्वा च॒ पव॑मानश्च विपथ॒वा॒हौ वातः॒ सार॑थी रे॒ष्मा प्र॒तो॒दः ॥ २७ ॥

की॒र्तिश्च॒ यश॑श्च पुरःस॒रावै॑नं की॒र्तिर्ग॑च्छत्या॒ यशो॑ गच्छति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ २८ ॥ (४)

(३)

स सं॑वत्सरमू॒र्ध्वो॑ऽतिष्ठत् तं दे॒वा अ॑ब्रुवन् व्रात्य॒ किं नु ति॑ष्ठ॒सीति॑ ॥ १ ॥

सो॑ऽब्रवीदास॒न्दीं मे॒ सं भ॑रन्त्विति॑ ॥ २ ॥ तस्मै॒ व्रात्या॑यास॒न्दीं सम॑भरन् ॥ ३ ॥

तस्या॑ ग्री॒ष्मश्च॑ वस॒न्तश्च॒ द्वौ पादा॒वास्तां॑ श॒रच्च॑ व॒र्षाश्च॒ द्वौ ॥ ४ ॥

बृ॒हच्च॑ रथंत॒रं चा॑नू॒च्ये॒३॒॑ आस्तां॑ यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च॑ तिर॒श्च्ये॑ ॥ ५ ॥

ऋचः॒ प्राञ्च॒स्तन्त॑वो॒ यजूं॑षि ति॒र्यञ्चः॑ ॥ ६ ॥ वेद॑ आ॒स्तर॑णं॒ ब्रह्मो॑प॒बर्ह॑णम् ॥ ७ ॥

सामा॑सा॒द उ॑द्गी॒थो॑ऽपश्र॒यः ॥ ८ ॥ तामा॑स॒न्दीं व्रात्य॒ आरो॑हत् ॥ ९ ॥ तस्य॑ देवज॒नाः परि॑ष्कन्दा॒ आस॑न्त्संक॒ल्पाः प्र॑हा॒य्या॒३॒॑ विश्वा॑नि भू॒तान्यु॑प॒सदः॑ ॥ १० ॥

जो इस प्रकारके विद्वान् व्रात्यका उपहास करता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥ २३ ॥ जो यह बात जान लेता है वह श्येत, नौधस, सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें (विद्युत् पुंश्चली) बिजली स्त्री, (स्तनयित्नुः मागधः) गर्जनेवाला मेघ प्रशंसाकर्ता, विज्ञान वस्त्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (श्रुतं विश्रुतं च परिष्कंदौ) ज्ञान विज्ञान ये उसके रक्षक, और मन उसका युद्धरथ है ॥ २६ ॥ श्वास और उच्छ्वास उसके रथके घोडे० (इत्यादि पूर्ववत्) ॥२७ २८ ॥ (४)

[३] [सः संवत्सरं ऊर्ध्वः अतिष्ठत्] वह वर्ष भरतक खडा रहा, [तं देवा अब्रुवन्] उसे देवोंने कहा, [व्रात्य, किं नु तिष्ठसि इति] हे व्रती, तू क्यों खडा है ? ॥ १ ॥ [सः अब्रवीत्] उसने कहा, [मे आसन्दीं सं भरन्तु इति] मेरे लिये बैठनेकी खुर्सी लाओ ॥ २ ॥ तब [तस्मै व्रात्याय आसन्दीं समभरन्] उस व्रतीके लिये बैठनेकी चौकी ले आये ॥ ३ ॥ [तस्याः ग्रीष्मः च वसन्तः च] उस चौकी के ग्रीष्म और वसन्त ये [द्वौ पादौ आस्तां] दो पांव थे और [शरत् च वर्षाः च द्वौ] शरत् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ [बृहत् च रथन्तरं च] बृहत और रथन्तर ये दो [अनूच्ये आस्तां] बाजूके फलक थे और [यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये] यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिरछे फलक थे ॥ ५ ॥ [ऋचः प्राञ्चः तन्तवः] ऋग्वेदके मन्त्र लंबाईके तन्तु थे और [यजूंषि तिर्यञ्चः] यजुर्वेदके मंत्र तिरछे तन्तु थे ॥ ६ ॥ [वेद आस्तरणं] वेद उसका बिछोना था और [ब्रह्म उपबर्हणं] ब्रह्म—ज्ञान उसका ओढनेका वस्त्र था ॥७॥ [साम आसादः] साम गदेला था और [उद्गीथः उपश्रयः] उद्गीथ तकिया था ॥८॥ [तां आसन्दीं व्रात्यः आरोहत्] इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर व्रती चढा ॥ ९ ॥ [देवजनाः तस्य परिष्कन्दाः आसन्]देवजन उसके रक्षक हुए, [संकल्पाः प्रहाय्याः] उसके संकल्प उसके दूत और [विश्वानि भूतानि उपसदः भवन्ति एव] सब भूत उसके साथ बैठनेवाले थे ॥१०॥

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद ॥ ११ ॥

(४)

तस्मै प्राच्या दिशः ॥१ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥२॥ वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥३॥ (१)

तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मावेनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ (२) ॥

तस्मै प्रतीच्या दिशः ॥ ७ ॥ वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ॥ ८ ॥ वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ (३) ॥

तस्मा उदीच्या दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ११ शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ (४) ॥

तस्मै ध्रुवाया दिशः ॥ १३ ॥ हैमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ ॥१४॥ हैमनावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥१५(५)

[यः एवं वेद] जो यह तत्व जानता है [विश्वानि भूतानि अस्य उपसदः भवन्ति एव] सब भूत इसके साथ बैठनेवाले साथी—मित्र—होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

[४] (तस्मै प्राच्यः दिशः) उसके लिये पूर्व की दिशा ॥ १ ॥ [वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्] वसन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, [बृहत् च रथन्तरं च अनुष्ठातारौ] बृहत् और रथन्तर सेवक बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसके प्राची दिशा, वसन्त ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और बृहत् तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥[१]

उसके लिये दक्षिण की दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसको दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते हैं ॥ ६ ॥ [२]

उसके लिये पश्चिम की दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥९॥ ३

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदृतुके दो मास रक्षक बनाये, और वैरूप तथा वैराज अनुचर ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महिने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदृतुके दो मास रक्षक बनाये, और श्येत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा, शरदृतुके दो महिने रक्षक होते हैं और श्येत और नौधस अनुचर होते हैं ॥१२॥ ४

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥१४॥ जो यह जानता है उसको ध्रुवदिशा हेमन्तके दो महिने रक्षक हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ [५]

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥ १६ ॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

[५]

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)
तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः । ० ॥ ५ ॥ (२)
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात् पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ७ ॥ (३)
तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ ९ ॥ (४)

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और द्यु तथा आदित्य अनुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा, शिशिर ऋतुके दो महिने रक्षक होते हैं और द्युलोक तथा आदित्य अनुगामी होते हैं ॥ १८ ॥ [६]

[५] (तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (इष्वासं भवं अनुष्ठातारं अकुर्वन्) धनुर्धारी भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है (एनं इष्वासः भवः) इसका धनुर्धारी भव (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के अन्तर्देशसे (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) अनुष्ठाता होकर रहता है । और (न शर्वः न भवः ईशानः एनं) न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घात करता है ॥ २ ॥ (न अस्य पशून् समानान् हिनस्ति) न इसके पशुओं और इसके समान बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है इसका धनुर्धारी शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व, भव अथवा ईशान इसका घातपात करता है और न पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ (२)

उसके लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (पशुपतिं इष्वासं ०) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठाता बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है इसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है, और इसका न शर्व, भव अथवा ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ [३]

उसके लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे (उग्रं देवं इष्वासं ०) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है, उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशा के अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ (४)

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन्०।० ॥ ११ ॥ (५)
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ०।० ॥ १३ ॥ [६]
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १४ ॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥१५॥
नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (७)

[६]

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यऽचलन् ॥ २ ॥
भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ (१)
स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥ ४ ॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥

उसके लिये (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (रुद्रं इष्वासं ०) रुद्रको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ ११ ॥ (५)

उसके लिये (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेवं इष्वासं ०) महादेवको धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बात को जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ऊर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न इसका शर्व, भव और ईशान घात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों की हिंसा करता है ॥ १३ ॥ (६)

उसके लिये (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इष्वासं ०) ईशान को धनुर्धारी अनुष्ठाता बनाया ॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठाता होकर रहता है । न इसका शर्व, भव अथवा ईशान नाश करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवों की हिंसा करते हैं ॥ १५--१६ ॥ (७)

[६] [सः ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्] वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये [तं भूमिः च अग्निः च ओषधयः च वनस्पतयः च] उसके अनुकूल भूमि अग्नि औषधि वनस्पति [वानस्पत्याः च वीरुधः च अनुव्यचलन्] छोटे और बडे वृक्ष अनुकूल होकर रहे ॥ २ ॥ [यः एवं वेद] जो यह जानता है [सः भूमेः च वै अग्नेः च] वह भूमि और अग्निका [ओषधीनां च वनस्पतीनां] औषधि और वनस्पतियों का [वानस्पत्यानां च वीरुधां] छोटे और बडे वृक्षोंका [प्रियं धाम भवति] प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ [१]

[सः ऊर्ध्वां दिशं ०] वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ४ ॥ इसलिये (तं ऋतं च सत्यं च सूर्यः च चन्द्रः च नक्षत्राणि च ०) उसके अनुकूल ऋत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह ऋत

ऋतस्यं च वै स सत्यस्यं च सूर्यस्य च चन्द्रस्यं च नक्षत्राणां च प्रियं धामं भवति य एवं वेदं ॥ ६ (२)

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥ तमृचंश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्य चलन् ॥ ८ ॥ ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धामं भवति य एवं वेदं ॥ ९ (३)

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥ तमितिहासश्चं पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य चलन् ॥ ११ ॥ इतिहासस्यं च वै स पुराणस्यं च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धामं भवति य एवं वेदं ॥ १२ (४)

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥ तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्चं यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्य चलन् ॥ १४ ॥

आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्चं यज्ञस्यं च यजमानस्य च पशूनां चं प्रियं धामं भवति य एवं वेदं ॥ १५ (५)

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥ तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्ध-मासाश्चाहोरात्रे चानुव्य चलन् ॥ १७ ॥

ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्चं प्रियं धामं भवति य एवं वेदं ॥ १८ ॥ (६)

सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ [२]

(सः उत्तमां दिशं०) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकुल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचः च सामानि यजूंषि च ब्रह्म च०) उसके अनुकूल ऋचा, साम यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा साम, यजु और ब्रह्ममंत्रोंका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ [३]

(सः बृहतीं दिशं०) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ इसलिये (तं इतिहासः च पुराणं च गाथाः च नाराशंसीः च०) इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह इतिहास, पुराण गाथा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ [४]

(सः परमां दिशं०) वह परम दिशा की ओर अनुकूल होकर चला॥१३॥इसलिये (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्निः च यज्ञः च यजमानः च पशवः च०) अनुकूल आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ [५]

(सः अनादिष्टां दिशां०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं ऋतवः च आर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च०) इसके अनुकूल ऋतु और ऋतुसंबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ, महिने, पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, आर्तव, लोक, लौक्य, मास, पक्ष और अहोरात्र का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥[६]

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥१९॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥२०॥
दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥ (७)
स दिशोऽनु व्यचलत् ॥२२॥ तं विराडनु व्यचलत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥२३॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२४॥
स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥
प्रजपतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धामं भवति य एवं वेद। २६। (९)

[७]

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत् ॥ १ ॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥
ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥
तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

(सः अनावृत्तां दिशं०) वह अनावृत्त दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न अवर्त्स्यन् अमन्यत) वहांसे वापस न होनेका विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अतः (तं दितिः च अदितिः इडा च इन्द्राणी च०) उसके अनुकूल दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ [७]

(सः दिशः अनुव्यचलत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला, इसलिये (तं विराट् सर्वेः देवाः च सर्वाःच देवताः अ०) उसको विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट सब देव और देवताओं का प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ [८]

(सः सर्वान् अन्तर्देशान् अनु ०) वह सब अन्तर्देशोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अतः (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु ०) उसको प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह अनुकूल होकर चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ (९)

[७] (सः महिमा स-द्रुः भूत्वा) वह बडा समर्थ गतियुक्त होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया। और (सः समुद्रः अभवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च श्रद्धा च वर्षं च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके साथ प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, श्रद्धा, और वृष्टी होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एनं आपः आगच्छति) इसको जल प्राप्त होते हैं, (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं वर्षं आगच्छति) इसको वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अन्नं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा, यज्ञ, लोक, अन्न और खानपान रहने लगे ॥ ४ ॥

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

जो यह जानता है (एनं श्रद्धा आगच्छति) इसको श्रद्धा प्राप्त होती है, (एनं यज्ञः आगच्छति) इसको यज्ञ प्राप्त होता है, (एनं लोकः आगच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एनं अन्नं आगच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एनं अन्नाद्यं आगच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[८]

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥ स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥ विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९]

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥ सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥
अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

[८] (सः अरज्यत) वह सबका रंजन करने लगा, अतः वह (राजन्यः अजायत) राजा—क्षत्रिय—हो गया ॥ १ ॥ (सः सबन्धून् विशः अन्नं अन्नाद्यं अभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुगणों समेत सब प्रजाको और अन्न तथा सब खानपानको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुबान्धवोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और सब प्रकारके खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

[९] (सः विशः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ अतः (तं सभा च समितिः च) उसको सभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचलन्) सैन्य और धनकोश अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह सभा, समिति, सैन्य और धनकोशका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

[१०] (तत् यस्य राज्ञः गृहान् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) इसको अपना कल्याणकर्ता मानकर उसका सम्मान करे। (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्चते) क्षात्र वृत्तिसे नहीं हटता और (तथा राष्ट्राय न आवृश्चते) ऐसा करनेपर राष्ट्रका अहितकारी भी नहीं होता ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) उससे ज्ञान और वीर्य उत्पन्न होता है, (ते अब्रूताम्) वे दोनों कहते हैं कि (कं प्रविशाव इति) हम कहां प्रविष्ट होकर रहें ॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्रा विंशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इतिं ॥ ४ ॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥ इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः ॥ ६ ॥ अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद ॥ ९ ॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

[११]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे ॥ ३ ॥ यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥

(अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्रविशतु) इससे निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दर ही ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होवे और (तथा वै इन्द्रं क्षत्रं इति) वैसा ही इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट होवे ॥ ४ ॥ (अतः वै बृहस्पतिं एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इसीलिये बृहस्पतिमें ज्ञान और इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वै उ पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति है और (द्यौः एव इन्द्रः) द्युलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वै उ अग्निः ब्रह्म) यह अग्नि निःसन्देह ब्रह्म है और (असौ आदित्यः क्षत्रं) वह आदित्य क्षत्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेद) अग्निको ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और यह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे तेजस्वी होता है ॥ ८—९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षत्र और (दिवं इन्द्रं वेद) द्युलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इंद्रकी शक्ति आजाती है और यह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १०–११ ॥

[११] (तत् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान् व्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छेत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि " (व्रात्य, क अवात्सीः) हे व्रतधारीजी ! आप कहां रहते हैं ? (व्रात्य, उदकं) हे व्रतधारीजी ! यह जल आपके लिये है । (व्रात्य तर्पयन्तु) हे व्रती ! ये मेरे लोग आपकी तृप्ति करें । (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे व्रतधारीजी ! जो आपको प्रिय हो वही होवे । (व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु) हे व्रताचारी जी ! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने । (हे व्रात्य, यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे व्रती ! जो आपकी अभिलाषा हो वैसा ही होवे ॥ २ ॥

(यत् एनं आह व्रात्य क अवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे व्रतपते, आप कहां रहते हैं ? तो (तेन देवयानान् पथः एव अवरुन्द्धे) उस प्रश्नसे वह देवयान मार्गोंको अपने आधीन करता है ॥ ३ ॥ (यत् एनं आह) जो इसको कहता है कि (व्रात्य उदकं इति) हे व्रतधारी, यह जल आपके लिये है, (तेन अपः एव अवरुन्द्धे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती! मेरे लोक आपकी तृप्ति करें, तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिदीर्घ करता है ॥ ५ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरे लिये प्रिय हो वही होवे, (तेन प्रियं एव अव, रुन्द्धे) इससे वह प्रिय पदार्थोंको अपने वशमें करता है ॥ ६ ॥

१ (अ. बृ. भा. पृ. १५)

ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे ॥१० ॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥११ ॥

[१२]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिं सृज होष्यामीति ॥ २ ॥ स चातिसृजेज्जुहुयान्न चाति-सृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥ स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥ न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥
पर्यस्यास्मिंल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥
अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥

(यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य प्रियः भवति) वह प्रियका प्रिय होता है॥ ७ ॥ (यत् एनं आह, व्रात्य, यथा ते वशः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती ! जो तेरी इच्छा हो वैसा ही होवे, (तेन वशं एव अवरुन्द्धे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (वशः एनं आगच्छति) उसको सब वश होते हैं, और वह (वशीनां वशी भवति) वशी लोगोंको वश करनेवाल होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह व्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे व्रती जो आपकी अभिलाषा है वह होवे, तो उससे (तेन निकामं एव अवरुन्धे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एनं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, यह जो जानता है उसको (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषाकी पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

[१२] (तत् यस्य गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि (उद्धृतेषु अग्निषु अग्निहोत्रे अधिश्रिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्य ब्रूयात्) स्वयं इसके सन्मुख जाकर कहे कि (व्रात्य अतिसृज होष्यामि इति) हे व्रती ! मुझे आज्ञा दो, मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥ (सः च अतिसृजेत्, जुहुयात्) वह आज्ञा देवे तो हवन करें,(न च अतिसृजेत् न जुहुयात्) यदि न आज्ञा देवे तो न हवन करे ॥३॥ (सः यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है, (पितृयाणं देवयानं च पंथां प्रजानाति) वह पितृयाण और देवयान मार्गको जानता है ॥ ४-५ ॥

(यः एवं विदुषा व्रात्येन अतिसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञासे हवन करता है (अस्य हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न आवृश्चते) देवोंमें इसका कोई दोष नहीं होता । (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (अस्य आयतनं परिशिष्यते) इसका आश्रय सुरक्षित रहता है ॥ ६-७ ॥

(अथ यः एवं विदुषा व्रात्येन अनतिसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकार के विद्वान् व्रतधारीकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥ ८ ॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पंथां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥१०॥
नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥११॥

(१३)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ७ ॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥१०॥
अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥११॥

(अस्य अहुतं भवति) इसका हवन विफल होता है ॥ १० ॥ (देवेषु आवृश्चते) देवोंका अपराधी होता है, (अस्मिन् लोके अस्य आयतनं शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (यः) जो ऐसे विद्वानकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥११॥

[१३] (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्या लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं,(तान् तेन एव अवरुन्धे) उन सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतचारी विद्वान् अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इससे (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः तृतीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्रीभर रहता है ॥ ५ ॥ (ये दिवि पुण्याः लोकाः) जो द्युलोकमें पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥६॥ (तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः चतुर्थीं रात्रीं वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्रीभर रहता है ॥७॥ (ये पुण्यानां पुण्य लोकाः) जो पुण्यकारकोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है॥८॥(तत् यस्य गृहे एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः अपरिमिताः रात्रीः वसति) जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतपालक अतिथि अपरिमित रात्रीतक रहता है ॥ ९ ॥ (ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अव्रात्यः व्रात्यब्रुवः नामबिभ्रती अतिथिः आगच्छेत्) जिसके घर व्रताचरण न करनेवाला, केवलनाम-धारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एनं कुर्वीत ?) क्या गृहस्थ उसका तिरस्कार करे ? (एनं न च कुर्वीत) इसका

कर्वैनं न चैनं कर्वैत् ॥ १२ ॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि
वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

[१४]

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्य॑चलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥
मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥ स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य॑चलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥ स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्य॑चलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अद्भिरन्नादीभि-रन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥
स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्य॑चलत् सप्तर्षिभिर्हुतआहुतिमन्नादीं कृत्वा ॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वानुव्य॑चलद् विराजमन्नादीं कृत्वा ॥ ९ ॥

तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ गृहस्थ कहे कि (अस्यै देवतायै उदकं याचामि) इस देवताके लिये उदककी प्रार्थना करता हूं, (इमां देवतां वासये) इस देवताका घरमें निवास करता हूं, (इमां इमां देवतां परिवेविष्यात्) इस देवताको परोसता हूँ ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तत् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका वह हवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह तत्त्व जानता है ॥ १४ ॥ [अर्थात् नामधारी अतिथि घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर सब भोग अपने उपास्यको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे । इस प्रकार करनेसे सब दान उसी देवताको पहुंचता है ।]

[१४] (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्धः भूत्वा) वायु बल होकर और (मनः अन्नादं कृत्वा)मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करनेकी मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां०) वह जब दक्षिण दिशाकी ओर चलता है, तब वह (इन्द्रः भूत्वाः) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (बलं अन्नादं कृत्वा) बल अन्नभक्षक बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥

(सः प्रतीचीं दिशं०) जब वह पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वरुणः राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (अपः अन्नादीः कृत्वा) जल को अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः अद्भिः अन्नं अत्ति) अन्नभक्षक जलके साथ अन्नभोग करता है ॥६॥ (सः उदीचीं दिशं०) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता,है, तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (अन्नादीं आहुतिं कृत्वा) अन्नभक्षक आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) सात ऋषियों-सात इंद्रियों द्वारा-हुत होकर [अनुव्यचलत्] चलता है ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह [आहुत्या अन्नाद्यां अत्ति] आहुतिसे अन्नादी का भोग करता है ॥ ८ ॥

(सः ध्रुवां०) वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है, तब (विष्णुः भूत्वा) विष्णुरूप बनकर (विराजं अन्नादीं कृत्वा) विराट् पृथ्वीको अन्नमयी बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह (विराजा अन्नाद्या अन्नं अत्ति)

विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥ स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥
स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥
स यन्मनुष्या३ननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥
स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥
स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥
स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

विराट् रूपी अन्नवाली गौ से अन्न भक्षण करता है ॥ १० ॥ (सः यत् पशून् अनुव्यचलत्) वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र बनकर और (अन्नादीः ओषधीः कृत्वा) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियां बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं अत्ति) अन्न भक्षण करने योग्य औषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ (सः यत् पितॄन् अनु०) वह जब पितरोंके साथ चलता है तब वह (यमः राजा भूत्वा) यम राजा बनकर (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधाकारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥

जो यह जानता है वह (अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति) अन्नभक्षण स्वधाकारके साथ करता है ॥ १४ ॥ (सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्) वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह (अग्निः भूत्वा) अग्नि होकर (स्वाहाकारं अन्नादं कृत्वा०) स्वाहाकारको अन्नभक्षक करके चलता है ॥ १५ ॥ यह जो जानता है वह (स्वाहाकारेण०) स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ (सः यत् ऊर्ध्वां दिशं०) वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है, तब वह (बृहस्पतिः भूत्वा) बृहस्पति होकर (वषट्कारं अन्नादं कृत्वा) वषट्कारको अन्नभक्षक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह (वषट्कारेण अन्नादेन०) वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ (सः यत् देवान् अनुव्यचलत्) जब वह देवोंके पास जाता है तब वह (ईशानः भूत्वा) ईशान बनकर (मन्युं अन्नादं कृत्वा) उत्साहको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ १९ ॥ जो यह जानता है वह (मन्युना०) उत्साहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥

(सः यत् प्रजाः अनु०) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है, तब वह (प्रजापतिः भूत्वा) प्रजापालक बनकर (प्राणं अन्नादं कृत्वा) प्राणको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह (प्राणेन अन्नादेन०) प्राणकी शक्तिसे अन्न भोग करता है ॥ २२ ॥ (सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है, तब वह [परमेष्ठी भूत्वा] परमेष्ठी होकर [ब्रह्म अन्नादं कृत्वा] ब्रह्मज्ञानको अन्नाद बनाकर चलता है ॥ २३ ॥ जो यह जानता है वह [ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं अत्ति] वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नादि भोग करता है ॥ २४ ॥

(१५)

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥ ३ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयः प्राणो ऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ ५ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥ ८ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥ ९ ॥

(१६)

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका॥२॥तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या॥३॥तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा॥४॥तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा॥५॥ तस्य व्रात्यस्य।योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः॥६॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः ॥ ७ ॥

---

[१५] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यके [सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः] सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं ॥ १-२ ॥

[तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य प्रथमः प्राणः] जो इसका पहिला प्राण है वह [अयं ऊर्ध्वः नाम अग्निः] यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय प्राण है [प्रौढः नाम असौ स आदित्यः] वह प्रौढ नामक यह आदित्य है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय प्राण है, वह [अभ्यूढः नाम असौ स चन्द्रमाः] अभ्यूढ नामक यह चन्द्र है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो यह चतुर्थ प्राण है वह [विभूः नाम अयं स पवमानः] विभू नामक यह पवमान वायु है॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम प्राण है वह [योनिः नाम ताः इमाः आपः] योनि नामक आप् है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके जो छः प्राण हैं वे [प्रियः नाम ते इमे पशवः] प्रिय नामक पशु हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो सात प्राण हैं वे [अपरिमिताः नाम ताः इमाः प्रजाः] अपरिमितनामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

[१६] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः प्रथमः अपानः] जो पहिला अपान है [सा पौर्णमासी] वह पौर्णमासी ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय अपान है वह अष्टका है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय अपान है वह अमावास्या है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ अपान है वह श्रद्धा है ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पञ्चम अपान है वह दीक्षा है ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो छठा अपान है वह यज्ञ है ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां अपान है वह दक्षिणा है ॥ ७ ॥

(१७)

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम् ॥२॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौः ॥३॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥४॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः ॥५॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः ॥६॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥७॥ तस्य व्रात्यस्य । समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च ॥८॥ तस्य व्रात्यस्य । यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च ॥९॥ तस्य व्रात्यस्य । एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

(१८)

तस्य व्रात्यस्य ॥१॥ यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः ॥२॥ योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ॥३॥ अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥४॥ अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पंचदशं काण्डं समाप्तम्

---

[१७] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यः अस्य] जो इसका [प्रथमः व्यानः] पहिला व्यान है वह [सा इयं भूमिः] यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस व्रात्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस व्रात्यका जो तृतीय व्यान है वह द्यौः है ॥ ३ ॥ उस व्रात्यका जो चतुर्थ व्यान है [तानि नक्षत्राणि] वह नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस व्रात्यका जो पांचवां व्यान है [ते ऋतवः] वे ऋतुएं हैं ॥ ५ ॥ उस व्रात्यका जो षष्ठ व्यान है वे [ते आर्तवाः] ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस व्रात्यका जो सातवां व्यान है वह संवत्सर है ॥ ७ ॥ उस व्रात्यके [समानं अर्थं] समान अर्थको [देवाः परियन्ति] सब देव घेरते हैं, अनुकूल होते हैं, [संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति] संवत्सरको निश्चयसे ये ऋतु अनुकूलतासे व्यापते हैं [व्रात्यं च] व्रात्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस व्रात्यके जो भाव [यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति प्रविष्ट होते हैं [अमावास्यां च एव तत् पौर्णमासीं च] अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे होते हैं ॥ ९ ॥ [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [तत् एषां एकं अमृतत्वं] वह इन सबका एक अमरपन है [इति एव आहुः] ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

[१८] [तस्य व्रात्यस्य] उस व्रात्यका [यत् अस्य दक्षिणं अक्षि असौ सः आदित्यः] जो दक्षिण नेत्र है वह सूर्य है [यत् अस्य सव्यं अक्षि असौ सः चन्द्रमाः] जो इसका सव्य नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १—२ ॥ जो इसका [दक्षिणः कर्णः] दाक्षिण कान है [सः अयं अग्निः] वह अग्नि है [यः अस्य सव्यः कर्णः] जो इसका बायां कान है [सः अयं पवमानः] वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ [अहोरात्रे नासिके] इसके अहोरात्र ये नाक है, (दितिः अदितिः च) दिति और अदिति (शीर्ष कपाले) सिरके दोनों कपाल हैं । और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका सिर है ॥ ४ ॥ (व्रात्यः अह्ना) यह व्रात्य दिनमें (प्रत्यङ्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके, और (रात्र्या प्राङ्) रात्रीके समय प्राचीदिशाके अनुकूल मुख करके रहता है । ऐसे [व्रात्याय नमः] व्रात्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पञ्चदशं काण्डं समाप्तम्

पञ्चदश काण्डका विचार।

व्रात्यका अर्थ।

इस पंदरहवें काण्डमें "व्रात्य" का विचार किया है। अतः इस काण्डमें व्रात्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस व्रात्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) 'व्रात' का अर्थ है 'समूह, समाज, संघ, मनुष्य, जनता' इसके लिये जो हितकारी (तेभ्यः हितः) है उसको 'व्रात्य' कहते हैं;

(२) (व्राते भवः व्रात्यः) समूहमें उत्पन्न, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संघमें रहनेवाला;

(३) समूहका पालक, पति किंवा स्वामी;

(४) व्रतोंके लिये समर्पित, व्रताचरणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, व्रती ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाला;

(५) (व्रजति इति व्रात्यः अस्य तः) भ्रमण करनेवाला परिव्राजक, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला; ।

इस तरह इस व्रात्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस व्रात्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेदमर्यादा और आश्रममर्यादाका उल्लंघन करनेवाला व्रात्य है ऐसा स्मृतिग्रंथोंका कथन है। स्मृतिके अनुसार व्रात्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्य न करनेसे पतित हुआ है। व्रात्यस्तोमसे इसकी शुद्धि करनेसे फिर वह पुनीत होता है और द्विजत्व प्राप्त करता है।

वेदका व्रात्य शब्द और स्मृतिका व्रात्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत् अन्तर है। वेदमें व्रात्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उसीका अर्थ अधम है। वेदका व्रात्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका व्रात्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दकी भिन्नता, श्रुति और स्मृतिमें कालका महत् अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी साक्षी देती है।

जिस तरह ब्राह्मणब्रुव, क्षत्रियब्रुव ये शब्द अधम ब्राह्मण और अधम क्षत्रियोंके वाचक हैं, उसी प्रकार (अथर्व० १५।१३।११ में आये। "अव्रात्य, व्रात्यब्रुव, नामबिभ्रती" ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। व्रात्य शब्द लगानेवाले, परंतु जो व्रात्य नहीं है। जैसे आजकल संन्यासनाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उसी प्रकार व्रात्यनामधारण करनेवाले परंतु व्रात्योंके श्रेष्ठ गुणोंसे हीन मनुष्य निन्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र (अ० का० १५।१३।११) स्पष्ट बता रहा है कि यहां व्रात्यका अर्थ बहुत ही पूज्य है।

व्रात्य ईश्वर।

व्रात्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतासे परमेश्वरमें सार्थ होते हैं। परमेश्वर व्रातों अर्थात् समूहों और गणोंका पति होनेसे व्रात्य है, संपूर्ण नियमों और व्रतोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह व्रात्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह व्रात्य है। इस तरह व्रात्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया सार्थ होते हैं। इसलिये इस पंदरहवें काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें इसी परमेश्वरका वर्णन व्रात्य शब्दसे किया है।

ईयमानः व्रात्यः प्रजापतिं समैरयत्। ११

"प्रेरक व्रात्यने प्रजापालक देवको प्रेरित किया," अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

सः प्रजापतिः सुवर्णं आत्मानं अपश्यत् तत् प्राजनयत्॥ १।२

"इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल दैवी प्रकृतिरूप प्रकृत्यात्माको देखा, और उसने सब जगत् निर्माण किया।" यहां 'सुवर्ण आत्मा' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा दैवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तेज है। चमक है, और यह त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे "एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, और सत्य" ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके सदृश "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं" ये सात नाम भी तुलनात्मक दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानों में "महत्, तप, सत्य" ये तीन शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि जो उत्पन्न हुए हैं, उनके सूचक ये शब्द हैं, ऐसा यहां प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् उस प्रेरक देवका महत्त्व सबको व्यक्त हुआ, और इसी कारण (सः महादेवः अभवत्) उसको महादेव कहने लगे। अर्थात् वह 'महादेव' शब्द अन्य छोटे देवोंका भी अधिदेव है, यह बात यहां व्यक्त होती है। यही बात निम्नलिखित मंत्रमें कही है।

स देवानां ईशां पर्यैत्, सः ईशानः अभवत् ।(१।५)

"वह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहने लगे ।" यहां देव—महादेव; ईश—ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ । देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वतोपरि अधिकार चलानेवाले सार्वभौम परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमें भी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा—परमात्मा ये शब्द भी पूर्वोक्त रीतिसे छोटे बडेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समयसमयपर दोनों अर्थोंसे प्रयुक्त होते हैं।

हमारे शरीरमें यह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु अपनेमें ईश हैं। अपनी प्रकृतिका स्वामी है, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, वह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बडा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंश है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवतांशोंपर जीवात्माका प्रभुत्व है। इसलिये यहां इंद्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है । इसी तरह छोटा और बडा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटोंकी अपेक्षा महादेव होता है वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है । इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है । इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं—

देव		महादेव	
ईश		ईशान	
आत्मा		परमात्मा	
ब्रह्म		परब्रह्म	
इन्द्र		महेन्द्र	
ईश		ईश्वर	
कीटाणु	[देव]	इंद्रियाधिपति	(महादेव)
इंद्रियाधिपति	,,	जीवात्मा	,,
जीवात्मा	,,	राजा	,,
राजा	,,	सम्राट्	,,
ग्रामपति	,,	प्रान्तपति	,,
प्रान्तपति	,,	राष्ट्रपति	,,
राष्ट्रपति	,,	जगत्पति	,,
चन्द्रादि ग्रह	,,	सूर्य	,,
तारागण	,,	विराट्	,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है । अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्तमें सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है । यह एक है अतः इसको "एक व्रात्य" अर्थात एकमात्र परमेश्वर, किंवा सबका एक नियन्ता कहा है । यह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, यही (इन्द्रधनुः=) प्रभुका धनुष्य ऐसा है कि (द्विषन्तं विध्यति) इस धनुष्यसे विद्वेषी लोगोंका पूर्ण नाश होता है । परमेश्वरका सर्वतोपरि शासन है और इस शासनसे हिंसकोंका नाश होता है और सज्जनोंकी रक्षा होती है, इसलिये इस एक देवकी उपासना सबको करनी चाहिये । यह उपदेश प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है ।

इसके आगे ब्रह्मचारीका वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं—

ब्राह्मणविभाग।

व्रात्य ब्रह्मचारी।

" ब्रह्मचारी " वह है कि जो " ब्रह्मके समान आचरण करता है, अथवा ब्रह्म बननेके लिये व्रतका आचरण करता है । " ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें प्रारंभके पर्याय सूक्तमें अच्छा वर्णन आगया है । ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है । और जो ब्रह्मचारी वैसा प्रभुऐश्वर्यसंपन्न होता है, उसकी योग्यता विशेष ही उच्च होती है ।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके देशदेशान्तरोंमें भ्रमण करता है, जनताको धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका भला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत्के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, विश्वेदेव, वरुण, सप्तर्षि आदि सब उसकी सहायता करते हैं, वेदके रथन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर उसके ज्ञानविज्ञानके साथ उपस्थित होते हैं । श्रद्धा उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें उपस्थित होती है, उसके समय उस धर्मपत्नी श्रद्धाके साथ उपासनाके कार्य वह करता है, इरा अर्थात् वाणी उसकी श्रद्धा की अनुचारिणी होती है, जैसी बिजली मेघमें शोभा देती है, इसी प्रकार उसकी

सुसंस्कृत वाणी उसके समय उसकी श्रद्धासे युक्त होकर उसकी शोभा बढाती है।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुतिपाठक है, अर्थात् वह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल सबके मित्र उस परमेश्वरकी स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है। किसी भी लालचमें पडकर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता। वेदमंत्रके उपदेशोंकी सत्यता देखकर ही उसको आश्चर्यदर्शक (हसः) हास्य आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (स्तनयित्नुः) होकर अमृत जैसे वेदोपदेशकी वर्षा ही होरही है।।

वस्त्र (वासः) शरीरकी लज्जानिवारणके लिये होता है, उसके शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धिकी लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वस्त्र (विज्ञान) ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध ही होता है। इसी विज्ञानका वस्त्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वस्त्राभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है। क्योंकि ज्ञान विज्ञान ही मनुष्य का उत्तम भूषण है।

दिन उसका शिरोवस्त्र, पगडी अथवा साफा है, रात्रीका कृष्ण वर्ण उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके कुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं। अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं। इस तरह यह ब्रह्मचारी निसर्गको ही अपना भूषण बनाता है, सोने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा पुरुष है उसके ये ही भूषण हैं। निसर्गनियमोंसे युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बनाते हैं।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं। इनके द्वारा वह सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचारका कार्य करता है। इसी तरह अमावास्या और पौर्णमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्री ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा [श्रुतं विश्रुतं] ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश और उसके मननसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं। यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आधार ' भूत ' कालके इतिहासमें होता है और इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बडी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इनसे श्रोताओंकी क्रमसे उन्नति होती है और दिन रात्रि का कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं। इस तरह [श्रुत] ज्ञान और [विश्रुत] विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है।

मनुष्य ' मनोरथ ' करता रहता है, ये केवल उसके 'मन' के ही " रथ " होते हैं। कई लोग हवामें किले बनाते हैं। वे भी मनोरथ ही होते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः— विपथं) मनके रथ उडाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही सैर करता है। इसके मनोरथके (मातरिश्वा पवमानः च) श्वास और उच्छ्वास ये दो घोडे हैं। जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राणकी स्थिरतापर मनकी स्थिरता अवलंबित है। क्योंकि मनके घोडे प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोडे प्राण हैं। ये घोडे स्थिर रहे तो ही रथ स्थिर रहता है और घोडे चलने लगे तो रथ चलता है। प्राण और मनका संबंध नित्य है यह गुप्त बात यहां इस अलंकारसे बतायी है। प्राणको चंचल रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको शान्त नहीं कर सकता।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीको कीर्ति और यश प्राप्त होता है। कीर्ति और यश की कुंजी इस सदाचार में है, इस की योग्यतामें इसका यश है। जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है। यह सब उपदेश पाठक द्वितीय पर्याय सूक्तमें देख सकते हैं।

ब्रह्मचारीका आसन।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है। उसकी यह तपस्या देखकर अन्योंको कष्ट होते हैं। वे उसको बैठनेके लिये चौकी देते हैं। परंतु जिस चौकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौकी होती है। लकडीकी चौकी उसको पसंद नहीं है।

इस ब्रह्मचारीके चौकीके पांव वसंत, ग्रीष्म, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं; अर्थात् इन ऋतुओं पर यह रहता है। बृहत्, रथन्तर आदि साम इस चौकी के फलक होते हैं। इस चौकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपडेके लंबाई चौडाईके

तन्तु ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं। अर्थात् वेदके ज्ञानकी गद्दीपर वह आरूढ होता है। इस ज्ञानमय सिंहासनपर वह विराजमान होता है, इस समय सब देव उसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खडे होते हैं।

जो ज्ञानके अटल आधारपर खडा होता है, उसकी ऐसी ही विशेष योग्यता होती है। यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है।

रक्षक ऋतु और देव।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि, छहों ऋतु और उनके बारहों महिने उसके (गोप्तारौ) रक्षक होते हैं। अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है।

इसके अनंतर पञ्चम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और अन्तर्दिशाओंमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रुद्र, महादेव और ईशान ये सात देव अपने धनुष्यबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं। पाठक यहां यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं। ये 'ईशान' के ही नाम हैं। ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं। वह एक देव सबका ईश अथवा स्वामी है इसलिये उसको 'ईशान' कहते हैं; इसके आधीन अनंत देव हैं उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको 'महादेव' कहते हैं। यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रुलाता है, इसलिये इसको 'रुद्र' कहते हैं। पापियोंको यही भयंकर 'उग्र' वीरभद्र प्रतीत होता है। इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रहती है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको 'पशुपति' कहते हैं। यह अत्यंत गतिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको "शर्व" (शर्वति गच्छति) कहते हैं और सब जगत्को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये इसको 'भव' कहते हैं। इस तरह ये सातों शब्द एक ही देवके वाचक हैं। यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये वे सात नाम इसको प्राप्त होते हैं। यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है।

देवोंकी सहायता।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है, ऐसा वर्णन है। भूमिके अन्दर उसको भूमि, अग्नि, औषधियां, वनस्पतियां, वृक्ष आदि सहायक होते हैं। ऊर्ध्वभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघोदक और वायुकी सहायता होती है। उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं। इतिहासकी बडी दिशामें इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी उसके अनुकूल होते हैं। यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते हैं। कालक्षेत्रमें ऋतु, महिने, पक्ष, अहोरात्र ये उसके सहायक होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढता है वहां (अदिति) मूल प्रकृति, (दिति) प्रकृतिकी विकृति, (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्ति (इडा) वाणी आदिकी सहायता होती है। और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (न अवरस्यन् इति अमन्यत) यहांसे वापस न होऊंगा ऐसा मानता है। इतनी तल्लीनता उसमें इसको प्राप्त होती है। आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सब का प्रिय धाम बनता है।

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर उसको उत्तम श्रद्धा स्वानुभवसे प्राप्त होती है। इसके पश्चात् वह इस अनुभवको कभी भूलता नहीं। यही पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है। यही सच्चा ब्राह्मण है।

क्षत्रियविभाग।

वैदिक स्वराज्य।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचर्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय होता है। इसको 'राजन्य' इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत) वह लोगोंका रंजन करता है। जनोंको प्रसन्न रखता है। वह जनताको सुरक्षित रखता है। सब प्रजाजनों की रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार खानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं। इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरणका ही उपदेश करते हैं-

(सः विशः अनुव्यचलत्) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मचर्य पालन के पश्चात् राजगद्दीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलाने लगा। राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाको (सभा) ग्रामसभा, (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद, (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य, धनकोश उसके अनुकूल होते हैं। अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होता उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती। इसका सीधा भाव यह

है कि प्रजाकी सभा, सेना और धनकोश इनपर राजाका अधिकार नहीं है। इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही इनकी अनुकूलता राजाको होती है, अन्यथा नहीं।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है। पूर्ण स्वराज्य इसीका नाम है। जिस राज्यव्यवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा ही राजगद्दीपर रह सकता है और प्रजाका भंजन करनेवाला राष्ट्रसे उतारा जाता है और जिस शासनसंस्थामें धनकोश, सेना और राष्ट्रसभा प्रजामतके आधीन होते हैं, उसीको "वैदिक स्वराज्यशासन" कह सकते हैं। इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी शासन समझना उचित है।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनकोश वाचक है। 'सुर ऐश्वर्ये' धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदिका वाचक बनता है। 'सुरा' शब्दका आजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मद्य' है, यह अर्थ यहां नहीं है।

इस तरह क्षात्रनीतिका वर्णन इस सूक्तमें है और यह आजकलके स्वराज्यवादियों के लिये भी एक उत्साह जनक वैदिक संदेश है।

अतिथिसत्कार।

आगे दसवें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय सूक्तोंमें अतिथिसत्कारका महत्त्वपूर्ण विषय चला है। यहां कहा है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी समझे कि (एनं आत्मनः श्रेयांसं मानयेत्) यह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और इसका सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा। अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे। ब्राह्मण प्रत्यक्ष बृहस्पति है और क्षत्रिय (आदित्यः) सूर्य अथवा इन्द्रकी मूर्ति है। यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथि रूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बडा भाग्य है ऐसा समझना चाहिये। अतिथि घरपर आनेपर उसका आदर सत्कार इस प्रकार किया जावे-

१ (व्रात्य क्व अवात्सीः) ब्रह्मचारीजी, आप कहांके रहनेवाले हैं ?

२ (व्रात्य उदकं) ब्रह्मचारीजी, आपके लिये यह जल लाता हूं।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको तृप्त करें।

४ (व्रात्य, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे विद्वान्, जो आपके लिये प्रिय हो वही बने, वही किया जायगा।

५ (यथा ते वशः तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही होगी।

६ (यथा ते निकामः, तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो वही हो। उसीके अनुसार हम करेंगे।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके घरके मनुष्य आतिथिसेवा करें। और उसकी सेवामें कोई न्यूनता न रखें।

यदि गृहस्थीके अग्निहोत्र करनेके समय अतिथि आजाय, अथवा अतिथि आनेपर अग्निहोत्र करनेका समय होजावे, तो गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अग्निहोत्र करे। यदि अतिथि आज्ञा देवे तो अग्निहोत्र करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे। यदि किसी गृहस्थीने आतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका वह हवन व्यर्थ होता है॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

अतिथि अनेक दिन घरमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी तरहसे की गयी तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आजावे, तो भी उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके सब भाग उस देवताको समर्पण करनेकी मनीषासे उस अतिथिको दिये जावें। इससे उपास्य देवकी पूजा होती है।

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है।

अतिथिका रूप।

(शर्वः) बल स्वरूप, (इन्द्रः) शत्रुनिर्दलन करनेवाला (वरुणः) वरिष्ठ देव, (सोमः) शान्त रूप, (विष्णुः) सर्वत्र भ्रमण करनेवाला, (रुद्रः) शत्रुओंको रुलानेवाला, (यमः) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (अग्निः) तेजस्वी, (बृहस्पतिः) ज्ञानवान्, (ईशानः) स्वामी, (प्रजापतिः) प्रजाका पालक, (परमे-ष्ठी) परम उच्च पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है। सुयोग्य आतिथिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम प्राप्त होते हैं। मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें एकत्रित होते हैं।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके अनंतर पंद्रहवें पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है। इस अतिथिमें सात प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पशु और प्रजा ये सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं। सात प्राण ये सात इंद्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अपानोंका वर्णन है। पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ

और दक्षिणा ये सातों उसके अपानोंमें रहते हैं । मनुष्योंका सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (सर्वं दुःखं अपानयति इति अपानः) अपान है । ये सातों श्रद्धा दीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यहां अपान रखा है ।

आगे सतरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका व्यान, भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भवपदार्थ, संवत्सर रूप हैं ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिकी आंखें सूर्य और चन्द्र, कान अग्नि और वायु, नाक अहोरात्र, शीर्षकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर उसका सिर है ।

इस प्रकारका पूज्य ब्रात्य सबको नमस्कार करनेयोग्य है ।

इस प्रकरणमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता । तथापि इससे इतना ही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है ।

इस पंदरहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है । और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थीको करना अत्यंत आवश्यक है ।

पंदरहवाँ काण्ड समाप्त

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

षोडशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार.

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

द्वितीय वार

संवत् २००७, शक १८७२, सन १९५०

हमारा विजय !

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व॒रस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

(अथर्ववेद १६ । ८ । १)

"हमारे लिये विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, प्रकाश, यज्ञ, पशु, प्रजाजन और वीर प्राप्त हों।" हमारा सर्वत्र दिग्विजय होवे।"

प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवलेकर, B, A.
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, किल्ला पारडी जि० सूरत.

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

षोडश काण्ड ।

इस सोलहवें काण्डमें भी विभिन्न विषयोंके मंत्र नहीं हैं, प्रायःसब काण्डका मुख्य विषय ''पापमोचनपूर्वक विजयप्राप्ति'' है । सब मंत्रोंका साध्य यही एक है और इसलिये अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें इन मंत्रोंका परिगणन किया है ।

इस काण्डके प्रारंभमें 'अतिसृष्टः ' शब्द है। इसका भाव है "मुक्त हुआ"। काण्डके प्रारंभमें मुक्त होनेका उल्लेख मंगलवाचक है अर्थात् इस शब्दसे इस काण्डका मंगलाचरण हुआ है ।

इस काण्डमें ९ पर्यायसूक्त हैं, पहिले चार पर्यायसूक्तोंका एक अनुवाक है और शेष पांच सूक्तोंका दूसरा अनुवाक है । इस काण्डमें कुल मंत्र १०३ हैं परंतु दूसरी प्रकारकी गिनतीसे ९७ हैं । अब इसके ऋषि देवता छंद देखिये-

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	१३	अथर्वा	प्रजापतिः	१, ३ द्विप. साम्नी बृहती; २, १० याजुषी त्रिष्टुप् ४ आसुरी गायत्री; ५,८ साम्नी पंक्तिः (५ द्विप.); ६ साम्नी अनुष्टुप्; ७ निचृत् विराड् गायत्री; ९ आसुरी पंक्तिः; ११ साम्नी उष्णिक्; १२, १३ आर्ची अनुष्टुप् ।
२	६	,,	वाक्	१ आसुरी अनुष्टुप्; २ आसुरी उष्णिक्; ३ साम्नी उष्णिक् ४ त्रिप. साम्नी बृहती; ५ आर्ची अनुष्टुप्; ६ निचृद्विराड् गायत्री ।
३	६	ब्रह्मा	आदित्य	१ आसुरी गायत्री; २,३ आर्ची अनुष्टुप्; ४ प्राजा. त्रिष्टुप् ५ साम्नी उष्णिक्; ६ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्। १,३ साम्नी अनुष्टुप्; २ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप० अनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ आर्ची उष्णिक्; ७ त्रिप. विराड् गर्भानुष्टुप्
	७	,,	,,	
द्वितीयोऽनुवाकः				
५	१०	यम.	दुःस्वप्ननाशनं	प्र. १-६ विराड् गायत्री (५ प्र. भुरिक्, ६ प्र. स्वराज्), १ द्वि, ६ द्वि. प्राजा० गायत्री; १ तृ; ६ तृ. द्विप. साम्नी बृहती ।

६	११	,,	,, उषा	१-४ प्राजा० नुष्टुप्; ५ साम्नी पंक्तिः; ६ निचृत् आर्ची बृहती; ७ द्विप. साम्नी बृहती. ८ आसुरी जगती; ९ आसुरी बृहती; १० आर्ची उष्णिक्; ११ त्रिप. यवम० गायत्री; आर्ची अनुष्टुप्.
७	१३	,,	,,	१ पंक्तिः; २ साम्नी अनुष्टुप्; ३ आसुरी उष्णिक्, ४ प्राजा० गायत्री; ५ आर्ची उष्णिक्, ६, ९, ११ साम्नी बृहती; ७ याजुषी गायत्री; ८ प्राजा० बृहती १० साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजा० अनुष्टुप्, १३ आसुरी त्रिष्टुप्।
८	२७ (३३)	,,	,,	प्र. १-२७ एकप. यजुर्ब्राह्मी अनुष्टुप्; द्वि. १-२७ त्रिप. निचृद्गायत्री; तृ. १ प्राजा० गायत्री; च. १-२७ त्रिप. प्राजा. त्रिष्टुप्; तृ. २-४, ९, १७, १९, २४ आसुरी जगती; तृ. ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ आसुरी त्रिष्टुप्; तृ. ६, १२, १४—१६, २०- २३, २७ आसुरी पंक्तिः; तृ. २५, २६ आसुरी बृहती।
९	४ ९७ (१०३)		१ प्रजापति २ मंत्रोक्त० ३,४ सूर्यः	१ आर्ची अनुष्टुप्; २ आर्ची उष्णिक्; ३ साम्नी पंक्तिः; ४ परोष्णिक्।

इस काण्डमें एक सूक्तके ही ९ पर्यायसूक्त होनेके कारण काण्डके अन्तमें ही सब मंत्रोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

षोडशं काण्डम्

दुःखमोचन और विजयप्राप्ति।

(१)

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥
रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥
तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

---

१ [१] [अपां वृषभः अतिसृष्टः] जलोंकी वर्षा करनेवाला मुक्त हुआ, [दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः] दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ [रुजन् परिरुजन्] तोडता हुआ, सब रीतिसे फोडता हुआ, [मृणन् प्रमृणन्] मारता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ [म्रोकः खनः] घातक और खोदनेवाले [निर्दाहः] दाह करनेवाले [मनो-हा] मनका नाश करनेवाले [आत्मदूषिः] आत्माको दूषण देनेवाले और [तनू-दूषिः] शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ [इदं तं अतिसृजामि] इस और उस शत्रुको मैं दूर करता हूं [तं मा अभ्यवनिक्षि] उसको मैं कदापि पुनः प्राप्त न होऊं ॥ ४ ॥ [यः अस्मान् द्वेष्टि] जो हमारा द्वेष करता है और [यं वयं द्विष्मः] जिसका हम द्वेष करते हैं, [तं तेन आभि अति सृजामः] उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥५॥ [अपां अग्रं असि] तू जलोंका अग्रभाग हो [यः समुद्रं अभिअवसृजामि]

अपामग्नमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥
योऽप्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥
यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद् वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत् ॥ ९ ॥ अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ १२ ॥
शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥ १३ ॥

(२)

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥ मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम् ॥ २ ॥
उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः ॥ ३ ॥
सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

तुम्हें समुद्रके प्रति मैं छोड देता हूं ॥ ६ ॥ [यः अप्सु अग्निः] जो जलोंमें अग्नि है [तं अति सृजामि] उसको मैं मुक्त करता हूं । [म्रोकं खनिं तनूदूषिं] घातक खादक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूं ॥ ७ ॥ [यः अग्निः आपः वः आविवेश] जो अग्नि आप जलोंके प्रति प्रविष्ट हुआ है [सः एषः] वह यह है, [यत् वः घोरं तत् एतत्] जो आपके लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ [इन्द्रस्य इंद्रियेण वः अभिषिञ्चेत्] इन्द्रके इंद्रियसे आपका अभिषेक किया जावे ॥ ९ ॥ [अरिप्राः आपः] निर्दोष जल है वह [अस्मत् रिप्रं अप] हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥ [अस्मत् एनः प्रवहन्तु] हमसे पाप दूर करे तथा [दुष्वप्न्यं प्र वहन्तु] दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥ हे [आपः] जलो! [मा शिवेन चक्षुषा पश्यत] मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो, [मे त्वचं शिवया तन्वा उपस्पृशत] मेरी त्वचाको अपनी शुभ तनूसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ [अप्सुषदः शिवान् अग्नीन् हवामहे] जलमें रहनेवाले शुभकारी अग्नियोंको हम बुलाते हैं, [देवीः] हे दिव्य जलो [मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त] मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण करो ॥ १३ ॥

[२] [दुः अर्मण्यः निः] दुर्गति दूर हो, [ऊर्जा मधुमती वाक्] बलवाली मीठी वाणी हो ॥ १ ॥ वाणी [मधुमती स्थ] मीठी हो, [मधुमतीं वाचं उदेयं] मीठा भाषण बोलूं ॥ २ ॥ [मे गोपा उपहूतः] मेरा गोपालक —इंद्रियपालक—बुलाया गया, [गोपीथः उपहूतः] वाणीका रक्षक, गोरक्षक अथवा इंद्रियरक्षक बुलाया है ॥ ३ ॥ [सु-श्रुतौ कर्णौ] मेरे दोनों कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों, [भद्रश्रुतौ कर्णौ] कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों, [भद्रं श्लोकं श्रूयासं] कल्याणमयी प्रशंसा मैं सुना करूंगा ॥ ४ ॥ [सुश्रुतिः च उपश्रुतिः च] उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति [मा मा हासिष्टां] मुझे कदापि न छोडें । [सौपर्णं ज्योतिः चक्षुः] गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास [अजस्रं] सदा रहे ॥ ५ ॥ [ऋषीणां प्रस्तरः असि] तू ऋषियोंका प्रस्तर है, [दैवाय प्रस्तराय नमः अस्तु] देव रूप प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

(३)

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥
उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥
विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥
बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥
असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

(४)

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥
स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥
मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥
सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥
प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

---

[३] [रयीणां अहं मूर्धा भूयासं] धनोंका मैं मस्तकके समान ऊंचा स्वामी बनूं। तथा [समानानां मूर्धा भूयासं] समानों में मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ [रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां] तेज और कान्ति मुझे न छोडें, [मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां] सिर और विशेष धर्म मुझे न छोडें ॥ २ ॥ [उर्वः च चमसः च मा मा हासिष्टां] पकानेके पात्र और चमस मुझे न छोडें। [धर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां] धारक और आधार देनेवाला मुझे न छोडे ॥ ३ ॥ [विमोकः च आर्द्रपविः च मा मा हासिष्टां] मुक्त करनेवाला और गीला शस्त्र मुझे न छोडे। [आर्द्रदानुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां] जल देनेवाला और वायु मुझे न छोडें ॥ ४ ॥ [बृहस्पतिः मे आत्मा] मेरा आत्मा ज्ञानवाला और [नृमणाः नाम हृद्यः] मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ [मे हृदयं अ संतापं] मेरा हृदय संतापरहित हो। [गव्यूतिः उर्वी] मेरे गौवोंकी युती बडी हो। [विधर्मणाः समुद्रः अस्मि] विशेष धर्मोंसे मैं समुद्रके समान हूं ॥ ६ ॥

[४] [अहं रयीणां नाभिः] मैं धनोंका केन्द्र और [समानानां नाभिः भूयासं] समानोंका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ [मर्त्येषु अमृतः] मर्त्योंमें अमर [सु-आसत्] उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और [सु-उषा] उत्तम तेजवाला तू आत्मा [असि] हो ॥ २ ॥ [प्राणः मां मा हासीत्] मुझे न छोडे। [अपानः अवहाय मा परा गात्] अपान भी छोडकर दूर न चला जावे ॥ ३ ॥ [सूर्यः अह्नः मा पातु] सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे, [अग्निः पृथिव्याः] अग्नि पृथ्वीसे [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षसे [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्योंसे और [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पृथ्वीसे उत्पन्न पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ [प्राणापानौ मा मा हासिष्टां] प्राण और अपान मुझे छोडें, [जने मा प्रमेषि] मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ हे [आपः] जलो ! [अद्य स्वस्ति] आज कल्याण हो, [उषसः दोषसः च] दिनों और

स्वरस्त्यं घोषसो दोषसंश्च सर्वं आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥
शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

(५)

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ ३ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।०।० ॥ ४ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।०।० ॥ ५ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ६ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।०।० ॥ ७ ॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ८ ॥ अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ ९ ॥ तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥१०॥

(६)

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥१॥ उषो यस्माद् दुष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु॥ २ ॥

रात्रियोंसे [सर्वः सर्वगणः] सब ओर सब गणोंसे युक्त होकर [अशीय] सुख प्राप्त करूं ॥ ६ ॥ [शक्वरीः स्थ] आप सामर्थ्यवान हो, [पशवः मा उपस्थेषुः] पशु मेरे पास रहें, (मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्निः मे दक्षं दधातु) अग्नि मुझे बल धारण करे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है । तू (ग्राह्याः पुत्रः असि) तू व्याधीका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमका साधन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्युः असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (तं त्वा तथा सं विद्म) उस तुझको वैसा हम जानते हैं । हे स्वप्नः ! (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्रं विद्म) हे स्वप्न तेरी उत्पत्तिका हेतु हमें पता है तू (नि-र्ऋत्याः पुत्रः असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य०) यमका साधन है० ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्रः०) अभूतिका पुत्र है ० ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्रः०) निर्धनताका पुत्र है० ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्रः०) पराभवका पुत्र है ० ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्रः) इंद्रियविकृतियोंका पुत्र है० ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्युः असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं त्वा तथा सं विद्म) हे स्वप्न, उस तुझ को वैसा हम जानते हैं (सः नः दुष्वप्न्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य अजैष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है (अद्य असनाम) हमने प्राप्तव्यको प्राप्त किया है (वयं अनागसः अभूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ हे (उषः) उषः काल ! हम (यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म) जिस दुष्टस्वप्नसे डरे

द्विषते तत् परा वह शपते तत् परा वह ॥ ३ ॥
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः ॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्यु १ षसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥
तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ॥ १० ॥
तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

(७)

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि ॥ १ ॥ देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥ वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥ एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥ यो३ स्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु

भय होता है, (तत् अप उच्छतु) वह हमसे दूर होवे ॥२॥ (तत् द्विषते परा वह) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् शपते परा वह) वह शाप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है, (तस्मै एनत् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वाणीसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥

(उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वाणीके पतिके साथ संमिलित हो, और (वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः) वाणीका पति उषाके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते अरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनामवाले कष्ट और अन्य आपत्तियां (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावें ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्) घटके समान बढनेवाले उदररोगों, शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्न्यं) जाग्रतिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न, और (स्वप्ने दुष्वप्न्यं) स्वप्न के समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (अवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुच्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रोहोंके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चलें। (यथा) जिससे वह शत्रु (वध्रिः) निर्बल, (विथुरः) व्यथायुक्त और (साधुः न असत्) बुरा होवे ॥ ११ ॥

(७) (तेन एनं विध्यामि) उससे इसका वेध करता हूं, (अभूत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विध्यामि) दुर्गति दारिद्र्य और रोगसे इसको विद्ध करता हूं। (पराभूत्या०) पराभवसे इसको पीडित करता हूं (तमसा एनं विध्यामि) अज्ञानसे इसको विद्ध करता हूं ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैषैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूं ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दधामि) वैश्वानरकी दाढोंमें इसको धर देता हूं ॥ ३ ॥ (वा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे या अन्य रीतिसे इस शत्रुको (अव गरत्) निगल जाय ॥ ४ ॥ (यः अस्मान्-

यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥ सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥

इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

यददोअदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

(८)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वऽरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥ २ ॥

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेष्टु) उसका आत्मा द्वेष करे। (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेष्टु) वह अपने आत्माका द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवालेका (दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः भजामः) सामना करते हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ! ॥ ७ ॥ (इदं अहं) यह मैं (अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्न्यं मृजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूं ॥ ८ ॥ (यत् अदः अदः) जो यह दोष (अभिगच्छन्) मैं उसमें प्राप्त करता हूं (यत् दोषा यत् पूर्वां रात्रिं) जो रात्रीमें अथवा पूर्व रात्री में ॥९॥ (यत् जाग्रत्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यत् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ (यत् अहः अहः अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूं (तस्मात् एनं अव दये) उस दोषके कारण मैं उसको मारता हूं ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्य पृष्टीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियां तोड दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः जहातु) उसको प्राण छोड देवे ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (अस्माकं ऋतं) हमारा सत्य हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढे, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढे, (अस्माकं स्वः) हमारा आत्मप्रकाश बढे, (अस्माकं यज्ञः) हमारा यज्ञ सफल हो , (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजाः) हमारी प्रजा-संतान-बढे, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥

(तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चढाते हैं (अमुं अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं असौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ग्राह्याः पाशात् मा मोचि) वह रोगके पाशोंसे न छूटे॥३॥ (तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निवेष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं घेरता हूं और (इदं एनं अधराञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूं ॥ ४ ॥ ०॥० (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुर्गतिके पाशोंसे न

जितम्०।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ५ ॥

जितम्०।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ६ ॥

जितम्०।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ७ ॥

जितम्०।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।० ॥ ८ ॥

जितम्०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥ ९ ॥

जितम्०।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥१०॥

जितम्०।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।० ॥११॥

जितम्०।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।० ॥१२॥

जितम्०।०। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि ।० ॥१३॥

जितम्०।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।० ॥१४॥

जितम्०।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।० ॥१५॥

जितम्०।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।० ॥१६॥

जितम्०।०। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।० ॥१७॥

जितम्०।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।० ॥१८॥

जितम्०।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।० ॥१९॥

जितम्०।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।० ॥२०॥

जितम्०।०। स आर्तवानां पाशान्मा मोचि ।० ॥२१॥

जितम्०।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥२२॥

जितम्०।०। सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि ।० ॥२३॥

जितम्०।०। सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥२४॥

जितम्०।०। सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।० ॥२५॥

जितम्०।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥२६॥

जितम्०।०। स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि ।० ॥२७॥

जितम्०।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।० ॥२८॥

जितम्०।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।० ॥२९॥

छूटने पावे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः अभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशोंसे न छूटे । ० ॥ ६ ॥ ० ॥ ० (सः निर्भूत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुरवस्थाके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात् मा मोचि) वह पराभवके पाशसे न छूटे ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० [सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि] वह इंद्रियदोषोंके पाशोंसे न छूटे ० ॥ ९ ॥ ० । ० ॥ (सः बृहस्पतेः ···प्रजापतेः ···ऋषीणां ···आर्षेयाणां ···अंगिरसां ···आंगिरसानां

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥३०॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१॥
स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥३२॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥३३॥

(९)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ।

इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

...अथर्वणां ...आथर्वणानां ...वनस्पतीनां ...वानस्पत्यानां ...ऋतूनां ...आर्तवानां ...मासानां ...अर्धमासानां ... अहोरात्रयोः ...अह्नः संयतः ...द्यावापृथिव्योः ...इन्द्राग्न्योः ...मित्रावरुणयोः ...वरुणस्य राज्ञः ...मृत्योः पड्वीशात् मा मोचि)॥ १०—३२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोंसे उत्पन्न, आंगिरस्, अंगिरसोंसे उत्पन्न, अथर्व, अथर्वोंसे उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोंसे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुओंसे उत्पन्न, महीने, अर्धमास, अहोरात्र, दिन, द्यु, पृथिवी, इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, राजा वरुण और मृत्युके पाशोंसे न बचे ॥ १०—३२ ॥ [तस्य इदं वर्चः ०] उसका यह तेज, कान्ति, प्राण आयु आदिको मैं घेरता हूं और उसको नीचे गिराता हूं ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं उद्भिन्नं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृतनाः अरातीः) सब शत्रुसेनाका निरोध किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः उ तत् आह) सोमने यह कहा है। (पूषा सुकृतस्य लोके मा धात्) पूषा मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥ हम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिको प्राप्त होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं। (सूर्यस्य ज्योतिषा सं अगन्म) सूर्यकी ज्योतिसे हम संयुक्त होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होऊं (वसुमान् यज्ञः) ऐश्वर्य यज्ञ ही है (वसु वंशिषीय) ऐश्वर्य प्राप्त करूं। (मयि वसु धेहि) मुझमें धन की धारणा कर ॥ ४ ॥

षोडश काण्ड समाप्त।

विजय की प्राप्ति ।

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेसे छोटा बालक भी अपना पराभव सह नहीं सकता, पराभवकी आशंका होगयी तो बालक भी रोता है, पीटता है और पराभवसे दूर भागनेकी चेष्टा करता है। इसी तरह मनुष्यके अन्दर भी पराभवका स्वागत करनेकी इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढे, अपनी कीर्ति दिगन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करें और लाभ उठावें।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका विचार यहां नहीं किया जासकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका थोडासा स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर इंद्रियां, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विकृति आदिका संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी निज शक्तिसे परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिमें निर्विघ्नतया लगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहां प्रत्येक इंद्रियकी प्रकृति, उसकी विकृति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यशास्त्र, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आगये हैं। इसकी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि-

> निर्दाहः तनूदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इदं तं अतिसृजामि।

"शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूं।" इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराभव होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संचय होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता होती है और इस सबसे आत्माका अधःपतन होता है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करें और जाने कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्लेश कैसे होते हैं; यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्लेशोंकी ये चार ही जडें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं-

> शमः तनूशुद्धिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इंद्रियदमन, इंद्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनूशुद्धिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बल बढ जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अध्यात्मोन्नतिके ये चार साधन हैं और इसी लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है-

> ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
> संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥
> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥
> भ० गी० २

"विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रियां रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंसे कार्य कराते हुए भी प्रसन्न रहता है; चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होते है और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।" इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविजयके विषयका विचार करनेके समय बडे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आत्मामें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये-

रुजन्, प्रमृणन्, श्रोकः, खनः। (पर्यायसू. १।२-३।)

जहां दोष होते हैं वहां वे "तोडते हैं, मरोडते हैं, कुचलते हैं, फोडते हैं, काटते हैं, खोदते हैं, गढा करते हैं" इस तरह अनेक रीतिसे नाश करते हैं। पाठक काम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे, तो उनको स्पष्टतया पता लग जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोडने, मरोडने, खोदने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो वीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो खूनके-जीवनबिंदु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विकार तोडने मरोडने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यात्मिक भूमिकाके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वयं द्विष्मः, तं अभि अतिसृजाम। (मं १।५)

श्रोकं खनिं तनूदूषिं अतिसृजामि (मं १।७)

"जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम द्वेष करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनको हम दूर करते हैं। घातक खोदक और शरीरमें दोष बढानेवाले सब दोषोंको हम दूर करते हैं।" यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये-

यत् वः घोरं तत् (अतिसृजामि)। (मं १।८)

अरिप्राः आपः अस्मत् एनः प्रवहन्तु। (मं० १।९-१०)

आपः शिवया तन्वा मा उपस्पृशत। (मं० १।१२)

इन्द्रस्य इन्द्रियेण अभिषिञ्चेत् (मं० १।९)

"जो आपके अंदर भयंकर हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूं। दोष दूर करनेके लिये जलसे चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरोंसे सब दोष और सब पापोंको दूर करें। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिसे अभिषेक किया जावे यहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है; वह अत्यंत महत्त्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होंगे उनको जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरको शीतजलका स्पर्श सुख देनेवाला जब लगता है तब समझना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें घुसे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिके जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भींगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिसे सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरभर आत्मशक्तिका सुखसे संचार होना चाहिये। इससे-

मयि क्षत्रं वर्चः आधत्त। (मं० १।१३)

" मनुष्यमें क्षात्रबल और तेजस्विता बढेगी। " जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही वीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी कान्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीरका उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इसीलिये—

अपां वृषभः अतिसृष्टः।

दिव्याः अग्नयः अतिसृष्टाः। (मं० १।११)

" जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुआ अर्थात् उससे वृष्टि होगयी,, दिव्य अग्नि जो बिजलियां हैं वे भी खुली रीतिसे प्रकाशित हो रही हैं। " अर्थात् विशेष वृष्टि होगयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य उससे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करें। यहां आत्मिक उन्नति का उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि जैसे मेघ जगत् की भलाईके लिये पूर्णतासे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्मयज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस काण्डके प्रथम पर्याय सूक्तमें मुख्यतः कहे हैं। अपनी उन्नति चाहनेवाले पाठक इसके मननसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यकता

होती है। पवित्रताके बिना किसीकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है। अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है। सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+शर्मण्यः निः। (मं. २।१)

"दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो।" हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्तिके सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है। और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्यों को दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंके आश्रयस्थान दूर हों, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह सर्वसाधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देश्यसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आत्मसुधारका मार्ग दर्शाया है-

ऊर्जस्वी मधुमती वाक्। मधुमतीं वाचं उदेयम्। (मं २।१-२)

"वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।" मनुष्योंके अन्दर जो झगडे फिसाद होते हैं, उसका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें विष भरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो उससे कदापि कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ हो जाय। केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जः) बल चाहिये। उत्साहकी वृद्धि करनेवाले शब्द उच्चारने चाहियें। नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको 'गुलाम' करके पुकारते हैं, दूसरेको 'तू मरेगा' करके कहते हैं, 'तू बडा हराम है' ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मलीन होती ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह उत्साहपूर्ण बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें। अपने पुत्रको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहे, 'तू अमर होगा' ऐसा बोलें, 'तू सत्यस्वरूप है' 'तू स्वयं आनन्दमय है' ऐसा कहें। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनोंमें उत्साहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी 'कुडाराम' रखनेके स्थानमें 'निर्भयराम' ऐसे रखें। जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हो। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा उत्साहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर यहां केवल दो ही शब्दों द्वारा दिया है। "गो-पा, और गो-पीथः" ये दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका संपूर्ण सत्यधर्म इन शब्दोंमें आचुका है। 'गोप' का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और 'गोपीथ' का अर्थ है इंद्रियोंका पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे गोरक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते है, इसी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बढावें और उनको वश भी रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे वे ही (उपहूतः) पास बुलाने योग्य हैं। और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे बुलाने योग्य नहीं हैं। पाठक इसका विचार करें और इस वेदोपदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारें। आगे कानों के विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है-

भद्रश्रुतौ कर्णौ। सुश्रुतौ कर्णौ। भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।
सुश्रुतिः उपश्रुतिः च मा मा हासिष्टाम्। (मं० २।४-५)

"मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों। कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करूंगा। उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कभी क्षीण न हो।" यहां कानों की सार्थकता का साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान इसीलिये दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेद में भी कहा है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
(ऋ० १।८९।८)

"हम कानोंसे कल्याणकारक उपदेश सुनें और आंखोंसे कल्याणकारक वस्तु देखें।" ये सब उपदेश इसीलिये हैं कि इनसे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो। इस प्रकार कानोंके विषयमें कहनेके पश्चात् नेत्रके विषयमें भी कहा है-

सौपर्णं चक्षुः अजस्रम् (मं० २।५)

"गरुडके समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि हो" और वह उत्तम कल्याण की वस्तुएं देखें। इस प्रकार इंद्रियशुद्धिके विषयमें इस पर्यायसूक्तमें कहा है। यही—

ऋषीणां प्रस्तरः असि। दैव्याय प्रस्तराय नमः।

(मं० २।६)

'तू ऋषियोंका प्रस्तर है। इस दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है।" ऋषियोंकी चट्टान आत्मा है। यही दिव्य चट्टाण है। इसके विषयमें प्रत्येकने अपने अन्तः करणमें पूज्य भाव धारण करना चाहिये। इसी आत्माकी उपासनासे सब का हित होनेवाला है। यहां तक उपदेश इस द्वितीय पर्यायसूक्तमें कहा है।

अधिभौतिक विजय।

पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसको अपना आधिभौतिक विजय संपादन करनेका यत्न करना चाहिये। इसका विचार इस १६ वें काण्डके तृतीय पर्यायसूक्तमें किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक अब देखें।

अहं रयीणां मूर्धा भूयासं। समानानां मूर्धा भूयासम्

(मं. ३।१२)

अहं रयीणां नाभिः भूयासं। समानानां नाभिः भूयासम्

(मं. ४।१-२)

"मैं धनोंका स्वामी और केन्द्र बनूं। मैं समान दर्जेके लोगोंमें मुखिया और उनके मध्य केन्द्र बनूं।" अपनी योग्यता नेता बनाने योग्य होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं होसकता तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बननेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा। इस दृष्टिसे इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मानुकूल उन्नतिका यत्न करें। ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने अन्दर बढाने चाहियें, उनकी सूचना इसी सूक्तमें अगले मंत्रोंमें दी है, देखिये—

रुजः, वेनः, मूर्धा, विधर्मा, उरुः, चमसः, धर्ता, धरुणः, विमोकः, आर्द्रपविः, आर्द्रदानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम्॥ (मं० ३।२-४)

"तेजस्विता, महत्त्वाकांक्षा, मस्तिष्क की शक्ति, विशेष गुण धर्म, यज्ञसाधन, धारकशक्तियां, बन्धमुक्तिकी इच्छा; स्निग्ध शस्त्र, दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करें।" ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढेंगे तो ही वह मनुष्योंका केन्द्र और मुखिया बन सकता है। ये गुण विशेष महत्त्वके हैं; अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये। (रुजः) तेजस्विता, इसमें शरीर, इंद्रिया, मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताओंका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने। (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी इच्छा। इसी इच्छासे मनुष्य पुरुषार्थी होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है। (मूर्धा) सिर, अर्थात् मस्तिष्क। मनुष्यकी योग्यता उच्च वा नीच होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है। अतःमनुष्य को उचित है कि वह अपनी मस्तिष्क की शक्ति बढावे। (वि-धर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना। साधारण गुणकर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह समाजका और राष्ट्रका केन्द्र बननेका इच्छुक हो, तो उसको उचित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी वृद्धि करे। सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे नव धर्म तपस्यादिसे अपने अन्दर बढाने चाहिये। (उरुः चमसः) ये यज्ञपात्र हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपलक्षण हैं। सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञरूप जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। मनुष्य क्रतुरूप होना चाहिये। शतक्रतु बनना मनुष्यका ध्येय है। (धर्ता) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है। दूसरे प्राणियोंको अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है। (धरुणः) इसका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है। स्वयं स्थिर रहकर दूसरोंको दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है। मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये।

(वि—मोकः) विमोचन करनेवाला, मनुष्योंको मुक्त करनेवाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंको स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है। यही लोगोंका परित्राण, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनोंका विनाश और धर्म की स्थापना करनेका अर्थ है। (आर्द्र—पविः)

पविका अर्थ है तलवार, वज्र किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिसका शस्त्र गीला होता है अथवा शत्रुका नाशक रनेके लिये जिसका शस्त्र आर्द्र अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (आर्द्र-दानुः) आर्द्रता, स्नेहसे आर्द्रभावका जो दान करता है, जिसका मन स्नेहसे सदा आर्द्र रहता है, जो दयार्द्र रहता है उसका यह नाम है। (मातरि—श्वा) अपनी माताके अन्दर जिसका आश्रय होता है, जो मातृभक्त है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमि की सेवा होवे, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है ॥

ये बारह शब्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यसे कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंसे और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुरुष युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उच्च होते हैं। यहां कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन गुणधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आत्माका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं–

आत्मा बृहस्पतिः नृमणः हृद्यः। (मं० ३।५)
विधर्मणा समुद्रः अस्मि। (मं० ३।६)
मर्त्येषु अमृतः वृषा। (मं० ४।२)

"आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा फैला हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।" ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्वोक्त गुणोंको अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आत्मिक बल प्राप्त होनेसे–

असंतापं हृदयं। उर्वी गव्यूतिः। (मं० ३।६)

"हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गोनाम इंद्रियोंकी गति बडी विस्तृत होती है।" अपनी सब शक्ति बढती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शांति उसके सब व्यवहारमें दीखती है और वह कैसे भी भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर हो कार्य करता है कभी आक्रान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूं यह उसका विश्वास उसको निडर करता है और महान् सत्कर्म उससे कराता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं–

सूर्य···वायु···अग्निः···यमः···सरस्वती···पातु।
(मं. ४४)

"सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।" सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणीके स्थानमें, यम शिस्नस्थानमें, सरस्वती बुद्धिस्थानमें रहकर उसको हरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिसे युक्त पुरुषको इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आचुका है और वेदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यज्ञरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, यह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये यह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि–

प्राणः मां मा हासीत्। अपानः अवहाय मा परागात्
(मं० ४।६)

"मेरा प्राण और अपान मुझे छोडकर न दूर जावे।" यह ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे जनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि–

मित्रावरुणौ मे प्राणापानौ। शक्वरीः आपः स्वस्ति।
(मं० ४।७)

"अपने प्राण और अपान ये अब प्रत्यक्ष मित्र और वरुण देवता हैं और जलके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा कल्याण करता है।" इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह दुष्ट कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवतारूप स्वरूप बनता है, वह सहजही गतिसे प्रशस्त कार्य करता है, उसको वैसे, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विश्वरूप बना होता है, इस समय वह अनुभव करता है कि–

अग्निः मे दक्षं। (मं० ४।७)

"अग्नि अपने में बल धारण करता है।" अन्य देव अन्यान्य सामर्थ्य धारण करते हैं। इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है। ऐसे महात्माकी धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और वही मनुष्य जगत्को अच्छा मार्ग बता सकता है। युगयुगमें ऐसे सत्पुरुष आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पडकर सडनेवालोंको बन्धननिवृत्तिका मार्ग बताते हैं।

स्वप्न।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है। इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं–

ग्राह्याः···निर्ऋत्याः···अभूत्याः···निर्भूत्याः···पराभूत्याः देवजामीनां पुत्रः स्वप्नः। (मं० ५।१-८)

"रोग, दुरवस्था, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और इंद्रियदोष इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं। ये दुष्ट स्वप्न मानो मृत्युका संदेश होते हैं। इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज घुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करें। दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका भी थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये। (ग्राही) भयानक रोग जो शरीरमें आनेपर सहसा शरीरको छोडते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं। ऐसे रोग शरीरमें होनेपर वारंवार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजोंको दूर करना चाहिये। शरीर निर्दोष और नीरोग करना चाहिये। इस कार्यके लिये इसी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है। (निर्ऋति) ऋतिका अर्थ है उन्नति, अभ्युदय, समर्थता और सामर्थ्य। इसके विरुद्ध अर्थ निर्ऋति का है। अवनति, अधःपात, क्षीणता और निर्बलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लाना चाहिये। (अभूति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भूति) महासंकटमें पडना तथा (पराभूति) पराभव होना, परतंत्र, पराधीन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये भिन्न भिन्न उपाय होते हैं। अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये। मुख्य उपाय स्वावलंबनसे स्वाधीनता प्राप्त करना है। (देवजामी) अपने शरीरमें देव नाम इंद्रियोंका है, उनकी शक्तियां विविध हैं। इनकी न्यूनाधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं। इस कारण संयमादिद्वारा अपने इंद्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्नसे होती है मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभ विचारवाला है वा अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है। मनुष्यको ऐसे स्वप्न आजांय तो अच्छा है – कि "मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, ऋषिआश्रम में ऋषियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सत्पुरुषोंका समागम होरहा है।" ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा बिलकुल स्वप्न ही न हुए तो समझना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है। अन्यथा बुरे स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये। अतः कहा है-

यस्मात् दुष्वप्न्यात् अभैष्म तत् अपउच्छतु।

(मं० ६।२)

"जिस दुष्टस्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्टस्वप्नका कारण हमसे दूर होवे।" वह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे। इस प्रकार अपने आपकी निर्दोषता सिद्ध करनेपर ही वह निर्दोष मनुष्य कह सकते हैं कि–

अद्य अजैष्म, अद्य असनाम, वयं अनागसः अभूम

(मं० ६।१)

"आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्तव्य था वह प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं।" निष्पाप होनेसे ही सब प्राप्तव्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है। विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है। पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भाव होता है वह केवल भासमात्र है। उसमें गहरी अवनतिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्माचरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त करनी चाहिये और वही चिरस्थायी होगी।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है। यह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह शत्रु अध्यात्मभूमिकामें

कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं। दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उसको हटाना चाहिये। तभी विजय प्राप्त हो सकता है।

विजय।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्मीको कण्ठ करने योग्य है. वह मंत्र अब देखिये-

अस्माकं जितं, उद्भिन्नं, ऋतं, तेजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः, प्रजाः, वीराः ॥ (मं० ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यहां प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं-

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी शक्ति बढानेसे ही हो सकता है (उद्भिन्नं) यह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना अपना- शक्तिविकास, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजोवृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किया जाता है, वह अपनी आंतरिक सुस्थितिपर निर्भर होता है। (ऋतं) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें टेढापन नहीं है। प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तोही पूर्वोक्त विजय साध्य होगा। (तेजः) तेजस्विता, प्रभाव, उग्रता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं। (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, आत्मसामर्थ्य, विज्ञान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा। अनृतके साथ इसका होना सर्वथा असंभव है। (स्वः, स्वर्) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक। (यज्ञः) देवपूजा, संगतिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सबकी स्थिति और उन्नति होती है। (पशवः) गौ, बैल, घोडे आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं। (प्रजाः) संतती, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन। (वीराः) वीर पुत्र तथा वीर्यवान् लोग अथवा शूरवीर। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं। पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और सायंप्रातः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उस प्रभुके पास प्रार्थना मनोभावसे करें।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पाठक स्वयं पढकर उनका आशय समझ सकते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही वचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं-

जितं अस्माकं, उद्भिन्नं अस्माकं, विश्वा अरातीः पृतनाः। (मं० ९।१)

"हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं।" तथा—

पुण्ये सुकृतस्य लोके मा धात्। (मं० ९।२)

" ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे " ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध पूत और पवित्र बनूंगा। तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म ॥ (मं० ९।३)

"आत्माका तेज प्राप्त करें, सूर्यकी ज्योतिसे मिलें।" तथा-

वस्योभूयाय वसुमान् भूयासम्। वसुमान् यज्ञः। वसु वंसिषीय (मं० ९।४)

"बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊं। क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये।"

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुबोध हैं कि मानो यही इस सब काण्डका सार है। पाठक इनका मनन करेंगे तो उनको भी अत्यंत आनन्द होगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उल्हसित ही होगा।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका, अपनी जातीका, और अपने राष्ट्रका विजय संपादनके कार्यमें कृतकृत्य होंगे।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

सप्तदशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार.

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७, शक १८७२, सन १९५०

लोकप्रिय !

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ॥
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥

(अथर्ववेद १७ । १ ।)

“ शत्रुका दमन करनेवाले, शत्रुके लिये असह्य, शत्रुका वारंवार नाश करनेवाले, दुष्टोंका पराजय करनेवाले, बल बढानेवाले, तेजस्वी, इंद्रियविजयी, धनोंको जीतनेवाले, प्रशंसनीय प्रभुकी मैं प्रशंसा करता हूं । उससे मैं प्रजाजनोंके लिये प्रिय होऊं ।”

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर, B. A.
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, किल्ला पारडी जि० सूरत.

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तदश काण्ड ।

इस सतरहवें काण्डकी ' आदित्य ' देवता है और इस एक ही देवताके सब मंत्र इसमें हैं । इस काण्डमें कुल ३० मंत्र हैं । अर्थात् ३० मंत्रोंके एक सूक्तका ही यह काण्ड है । इस काण्डके तीन विभाग हैं । १० + १० + १० मिलकर तीन विभागोंमें ३० मंत्र बांटे गये हैं । परंतु ये विभाग दशतिविभाग हैं, ये कोई अर्थदृष्टिसे अथवा किसी अन्य कारणसे नहीं बने हैं । जो दशति विभाग होते हैं वे दस मंत्रोंके होते हैं, और उनके साथ अर्थका कोई संबंध नहीं होता है ।

इसके अतिरिक्त इस काण्डके ५ विभाग भी किये जाते हैं । १—५; ६-१९; २०-- २३; २४—२६; २७—३० इस प्रकार मंत्र इन पांच विभागोंमें बांटे जाते हैं । अन्तिम दो विभाग क्रमशः विशेषतः अनुष्टुभ् और त्रिष्टुभ् छन्द प्रधान हैं । अन्य विभाग विषयकी और मंत्रोंकी समानताके अनुसार माने गये हैं, यह बात पाठक मंत्रोंको देखकर समझ सकते हैं । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अब इस काण्डके ऋषिदेवता और छन्द देते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१	३०	ब्रह्मा	आदित्यः	१ जगति; १-८ त्र्यवसाना; २-५ अतिजगति ६, ७, १९ अत्यष्टी; ८, ११, १६ अतिधृति; ९ पंचपदा शक्करी, १०- १३, १६, १८-१९, २४ त्र्यवसाना १० अष्टपदा धृतिः; १२ कृतिः; १३ प्रकृतिः; १४-१५ पंचपदाशक्करी; १७ पंचपदा विराडतिशक्करी; १८ भुरिगष्टिः २४ विराडत्यष्टिः; १-५ षट्पदा; ११-१३, १६, १८-१९, २४ सप्तपदा; २० ककुप्; २१ चतुष्पदा उपरिष्टाद्बृहती; २२ अनुष्टुप्; २३ निचृद्बृहती; २५, २६ अनुष्टुप्; २७, ३०. जगती; २८—२९ त्रिष्टुभ् ।

यह काण्ड केवल तीस मंत्रोंके एक ही सूक्तका होनेसे और इसमें प्रायः एक ही विषय होनेसे सबका मिलकर अन्तमें स्पष्टीकरण करेंगे—

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

सप्तदशं काण्डम्

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना।

(१)

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥१॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥२॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥३॥

अर्थ—(विषासहिं) अत्यंत समर्थ, (सहमानं) अत्यंत बलवान, (सासहानं) नित्य विजयी, (सहियांसं) शत्रुको दबानेवाले, (सहमानं) महाबलिष्ठ, (सहोजितं) बलसे दिग्विजय करनेवाले, (स्वःजितं) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो-जितं) भूमि, इंद्रियों और गौओंको जीतनेवाले (संधनाजितं) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, (ईड्यं नाम इन्द्रं) प्रशंसनीय यशवाले प्रभुकी मैं (ह्वे) प्रशंसा करता हूं, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयासं) दीर्घायु होऊं ॥ १ ॥ ०।०।० (देवानां प्रियः भूयासं) मैं देवोंका प्रिय बनूं ॥ २ ॥ ०।०।० (प्रजानां प्रियः ०) प्रजाओंका प्रिय होऊं ॥ ३ ॥ ०।०।०

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥४॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥६॥
उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥७॥
मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र । हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥८॥
त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥९॥
त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव । आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥

(पशूनां प्रियः०) पशुओंका प्रिय होऊं ॥ ४ ॥ ० । ० । ० (समानानां प्रियं भूयासं) समान योग्यतावाले पुरुषोंको भी प्रिय बनूं ॥ ५ ॥

हे (सूर्य) सूर्य ! (उदिहि उदिहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । (वर्चसा मा अभ्युदिहि) अपने तेजसे उदित होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो । (द्विषन् च मह्यं रध्यतु) मेरा द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जावे, परंतु (अहं च द्विषते मा रधम्) मैं द्वेष करनेवाले शत्रुके वश कभी न होऊं । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि) तेरे ही वीर्य अनेक प्रकारके हैं । (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर । और (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (मा सुधायां धेहि) मुझे अमृतमें धारण कर ॥ ६ ॥ (उदिहि०) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो, उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करो (यान् च पश्यामि यान् च न) जिन प्राणियोंको मैं देखता हूं और जिनको नहीं भी देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें मुझे सुमतिवाला कर । (तव इत ०।० इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥ (सलिले अप्सु अन्तः ये पाशिनः) जलोंके अन्दर जो पाशवाले (अत्र उपतिष्ठन्ति) यहां आकर उपस्थित होते हैं वे (त्वा मा दभन्) तुझे न दबा देवें । (अशस्तिं हित्वा एतां दिवं आरुरुक्षः) निन्दाको त्यागकर द्युलोक पर आरूढ हो और (सः नः मृड) वह तू हमें सुखी कर, (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहेंगे । (तव इत् ०।०) ॥ ८ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बडे सौभाग्यके लिये (अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि) न दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुरक्षित रख । (तव इत् ०।०)॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः ऊतिभिः शंतमः भव) तू कल्याणपूर्ण रक्षणोंके साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाले हो । (त्रिदिवं आरोहन्) द्युलोकपर आरूढ होकर (दिवः गृणानः) प्रकाशको देता हुआ (सोमपीतये स्वस्तये प्रियधामा) सोमपान और कल्याणके लिये प्रिय स्थान हो । (तव इत् ०।०)॥ १० ॥

त्वामिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥११॥

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१२॥

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि । ययेन्द्र तन्वान्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१३॥

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि-पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१४॥

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योऽमन् ॥१५॥

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥१६॥

---

[११] हे इन्द्र ! तू (विश्वजित्, सर्ववित्) जगत् जेता और सर्वज्ञ है, और हे इन्द्र ! तू (पुरुहूत.) बहुत प्रशंसित है। हे इन्द्र ! (त्वं इमं सुहवं स्तोमं एरयस्व) तू इस उत्तम प्रार्थनावाले स्तोत्रको प्रेरित कर । (सः नः० तव इत् ०।०) ॥११॥ हे इन्द्र ! तू (दिवि उत पृथिव्यां अदब्धः असि) द्युलोकमें और इस पृथ्वीपर न दबा हुआ है । (अन्तरिक्षे ते महिमानं न आपुः) अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सकते । (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ (दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) द्युलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर । (तव इत् ०।०) ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः) जो तेरा अंश जलोंमें है, (या पृथिव्यां या अग्नौ अन्तः) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है, (हे इन्द्र ! या ते पवमाने स्वः-विदि) और जो तेरा अंश पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण द्युलोकमें है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ) जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापते हो, (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर । (तव इत् ०।०) ॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी मंत्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्रं निषेदुः) प्रार्थना करनेवाले ऋषिगण सत्र नामक यागमें बैठते हैं (तव इत् ०।०) ॥ १४ ॥ हे व्यापक देव ! (त्वं तृतं = त्रितं) तू तीनों स्थानोंमें प्राप्त (सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं उत्सं) सहस्रधाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण स्रोतको (पर्येषि) व्यापता है । (तव इत् ०।०) ॥ १५ ॥

हे देव ! [त्वं चतस्रः प्रदिशः रक्षसे] तू चारों दिशाओं की रक्षा करता है । अपने [शोचिषा नभसी विभासि] तेजसे आकाशको प्रकाशित करता है । [त्वं इमाः भुवना अनुतिष्ठसे] तू इन सब भुवनोंके अनुकूल होकर ठहरता है और [विद्वान् ऋतस्य पन्थां अन्वेषि] जानता हुआ सत्यके मार्गका अनुसरण करता है । [तव इत् ०।०] ॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याऽणि ।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योऽमन् ॥१७॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः । तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याऽणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योऽमन् ॥१८॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याऽणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योऽमन् ॥१९॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि । स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

(२)

रुचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥२१॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥२२॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः। विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥२३॥

(पञ्चभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पांचों शक्तियोंसे परे तपता है और (एकया अर्वाङ) एकसे उरे तपता है। और (सुदिने अशस्तिं बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अप्रशस्तताको दूर हटाता हुआ चलता है। (तव इत् ०।०) ॥ १७ ॥ हे देव !(त्वं इन्द्रः)तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बडा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक—प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः) तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितायते) यज्ञ तेरे लिये फैलाया जाता है और (जुह्वतः तुभ्यं जुह्वति) हवन करनेवाले तेरे लिये आहुतियां देते हैं। (तव इत् ०।०) ॥ १८ ॥ (असति सत् प्रतिष्ठितं) असत् में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सत् अर्थात् आत्मा रहा है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) सत् में अर्थात् आत्मामें उत्पन्न हुआ जगत् रहा है, (भूतं ह भव्ये आहितं) भूत होनेवालेमें आश्रित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित हुआ है (तव इत् ०।० ॥ १९ ॥ (शुक्रः असि) तू तेजस्वी है, (भ्राजः असि) तू प्रकाशमय है, (स त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः असि) जैसा तेजस्वी है (एव अहं भ्राजता भ्राज्यासं) वैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊं ॥२०॥

(रुचिः असि) तू प्रकाशमान है, (रोचः असि) तू देदिप्यमान है (सः त्वं यथा रुच्या रोचः असि) वह तू जैसा तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्रह्मवर्चसेन च रुचिषीय) वैसेही मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊं ॥ २१ ॥ (उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, [उदायते नमः] ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, [उदिताय नमः] उदयको प्राप्त हुएको नमस्कार, [विराजे नमः] विशेष प्रकाशमानको नमस्कार, [स्वराजे नमः] अपने तेजसे चमकनेवालेको नमस्कार, [सम्राजे नमः] उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥ [अस्तंयते नमः] अस्त होनेवालेको नमस्कार, [अस्तं एष्यते नमः] अस्तको जानेवालेको नमस्कार, [अस्तमिताय नमः] अस्त हुएको नमस्कार, [विराजे, सम्राजे, स्वराजे नमः] विशेष तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान और अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥२५॥

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥२६॥

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥२७॥

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥२८॥

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्। मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्। व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥३०॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्

(अयं आदित्यः विश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित है। (मह्यं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको वश करता है, (अहं च द्विषते मा रधं) परंतु मैं कभी वशमें न होऊं। (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव ! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं। (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंवाले पशुओंसे परिपूर्ण कर। और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृत में मुझे धारण कर ॥ २४ ॥ हे आदित्य ! (स्वस्तये शतारित्रां नावं आरुक्षः) हमारे कल्याण के लिये सेकडों आरोंवाली नौकापर आरूढ हो। (मा अहः अति अपीपरः) मुझे दिनके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रीके समय भी साथ रहकर पार पहुंचा ॥ २५ ॥ हे सूर्य ! तू हमारे (स्वस्तये) कल्याणके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रीके समय पार कर ॥ २६ ॥ (अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदर्शक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदष्टिः कृतवीर्यः) वृद्धावस्था तक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहस्रायुः) विविध कर्मोंसे युक्त सहस्रायु- पूर्णायु- होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदर्शक देवके तेजसे और बलसे युक्त होकर (याः दैवीः मानुषीः इषवः वधाय अवसृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधकेलिये भेजे गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों, उनसे मेरा वध न होवे ॥ २८ ॥ (ऋतेन गुप्तः) सत्यके द्वारा रक्षित, (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूतेन च भव्येन गुप्तः अहं) भूत और भविष्यद्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूं। (पाप्मा मा, उत मृत्युः मा मा प्रापत्) पाप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो। (अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे) मैं अपनी वाणीको— अपने शब्दको पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूं। वाणीकी पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूं ॥ २९ ॥ [गोप्ता अग्निः विश्वतः मा परिपातु] रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे। [उद्यन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदतां] उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंको दूर करे। [व्युच्छन्तीः उषसः] प्रकाशयुक्त उषाएं और [ध्रुवाः पर्वताः] स्थिरपर्वत [सहस्रं प्राणाः मयि आ यतन्तां] सहस्रों प्रकारके प्राण मेरे अन्दर फैलाते रहें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

सप्तदश काण्डका मनन ।

अपने अभ्युदयका विचार करनेवाले पाठक इस काण्डका मनन अधिक करें। विशेषतः पहिले पांच मंत्रोंका जो एक मंत्रगण है, उसका अत्यंत मनन करें। ये पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयेच्छु पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहिये और बढाने चाहिये। उन्नति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय बनना।

[अहं] देवानां, प्रजानां, समानानां, पशूनां प्रियः भूयासं; आयुष्मान् भूयासम् ॥ [मं० १-५]

"मैं देवोंका, प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका, और पशुओंका प्रिय होऊं, और दीर्घायु बनूं।" इसमें मुख्य बात दीर्घायु बननेकी है, क्योंकि आयु, आरोग्य और बल रहा तोही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है। अतः उन्नतिशील मनुष्योंको उचित है कि, वे धर्मानुसार आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें।

इतना होनेके पश्चात् देव, प्रजा, समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये और इसकी सिद्धिके लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये। 'देव' का अर्थ जैसा 'देवता' है वैसा ही 'भूदेव, क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव' ये चार प्रकारके चातुर्वर्ण्यके श्रेष्ठ पुरुष भी देव कहलाते हैं। इनके मनमें इस मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह फलाना मनुष्य उत्तम है, उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें, प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे, अर्थात् यह लोकप्रिय बने, लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो, अर्थात् ज्ञानियोंका प्रेम विशेष ज्ञानीपर होता है, वीरोंका प्रेम समर्थ वीर पर होता है, समानोंका प्रेमभाजन होनेके लिये उनसे विशेष उत्कट गुण होने चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेमभाजन बने। पशुओंका भी प्रेम संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा, तब पशु स्वयं इसपर प्रेम करने लगेंगे। यहां इसकी भूतदयामें विशेषता होना चाहिये। इस विवेचनसे पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समानलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें नियम यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा; तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जायगे।

वीरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उन्नतिशील मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहियें और बढाने चाहिये। यदि पाठक इन दस शब्दोंका मनन करेंगे तो उनको वीरताके दस शुभ गुणोंका पता लग सकता है—

(१) गो— जित् = 'गो' शब्दका अर्थ 'इंद्रिय और भूमि' है। ये अर्थ लेकर यहां विचार करना चाहिये, पहिला अर्थ है (गो— जित्) इंद्रियोंको जीतनेवाला है, अपनी इन्द्रियोंका संयम करनेवाला, मनोनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उन्नतिका प्रारंभ 'आत्म— विजय' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठीन है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका साधन करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृभूमिको विजयी करना यह इसका भाव है। मुख्यतया यहां आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होते हैं।

(२) स्वः-- जितं = (स्व- र् -- जितं) आत्मप्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजका विजय करना, आत्मसंमानका विजय करना, अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बडी भारी वीरता है।

(३) धनंजय-- जित् = उत्तम धनोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक बडी भारी वीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है उसको धन कहा जाता है। अतः धन शब्दसे केवल रुपये आने पाई समझना शुद्ध भ्रम है। गौवें भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विद्या भी धन है, प्रतिष्ठा धन है, सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान = आत्मिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सहमान = शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। " सहस् " शब्दका अर्थ ' बल ' है और इसके अर्थ " शक्ति, विजय, तेज और जीवन " हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहां योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बल भी अन्तर्भूत होता है।

[६] सहो—जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

[७] सहीयान् = शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आजावे उससे न डरता हुआ, उसको सहन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणका प्रतिकार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

[८] सासहान = शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे, अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोडता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको वापस लौटा देता है।

[९] विषासहि = जिसका आक्रमण शत्रुपर हुआ, तो शत्रुको परास्त होकर भागना पडता है, जिसका आक्रमण शत्रुको असह्य होता है।

[१०] ईडयः नाम इन्द्रः = प्रशंसनीय यशस्वी (इन्+द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये दस शब्द यहां इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंको अपने अन्दर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर ये वीरताके गुण बढावें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्रकी उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्र केवल रटनेमात्रसेही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंकी धारणासे ही मनुष्यकी उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करते हैं वेही अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इन्हीके विषयमें कहा है कि–

अभ्युदय।

उदिहि, उदिहि, वर्चसा अभ्युदिहि। (मं २)

"उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो।" ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपास्यके गुण उपासकको धारण करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकको अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं, यह बात यहां पाठक न भूलें। अभ्युदय किस मार्गसे करना चाहिये, इसके सारांशसे दो सूत्र हैं–

द्विषन् मह्यं रध्यतु। अहं द्विषते मा रधम्। (मं० ६)

"मेरा शत्रु मेरे वशमें आजावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊं।" शत्रु अनेक प्रकारके हैं, और रणक्षेत्रभी विविध हैं। उन सब रणक्षेत्रोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका पराभव करना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कुंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इस प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम।

तव बहुधा वीर्याणि। (मं० ६)

"तेरे बहुत पराक्रम होने चाहियें।" तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव–व्यापक ईश्वर–का सर्वत्र विजय इसलिये है कि

उसके 'अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए तो विजय प्राप्त होना असंभव है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें उतरना चाहिये और वहां बडे पराक्रम करने चाहियें। इसलिये—

सुमतिं कृधि। सुधायां धेहि। (मं० ६-७)

"अपने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपको और सबको धारण कर।" सुमतिके बिना अध्यात्म-क्षेत्रका विजय नहीं होगा और (सु-धा) उत्तम धारणके बिना समाजका या संघका विजय नहीं होगा। यह नियम सदा ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये, यह सूचित करनेके लिये कहा है कि—

बडा सौभाग्य।

त्वं महते सौभगाय अदब्धेभिः अक्तुभिः परिपाहि।
(मं० ९)

" तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न थकता हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षितता-पूर्वक प्रयत्न करो।" यह आदेश बडा उत्साहवर्धक है। कितना ही प्रचण्ड शक्तिवाला दबानेका यत्न करे, परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। पाशवी शक्तिके अन्दर न दब जानेका निश्चय करना ही अत्यंत महत्त्व की बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि सब जगत् की शक्ति भी उसका विरोध करने लगी, तो भी वह दबेगा नहीं, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। ' महासौभाग्य ' जो ऊपरले मंत्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उत्साह बढानेके लिये और कहा है कि—

न दब जाना।

पृथिव्यां अदब्धः असि। ते महिमानं न आपुः (मं० ११)

" पृथ्वीपर तू आत्मा न दब जानेवाला महाशक्तिमान है, तेरी महिमा अन्य भौतिक जड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती " जड पदार्थ कितनेभी सामर्थ्यवान् हों, परंतु उनकी शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माकी यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान है। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके सन्मुख वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमपिताका वीर्य है, इस बातका अनुभव करें और उसके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह दैवगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है—

अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः। (मं० १२)

" न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ " अपने (बहुधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। यहां जो कहा है वह प्रत्येक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होती है, यह बात यहां स्पष्ट कही है, इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें कटिबद्ध हों। यहां ज्ञान का महत्त्व वर्णन किया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात्—

सत्य का मार्ग

विद्वान् ऋतस्य पथा अनु एषि। (मं० १६)

विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है। " सत्यका आग्रहके साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यका मार्गदर्शक और सब बन्धनोंको दूर करनेवाला है। सत्यके पालनसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

अप्रशस्ति बाधमानः सुदिने एषि। (मं० १७)

" अप्रशस्त निंदनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवनमें बर्ताव करनेवाला होगा। " जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निन्दनीय दुष्ट व्यवहारको सर्वथा दूर करना भी अत्यंत इष्ट है। अन्यथा उच्च अवस्था मनुष्यको कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमें से दूर करना यही अभ्युदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अभ्युदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर ही सकती है इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार।

असति सत् प्रतिष्ठितम्। सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं भव्ये आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्। (मं० १९)

" असत् में सत् और सत् में भूत ठहरा है " यह वेदका कथन है। यह संसार नाशवान् इसलिये असत् है, और आत्मा

त्रिकालाबाधित होनेसे सत् है। ये दोनों परस्पर संगत होनेसे कहा जाता है कि एक दूसरेमें ठहरा है। यही विषय दूसरे शब्दोंमें ऐसा कहा जा सकता है- "शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर ठहरा है।" ईशोपनिषद् में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ वा० यजु० ४०।६

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ईश० उ० ६;

काण्व० यजु० ४०।६

तथा भागवत में-

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥

श्री० भाग० ।३।२४।४६

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।

श्री० भाग० ११।२।४५

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि "आत्मा-(सत्) सब भूतोंमें [असतमें] है और सब भूत [असत्] आत्मामें हैं। यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह बडा भक्त कहलाता है, वह श्रेष्ठ पुरुष होता है, वही शोकमोहसे परे होकर परमसिद्धिको प्राप्त होता है। इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थितिका अनुभव आना है, ऐसा अनुभव आ-गया तो समझना चाहिये कि उन्नति होगयी है, और यदि केवल शब्दोंसे ही 'परमेश्वर सर्वव्यापक' होनेका शाब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी श्रवण मनन निदिध्यासन का अनुष्ठान होना चाहिये ।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं भव्ये, भव्यें भूतं आहितं) भूत भविष्यमें और भविष्य भूतमें है। इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे। मनुष्यका वर्तमान और भविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है, और उसके भूतकालके कर्मोंके साथ उसका भविष्यकाल निम-लित हुआ होता है। उदाहरणके लिये देखिये—यदि एक मनुष्य प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आयुष्य व्यतीत करता है, तो समझना चाहिये कि उसका यौवन और वार्धक्य सुखसे व्यतीत होंगे, क्योंकि उसका भूत काल भविष्यमें संचित है। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये-जिस राष्ट्रके भूत कालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और भविष्यकाल भी आनंदमें व्यतीत होगा, और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूतकालमें परातंत्र्य प्राप्त किया हो, उसका भविष्य काल कष्टोंमें जायगा, क्योंकि (भूतं भव्ये, भव्यं भूते आहितं) भूत भविष्यमें फलता है और भविष्यका उगम भूतमें होता है। देखिये यह वेदका उपदेश कैसा व्यक्तिमें वैसा ही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष दीख सकता है। इस सत्यका अनुभव करता हुआ तथा अपने भूत भविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ, मनुष्य अपने भविष्य कालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज सांप्रतके कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे। परंतु उसको उचित है कि वह इस समय ऐसे शुभ कर्म करें कि जिससे शुभ फल उसको भविष्य कालमें प्राप्त हों। आजकी हमारी स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम ही अपना भविष्यकाल बना रहे हैं। इसी उद्देश्यसे वेदमें कहा है-

भूत भविष्य वर्तमान ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानः० । ऋ० १०।९०।२,
वा० यजु० ३१ । २ ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरः० ॥ अथर्व. १९।६।४

"वर्तमान कालमें जो पुरुष है वही उसके भूत और भविष्य का रूप है और वह अमृतत्व का स्वामी है अर्थात् किसी पुरुष का वर्तमान काल उसके भविष्यका बीज और भूत का परिणाम दिखाता है। मनुष्यकी तारुण्य अवस्थासे पता लग सकता है कि उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उसीसे पता चलता है कि उसका भविष्य कैसा होगा। राष्ट्रपुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितिमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम दीखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुरु-षार्थसे ही वह अपने भविष्यकी अवितव्यताके बीज बो देता है। क्योंकि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और भविष्य कालका बीज धारण करता है। इस विचारसे भी मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है। आशा है कि पाठक इस रीतिसे अपनी परीक्षा करें और अपना उन्नतिका मार्ग है या अधोगतिका है, इसका

निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड देवें और उन्नतिके मार्गपर ही सदा रहें। तथा मनमें यह महत्वाकांक्षा धारण करें कि—

आत्मतेज।

अहं त्वाचसा त्राज्यासम्। (मं० २०)

"मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूंगा।" दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है। प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये। प्रत्येककी अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये। जिसकी रक्षा दूसरेके बलसे होती है, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिसके पास अपने पोषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं; उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं। अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहां इस मंत्रद्वारा दिया है, पाठक इसका विचार करें और अपने सामर्थ्यसे समर्थ बनकर यहां यशस्वी, कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् शुद्धबुद्ध और मुक्त बननेका यत्न करें। इसी प्रकार और भी कहा है—

अहं ब्रह्मवर्चसेन रुच्या रोचः(भूत्वा)वचिषीय। (मं०२१)

"मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊंगा"। इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उन्नतिके लिये अत्यंत है, यह बात यहां पुनः स्पष्ट की है।

आगे उदयको प्राप्त होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनक्रम समाप्त करके अस्तको जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है। यहां सूर्यको सन्मुख रखनेको कहा है। मनुष्य का आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तको प्राप्त होवे। इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शरूप होता है। इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें। और उससे यह बोध प्राप्त करें। पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यको अपना आदर्श मानकर २६ वे मंत्रतकका उपदेश मननके द्वारा मनमें स्थिर करें। इसके अनंतर एक महत्त्वपूर्ण मंत्रभाग है वह प्रत्येक मनुष्यको नित्य स्मरणमें धारण करना योग्य है, वह अब देखिये—

अपना यश।

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च आवृतः
कृतवीर्यः विहायाः शरदृष्टिः सहस्रायुः सुकृतः चरेयम्॥
(मं० २७)

अहं ब्रह्मणा वर्मणा ज्योतिषा वर्चसा च परिवृतः
...ऋतेन गुप्तः ... भूतेन भव्येन च गुप्तः (चरेयम्)॥
(मं० २८–२९)

पाप्मा मा मा प्रापत्, मृत्युः मा मा प्रापत्।
अहं वाचः सलिलेन अन्तर्दधे। (मं० २९)

" मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, पराक्रम करता हुआ, विविध पुरुषार्थका साधन करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। मैं ज्ञान, आत्मरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सत्यसे सदा सुरक्षित होता हुआ, भूतभविष्य वर्तमान काल में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूंगा। पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे संनिध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी वाणीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूं। "

इनमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहां आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। पाठक इसीका पाठ वारंवार करें, वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर वेदके ये ओजस्वी विचार स्थिर करें। इन्हीं विचारोंकी स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा। जो पाठक इस तरह इस काण्डका मनन करेंगे, वे अपनी उन्नतिका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस काण्डके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त ज्ञान भरपूर भरा है। केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो आगे पीछेके सन्दर्भके साथ और विधानों के साथ संगति देखकर मनन करनेसे ही ध्यानमें आ सकता है। आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण उपदेशके काण्डसे पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे।

विषयसूची

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

अष्टादशं काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीतालङ्कार.

अध्यक्ष-स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी (जि. सूरत)

तृतीय वार

संवत् २००७, शाक १८७२, सन १९५०

तपस्वियोंका लोक ।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ॥
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

(अथर्ववेद १८ । २ ।)

" जो लोग तप करनेके कारण किसी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, अर्थात् जिनको पाप नहीं सता सकते, व जो लोग तपके कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तथा जिन्होंने बडा तप किया है, उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो, अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ जो शूर वीरगण संग्रामोंमें युद्ध करते हैं, और जो उन संग्रामोंमें शरीरोंका त्याग करते हैं, अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, अथवा जो लोग हजारों प्रकारके धनोंका दान करते हैं, उनको भी तू प्राप्त हो । "

मुद्रक तथा प्रकाशक— वसंत श्रीपाद सातवळेकर, B. A.
स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, किल्ला पारडी, जि० सूरत.

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

अष्टादशं काण्डम्

इस अष्टादश काण्डके प्रथम सूक्तमें प्रारंभमें (सखायं सख्या ववृत्यां) " मित्रको मित्रताके साथ प्राप्त करनेका विषय " है। यह शुभ और मित्रता बढानेका विषय होनेसे यही इसका मंगलाचरण है।

अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका यह अन्तिम काण्ड है। क्योंकि काण्ड १३ से काण्ड १८ तक यह महाविभाग है। इस काण्डमें अन्त्येष्टीका विषय है। अर्थात् "यम, पितर, मृतकी मरणोत्तर स्थिति, पितृलोक" यही इस काण्डका प्रारंभसे अन्ततक विषय है। इस काण्डके मंत्रोंकी संगति आगे बताई जायगी और वहां मरणोत्तरकी स्थितिका सब विषय स्पष्ट किया जायगा। इस काण्डके बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं और तैत्तिरीय संहिता (अ० ५) में भी हैं। इन मंत्रोंमें स्थानस्थानपर बहुतसे पाठभेद भी हैं। अथर्ववेदकी पिप्पलाद संहितामें ये मंत्र संपूर्णरूपसे नहीं हैं, अर्थात् कई हैं और बहुतसे नहीं हैं।

अब इस काण्डके मंत्रोंके "ऋषि-देवता-छन्द" देखिये-

ऋषि, देवता और छन्द।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः।				
१	६१	अथर्वा	यमः, मन्त्रोक्ताः, ४१ ४३ सरस्वती, ४० रुद्रः ४०-४६, ५१, ५२ पितरः।	त्रिष्टुप्; ८, १५ आर्षीपंक्ति; १४, ४९, ५० भुरिजः १८-२०, २१-२३ जगत्यः; ३७, ३८ परोष्णिक्; ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः, ५९ पुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
२	६०	,,	यमः मन्त्रोक्ताः। ४, ३४ः, अग्निः, ५ जातवेदाः, २९ पितरः	त्रिष्टुप्; १-३, ६, १४—१८, २०, २२, २३, २५, ३०, ३६, ४६, ४८, ५०-५२, ५६ अनुष्टुभः; ४, ७, ९, १३ जगत्यः; ५, २६, ४९, ५७ भुरिजः; १९ त्रिपदा गायत्री; २४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री; ३७ विराड् जगती; ३८-४४ आर्षीगायत्र्यः; (४०, ४२-४४ भुरिजः) ४५ ककुम्मती अनुष्टुप्।

तृतीयोऽनुवाकः ।

७३	अथर्वा	यमः; मंत्रोक्ताः, ५, ६ अग्निः; ५० भूमिः ५४ इन्दुः; ५६ आपः	त्रिष्टुप्; ४, ८, ११, २३ सतः पंक्तयः; ५ त्रिपदा निचृद्गायत्री; ६, ५६, ६८, ७०, ७२ अनुष्टुभः; १८, २५ २९, ४४, ४६ जगत्यः; (१८ भुरिक्, २९ विराट्) ३० पञ्चपदा अतिजगती; ३१ विराट् शक्वरी; ३२-३५ ४७, ४९, ५२ भुरिजः; ३६ एकावसाना आसुरी अनुष्टुप् ३७ एकावसाना आसुरी गायत्री; ३९ परात्रिष्टुप् पंक्तिः, ५० प्रस्तारपंक्तिः; ५४ पुरोऽनुष्टुप्; ५८ विराट्; ६० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ६४ भुरिक् पथ्या पंक्त्यार्षी ६७ पथ्या बृहती, ६९, ७१ उपरिष्टाद् बृहती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

		यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१ पितरः; ८८ अग्निः, ८९ चन्द्रमाः	त्रिष्टुप्; १, ४, ७, १४, ३६, ६०, भुरिजः; २, ५, ११, २९, ५०, ५१, ५८ जगत्यः; ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती; ६, ९, १३ पञ्चपदा शक्वरी. (९ भुरिग्, १३ त्र्यवसाना) ८ पञ्चपदा बृहती; (२६ विराट्) २७ याजुषी गायत्री, (२५) ३१, ३२, ३८, ४१, ४२, ५५-५७, ५९, ६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्मती); ३९, ६२, ६३ आस्तारपंक्तिः; (३९ पुरोविराट् ६२ भुरिक् ६३ स्वराट्) ६७ द्विपदार्ची अनुष्टुप्; ६८, ७१ आसुरी अनुष्टुप् ७२-७४, ७९ आसुरीपंक्तिः ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुरी उष्णिक्, ७७ दैवी जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप् ८० आसुरी जगती; ८१ प्राजापत्यानुष्टुप् ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुभौ; ८५ आसुरी बृहती (६७-६८ ७१, एकावसाना) ८६, ८७ चतुष्पदा उष्णिक्, (८६ ककुम्मती, ८७ शंकुमती) ८८ त्र्यवसाना पथ्यापंक्तिः; ८९ पञ्चपदा पथ्यापंक्तिः ।

इस सूक्तका विषय एक ही होनेसे चारों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् ही सबका मिलकर विवरण करेंगे, जिससे पाठकोंको क्रम और पितृसंबंधी सब बातोंका पता लग जायगा।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

अष्टादशं काण्डम् ।

यम, पितर और अन्त्येष्टि ।

[१]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-यमः, मंत्रोक्ताः)

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥
न ते सखा सख्यं वष्टयेतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ— [पुरू अर्णवं तिरः जगन्वान्] विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है, उस तुझ पतिरूपसे [सखायं] मित्रको मैं यमी [सख्या] पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा [ववृत्याम्] वरण करूं अर्थात् तुझ यमको मैं यमी अपना पति बनाऊं। और इस प्रकार पति बनकर, यम [अधिक्षमि] पृथिवीपर [प्रतरं दीध्यानः] विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ अथवा मुझ यमीमें गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिंतन करता हुआ, [वेधाः] संतानका उत्पादक यम [पितुः नपातं] पिताके कुलको न गिरानेवाली अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको [आदधीत] धारण करे । [ऋ० १० । १० । १] ॥ १ ॥

[ते] तुझ यमीका [सखा] मित्र यह यम [एतत् सख्यं] इस प्रकारकी पतिपत्नी भाववाली मैत्री [न वष्टि] नहीं चाहता । [यत्] क्योंकि इस प्रकार करनेसे [सलक्ष्मा] एक ही उदरसे उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणोंवाली [विषुरूपा] भिन्न स्वरूपवाली अर्थात् बहिनसे पत्नीके स्वरूपमें परिणत [भवाति] हो जाती है। अथवा इस मंत्रार्ध का अर्थ यूं करना चाहिये [यत्] क्योंकि [सलक्ष्मा] तू यमी सहजा होनेसे समान लक्षणोंवाली है अतः [ते सखा] तेरे मित्र यम [एतत् सख्यं] इस पत्नी रूपसे मित्रताको [न वष्टि] नहीं चाहता । पत्नी तो वह बन सकती है। जो कि [विषुरूपा] भिन्न स्वभाववाली भिन्न लक्षणोंवाली [भवाति] होती है। इसके अतिरिक्त [महः असुरस्य] महान् प्राणप्रदाता परमात्माके [दिवः धर्तारः] व्यवहारको धारण करनेवाले अर्थात् सांसारिक व्यवहार कुशल [वीराः पुत्रासः] पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी [उर्विया] पृथिवीपर ऐसे संबन्धका [परिख्यन्] परिवाद-निराकरण-निषेध करते हैं। [ऋ० १० । १० । २] ॥ २ ॥

भावार्थ— यमी यम से कहती है कि संसाररूपी सागरसे तरनेके लिये हम दोनों पतिपत्नीके रूपमें मित्रता करें, ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलकी प्रवर्तक सन्तान उत्पन्न करें, जिससे कि यमका वंश नष्ट न होने पावे ॥ १ ॥

यम यमीको उत्तर देता हुआ कहता है कि, हे यमी! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकारकी मुझे स्वीकृत नहीं है, क्योंकि तू तो समान लक्षणोंवाली है और पत्नी तो भिन्न लक्षणोंवाली होनी चाहिये । इसके सिवाय सिर्फ मैं ही इस बातका प्रतिवाद नहीं कर रहा अपितु अन्य व्यवहारकुशल लोक भी पृथ्वीपर इस प्रकारके संबन्धका विरोध करते हैं ॥२॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥ ३ ॥
न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ते अमृतासः] वे अमृत स्वरूप व्यवहार कुशल मनुष्य भी [एकस्य मर्त्यस्य] एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी [त्यजसं] सन्तान [उशन्ति] चाहते हैं [एतत् घा] यह बात प्रसिद्ध ही है इसलिए संतानोत्पत्तिके लिए [ते मनः] तेरा मन [अस्मे मनसि] हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार [जन्युः पतिः] संतानका उत्पन्न करनेवाला पति हुआ हुआ [तन्वं आ विविश्याः] मुझ यमीके शरीरमें प्रवेश कर [ऋ० १० । १० । ३] ॥ ३ ॥

[यत्] जो कार्य [पुरा] पहिले [न चकृम] हमने नहीं किया है वह कार्य [कद्ध नूनं] निश्चयसे अब क्यों करें ? [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [अनृतं रपेम] असत्य क्यों बोलें ? अथवा [यत्] क्योंकि [पुरा न चकृम] पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है, इस प्रकारसे [नूनं] निश्चयसे [ऋतं वदन्तः] सत्य बोलते हुए [कद्ध] किस लिए [अनृतं रपेम] झूठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है। (उत्तरार्धमें यम अपने तथा यमीके मा बाप व दोनोंके पारस्परिक संबन्धको दर्शाता हुआ कहता है कि) [अप्सु गंधर्वः] अन्तरिक्षमें विद्यमान आदित्य [च] और [योषा सा अप्या] आदित्यकी स्त्री वह अप्या [नौ] हम दोनों के [नाभिः] उत्पत्तिस्थान हैं। [तत्] इस कारणसे [नौ] हम दोनों का [जामि] जो संबन्ध है वह [परमं] बडा उत्कृष्ट व पवित्र है। [ऋ० १० । १० । ४] ॥ ४ ॥

[सविता] प्रेरक, [विश्वरूपः] विश्वस्रष्टा [त्वष्टा] बनानेवाले [देवः] प्रकाशमान [जनिता] उत्पादक परमात्माने [नु] निश्चयसे [नौ] हम दोनों को [गर्भे] माताके गर्भमें [दम्पती] पति पत्नी [कः] बनाया है। [अस्य] सर्व उत्पादक परमात्माके [व्रतानि] बनाए हुए नियमोंको [न किः प्र मिनन्ति] कोई भी नहीं तोडते। [नौ] हम दोनों को दम्पती बनानेका [अस्य] इस त्वष्टाका जो कर्म है, उसे [पृथिवी उत द्यौः] पृथ्वी व द्यु दोनों ही [वेद] जानते हैं। [ऋ० । १० । १० । ५] ॥ ५ ॥

भावार्थ— यमी यमसे कहती है कि क्योंकि संसारमें रहते हुए पुरुषको एक न एक संतान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिये, अतः तू और मैं एक मनवाले होवे व तूं मेरेमें संतान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनों के एक ही माबाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बडा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनोंमें नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! परमात्माने स्वयं ही हम दोनों को गर्भमें से ही पतिपत्नी बनाया है। क्योंकि उसने हम दोनोंको एक साथ ही गर्भमें रखा था। गर्भसे ही हम दोनोंकी जोडी बनाई है। इस परमात्माके नियमोंका तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें, अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड। यह द्यु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकारका संबन्ध बनाया है। तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूं ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।
आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ७ ॥
यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे यमी ! [अद्य] आजकलके जमाने में [ऋतस्य गाः] सत्य की स्तुति करनेवाले, [शिमीवतः] श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [भामिनः] तेजस्वी, [दुर्हृणायून्] दुष्टों पर क्रोध करनेवाले, [आसन् इषून्] मुखपर बाण मारनेवाले, [हृत्स्वसः] हृदयोंमें बाण मारनेवाले तथा [मयोभून्] सुख पहुंचानेवालों को भला [कः] कौन [धुरि युङ्क्ते] कार्य धुरा में जोड़ता है ? कोई भी नहीं । [यः] जो [एषां भृत्यां] इनके भरण पोषण को [ऋणधत्] बढाता है [सः] वह [जीवात्] वस्तुतः जीता है । ॥ ६ ॥

हे यमी ! [अस्य प्रथमस्य अह्नः] इस प्रथम दिन के संबंधमें [कः वेद] कौन जानता है ? [क ईं ददर्श] और किसने इसको देखा है ? [क इह प्रवोचत्] और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है ? [मित्रस्य वरुणस्य धाम] मित्रभूत श्रेष्ठ परमात्माका धाम [बृहत्] महान् है । अतः [आहनः] हे क्लेश देनेवाली ! [वीच्या] छल कपट द्वारा [कत् उ] कैसे [नॄन् ब्रवः] हम मनुष्योंके साथ बोलती है ? ॥ ७ ॥

(समाने योनौ) एक घरमें [सह शेय्याय] एक शय्यापर साथ सोनेके लिए [यमस्य कामः] यम की कामना (मा यम्यं) मुझ यमी को [आ अगन्] आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी [पत्ये जाया इव] पतिके लिए जिस प्रकार की उस प्रकार यमके लिए [तन्वं] अपना शरीर [रिरिच्यां] फैलाऊं और [रथ्या चक्रा इव] रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम-यमी [वि वृहेव] परस्पर मिलें-व्यवहार करें ॥ ८ ॥

भावार्थ- यम यमी से कहता है कि हे यमी! आजकलके जमानेमें सत्यवादी वीर जनोंको कौन पूछता है। उनके मार्गका कौन अनुसरण करता है ? कोई भी नहीं । वस्तुतः भाई बहिनका विवाहसंबन्ध नहीं होना चाहिये तो भी तू झूठमूठ युक्तियां देकर कि गर्भसे ही हम दोनोंको परमात्माने दंपती बनाया है, असत्य बोल रही है ॥ ६ ॥

यम यमी से कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भसे ही परमात्माने हमको पति पत्नी बनाया है इत्यादि वो ठीक नहीं है । क्योंकि जिस दिन गर्भ धारण हुआ था उस दिन त्वष्टा का क्या विचार था इस बातको कौन जानता है ? किसने देखा ? और किसने आकर कहा ? न कोई जान ही सकता है, न देख ही सकता है और नहीं कह ही सकता है । क्योंकि परमात्माकी शक्ति अगाध है, उसको कोई जान नहीं सकता । ऐसी हालतमें तू हम मनुष्योंसे ऐसी ऐसी बातें क्यों बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा भाई बहिनका विवाह होना चाहिये । (ऋ० १०।१०।६) ॥ ७ ॥

यमी यमसे कहती है कि मेरे मनमें तुझ भाई यमके विषयमें कामवासना उत्पन्न हुई है । तेरी पत्नी बनकर एकत्र विहार करनेकी इच्छा है । अतः हे भाई ! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नीकी तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर संसार की यात्रा करें (ऋ० १०।१०।७) ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥
रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात् ।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि ॥ १० ॥
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ ११ ॥

अर्थ-[एते देवानां स्पशः] ये देवोंके दूत अर्थात् परमात्माके नियामक [ये] जो कि [इह] इस संसारमें संचार करते हैं, वे [न तिष्ठंति] न तो एक स्थानपर ठहरते हैं और [न] नहीं [निमिषन्ति] आंख बंद करते हैं अर्थात् सोते हैं। इसलिए तू [मत् अन्येन] मेरेसे भिन्न दूसरेके पास [तूयं] शीघ्र [याहि] जा और हे [आहनः] कष्ट देनेवाली ! [रथ्या चक्रा इव] रथके चक्रोंके समान उसके साथ [विवृह] आलिङ्गन कर ॥ ९ ॥

[रात्रीभि अहभिः] रात और दिन [अस्मै] इस यमको सुमति [दशस्येत्] देवें। और [सूर्यस्य चक्षुः] सूर्यका प्रकाश [मुहुः] बारंबार [उत् मिमीयात्] इसके लिए फैले। [दिवा पृथिव्या] द्युके साथ पृथिवी व पृथिवीके साथ द्यु इस प्रकार [सबन्धू] भाई बहिन के रूपमें स्थित होते हुए भी द्यु व पृथिवी [मिथुना] परस्पर मिलकर रहते हैं, अतः [यमीः] यमी भी (यमस्य अजामि विवृहात्) यमका बन्धुत्वरहित संबन्ध करके [विवृहात्] व्यवहार करें ॥ १० ॥

हे यमी ! [ता उत्तरा युगानि] वे भविष्यमें ऐसे युग [घा] निश्चयसे [आ गच्छान्] आवेंगे [यत्र] जिन युगोंमें कि [जामयः] बहिने [अजामि] बन्धुत्वरहित कर्म [कृणवत्] करेंगी अर्थात् बहिनें भाईयोंसे शादी करेंगी। परन्तु तू तो [वृषभाय] किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए [बाहुं] अपना हाथ [उप बर्बृहि] फैला, आगे बढा। अर्थात् उसके साथ पाणिग्रहण कर। इस प्रकार [सुभगे] हे भाग्यशालिनी ! [मत् अन्यं पतिं] मेरेसे भिन्न पति की [इच्छस्व] इच्छा कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— यमी की कामवासनाकी इच्छा सुनकर यम उसे कहता है कि परमात्माके दूत प्रतिक्षण हमारे आचरणोंको देख रहे हैं। अतः तू मुझे छोडकर अन्य किसीके साथ जाकर विवाहित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर। (ऋ० १०।१०।८) ॥ ९ ॥

यमी यमसे कहती है कि देख, दिन व रात्री, द्यु और पृथिवी ये परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संगत हुए हुए हैं। जरा आंख खोलकर देख। फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्यों न मैं बहिनका संबन्ध छोडकर तेरे साथ पत्नीका व्यवहार करूं ? (ऋ० १०।१०।९) ॥ १० ॥

यम यमी की युक्तियुक्त दशम मंत्रोक्त उक्ति सुनकर निरुत्तर हुआ हुआ कहता है कि हे यमी ! इस प्रकारका समय आगे आवेगा जब कि भाई बहिनें भी पतिपत्नीके अनुसार बर्ताव करेंगी, परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता, चाहे तेरी युक्तिका प्रत्युत्तर मेरे पास न भी हो। अतः तू मेरेसे भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुषका पाणिग्रहण करके उसे अपना पति बना। (ऋ० १०।१०।१०) ॥ ११ ॥

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा३ मे तन्व१ं सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥
न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम् ।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १३ ॥
न वा उ ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

अर्थ-[किं भ्राता असत्] वह क्या भाई है [यत्] क्योंकि जिसके रहते हुए भी बहिन [अनाथं भवाति] अनाथ बनी रहती है । [उ] और [किं स्वसा] वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी [यत्] यदि भाई [निर्ऋतिः निगच्छात्] कष्टको प्राप्त होता है । अतः हे भाई ! [काममूता] कामसे युक्त हुई हुई मैं [एतत् बहु रपामि] यह बहुत कुछ कहती हूं । इसलिए तू [तन्वा] अपने शरीरसे [मे] मेरे [तन्वं] शरीरको [सं पिपृग्धि] संयुक्त कर ॥ १२ ॥

हे यमी ! [अत्र] यहांपर [अहं] मैं [ते नाथं] तेरा स्वामी [न अस्मि] नहीं हूं । और इसलिए [ते तनूं] तेरे शरीरको [तन्वा] अपने शरीरके साथ [न सं पपृच्याम्] संयुक्त नहीं करूंगा । अतः हे यमी ! [मत् अन्येन प्रमुदः कल्पयस्व] मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ आनंद कर । [सुभगे] हे सौभाग्यवती ! [एतत्] इस प्रकारका संबन्ध [ते भ्राता] तेरा भाई यम [न वष्टि] नहीं चाहता ॥ १३ ॥

हे यमी ! [ते तनूं] तेरे शरीर को [तन्वा] अपने शरीरके साथ [वै उ] कदापि [न सं पपृच्याम्] जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे [पापं आहुः] पापी कहते हैं । [एतत्] यह बात [मे मनसः हृदः] मेरे मन व हृदय के [असंयत्] विरुद्ध है-असंगत है कि [भ्राता] भाई मैं [स्वसुः शयने] बहिन की शय्यापर [शयीय] सोऊं ॥१४॥

हे यम ! [बत] बडे दुःखकी बात है कि तू [बतः असि] बडा निर्बल है । [ते] तेरे [मनः हृदयं च] मन तथा हृदयको [न अविदाम] हम नहीं जान पाये । खैर, [किल] निश्चयसे [अन्या] दूसरी स्त्री [त्वां] तुझे [परिष्वजातै] आलिंगन देगी, [कक्ष्या युक्तं इव] जिस प्रकारसे कि घोडेकी कमर पेटी, गाडीको जोते हुए घोडेको चिपटती है और जिस प्रकारसे कि [लिबुजा वृक्षं इव] बेल वृक्षको चिपटती है ॥ १५ ॥

भावार्थ-यमी यमसे कहती है कि हे यम ! देख, जो भाईके रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका ? और इसीप्रकार बहिनके रहते हुए यदि भाईको कष्ट उठाना पडे तो वह बहिन किस कामकी ? इसलिये हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीरका संयोग कर ? (ऋ० १०।१०।११) ॥ १२ ॥

यम यमीसे कहता है कि हे बहिन ? मैं तेरा स्वामी नहीं हूं। अतः अपने शरीरसे तेरे शरीरको संयुक्त नहीं करूंगा। तू अन्य किसीके साथ आनन्दका उपभोग कर । तेरा भाई इस प्रकारका कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता । (उत्तरार्ध ऋ १०।१०।१२) ॥ १३ ॥

यमी यमसे अपने पूर्वोक्त कथनको दृढ करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीरके साथ तेरा शरीर कदापि संपुक्त नहीं करूंगा क्योंकि बहिनके साथ संभोग करनेवालेको पापी कहा गया है इसके सिवाय भाई बहिनकी शय्यापर लेटे, यह बात मेरे मन व हृदयके भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता । (पूर्वार्ध ऋ० १०।१०।१२) ॥ १४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! तू बडा ही निर्बल है । सचमुच मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूं । अस्तु अन्य स्त्री तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसे कि कमरकी पेटी घोडेको देती है व बेल वृक्षको । (ऋ० १०।१०।१३)॥१५॥

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥
त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् ।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥
वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः ।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

अर्थ— [यमि] हे यमी ! तू [अन्यं उ षु] अन्य पुरुषको ही आलिंगन कर और [अन्यः] दूसरा पुरुष ही (त्वां) तुझे [परिष्वजाते] आलिंगन देवे । [लिबुजा इव वृक्षम्,] जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षको आलिंगन करती है । [तस्य] उस पुरुषके [मनः त्वं इच्छ] मनकी तू इच्छा कर [स वा तव] और वह तेरे मनको जाननेकी इच्छा करे । [अध] और तब उसके साथ तू [सुभद्रां संविदं कृणुष्व] कल्याणकारिणी संगति कर ॥ १६ ॥

[कवयः] क्रान्तदर्शी ज्ञानी जनोंने [त्रीणि छन्दांसि] तीन छन्द अर्थात्–जो संसारका आच्छादन करें–अपने से जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे–तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों को संसारके निर्वाहके लिए [वि येतिरे] विविध प्रकारके यत्नोंमें लगा रखा है । उन तीनों छंदोंमेंसे प्रत्येक [पुरुरूपं] बहुत रूपोंवाला है, [दर्शतम्] अद्भुत है तथा [विश्वचक्षणम्] सब के देखने योग्य हैं । वे तीनों छन्द कौनसे हैं ? [आपः वाताः ओषधयः] जल, वायु तथा औषधियां हैं । [तानि] ये तीनों छंद [एकस्मिन् भुवने] इस एक ही संसारमें अर्पित हैं, स्थापित हैं ॥ १७ ॥

[अदाभ्यः] किसीसे भी न दबने वाला [यह्वः] महान् [वृषा] कामनाओं की वर्षा करनेवाला अग्नि (वृष्णे) पराक्रमी जनके लिए [अदितेः दिवः] अखण्डनीय द्यु लोकसे [दोहसा] दोहने के साधन वृष्टिद्वारा [पयांसि] जलों –रसों– को [दुदुहे] दोहता है । [सः] वह पराक्रमी अग्नि [यथा वरुणः] वरुण की तरह [धिया] अपनी बुद्धि द्वारा [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है । अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है, [सः वरुणः] वह श्रेष्ठ जन [यथा धिया] अपनी बुद्धिके अनुसार [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता हैं और फिर तदनुसार [सः यज्ञियः] वह पूजनीय बनकर [यज्ञियान् ऋतून] पूजनीय ऋतुओंकी [यजति] पूजा करता है ॥ १८ ॥

भावार्थ-- यम यमीसे कहता है कि हे यमी ! तू भी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो । वह तुझे आलिंगन देवे । उसके मनके अनुकूल चलनेकी तू इच्छा कर तथा वह भी तेरी इच्छानुसार चले और इस प्रकारसे तुम दोनोंका जीवन कल्याण करनेवाला होवे (ऋ० १० । १० । १४) ॥ १६ ॥

ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको संसार निर्वाहके लिये नाना कार्योंमें लगा रखा है । वे इस संसार में सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं । वर्तमान समयके ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसारका किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है । ये तीनों पदार्थ संसारमें सर्वत्र पाये जाते हैं, अतएव इन्हें छन्दके नामसे पुकारा गया है (छादनात् छन्दांसि) इन्होंने संसारको ढक रखा है । जल, वायु तथा औषधियोंसे संसार आच्छादित है । अतएव ये छन्द हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अग्निरूप परमात्मा द्युलोकसे जलोंकी वृष्टि करता है । और मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उस जलद्वारा ऋतुओंका उचित उपयोग लेता है । ऋतुयाग करता है । और इस प्रकार अन्योंका पूजनीय बनता है ॥ १८ ॥

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति ॥ १९ ॥
सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन् ॥ २० ॥
अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत ॥ २१ ॥
सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्योऽ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः ॥ २२ ॥

अर्थ- (गन्धर्वीः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली, (अप्या) सत्कर्मोंमें रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्निके गुणगान करती है। वह अग्नि (नः मनः) हमारे मनकी (नदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु] चारों ओर से रक्षा करे। (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थके बीचमें वह (अदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे। वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बडा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है ॥ १९ ॥

(सो) वही (चित्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करदेनेवाली (क्षुमती) अन्नवाली, (यशस्वती) कीर्तिवाली, (स्वर्वती) आदित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास) प्रकाशित हुई है। कब उत्पन्न हुई है ? (यत्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दानी, (अग्निं,) अग्निको (विदथाय) यज्ञके लिए (उशतां क्रतुं अनु) कामना करते हुओंके यज्ञके साथ साथ (जीजनन्) उत्पन्न किया ॥ २० ॥

(अध) तब (त्यं) उस (द्रप्सं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवाले सोमको (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (आभरत्) लाया। (यदि) जब (आर्याः विशः) श्रेष्ठ जन (दस्मं) दर्शनीय, (होतारं) दानी (अग्निं) अग्निको (वृणते) वरण करते हैं (अध) तब (धीः अजायत) यज्ञादि कर्म होता है ॥ २१ ॥

(मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) शोभन यज्ञवाले (अग्ने) हे अग्नि ! (पुष्यते) पोषण करनेवालेके लिये (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तू (सदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है। (यत्) क्योंकि (विप्रस्य वाजं ससवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन करता हुआ (उक्थ्यः) प्रशंसनीय व (शशमानः) फुरतीला तू (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओंके साथ (उपयासि) आता है। अर्थात् बहुतसी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ- वेदवाणी उस अग्निरूप परमात्माकी स्तुति करती है। वह परमात्मा श्रेष्ठ जनोंके सत्कारमें हमारी रक्षा करता है। इच्छित पदार्थका प्रदान करता है वह बडे भाईके समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है ॥१९॥

जब कि यज्ञकी कामना करते हुए जनोंने यज्ञमें अग्निको प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

जब ज्ञानीलोग अग्नि प्रदीप्त कर यज्ञ करते हैं तब सोमरस निकालकर हवनपूर्वक उसका सेवन करते हैं ॥ २१ ॥

अग्नि यज्ञादि कर्म करनेवालोंके लिये ऐसा आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए। क्योंकि अग्नि यजमानकी अनेक कामनाओंको पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती ॥ २३ ॥
यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत् सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे ।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान् भूषति द्यून् ॥ २४ ॥
श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम् ।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः ॥ २५ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! (पितरौ) माता पिताके प्रति (भगं) अपना तेज- ऐश्वर्य (जारः आ) सूर्यकी तरह अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपना तेज सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) प्रेरित कर—उनके पास पहुंचा । (हर्यतः) कमनीय स्पृहणीय अग्नि (हृत्तः) हृदयसे (इयक्षति) यजन करना चाहता है, इसलिये (इष्यति) आता है । (वह्निः) हवि आदिका वहन करनेवाला अग्नि (विवक्ति) कहता है और (मखः स्वपस्यते) कर्मशील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है । (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करनेवालेके लिये (असुरः) प्राणदाता अग्नि (मती वेपते) कर्मद्वारा जाता है ॥ २३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) तेरी सुमतिके विषयमें (अख्यत्) स्थान स्थानपर कहता फिरता है अर्थात् तेरी प्रशंसा करता रहता है, हे (सहसः सूनो) बलके पुत्र ! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है अर्थात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है । सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है । इसके अतिरिक्त (स) वह मनुष्य (इषं दधानः) अन्नका धारण करता हुआ अर्थात् अन्नसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अश्वैः वहमानः) घोडोंसे वहन किया जाता हुआ अर्थात् अश्वादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ, (द्युमान्) तेजस्वी होता हुआ (अमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिनोंको (भूषति) शोभित करता है । अर्थात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वस्तुतः दिनोंकी शोभा बढती है ॥ २४ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सदने) जहांपर सब एकत्रित होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (नः श्रुधि) हमारी प्रार्थना को सुन । वह प्रार्थना क्या है यह अगले तीन पादोंसे बतलाते हैं— (अमृतस्य द्रवित्नुं रथं युंक्ष्व) अमृतके बहानेवाले रथको जोड और फिर उस रथद्वारा (देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे द्यावा पृथिवीको (नः आवह) हमारी तरफ ले आ । और हे अग्नि तू (देवानां माकिः अपभूः) देवोंके बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो । देवोंमें बना रह । (इह स्याः) यहां पर हमारे बीचमें भी स्थित हो ॥ २५ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उस प्रकार अग्नि सब पितर आदिकोंको प्रकाशित करे । और उन्नतिके लिये सबसे उत्तम कर्म करावे ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अग्निकी सुमतिका सर्वत्र वर्णन करता है वह सर्वत्र प्रसिद्ध होकर धनधान्य पशु वाहनादिसे संपन्न हुआ हुआ बल व पराक्रमसे युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है ॥ २४ ॥

हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर की गई प्रार्थनाको सुन । वह प्रार्थना यह है कि तू अमृतके बरसानेवाले रथमें द्यावा पृथिवीको बिठला कर हमारे पास ले आ । अर्थात् वर्षादिके देने द्वारा उन्हें हमारे अनुकूल कर । तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह ॥ २५ ॥

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र ।
रत्ना च यद् विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात् ॥ २६ ॥
अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीनन्नु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥
प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥
द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् । ॥ २९ ॥

अर्थ-(यजत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि ! (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनोंमें (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय(भवाति) होवे,(च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न देनेवाले अग्ने! तू (रत्नानि विभजासि) रत्नोंको बांटे, तब (अत्र) यहांपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधनयुक्त भाग (वीतात्) दे ॥ २६ ॥

(प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्निने (उषसां अग्रं) उषाकी उत्पत्ति व (अहानि) दिनोंको (अनु, अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ (उषसः अनु, रश्मीन् अनु, द्यावापृथिवी अनु) उषाओंमें, रश्मियोंमें तथा द्यावापृथिवीमें अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है, किरणोंमें भी रहता है और द्यावापृथिवीमें भी रहता है ॥ २७ ॥

[मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्धके समान है । अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए । पूर्व मंत्रके 'अनु' पदके स्थानपर यहां पर 'प्रति' यह पद आया है। अतः यहांपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है । शेष अर्थ समान है । उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है] उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्यकी किरणोंको (पुरुधा) बहुत रूपोंसे (द्यावापृथिवी प्रति प्रति आततान) द्युलोक व पृथिवी लोकके प्रति अर्थात् द्यु व पृथिवीमें प्रत्यक्षतया फैला रखा है ॥ २८ ॥

(प्रथमे) मुख्य वा प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (द्यावा क्षामा) द्यु और पृथिवि (ऋतेन) सत्यद्वारा अथवा यज्ञद्वारा(ह) निश्चयसे (अभिश्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धिवाले (भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान अग्नि (मर्त्यान्) मनुष्योंको (यजथाय) यज्ञके लिये (कृण्वन्)प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी प्रज्ञा (बुद्धि)को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत) बैठता है ॥ २९ ॥

भावार्थ-हे अग्नि ! जब हमारा जनसमुदाय दिव्य गुणोंवाला व पूजनीय बने तब उसे, तू नाना रत्नोंको बांट और उस समय हमें प्रभूत धनधान्यसे युक्त कर । (ऋ० १० । १० । सूक्त समाप्त) ॥ २६ ॥

अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिनको प्रकट करता है। वही सूर्य रूपसे उषा, किरण तथा द्युलोक व पृथिवी लोकमें प्रविष्ट हुआ हुआ है । अग्नि ही इन सबमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है । वस्तुतः सूर्यादि अग्निके ही स्वरूप हैं । ये अग्निसे भिन्न नहीं ॥ २७ ॥

अग्निने उषा व दिन बनाकर सूर्यकी किरणोंको द्यु व पृथिवी लोकमें फैला रखा है । सर्वत्र प्रकाश कर रखा है ॥ २८ ॥

जब अग्नि मनुष्योंको यज्ञके लिये तैयार करके स्वयं उनके सन्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा द्यु व पृथिवी प्रसिद्धि पाते हैं । (ऋ० १० । १२) ॥ २९ ॥

देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान् ।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥
अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे ।
अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ३१ ॥
स्वावृग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥ ३२ ॥
किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद ।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवांछ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥

अर्थ--(प्रथमः) प्रसिद्ध वा मुख्य, (चिकित्वान्) ज्ञानवान (देवः) प्रकाशमान हे अग्नि ! तू (देवान् परिभूः) देवोंको चारों ओरसे व्याप्त करता हुआ (ऋतेन) यज्ञ द्वारा (नः हव्यं वह) हमारे हव्यका वहन कर । उत्तरार्धसे उस अग्निके गुण वर्णन करते हैं (धूमकेतुः) धुंआ है झंडा--ध्वजा--जिसकी ऐसा अथवा जो धुंएसे जाना जाता-है [यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः अर्थात् जहां जहां धूंआ है वहां वहां वह्नि है, यह व्याप्ति लोकप्रसिद्ध ही है] और जो (समिधा) काष्ठ आदि अग्नि प्रज्वलित करनेके साधनोंसे (भा ऋजीकः) अत्यन्त प्रकाशवाला, (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला, (होता) दान आदान करनेवाला (नित्यः) नित्य तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है ऐसा अग्नि हव्यका वहन करे ॥ ३० ॥

(घृतस्नू) जल बरसानेवाले (द्यावाभूमि) द्यावापृथिवी ! (अपः वर्धाय) जल की वृद्धिके लिये [वां] तुम दोंनो की (अर्चामि) पूजा करता हूं । (रोदसी) हे द्यावा पृथिवी! (मे शृणुतं) मेरी इस प्रार्थनाको सुनो । (यत्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीतिं आयन्) प्राणोंके नेतृत्वको प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहां (मध्वा) मधुरअन्न वा जलसे (पितरा) हे माता पिता द्यु व पृथिवी ! (नः) हमें (शिशीताम्) युक्त करो—दो, बढाओ ॥३१॥

(देवस्य) प्रकाशमान अग्निका (स्वावृक्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यदि) जब कि (गोः) पृथिवीसे उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृतसे (उर्वी) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपनेको धारण करते हैं अर्थात् इस अमृतसे जीते हैं । हे अग्नि ? (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु गुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्मका अनुसारण करते हैं अथवा तेरे उस उदक दानका सब गान करते हैं । (यत्) जब कि [एनी] नदी [दिव्यं] दिव्य वा द्यु लोकमें होनेवाले [घृतं] सारयुक्त (वाः) जलको (दुहे) दोहति अर्थात् जब कि जलसे परिपूर्ण हुई हुई नदी बहती है ॥ ३२ ॥

[राजा] दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं स्वित्) किस कारणसे (जगृहे) पकडा है ! हमने (कत) कब (अस्य) इस अग्निके (व्रतं अति चकृम) नियमका अतिक्रमण किया है ! इन बातोंको (कः विवेद) कौन जानता है? कोई भी नहीं । अथवा ' कः विवेद ' इस प्रश्नका उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) वही सुखस्वरूप अग्नि जानता है । (हि) निश्चयसे वह अग्नि (देवान जुहुराणः) देव अर्थात् मदोन्मत्त जनोंके प्रति कुटिलता दर्शाता हुआ हमारा (मित्रः चित्) मित्र भी है और (यातां श्लोकाः न वाजः अपि अस्ति) उद्योगी ज्ञानियोंका स्तुति की तरह बल है । जैसे भक्तकी स्तुति बल है उसी प्रकार यह ज्ञानी जनताका बल है ॥ ३३ ॥

भावार्थ---- हे नाना महिमावाले अग्नि ! तू हमारे लिये ग्राह्य पदार्थोंका नित्य प्रति वहन करता रह ॥ ३० ॥
द्यु व पृथिवी जल व अन्न देवे ॥ ३१ ॥

अग्नि जब अमृत रूप जलको उत्पन्न करती है तब पृथिवीस्थ उत्पन्न पदार्थ अपने जीवनको धारण करते हैं । नदियां जलसे भरी हुई बहती हैं । और तब सब देवजन अग्निके इस जल दान का गान करते हैं ॥ ३२ ॥

हम अग्निके किस नियमका उलंघन करनेसे सुखी वा दुःखी हैं इस बातको नहीं जान सकते, वही जानता है । वह अग्नि कुटिलोंकी कुटिलताको दूर करता हुआ हमारा मित्र है वह ज्ञानी जनोंका एक मात्र बल है ॥ ३३ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३५ ॥ ॥ ३४ ॥
यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते ।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून् परि द्योतनिं चरतो अजस्रा ॥ ३५ ॥
यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३ न वयमस्य विद्म ।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥ ३६ ॥
सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे । स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

अर्थ- इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो आक्षेप किए गए हैं कि कोई सुखी है वह कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्थामें किसी प्रकारका दोष हो उससे किसीके साथ न्याय होता हो व किसीके साथ अन्याय । इस मंत्रमें इन आक्षेपोंको दृष्टिमें रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि— (यत्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरूपा) भिन्न भिन्न रूपवाली (भवाति) हो जावे । यानि किसी पर वह लगे और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में [अमृतस्य] इस अमृत अग्निका (नाम) नाम (दुर्मन्तु) अपूजनीय हो जावे । (ऋष्व) हे दर्शनीय (अग्ने) अग्नि (यः) जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मनवते) बडा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (पाहि) रक्षण कर ॥ ३४ ॥

(यस्मिन्) जिस अग्निमें स्थित हुए हुए [देवाः] देवगण [विदथे मादयन्ते] यज्ञमें आनन्दित होते हैं । और [विवस्वतः सदने धारयन्ते] प्रकाशमान् अग्निके घरमें अपने आपको धारण करते हैं उन देवोंने [सूर्ये ज्योतिः अदधुः] सूर्य में ज्योति [प्रकाश] स्थापित किया है और [मासि] चन्द्रमामें अक्तून् अंधकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमामें रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है। जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र [अजस्रा] निरन्तर [द्योतनिम्] प्रकाशमान अग्निकी [परिचरतः] परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

[यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि] जिस छिपे हुए ज्ञानमें [देवाः संचरन्ति] देव संचरण कर रहे हैं, [अस्य] इस अग्निके उस अन्तर्हित ज्ञानको [वयं न विद्म] हम नहीं जानते । अतः [अत्र] यहां पर [मित्रः] मित्र, [अदितिः] अखण्ड शक्तिवाला, [सविता] प्रेरक [देवः] प्रकाशमान अग्नि [नः अनागान्] हम निरपराधियोंको तथा [वरुणाय] पाप निवारकको [वोचत] कहे ॥ ३६ ॥

[सखायः] परस्पर प्रेम भावसे मित्र बनेहुए हम [नृतमाय] उत्तम नेता, [धृष्णवे] शत्रुओंके धर्षक—नाशक, [वज्रिणे] वज्रधारक [इन्द्राय] इन्द्रके लिए अर्थात् इन्द्रकी [स्तुषे] स्तुति करनेके लिए [ब्रह्म आ शिषामहे] ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ--यदि अग्निकी व्यवस्था एक सी न हो तो संसारसे उसका नाम ही मिट जावे । जो इस अग्निके नामको पूजनीय समझता है उसीकी अग्नि बिना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है । अग्निकी व्यवस्थापर किसीको शंका न लानी चाहिये ॥ ३४ ॥

अग्निमें स्थित देवगणोंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है । अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रातदिन अग्निकी परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

अग्निका छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे । उसके बिना कहे हमारा जानना दुष्कर है । (ऋ० १० । १२) ॥ ३६ ॥

हम परस्पर मित्र बने हुए नानागुण विशिष्ट इन्द्रकी स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छा करें । अर्थात् इस प्रकारके इन्द्रकी स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयक ज्ञान उपलब्ध करें (ऋ० ८ । २४ । १) ॥ ३७ ॥

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा । मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥
स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥
स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ? जिस प्रकार तू (वृत्रहत्येन) वृत्रको मारनेसे वृत्रहा (वृत्रहनके) नामसे (श्रुतः) विख्यात है उसी प्रकार (हि) निश्चयसे (शवसा) बलसे भी प्रसिद्ध है । अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है । हे अतिशूर ! तू (मघैः मघोनः) धनोंसे धनवान् हुए हुए जनसे भी (अति) बढकर (दाशसि) स्तुति करनेवालोंको देता है । अर्थात् अत्यन्त धनी भी दानमें तेरा मुकाबला नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

(स्तेगः क्षाम् न) जिस प्रकार स्तेग अर्थात् नानाविध द्रव्यसंग्रह कर्ता पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (महीं पृथिवीं) इस बडी भारी पृथिवी पर (अति एषि) बहुतायतसे विचरण करता है । " अति " यहांपर ' अभि ' के अर्थमें मानना चाहिये । (नः) हमारे लिये (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वान्तु) सुखदाई हवायें बहें । और (वरुणः) दुःखनिवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमानः) हमारे कष्ट निवारण करनेमें लगा हुआ (नः शोकं) हमारें शोक को (व्यसृष्ट) दूर करें, (वने अग्निः न) जिस प्रकार से कि वनमें दावानाम अग्नि घास फूंस आदि को जलाकर दूर करती है ॥ ३९ ॥

[देवता रुद्र है ।] हे स्तुति करनेवाले (श्रुतं) विख्यात (गर्तसदं) रथपर सवार होनेवाले, (जनानां राजानं) जनोंके राजा (भीमं) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) समीप जा जाकर मारनेवाले (उग्रम्) कठोर स्वभाववाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर । और (रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्तवानः) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करनेवाले लिए (मृड) सुख देनेवाला हो ।(ते सेन्यं) तेरी सेनायें (अस्मत् अन्यं) हम स्तुति करने वालोंसे भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें ॥ ४० ॥

(देवयन्तः) देव बननेकी कामना करते हुए लोक (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं । और (तायमाने अध्वरे) विस्तृत हिंसारहित कार्यमें यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीको बुलाते हैं और (सुकृतः) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीको बुलाते हैं । (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानी मनुष्यके लिए (वार्यं) वरणीय अभिलषित वस्तुको (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ— इन्द्र वृत्रको मारनेसे जिस प्रकार वृत्रहनके नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार बलवान् होनेसे भी प्रसिद्ध है। उसके समान कोई भी दानशूर नहीं है । वह स्तोताको खूब दान करता है । (ऋ० ८।२४।२) ॥ ३८ ॥

जिस प्रकारसे द्रव्य संग्रह करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह मित्रभूत राजा सारी पृथिवीपर भ्रमण करें ताकि जनताकी दशाका ज्ञान होवे । भूमि पर सुखदाई वायु चले व राजा मित्र होकर प्रजाके कष्टोंको इस प्रकारसे दूर करे कि जिस प्रकारसे अग्नि वनमेंसे तमाम घास फूंस झाडी झुंडोंको दूर करती है ॥ ३९ ॥

हे जनो ! उस प्रसिद्ध, भयंकर शत्रुनाशक आदि गुण विशिष्ट रुद्रकी स्तुति करो । वह रुद्र स्तुति किया हुआ तुम्हारे लिए सुखदायी होवे । उसकी सेनायें शत्रुओंका ही विनाश करें । तुम्हारा न करें । ॥ ४० ॥

जिनको देव बनना हो उन्हें सरस्वतीका आह्वान करना चाहिये । सुकृत जन सरस्वतीका आह्वान करते हैं । सरस्वती का जो दान करता है उसे अभिलषित पदार्थोंकी उपलब्धि होती है । (ऋ० १०।१७।७) ॥ ४१ ॥

सर॑स्वतीं पि॒तरो॑ हवन्ते दक्षि॒णा य॒ज्ञम॑भि॒नक्ष॑माणाः ।
आ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्वमनमी॒वा इष॒ आ धे॑ह्य॒स्मे ॥ ४२ ॥
सर॑स्वति॒ या स॒रथं॑ य॒याथो॒क्थैः स्व॒धाभि॑र्देवि पि॒तृभि॒र्मद॑न्ती ।
स॒ह॒स्रा॒र्घमि॒डो अत्र॑ भा॒गं रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानाय धेहि ॥ ४३ ॥
उदी॑रता॒मव॑र॒ उत्परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ ।
असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ४४ ॥
आहं पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॑ अवित्सि॒ नपा॑तं च वि॒क्रम॑णं च॒ विष्णोः॑ ।
ब॒र्हि॒षदो॒ ये स्व॒धया॑ सु॒तस्य॒ भज॑न्त पि॒त्वस्त इ॒हाग॑मिष्ठाः ॥ ४५ ॥
इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ अस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ ये अप॑रास ई॒युः ।
ये पार्थि॑वे॒ रज॒स्या निष॑त्ता॒ ये वा॑ नू॒नं सु॑वृ॒जना॑सु दि॒क्षु ॥ ४६ ॥

अर्थ-[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं,ऐसी हे सरस्वती! तू तथा पितर [अस्मिन्] इस[बर्हिषि] यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] प्रसन्न होओ । [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको [आधेहि] दे ॥ ४२ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी [या] जो तू [पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती] पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई[सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई[ययाथ] आई है.हे सरस्वती! तू[अत्र]इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे ॥४३॥

हे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [अवरे] निकृष्ट, [उत् परासः] और उत्कृष्ट [उत्] तथा [मध्यमाः] मध्यम [पितरः] पितरो ! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ । [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राणको प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जानने-वाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [रक्षन्तु] रक्षा करें ॥ ४४ ॥

[सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धनसंपन्न पितरोंको [आ अवित्सि]अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं । [विष्णोः नपातं विक्रमणं च)और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं । [बर्हिषदः पितरः] कुशासनपर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं, वापिस जाते हैं [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमिष्ठाः] आवें ॥ ४५ ॥

[अद्य]आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिये (इदं नमः अस्तु)यह नमस्कार हो। किन पितरोंके लिए? [ये]जो कि[पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और (ये) जो कि पितर [पार्थिवे रजसि]पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं, [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं। (ऋ० १०। १७। ८)॥ ४२ ॥

सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना होता है । ऋ० १०।१७।९ ॥ ४३ ॥

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें । हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें। ऋ० १०। १५।१; यजु० १९।४९॥४४॥ धनधान्य संपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं। स्वधाके साथ पक्व अन्नको खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ। ऋ० १०।१५।२; यजु० १९। ५६ ॥ ४५ ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् ।
उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥
परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ४९ ॥
यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

अर्थ—[मातली] इन्द्र [कव्यैः] कव्योंसे, [यमः अङ्गिरोभिः] यम अङ्गिरसोंसे और [बृहस्पतिः ऋक्वभिः] बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचा संबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। [यान् देवाः वावृधुः] जिनको देवोंने बढाया है तथा [ये देवान्] जो देवोंको बढाते हैं, [ते] वे अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें ॥ ४७ ॥

[अयं] यह सोम रस [किल] निश्चयसे [स्वादुः] स्वादिष्ट है। यह सोमरस [मधुमान्] माधुर्य गुणोंसे युक्त है। [उत] और (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्रः) पीनेसे स्वादमें तेज लगनेवाला है। (उत) और (अयं) यह सोम [रसवान्] उत्तम रसवाला है। (उतः) और (उ) निश्चयसे (अस्य पपिवांसम्) इसके पान करनेकी इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) संग्रामोंमें (कः च न) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने संग्राममें कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालों और तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः इति) भूमि प्रदेशोंको (परेयिवांसं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतों के लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां संगमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्‌के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हविदान पूर्वक पूजा करे ॥ ४९ ॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिला जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिये नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे बताते हैं—(यत्र नः पूर्वे पितरः परेताः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं। (और एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणी (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ- पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथ्वी लोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है। ऋ० १०।१५।२, यजु० १९।६४ । ४६ ॥

देव अपनी अपनी शक्तियोंसे बढते हैं उसी प्रकार सब लोग अपनी शक्तिसे बढें ॥ ४७ ॥

मंत्रोक्त नाना माधुर्य आदि गुणोंवाले सोमको पीनेवालेका कोई भी पराभव नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य सदा चल रहा है। इसलिए उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिए जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है।] यम हमारा यमलोकमें आनेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ वह अवश्य मरेगा ही ॥ ५० ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यं १ र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात　　　　॥ ५१ ॥
आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम　　　　॥ ५२ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश　　　　॥ ५३ ॥
प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्　　　　॥ ५४ ॥
अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन् ।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै　　　　॥ ५५ ॥

अर्थ-(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो ! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए(हव्या) हव्योंको [चकृम] करते हैं उनका [जुषध्वम्] प्रीतिपूर्वक सेवन करो। [ते] वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षणके साथ [आगत] आओ। [अथ] और तब [नः] हमें [अरपः] पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और [योः] दुःखवियोग [दधात] दो ॥५१॥

[विश्वे] तुम सब पितरो ! [जानु आच्य] दांयां घुटना टेककर [दक्षिणतः निषद्य] दांई ओर बैठकर [इमं यज्ञं] इस यज्ञका [अभि गृणीत] स्वीकार करो। [पितरः] हे पितरो ! [यत् वः आगः] जो तुम्हारा अपराध(पुरुषता कराम)पुरुषत्वके कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह रचता है [इति] इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन [समेति] इकट्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यमकी जननी व(महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें(पूर्व्येभिः पथिभिः पहिलेके मार्गों द्वारा(प्रेहि प्रेहि)अवश्य जा। उस लोकमें जाकर[स्वधया मदन्तौ]स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए [उभा राजानौ] दोनों राजा [यमं वरुणं देवं च] यम तथा वरुण देवको[पश्यासि]देख ॥ ५४ ॥

हे विघ्नकारी जनो ! [अप इत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [वि सर्पतातः] सर्वथा वह स्थान छोडकर हट जाओ। [अस्मै] इस प्रेतके लिए[पितरः]पितरोंने[एतं लोकं अक्रन] यह स्थान किया है। [अस्मै] इस मृतके लिये [यमः] यम [अहोभिः] दिनोंसे व[अद्भिः] पेय जलोंसे तथा[अक्तुभिः] रात्रियोंसे[व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है ॥ ५५ ॥

भावार्थ-बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदल में हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें। वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ॥ ५१ ॥

हे पितरो दांई ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाय तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। (य० १९।६२) ॥ ५२ ॥

यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिता का नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है अर्थात यम विवस्वान् [सूर्य]का पुत्र है अतएव उसे वेदमंत्रोंमें ' वैवस्वत ' के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ॥

जहां हमारे पूर्व पितर गये हैं वहां यह मृत मनुष्य जावे व वहां स्वधासे आनंद प्राप्त करे ॥ ५४ ॥

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥
द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥
अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥ ५९ ॥

अर्थ--हे अग्नि ! [उशन्तः]तेरी कामना करते हुए हम [त्वा]तेरी[धीमहि]स्थापन करते हैं। और [उशन्तः] तेरी कामना करते हुए हम [समिधीमहि] तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिये[उशतः पितॄन्]कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ ॥ ५६ ॥

हे अग्नि ! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम [समिधीमहि] तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान)दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ ॥ ५७ ॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह अङ्गिरस् पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सद्भावोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभ संकल्पोंमें (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

हे यम ! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो। [विवस्वन्तं हुवे] विवस्वान् [सूर्य] को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान् [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे। (ऋ० १०।१४।५) ॥ ५९ ॥

भावार्थ-शव की अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं। यहां शरीरसे प्राणों के निकल आनेके बादका वर्णन है दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरनेपर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोकका हो सकता है। ॥ ५५ ॥

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर। (यजु० १९।७०) ॥ ५६ ॥

अन्न सेवनके लिए पितरोंको बुलाना चाहिए ॥ ५७ ॥

हमारे विषयमें पितरोंकी बुद्धि उत्तम हो ऐसा आचरण करना हमें उचित है ॥ ५८ ॥

यज्ञमें यम व अङ्गिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् (सूर्य) है, उसे भी साथमें यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिए दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं ॥ ५९ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः ।
आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व ॥ ६० ॥
इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

[२]

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥
यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥
यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

अर्थ- [अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः] अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू [इमं प्रस्तरं] इस विस्तृत फैले हुए आसनपर [आसीद] बैठ । [त्वा] तुझे [कविशस्ताः मंत्राः] क्रान्तदर्शियों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र [आ वहन्तु] बुलावें । [एना] इस [हविषा] हविद्वारा [मादयस्व] प्रसन्न हो । (ऋ० १०।१४।४) ॥ ६० ॥

[एते] ये पितर [इतः] यहांसे [उत् आ अरुहन्] ऊपरको चढते हैं । [दिवः पृष्ठानि आरुहन्] और द्युके पृष्ठोंपर महत्व स्थानोंपर-चढते हैं । [यथा पथा] जिस प्रकारके मार्गसे कि [भूर्जयः] भूमि जीतनेवाले [अंगिरसः] अंगिरस पितर [द्यां] द्युलोकको [प्रययुः] गए हुए हैं ॥ ६१ ॥ [२]

(यमाय सोमः पवते ।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है । (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (अरङ्कृतः) नाना प्रकारके द्रव्योंके डालनेसे जो अलंकृत किया हुआ, (अग्निदूतः) अग्निको अपना दूत बना करके (ह) निश्चयसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(यमाय) यमके लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर द्रव्यका (जुहोत) प्रदान करो । और हवि देकर (प्र-तिष्ठत) प्रतिष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनका लाभ करो । (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्गप्रदर्शक (पूर्व-जेभ्यः)जोसबसे पूर्व उत्पन्न हुए हैं [पूर्वेभ्य] हमसे पूर्वके हैं ऐसे(ऋषिभ्यः)ज्ञानियोंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है ॥२॥

(यमाय राज्ञे) यम राजाके लिए (घृतवत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हविका (जुहोतन) प्रदान करो। (सः) वह यम (प्रजीवसे) प्रकृष्टतया जीनेके लिए (जीवेषु) जीवोंमें अर्थात् संसारमें (नः) हमें (दीर्घ आयुः) दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ-यम अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें विस्तृत आसनपर बैठता है । उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है ॥ ६० ॥

अंगिरस् पितर यहांसे ऊपर जाकर द्युलोकमें स्थित होते हैं । उनके जानेका मार्ग वही है जो कि वीर गणोंका द्युलोकमें जानेका है ॥ ६१ ॥

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए । यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यम राजाके लिए मधुरतम हवि दो और प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार करो ॥ २ ॥

यम राजाको हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृँरुप ॥ ४ ॥
यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥
त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥
सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

अर्थ- [अग्ने]हे अग्नि![एनं मा विदहः]इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। [मा अभि शूशुचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फेंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदिको इस प्रकारसे जला दे कि कोईभी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [यदा शृतं करसि] जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात पूर्णतया जला दे[अथ] तब [एनं] इस प्रेतकी आत्माको [पितॄन् उप प्रहिणुतात्] पितरों के पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे। ऋ० १०।१६।१ ॥ ४ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिये सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं। (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत [मृत शरीर], [देवानां वशनीः भवाति] देवोंके वश हो जाता है। [ऋ. १०।१६।२] ॥ ५ ॥

[एकं इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियन्ता महान् यम [त्रिकद्रुकेभिः] तीन कद्रुकों से [षट् उर्वीः] छहों उर्वियों को[पवते] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्त करके स्थित है। [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप्, गायत्री आदि [ता सर्वा छंदांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्ता परमात्मामें [आहिताः] स्थित हैं। [ऋ० १०।१४।१६] ॥ ६ ॥

हे प्रेत ! तू [चक्षुषा सूर्यं गच्छ] आंख से सूर्य को जा। (आत्मना वातं) आत्मासे [प्राणसे] वायुको जा। और हे प्रेत ! (धर्मभिः) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्म से अथवा पार्थिवादि तत्वों के कर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जल में जा मिलें, इत्यादि प्रकार से [द्यां च पृथिवीं च] द्यु व पृथिवी लोक को जा अर्थात् पार्थिव तत्व पृथिवीमें जा मिलें और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोक में जा मिले। जहां जहां से जो जो अंश तेरे शरीर में आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। [वा] अथवा [अपो गच्छ] जलोंमें जलीय अंश जावें (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरे में विद्यमान हो और इसी प्रकार औषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधि में चला जावे। [ऋ० १० । १६ । ३] ॥ ७ ॥

भावार्थ- जब तक देह पूर्णतया जल नहीं जाती तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तरमें नहीं जाती। उस देहके आसपास ही मण्डलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है ॥ ४ ॥

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं। जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है ॥ ५ ॥

छहों उर्वियोंमें वह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप्, गायत्री आदि सर्व उस यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं ॥ ६ ॥

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ८ ॥
यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् ।
अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।
आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥ (७)
अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! इस प्रेतका जो [अजः भागः] अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग [आत्मा] है [तं] उसको तू [तपसा तपस्व) अपने तप से तपा । [तं] उस अज भाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे । [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान तेरी ज्वाला [तपतु] तपावे । और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि [याः ते शिवाः तन्वः] जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं [ताभिः] उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालोंके लोक में [वह] प्राप्त करो । [ऋ० १०।१६।१४] ॥ ८ ॥

[जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [याः ते] जो तेरे [शोचयः] पवित्र करनेवाले, [रंहयः] वेगवाले ज्वालारूपी शरीर हैं, [याभिः] जिनसे कि तू [दिवं] द्युलोकको व [अंतरिक्षं] अन्तरिक्ष लोकको [आपृणासि] परिपूर्ण करता है [ताः] वे तेरे ज्वालारूपी तनू अर्थात् शरीर [यन्तं] द्युलोक को जाते हुए [अजं अनु] शरीरके अज भाग [आत्मा] के पीछे [समृण्वताम्] जावें । [अथ] और [इतराभिः शिवतमाभिः] दूसरे कल्याणकारी शरीरोंसे इस पीछे रह गए मृत देह को [शृतं कृधि] परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे ॥ ९ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यः] जो [ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ [स्वधावान् चरति] स्वधाओंसे युक्त विचरण करता है उसको [पुनः] फिर [पितृभ्यः] पितरोंके लिये लाकर [अवसृज] छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले । अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड । दोनो प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है । इस प्रकार वह पुनर्जन्म लिया हुआ । [शेषः] अपत्य संतान [उपयातु] कुटुंबियों को प्राप्त करे, तथा [सुवर्चाः] तेजस्वी होकर हे अग्नि ! [तन्वा संगच्छतां] वह अपत्य शरीरसे भलीभांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने [ऋ० १०।१६।५] ॥ १० ॥

हे पितृ लोकमें जाते हुए जीव ! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय, चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा । [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंको [अपि इहि] भी प्राप्त हो । [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं । [ऋ० १०।१४।१०] ॥ ११ ॥

भावार्थ- मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आये हुए होते हैं वहां चले जाते है। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं हरेक देव अपना अंश शरीरसे खींच लेता है ॥ ७ ॥

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा॥८॥

शरीरके अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्निकी कुछ ज्वालाएं उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएं भस्म कर डालती हैं ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है। उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड ॥ १० ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्य॑स्मा अनमीवं च धेहि ॥ १२ ॥
उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥
ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः। ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥१५॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्व॑र्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥१६॥

अर्थ-हे यम ! [ते] तेरे [यौ] जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिषदी) यमलोकमें आनेके मार्ग में बैठनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इस जीवको (स्वस्ति) कल्याण (धेहि) प्रदान कर । (च) और (अस्मै) इस जीवके लिये [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर । इसे निरोगी बना । (ऋ० १०। १४ । ११) ॥ १२ ॥

[उरू—णसौ] लम्बी नाकवाले , [असुतृपौ] प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते, (जनाँ अनुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं । (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिये (अद्य) आज [इह] इस संसारमें [भद्रं असुं] कल्याणके देनेवाले प्राणको [पुनः] फिर [दाता] देवें । [ऋ० १०।१४।१२] ॥ १३ ॥

[एकेभ्यः]कईयों के—लिये (सोमः पवते) सोमरस बहता है । और [एके] कई (घृतं उपासते) आज्य का उपभोग करते हैं । इनको व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिये मधु धारा रूपसे बहता है [तान् चित् अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १४ ॥

(ये चित्) और जो (पूर्वे) पूर्व पुरुष (ऋतसाताः) सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके विज्ञ नियमपूर्वक करनेवाले (ऋतावानः) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिए (ऋतावृधः) सत्य व यज्ञके वर्धक थे, तथा (तपस्वतः) तपसे युक्त (पितॄन्) पूर्व पितरोंको (तान् चित् अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् प्रेतात्मा तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टों को नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययुः) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—यमके कुत्तोंका वर्णन यहां किया गया है । उनकी चार आंखें हैं तथा वे चितकबरे रंगके हैं। ॥ ११ ॥

जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है ॥ १२ ॥

यमके कुत्ते लंबी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं । वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं ॥ १३ ॥

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधु की कुल्यायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि का अनुष्ठान नित्यनियमसे करनेवाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पितरों को हे मृतात्मा तू परलोक में जाकर प्राप्त हो ॥ १५ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् । ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् १८
स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥
असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥
ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उप जुजुषाण एहि ।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ २१ ॥

अर्थ- हे प्रेत ! [ये शूरासः] जो शूरवीर गण [प्रधनेषु] संग्राममें में [युध्यन्ते] युद्ध करते हैं और [ये] जो इन संग्रामों में [तनूत्यजः] शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, [वा] अथवा [ये] जो लोग [सहस्रदक्षिणाः] हजारों दान करते हैं [तान् चित् अपि] उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ये] जो [कवयः] क्रांतदर्शी ज्ञानी लोग [सहस्रणीथः] हजारों प्रकारों की नीतियोंवाले हैं और जो [सूर्यं गोपायन्ति] इस सूर्यका रक्षण करते हैं ऐसे [तपस्वतः ऋषीन्] तपसे युक्त ऋषियोंको जो कि [तपोजान्] तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं—ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे पृथिवी ! [अस्मै] इसके लिए [स्योना] सुखकारिणी [अनृक्षरा] कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली, [निवेशनी] प्रवेश करने योग्य [भव] हो । [सप्रथाः] विस्तृत हुई हुई [अस्मै] इसके लिए [शर्म] सुखको [यच्छ] दे । ॥ १९ ॥

[असंबाधे] ऊंचा नीचा जो नहीं है अर्थात् जो एक सरीखा है ऐसे [पृथिव्याः उरौ लोके] पृथिवीके विस्तृत स्थानमें [निधीयस्व] स्थित हो । [जीवन्] जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तूने [याः स्वधाः] जो स्वधायें [चकृषे] की थीं [ताः] वे स्वधायें [ते] तेरे लिए अब [मधुश्चुतः] मधुके बरसाने वाली [सन्तु] होवें ॥ २० ॥

[ते मनः] तेरे मनको [मनसा] मन द्वारा बुलाता हूं । [इह] यहां [इमान् गृहान्] इन घरोंसे [जुजुषाणः उप एहि] प्रीति करता हुआ समीप आ । तू [पितृभिः] पितरों के [संगच्छस्व] साथ विचरण कर । [यमेन सं] यमके साथ विचरण कर । (स्योनाः) सुखदायक (शग्माः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें [त्वा उपवान्तु) तेरे लिए बहें ।। २१ ॥

भावार्थ— हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहांसे जाकर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोग नानातरह के दानों को देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोकोंको हे मृतात्मा तू प्राप्त हो, तेरी सद्गति होवे ॥ १७ ॥

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो । उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोकमें मत जा ॥ १८ ॥

पृथिवी, इसके लिए सुखकारी व पीडारहित होवे ! इसको किसी प्रकारका कष्ट न हो ! पृथिवी इसको सदा सुख प्रदान करती रहे ॥ १९ ॥

इसने जो जीते हुए स्वधाओंका संग्रह किया था वे इसके लिए मधुर हों ॥ २० ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः । अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति २२
उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे । स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितूँरुप द्रव ॥ २३ ॥
मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते । मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥
मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही । लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु २५ ॥
यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः ।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु ॥ २६ ॥

अर्थ- [उदवाहाः] जलका वहन करनेवाली [उदप्रुतः] जलमें संचार करनेवाली (मरुतः) वायुयें [त्वा] तुझे (उत् वहन्तु) ऊपर पहुंचावें और वे वायुयें [अजेन शीतं कृण्वन्तः] जलसे शीतलता देती हुई [वर्षेण उक्षन्तु] वृष्टि द्वारा सींचें । (बाल् इति) यह तेरा जीना है, अर्थात् इसीसे तू जीवित रह सकता है ॥ २२ ॥

[आयुषे] दीर्घायु धारण करने के लिए, [क्रत्वे] कर्म करने के लिए [दक्षाय] बलके लिए तथा (जीवसे) उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतात्मा ! मैं तुझे [उदह्वम्] बुलाता हूं । [ते मनः] तेरा मन [स्वान्] तेरे सबन्धियों में [गच्छतु] जावे [अध] और तू [पितृन् उपद्रव] पितरोंको प्राप्त हो ॥ २३ ॥

[इह] इस संसारमें रहते हुए [ते] तेरा [मनः] मन [मा हास्त] तुझे छोडकर मत चला जावे । [असोः] प्राणोंका [किंचन] कुछभी अंश [मा] मत चला जावे अर्थात तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें । [ते रसस्य मा] तेरे शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी अंश मत चला जावे । और [ते तन्वः किंचन मा हास्त] तेरे शरीर का कुछभी अंश मत चला जावे । २४ ॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधिष्ट) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुंचाए । वृक्ष यहां वनस्पतिका उपलक्षण है । (देवी मही पृथिवी) दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुंचाए । (यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एधस्व) वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

(ते यत् अङ्गं पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अङ्ग उलटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः अपानः परेतः) जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है-शरीरसे निकल गया है (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण वा अपानको (सनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासात् घास इव) यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है जैसे घाससे घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः आवेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें यानि पुनरुज्जीवित करें ॥ २६ ॥

भावार्थ- पितरोंके साथ विचरण कर और यमसे विचरण कर । तेरे लिये वायु सुखदायी हो ॥ २१ ॥

वायु और जल तेरे लिये सुखदायी हों ॥ २२ ॥

हे मृतात्मा ! तू दीर्घायु, बल, जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबन्धियों में ही आकर जन्म ले ॥ २३ ॥

हे पुरुष ! तू संसारमें सर्वाङ्गपूर्ण बना रह । तेरे शरीर आदि का कोई भी अंश नष्ट न होवे ॥ २४ ॥

द्युलोकमें जाते हुए तुझ को वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुंचावें । तू यमराजाके पितरोंमें जाकर वृद्धिको प्राप्त कर ॥ २५ ॥

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस हालतमें शव या मृत देह कहलाता है । इस मंत्रमें निकले हुए प्राणोंका पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृतको पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इसके सिवाय कोई शरीरका अवयव उलटा हो गया हो या टूट गया हो तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ॥ २६ ॥

अपे॒मं जी॒वा अ॑रुधन् गृ॒हेभ्य॒स्तं निर्व॑हत॒ परि॒ ग्रामा॑दि॒तः ।
मृ॒त्युर्य॒मस्या॑सीद् दू॒तः प्रचे॑ता॒ असू॑न् पि॒तृभ्यो॑ गम॒यां च॑कार ॥ २७ ॥
ये दस्य॑वः पि॒तृषु॒ प्रवि॑ष्टा ज्ञा॒तिमु॑खा अहु॒ताद॒श्चर॑न्ति ।
प॒रापु॑रो नि॒पुरो॒ ये भर॑न्त्य॒ग्निष्टान॒स्मात् प्र ध॑माति य॒ज्ञात् ॥ २८ ॥
सं वि॑श॒न्त्विह॒ पि॒तरः॒ स्वा नः॑ स्यो॒नं कृ॒ण्वन्तः॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ।
तेभ्यः॑ शकेम ह॒विषा॒ नक्ष॑माणा॒ ज्योग् जीव॑न्तः श॒रदः॑ पु॒रूचीः॑ ॥ २९ ॥
यां ते॑ धे॒नुं नि॑पृ॒णामि॒ यमु॑ ते क्षी॒र ओ॑द॒नम् ।
तेना॒ जन॑स्यासो भ॒र्ता योऽत्रास॒दजी॑वनः ॥ ३० ॥

अर्थ- (जीवाः)प्राणधारी लोगोंने(इमं) इस प्रेतको(गृहेभ्यः) घरोंसे(अप अरुधन्)बाहिर कर दिया है [तं]उसको तुम लोग (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहिरकी ओर स्मशानभूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूत आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिये अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इसलिये इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिये ले जाओ ॥ २७ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिये हुए को खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रों को तथा (निपुरः)पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता ॥ २८ ॥

(इह) इस यज्ञमें (नः)हमारे (स्वाः पितरः) ज्ञातिके पितृगण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विशन्तु) प्रविष्ट होवें। और (आयुः प्रतिरन्त) आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलेमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य-तत्पर हम (ज्योक् पुरूचीः शरदः) निरन्तर बहुतसे वर्षोंतक (जीवन्तः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी हविषा हविद्वारा (शकेम)परिचर्या करनेमें समर्थ बने रहें ॥ २९ ॥

(ते) तेरे लिये (यां धेनुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूं और (क्षीरे) दूधमें (यं ओदनं) जिस भातको देता हूं अर्थात् दूध मिश्रित जो भात देता हूं (तेन) उस द्वारा तू (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो। (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अ—जीवनः) निर्जिव—मृत (असत्) है ॥ ३० ॥

भावार्थ-- इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिये व तदनन्तर ग्रामसे बीहार लेजाना चाहिये। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिए ॥ २७ ॥

जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियोंको जो कि, पितरोंके उद्देशसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरोंमें बैठकर हवि खाने नहीं देती ॥ २८ ॥

पितर आ जावें और दीर्घ कालतक जीते हुए उनकी हविदान द्वारा सेवा की जावे ॥ २९ ॥

दूध मिश्रित भात जीवनहीन मनुष्यके भरण के लिए दिया जावे ॥ ३० ॥

अश्वावर्ती प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः ।
यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विंदत भागधेयम् ॥ ३१ ॥
यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥ ३२ ॥
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ३३ ॥
ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ३४ ॥

अर्थ- (अश्वावर्ती) जिसमें घोडे हैं ऐसी सेनाको (प्रतर) भली भांति बढा अर्थात् घुड सवार सेना बढा, (वा) जो कि (सुशेवा) उत्तम सुख देनेवाली है और फिर इस सेना द्वारा (प्रतरं नवीयः ऋक्षाकं प्रतर) बडे हुए, अद्भुत, रीछ आदि जङ्गली जानवरोंवाले स्थानको पार कर । (यः त्वा जघान) जो तुझे मारे (सः) वह (वध्यः अस्तु) मारडालने लायक होवे अर्थात् उसे मारडाला जावे । (सः) वह तेरा हिंसक (अन्यत् भागधेयं मा विंदत) उसे अन्य भाग मत मिले अर्थात् उसे मार ही डाला जावे । अन्य भोग्य वस्तुएं उसे न मिलें ॥३१॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस यमसे परे मैं [किंचन न अति पश्यामि] कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं । अथवा नहीं समझता हूं (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोकको अपने प्रकाशसे फैला रखा है ॥ ३२ ॥

(मर्त्येभ्यः) मरणधर्मा मनुष्योंसे (अमृतां अपागूहन्) अमरताको छिपाया । और (विवस्वते) विवस्वान्के लिये (सवर्णां) सवर्णा (कृत्वा) बना करके (अदधुः) धारण किया—दिया । (उत) और (यत् तत्) उस समय जो वह स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विनौ को धारण किया । और (सरण्यूः) सरण्यूने (द्वौ मिथुनौ) दो जोडी यम व यमी (अजहात्) उत्पन्न किए ॥ ३३ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [ये निखाताः] जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और [ये परोप्ताः] जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ ॥ ३४ ॥

भावार्थ- घुडसवार सेना बढाकर हिंसक प्राणियोंवाले स्थानोंको दूर करना चाहिये । और ऐसे कार्य करनेवालेका जो कोई वध करे तो उसे मार डालना चाहिये ॥ ३१ ॥

यमका स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

सरण्यूसे यम व यमीकी उत्पत्ति हुई है, [बृहद्देवताकार [illegible] दी गई गाथासे यह भी पता चलता है कि] सरण्यूने जब घोडीका रूप धारण किया, तब उससे जो संतान हुई [illegible] नाम अश्विनौ पडा !! ३३ ॥

यहांपर चार प्रकारके श्मशानकर्म दर्शाए गए हैं ; [१] गाडना [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमीन पर खुला छोडना ॥ ३४ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥
शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वं१ तपः ।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥ ३६ ॥
ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥ ३७ ॥
इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥
प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥
अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै । शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४० ॥ (१०)

अर्थ- (ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) द्यु लोकके बीचमें (स्वधया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तृप्त हो रहे हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि (त्वं यदि वेत्थ) तू निश्चयसे जानती है । वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधितिं यज्ञं) स्वधावाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

हे अग्नि ! (तन्वं) इस मृत शरीरको (शं तप) सुखसे तपा अर्थात् इसे कष्ट हो इस प्रकारसे मत तपा । (मा अति तपः) बुरी तरहसे इसे मत तपा । तेरा जो तपानेका—जलानेका—(शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनोंमें होवे । और (यत्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे ॥ ३६ ॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिये (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं । क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है, अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं । अपने राज्यसे नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुएके प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिये (इह) यहां यमराज्यमें (उपतिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिये दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ॥ ३७ ॥

(इमां मात्रां) इस मर्यादा-परिमाण-को इस प्रकारसे (मिमीमहे) हम नापते हैं । (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (शते शरत्सु) सौ वर्षोंमें भी (न मासातै) नहीं माप सकता ॥ ३८ ॥

(प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकारसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

(अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थात् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितरोंके लिए यज्ञभाग प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

प्रेत दहनके समय मृतात्माको कष्ट न हो ॥ ३६ ॥

यमराज्यमें पितर बसे तो यम उसकी योग्य व्यवस्था करता है ॥ ३७ ॥

यम उसकी कर्ममर्यादाको नापता है ॥ ३८ ॥

मृतात्माके कर्मोंकी मात्रा अर्थात् प्रमाण यम मापता है और तदनुसार उसको फल देता है ॥ ३९-४५ ॥

वीड्डमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासांतै । शुते शुरत्सु नो पुरा ॥ ४१ ॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासांतै । शुते शुरत्सु नो पुरा ॥ ४२ ॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासांतै । शुते शुरत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥
समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासांतै । शुते शुरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥
अमांसि मात्रां स्व॒रगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासांतै शुते शुरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥
प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितृन् गच्छ ॥ ४६ ॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥ ४७ ॥
उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा । तृतीयां ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसंते ॥४८॥

(वि मिमीमहे) विशेष ढंगसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(निः मिमीमहे) निश्चित रूपसे वा निःशेष रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

(उत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

(सं मिमीमहे) अच्छी तरह से—भली भांति मापते हैं । शेष पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

(मात्रां अमासि) मैं मात्राको मापूं और इससे (स्वः अगाम्) सुखको प्राप्त होऊं । (आयुष्मान्) दीर्घायु—वाला (भूयासम्) होऊं । शेष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, [आयुः] आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनके लिये अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करने-पर हे मनुष्य ! तू (अपरिपरेण पथा) अकुटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितृन्) यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंको [गच्छ] जा— प्राप्त हो । (' अपरिपरः—परि परितः सर्वतः परः पराभवः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः। अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु नहीं है वह अपरिपर है) ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी, (शशमानाः) प्रशंसा प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील, (अनपत्यवन्तः) अपत्य संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुरुष (द्वेषांसि हित्वा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) उन पुरु-षोंने (द्यां उदित्य) द्युलोकको प्राप्त करके (अधिदीध्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नाकस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाया है ॥ ४७ ॥

[अवमा द्यौः उदन्वती] सबसे नीचे की यो ' द्युलोक ' वह है जिसमें कि जल रहता है । जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है । [पीलुमती इति मध्यमा] और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीचका द्युलोक है । (ह) निश्चय से (तृतीया) तीसरा [प्रद्यौः इति] प्रद्यु नामक द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ॥४८॥

भावार्थ– हे मनुष्य तेरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा मरने पर तू उत्तम मार्गसे यमलोकस्थ पितरोंको प्राप्त हो । यम पितरोंका राजा है यह इससे पता चलता है ।। ४६ ॥

जो लोग अग्रगामी, प्रसिद्ध तथा द्वेषोंका त्याग करते हैं वे मरने पर द्युलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४७ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥
इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये᳡नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥
इदमिद् वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये᳡नं भूम ऊर्णुहि ॥ ५१ ॥
अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अर्थ- (ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं,(ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवी उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए (नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है । (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है । (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णुहि) चारों ओरसे ढांप ॥ ५० ॥

(जरसि) वृद्धावस्थाके बादमें (इदं इत् वा उ अपरं) यही दूसरा स्मशानोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) दूसरा इससे भिन्न कोई कार्य नहीं । अतः हे (भूमे) भूमि ! (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको वस्त्रसे ढांपती है उस प्रकार तू (एनं) इस प्रेतको (अभि ऊर्णु हि) रूपसे ढांप ॥ ५१ ॥

हे प्रेत! (त्वा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (भद्रया वस्त्रेण) कल्याणकारी वस्त्रसे (अभि ऊर्णोमि) आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं । (जीवेषु भद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो । यहां पर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है ॥ ५२ ॥

भावार्थ- द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकारके द्युलोकोंमें से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे ऊपर है और उसमें पीलु अर्थात् ग्रहनक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौके नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ॥ ४८ ॥

जो हमारे पितरादि पूर्वज अंतरिक्ष, द्यु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम ' नमः ' द्वारा पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे प्रेत ! यही सब कुछ है जो कि द्युलोकमें सूर्य दिख रहा है । हे भूमि ? तू इस प्रेतको इस प्रकारसे ढक के जिस प्रकारसे कि माता पुत्रको अपने आंचलसे ढांपती है । (इस मंत्रके पूर्वार्धका भाव कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता। और अतएव उत्तरार्धसे उसकी संगति लगानी जरा विचारणीय है । उत्तरार्ध स्पष्ट ही है) ॥ ५० ॥

वृद्धावस्थाके अनन्तर देहके लिए सिर्फ स्मशानकार्य ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं । अतः हे भूमि ! इस कार्यार्थ लाए गए इस शवको ऐसे ढांपले जैसे कि पत्नी अपने वस्त्रसे पतिको ढांप लेती है ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी वस्त्रसे ढकता हूं । संसारमें जो कल्याण है उसका मैं भागी बनूं और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोकमें जाकर तुझे स्वधा मिले । इस प्रकार हम दोनों सुखी हों । तू परलोकमें सुखी हो; मैं इस लोकमें सुखी होऊं ॥ ५२ ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् ।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥
पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥
आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ ५५ ॥
इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—(पथिकृता) मार्ग बनानेवाले (अग्निषोमा) अग्नि व सोम (देवेभ्यः) देवोंके लिए (स्योनं) सुखकर (रत्नं) रमणीय-सुन्दर वा रत्नोंवाला (लोकं) स्थान (विदधथुः) देवें । (यः) जो कि स्थान (उप प्रेष्यन्त पूषणं) समीप में जाते हुये पूषा—सूर्य—का (वहाति) वहन करता है । (तत्र) ऐसे उस स्थानमें (अञ्जोयानैः) सीधा चलनेवालेसरल (पथिभिः) मार्गोंसे (गच्छतम्) विचरण करो । अथवा (गच्छतं--गमयतं) विचरण कराओ ॥ ५३ ॥

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्गकी ओर ले जावे । (सः अग्निः) वह अग्नि [त्वा] तुझे [एतेभ्यः पितृभ्यः] इन पितरोंके लिए वा [सु विदत्रियेभ्यः देवेभ्यः] उत्तम धनवाले देवोंके लिए [परि ददत्] देवे । [ऋ० १०।१७।३८।] ॥ ५४ ॥

[आयुः विश्वायुः] आयु और विश्वायु (त्वा परिपातु) तेरी रक्षा करें । और (पूषा) पोषक आदित्य [त्वा] तेरी (प्रपथे] प्रकृष्ट मार्गमें [पुरस्तात्] सामनेसे (पातु) रक्षा करे [यत्र] जहांपर--जिस स्थानमें [सुकृतः आसते] उत्तम कर्म करनेवाले स्थित हैं, [यत्र] जिस स्थानमें [ते] वे सुकृत् लोक [ईयुः] गए हुए हैं [तत्र] उस स्थान में [त्वा] तुझे [देवः सविता] प्रकाशमान आदित्य [दधातु] स्थापित करे ॥ ५५ ॥

हे मृतपुरुष ! [वह्नी] वहन करनेवाले इन दो बैलोंको [ते वोढवे] तेरे वहन करनेके लिए [युनज्मि] बैलगाडीमें जोडता हूं । किस लिए ? [असुनीताय] जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस असु-नीत अर्थात् मृत प्राण देहके वहन करनेके लिए । अथवा अ-सु-नी का अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न ले जाया जावे । जिसके उठाने में तक-लीफ होती हो । [ताभ्यां] उन बैलोंसे [यमस्य सदनं इति] यह यमका घर है इस प्रकार [सं अवगच्छतात्] भली भांति जान ॥ ५६ ॥

भावार्थ- हे मार्ग बनानेवाले अग्नि सोम ! तुम देवोंके लिए उत्तम स्थान दो । जिस स्थानमें कि सूर्य विचरण करता रहता है । ऐसे स्थानमें तुम दोनों सरल मार्गोंसे जाए हुए को चलाओ । (अगले मंत्र ५४ से ऐसा पता चलता है कि अग्नि मृतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है) ॥ ५३ ॥

संसारका पोषक आदित्य तुम प्रेतकी आत्माको यह संसार छुडाकर उत्कृष्ट मार्गकी ओर ले जावे व अग्नि तुझे पितरों व देवोंके पास पहुंचावे ॥ ५४ ॥

हे प्रेतात्मा ! तेरी आयु व विश्वायु रक्षा करे । सूर्य तेरी रक्षा करे, व सुकृतोंके लोकमें ले जाकर स्थापित करे ॥५५॥

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर दो बैलोंकी गाडीमें रखकर श्मशान भूमिमें ले जाना योग्य है ॥ ५६ ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ ५७ ॥
अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व मेदसा पीवसा च ।
नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्षन् परीङ्खयातै ॥ ५८ ॥
दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥
धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

अर्थ– हे मृत पुरुष! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुझे प्राप्त हुआ है। (यत् इह पुरा आबिभः] जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] छोड दे । [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्तको अर्थात् तज्जन्य फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो । विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ, गरीब आदि ॥ ५७ ॥

हे प्रेत ! [गोभिः] घृतसे उत्पन्न हुई हुई [अग्नेः वर्म] अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे [परि व्ययस्व] अपनेको चारों ओरसे ढक ले अर्थात् अग्निकी ज्वालाओं के बीचमें तू हो जा, जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके । [सेः] वह तू [पीवसा मेदसा] अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे [प्रोर्णुष्व] अपने आपको आच्छादित कर । इस प्रकार करनेसे, [हरसा धृष्णुः] अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, [जर्हृषाणः] अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अत-एव (विधक्षन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि [त्वां] तुझे [नेत्] नहीं [परीङ्खयातै]इधर उधर बखेरेगा, अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा ॥ ५८ ॥

[गतासोः] जिसके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो मर गया है ऐसेके [हस्तात्] हाथसे [दण्डं आददानः] दण्ड को लेता हुआ [श्रोत्रेण] श्रवण सामर्थ्यसे [वर्चसा] तेजसे तथा [बलेन सह] बलके साथ [त्वं] तू [अत्रैव] इसी संसारमें स्थित हो । [इह] इस संसारमें [वयं] हम [सुवीराः] उत्तम वीर बने हुए [विश्वाः मृधः] संपूर्ण संग्रामों को तथा (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओंको (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

(मृतस्य) मृत राजाके (हस्तात्) हाथसे प्रजारक्षणार्थ (धनुः आददानः) धनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पुष्टं) पुष्टिकारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं आ गृभाय) संग्रह कर । और फिर [त्वं] तू [जीवलोकं उप] जीवलोक अर्थात् हम प्रजाजनको लक्ष्य करके [अर्वाङ् एहि] हमारे सामने आ ॥ ६० ॥

भावार्थ— मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ ५७ ॥

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले । उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावे ॥ ५८ ॥

मृतके हाथसे दण्ड लेकर तू अपने इन्द्रियादि सामर्थ्यों व साहस, तेज, बल आदिसे युक्त हो । हम सुवीर होकर शत्रु-ओंपर विजय लाभ करें ॥ ५९ ॥

मृत राजाके हाथसे रक्षार्थ अस्त्र शस्त्र लेकर अपने क्षात्रतेज व बल द्वारा बहुतसा धन प्राप्त कर व उस धनसे प्रजाको पुष्ट बना । प्रजामें धन बांट । प्रजाके लिए उस धनका व्यय कर ॥ ६० ॥

[३]

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥
अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् ।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ॥ ३ ॥
प्रजानत्य(घ्न्ये) जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

अर्थ-[इयं नारी] यह स्त्री [पतिलोकं वृणाना] पति कुलकी कामना करती हुई [मर्त्य] हे मनुष्य ! [प्रेतं] मृत पतीको (छोडकर) [पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती] पुरातन धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है। तस्यै इस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संततिको (द्रविणं च) और धनको [धेहि] दे ॥ १ ॥

(नारि) हे स्त्री ! (गतासुं एतं उपशेषे) जो तू गतप्राण अर्थात् इस मृत पतिके पास सो रही है वह तू (आ इह) उस मृत पतिके पाससे चली आ, और [जीवलोकं अभि] इस जीवलोक अर्थात् संसार के प्रति (उत् ईर्ष्व) उठकर गमन कर अर्थात् संसारमें चली आ। संसारमें आकर (हस्तग्राभस्य) विवाहमें तेरा पाणिग्रहण करनेवाले (दधिषोः) व तेरा रक्षण पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तव पत्युः) तेरे पतिकी (जनित्वं) संतानको (संबभूथ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(जीवां) जीवित (नीयमानां) श्मशानकी ओर ले जाई गई, व (मृतेभ्यः) मरेहुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) पुनः वापिस घरको लेजाई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है। (यत्) क्योंकि वह (अन्धेन तमसा) शोकजन्य गहरे अंधकार से (प्रावृता आसीत्) ढकी हुई थी अर्थात् अत्यन्त शोकपूर्ण थी। (तत्) इसलिये (एनां) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् घरकी ओर जानेवाली को (प्राक्तः) यहां सामने (अनयम्) लाया हूं ॥ ३ ॥

(अघ्न्ये) हे मारनेके अयोग्य स्त्री ! (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भांति जानती हुई और (देवानां पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्गका अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्गपर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) उससे प्रीति कर। और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गं लोकं अधि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुंचा ॥ ४ ॥

भावार्थ— पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करनेवाली स्त्री धर्मानुकूल दूसरे पुरुषको पति बनाकर धन व सन्तान की प्राप्ति करे। वह पुरुष भी उसे पत्नी बनाकर संतान व धनसे उसका पालन पोषण करे ॥ १ ॥

हे नारि ! तू इस मृत पतिके लिये शोक करना छोड दे और संसारमें आकर यथावत् रह। तेरे पाणिग्रहण करनेवाले पतिकी संतानको प्राप्त कर ॥ २ ॥

मृत पुरुषके पीछे पीछे श्मशान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूं। यह शोकसे व्याकुल थी अतः इसे यहां पर (घर पर) ले आया हूं ॥ ३ ॥

हे स्त्री ! तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवजनोंके मार्गोंका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिसे प्रीति कर व उसकी संतान त्यागादि कर्मोंमें सहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा ॥ ४ ॥

उप॒ द्यामुप॑ वेत॒समव॑त्तरो न॒दीना॑म् । अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि ॥ ५ ॥
यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुनः॑ ।
क्याम्बू॒रत्र॑ रोहतु शाण्डदू॒र्वा व्य॑ल्कशा ॥ ६ ॥
इ॒दं त॒ एकं॑ प॒र ऊं त॒ एकं॑ तृ॒तीये॑न॒ ज्योति॑षा॒ सं वि॑शस्व ।
सं॒वेश॑ने त॒न्वा॒ चारु॑रेधि प्रि॒यो दे॒वानां॑ पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥ ७ ॥
उत्ति॑ष्ठ॒ प्रेहि॒ प्र द्र॒वौकः॑ कृणुष्व सलि॒ले स॒धस्थे॑ ।
तत्र॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒नः सं सोमे॑न॒ मद॑स्व॒ सं स्व॒धाभिः॑ ॥ ८ ॥

अर्थ-- (नदीनां) शब्द करते हुए-गर्जना करते हुए (अपां) जलोंकी संबन्धिनी (द्यां उप) द्युके समीप, यहां द्यो शब्द अवका का वाची है । जलके ऊपर उगी हुई जमीनके स्पर्श से सहित (काई) का नाम अवका है । तथा (वेतसं उप) बढ़ों के समीप (नदीके किनारे उगनेवाले नडोंका नाम वेतस है) समीप, अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक है । अवकामें तथा वेतस में [अवत्तरः] अत्यन्त रक्षक सारभूतांश है । वेतस व अवका का जलीय सार होना तैत्तिरीय में कहा गया है ।' अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः । अपां शरोऽवका । वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षति ' इति (तै० सं. ५।४।४।२) (अग्ने) हे अग्नि ! तू भी (अपां पित्तम् जल सबन्धी पित्त धातु है ॥ ५ ॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [यं] जिस प्रेत को तूने [समदहः] जलाया है । [तं उ] उसे [पुनः] फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर [निर्वापय] बुझा डाल । [अत्र] इस मुर्दे के जलनेके स्थान पर [कयाम्बूः] कितना जल छिड़कना चाहिए कि जिससे [व्यल्कशा] विविध शाखाओंवाली [शाण्डदूर्वा] दुःखनाशक दुर्वा घास [रोहतु] उगे ॥ ६ ॥

[ते] तेरे लिए [इदं एकं] यह एक ज्योति है (उ) और [परः] आगे [ते एकं] तेरे लिए एक ज्योति है । तू [तृतीयेन ज्योतिषा] तीसरी ज्योति से [सं विशस्व] अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो । अर्थात् उस तीसरी ज्योतिमें प्रविष्ट हो । और उस तीसरी ज्योतिमें [संवेशने] अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर [परमे सधस्थे] उस उत्तम सबके रहनेके स्थान में [देवानां प्रियः] देवोंका प्यारा हुआ हुआ [तन्वा चारु] शरीरसे उत्तम हुआ हुआ [एधि] बढ ॥ ७ ॥

[उत् तिष्ठ] उठ, [प्रेहि) जा, (प्रद्रव) दौड, (सधस्थे) जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (ओकः) घर [कृणुष्व] बना । (तत्र) वहां अंतरिक्षमें [त्वं] तू [पितृभिः संविदानः] अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्यको प्राप्त हुआ हुआ [सोमेन] सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनंदित हो और [स्वधाभिः] स्वधाओंसे [सं] अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनंदित हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! क्योंकि तू जलोंका संबन्धी है अतः तुझे जलसे संबन्ध रखनेवाली अवका वेतस आदि औषधियोंसे शांत करता हूं ॥ ५ ॥

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिड़कना चाहिए कि जिस से फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे ॥ ६ ॥

मनुष्य अपने अन्दर तेजस्विता कमावे और आत्मज्योति की प्राप्ति करनेका साधन करे ॥ ७ ॥

पितर अंतरिक्षमें भी रहते हैं अर्थात् अंतरिक्ष भी पितरोंके लोकोंमें से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं ॥ ८ ॥

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥
वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)
वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्य॑नक्त्वासन् ।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥
मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।
वर्चो म इन्द्रो न्य॑नक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥

अर्थ- (प्रच्यवस्व) आगे बढ-उन्नति कर। (तन्वं) शरीरका (सं भरस्व) उत्तमतया पालन पोषण कर। (ते गात्रा) तेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा विहाय) मत छूटें तुझे छोडकर मत चले जावें। [मो शरीरं] और तेरा शरीर भी मत छूटे। [मनः निविष्टं] जहां तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहां तेरा मन चाहे वहां (अनु सं विशस्व) मन की इच्छानुसार प्रवेश कर- जा। और (यत्र) जहां (भूमेः जुषसे) भूमि से प्रीति करता है अर्थात् जिस देशसे तेरा मन प्यार करता है (तत्र) उस देशमें (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

(सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु) सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें। (देवाः मधुना घृतेन) देव मुझे माधुर्योपेत घृतसे व्यक्त करें। (चक्षुसे मां प्रतरं तारयन्तः) देखनेके लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खानपान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको (जरसे) वृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाए । यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ॥ १० ॥

(अग्निः) अग्नि (मां) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे । (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुखमें (मेधां नि अनक्तु) बुद्धिको उत्तमतया स्थापित करे। (विश्वे देवाः) सब देव (मे रयिं) मेरे लिये धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें। (स्योनाः आपः) सुखकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र पवनोंके साथ (पुनन्तु) पवित्र करें ॥ ११ ॥

[मित्रावरुणौ] रात व दिन (मा) मुझे (परि अधाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओरसे रक्षा करें। (स्वरवः) शत्रुओंको उपताप पहुंचानेवाले अथवा अयशब्द करते हुए (आदित्याः) अदितिके पुत्र देव—गण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढावें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें [वर्चः न्यनक्तु] तेज स्थापित करे। और [सविता] सर्व प्रेरक वा सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे ॥१२॥

भावार्थ- हे मनुष्य तू उन्नति कर। अपने शरीरका ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकस्मिक मृत्यु व शीघ्र मृत्यु न हो। संसारके जिस भूमिभागमें तेरा मन जानेको करे वहां तू आनंदसे जा। जो देश तुझे अच्छा मालूम दे वहां तू जा ॥ ९ ॥

दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ॥ १० ॥

अग्नि से मुझे तेज प्राप्त हो। विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे। देवगण मुझे धनधान्य सम्पन्न करें तथ जलमिश्रित पवन मुझे सदा पवित्र करता रहे जिससे कि मैं सुखपूर्वक जीवन बिताऊं ॥ ११ ॥

रात व दिन मेरी सब ओरसे रक्षा करें। अन्य अखण्ड शक्तिमान् देवगण मेरी वृद्धि करें। इन्द्र मेरे हाथोंमें बल देवे व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे। इस प्रकार सर्व देव मेरेपर अनुग्रह करें जिससे कि मैं सुखसे जीवन व्यतीत कर सकूं ॥ १२ ॥

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत । ॥ १३ ॥
परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ १४
कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः ।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः ॥ १५ ॥
विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव ।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः ॥ १६ ॥

अर्थ– (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक यमलोक को सबसे पहिले गया उस [जनानां संगमनं] जनों के संगमन [वैवस्वतं यमं राजानं] विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हवि द्वारा पूजा करो ॥ १३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ । (च) और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ तुम्हारे लिये [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है । [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनों को [दत्तो] दो । [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति– समृद्धि से [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो । [मधु का अर्थ है मधुरसंपूर्ण आज्य । देखो. ऐ. ब्रा. १। २– एतद् वै. मधु दैव्यं यद् आज्यम्] ॥ १४ ॥

[काण्वः] बुद्धिमान्, [कक्षीवान्] शासन करनेवाला, (पुरुमीढः) बहुधनवाला (अगस्त्यः) पापका नाश कर देनेवाला, (श्यावाश्वः) काले घोडोंवाला वा ज्ञानी, (सोभरी) ऐश्वर्यवाला, (अर्चनानाः) पूजनीय रथवाला वा उत्तम जीवनवाला, (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः) यह यज्ञ, है जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती ऐसा, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी तथा (वामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला, ये सब [नः] हमारी [अवन्तु] रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे [विश्वामित्र] सबके मित्र (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, [भरद्वाज] हे अन्नका धारक, [गोतम] हे उत्तम स्तोता, [वामदेव] हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, [सुसंशासः] उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम [नः मृडत] हमें सुखी करो, क्योंकि [शर्दिः अत्रिः] बलविशिष्ट अत्रिने [नमोभिः] अन्नोंसे हमें [अग्रभीत्] ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है ॥ १६ ॥

भावार्थ- मनुष्योंमें से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यमलोकमें गया, अतः उस लोकका नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा ॥ १३ ॥

पितरों को यज्ञमें मधुर आज्य देना चाहिए जिससे कि वे आज्यदाताओं को धनधान्य देवें व उत्तम वीर सन्तान से युक्त करें ॥ १४ ॥

मंत्रोक्त नाना गुण विशिष्ट पितर हमारी सर्वदा रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो, हमें सुखी करो ॥ १६ ॥

कृत्वे मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥
अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते ॥ १८ ॥
यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ १९ ॥
ये अत्रयो आङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः ।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

अर्थ—[कृत्वे] ज्ञानमें [मृजानाः] पवित्र होते हुए [प्रतरं] दीर्घ [नवीयः] नवीन [आयुः] आयुको (दधानाः) धारण करते हुए (रिप्रं) पापका (अतियन्ति) अतिक्रमण करते हैं, पापसे बचते हैं । और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्यायमानाः) बढते हुए (गृहेषु) घरोंमें (सुरभयः , सुन्दर गन्धवाले अर्थात् प्रशंसनीय गुणोंवाले (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

(क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर आज्यसे [अञ्जते] संयुक्त किया जाता है । [वि अञ्जते] विशुद्ध किया जाता है, [सं अञ्जते] मिलकर प्राप्त किया जाता है [अभि अंजते] चारों ओर विस्तार किया जाता है तथा सब मिलकर इसकी [रिहन्ति] अर्चना करते हैं । अथवा यज्ञशेष [रिहन्ति = लिहन्ति] खाते हैं । [हिरण्यपावाः] सुवर्णादि धनके रक्षक वा हिरण्यसे पवित्र करनेवाले, [सिन्धोः उच्छ्वासे] समुद्रकी वृद्धिके समय (पतयन्तं) आते हुए [उक्षणं] वृद्धि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले [पशुं] सबको देखनेवालेको [आसु] इनमें [गृह्णते] लेते हैं ॥ १८ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः यत् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा (सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो । (हि) निश्चयसे तुम (स्वयशसः) अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो । [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी, [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, (हूयमानाः) बुलाये गए [ते] वे तुम (विदथे) यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें [आशृणोत] आकर सुनो ॥ १९ ॥

[ये] जो तुम [अत्रयः] सदा प्राप्तिके योग्य, [आङ्गिरसः] ज्ञानी, [नवग्वाः]नवग्व, [इष्टावन्तः] दर्शपौर्णमास आदि करनेवाले, [राति षाचः] दान देनेवाले, [दधानाः] पालन पोषण करनेवाले [दक्षिणावन्तः] दान युक्त, [सुकृतः] उत्तम कर्म करनेवाले [स्थ] हो वे तुम (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वम्] आनन्दित होओ । हवि खाकर तृप्त होओ । नवग्व—नव मासका सत्रयाग करनेवाले ॥ २० ॥

भावार्थ- हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पापसे बचें व दीर्घ जीवन प्राप्त करें । हम प्रजा संपत्ति आदि से संपन्न हुए हुए सुन्दर गुणों से पूर्ण होवें ॥ १७ ॥

किया हुआ कर्म मीठा फल देनेवाला बने ॥ १८ ॥

पितरोंके कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधन भूत है ॥ १९ ॥

जिनके तीनों ताप नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी, सत्रयाग करनेवाले, इष्टापूर्त करनेवाले, दानी, उत्तम कर्म करनेवाले पितर हमारे यज्ञमें आवें व हवि खाकर तृप्त होवें-- आनन्द मनावें ॥ २० ॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुशानाः ।
शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन् ॥ २१ ॥
सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥
आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

अर्थ—[यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः] जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतं आशशानाः) सत्य वा यज्ञको व्याप्त करते हुए [शुचि इत् अयन्] प्रकाशमान-दीप्तस्थान को ही प्राप्त किया व [दीध्यतः] दीप्यमान होते हुए, [उक्थशासः] उक्थोंसे प्रशंसा-स्तुति करते हुए [क्षामा = क्षाप] क्षयकारी अंधकारको [भिन्दंतः] नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं-की किरणोंको [अपव्रन्] प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तू भी उषाको प्रकाशित कर ॥ २१ ॥

(सुकर्माणः] उत्तम कर्म करनेवाले [सुरुचः] उत्तम कान्तिवाले [देवयन्तः] देवत्वकी कामना करते हुए [अयः न] जिस प्रकार कि सुवर्णकार तपाकर सोनेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार [जनिमा धमंतः] अपने जन्मोंको तपरूपी ताप से तपाकर शुद्ध करते हुए [देवाः] देवगण [अग्निं] अग्निको [शुचन्तः] दीप्त करते हुए, [इन्द्रं वावृधन्त] इन्द्रको अर्थात् नाना ऐश्वर्यों की वृद्धि करते हुए [नः] हमारे लिये [उर्वीं] बड़ी भारी विस्तृत [गव्यां] गौओंके समूह-वाली [परिषदम्] परिषत् [अक्रन्] बनाते हैं ॥ २२ ॥

[उग्रः] तेजस्वी [अग्नि] [देवानां जनिमा] देवोंके जन्मोंको उत्पत्ति को [अन्ति] समीपसे [आ अख्यत्] देखता है । अर्थात् देवोंकी उत्पत्तिके विषयमें अग्निको अच्छी तरहसे मालूम है । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि [क्षुमति पश्वः यूथा इव] अर्थात् जिस प्रकार घासादि अन्नयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओंके समूहों को उनको चरानेवाले ग्वाला जानते हैं । [मर्तासः चित्] मनुष्य भी [उर्वशीः अकृप्रन्] विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और [अर्यः] स्वामी [उपरस्य आयोः] समीपस्थ मनुष्यकी वृद्धिके लिए क्रिया करता है ॥ २३ ॥

[ते] तेरे लिए [अग्निके लिए] हमने [अकर्म] पूजा, स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इसलिए (स्वपसः) श्रेष्ठ कर्मोंवाले [अभूम] हुए हैं । इस वास्ते हमारे लिए [विभातीः] विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुई [उषसः] उषायें (ऋतं अवसन्) सत्यमें निवास करती हैं अर्थात् सत्य नियमोंमें आश्रित हुई हुई नित्यप्रति बाकायदा उदित होती रहती है । [यत् देवाः अवन्ति] जिस जिसकी देवगण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए [भद्रं] कल्याणकारी हो । हम [सुवीराः] उत्तम बलशाली हुए हुए (विदथे) यज्ञमें [बृहत् वदेम] सुनने लायक बहुत बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ- जिस प्रकार यज्ञादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अंधकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था, उसी प्रकार अग्नि तूभी हमारे लिये उषा प्रकट कर ॥ २१ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले देवगण प्रथम अपने जन्मको तपादिसे शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं । अग्निका अभिप्राय तीनों प्रकार की अग्निसे है । इन तीनों प्रकार की अग्निको प्रदीप्त करके ऐश्वर्यको बढ़ाते हैं व हम सांसारिक लोगोंके लिए गौओंके समूहवाली परिषत् बनाते हैं । गौओंके समूहवाली परिषत् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकार की गौयें प्रदान करते हैं ताकि सांसारिक सुख बढ़ सके अथवा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अभिप्राय यह है कि

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २५ ॥
धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥
अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २७ ॥
सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २८ ॥
धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥
प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

अर्थ-- [मरुत्वान् इन्द्रः] मरुतोंवाला इन्द्र [मा] मेरी (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशासे अर्थात् पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (पातु) रक्षा करे। (बाहुच्युता पृथिवी) बाहुओंसे दी गई अथवा बाहुओंमें प्राप्त हुई अर्थात् हाथोंसे दी गई या हाथोंसे ली गई पृथिवी (इव) जिस प्रकार से कि (उपरि) ऊपर (द्यां) द्युकी रक्षा करती है। (लोककृतः) लोकोंके बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंको बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम [इह] यहांपर [देवानां] देवों के बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गया है ऐसे (स्थ) हो ॥ २५ ॥

(धाता) सबका धारण करनेवाला (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति से अर्थात् कष्ट आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे। शेष पूर्ववत् ॥ २६ ॥

(अदितिः) अखण्डनीय शक्ति, अदीन शक्ति (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे आनेवाली विपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(सोमः) सोम (विश्वैः देवैः) सब देवोंके साथ (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशासे आनेवाली आपत्तियोंसे (मा पातु) मेरी रक्षा करें। शेष पूर्ववत् ॥ २८ ॥

भावार्थ- सभाएं भर भरके हमें नाना प्रकार के उपदेश देते हैं। देवगण हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहां पर दिग्दर्शन कराया गया है ॥ २२ ॥

देवोंके उत्पन्न होनेका कर्म रहस्य जानकर उसके अनुसार शुभ कर्म करना चाहिये ॥ २३ ॥

अग्नि के लिए कर्म करने से ही हम श्रेष्ठ कर्मवाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए उषा आदि प्रकाशमान पदार्थ सत्य नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं। देवोंसे रक्षित पदार्थ भी उसी हालतमें हमारे लिए कल्याणकारी होते हैं। हमें चाहिये कि हम नित्यप्रति स्तुति उपासना आदि प्रभूत मात्रामें करते रहें ॥ २४ ॥

मरुतों से युक्त इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे आनेवाली आपत्तियोंका निवारण करके रक्षा करें जिस प्रकारसे कि पृथिवी द्यु की। हमारे लिये लोकों व मार्गोंके बनानेवाले देवजनों की हम पूजा करते हैं व हविदान करते हैं जो कि देवजन इस संसारमें विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

सब स्थानोंमें हमारी रक्षा होवे और हमें श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होवे ॥ २६--३५ ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥
ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥
धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

अर्थ– (ह) निश्चयसे (धरुणः धर्ता) सबसे धारण किया जानेवाला धारक (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वं धारयातै) ऊंचा धारण करे । [सविता] सूर्य (भानुं द्यां इव उपरि) प्रकाशमान द्युको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किये हुए है । शेष पूर्ववत् ॥ २९ ॥

[पुरा संवृतः] शरीरसे ढका हुआ अर्थात् सशरीर मैं अथवा सर्व प्रकारकी पूर्तिसे परिपूर्ण मैं [प्राच्यां दिशि] पूर्व दिशामें [स्वधायां] स्वधामें [त्वा] तुझे (आदधामि) रखता हूं—स्थापित करता हूं । किस प्रकारसे ! जिस प्रकार से कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर द्यु लोकको स्थापित करती है । शेष पूर्ववत् ॥ ३० ॥

[दक्षिणायां दिशि] दक्षिण दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

[प्रतीच्यां दिशि] पश्चिम दिशामें···इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

[उदीच्यां दिशि] उत्तर दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

[ध्रुवायां दिशि] स्थिरनीचेकी दिशामें······इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥

[ऊर्ध्वायां दिशि] ऊपरकी दिशामें···इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

हे परमात्मन् ! तू [धर्ता असि] सबका धारण करनेवाला है । तू [धरुणः] सबसे धारण किया जानेवाला है । तू [वंसगः] संभजनीय पदार्थोंका प्राप्त करानेवाला है ॥ ३६ ॥

तू [उदपूः असि] सर्व संसारको जल पहुंचानेवाला है । तू [मधुपूः असि] माधुर्यगुणोंपेत रसोंका पहुंचाने वाला है व तू [वातपूः असि] सबको प्राणवायु पहुंचाने वाला है ॥ ३७ ॥

भावार्थ–परमेश्वर सबका आधार है ॥ ३६ ॥

हे परमात्मा तू ही सबको जल, मधुर रस तथा प्राणवायु, जिसके बिना संसार की स्थिति कठिन है, देता है ॥ ३७ ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् ।
प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥ ३८ ॥
स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः ।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥ ३९ ॥
त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन ।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥(१६)

अर्थ— [यत्] क्योंकि हे हविर्धाने ! तुम दोनों [यमे इव] युगलोत्पन्न संतान की तरह [यतमाने] संसारके पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयत्न करनेवाले होकर [ऐतम्] विचरण करते हो, इसलिए (मां) मेरी [इतश्च अमुतश्च] इस लोकसे व परलोकसे अर्थात् इन दोनों लोकोंमें आनेवाली विपत्तियोंसे [अवतां] रक्षा करो । [मानुषाः] मनुष्यगण (देवयन्तः) देव बनने की कामना करते हुए (वां) तुम दोनोंका प्रभरन्, अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करें । तुम दोनों [स्वं लोकं विदाने] अपने स्थान को जानते हुए [आसीदतां] उस स्थानपर बैठो ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! (नः इन्दवे) हमारी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वासस्थे) सुखासन—उत्तमासन पर बैठनेवाले [भवतम्] होओ । मैं [नमोभिः] नमस्कारोंके साथ (वां) तुम दोनोंके [पूर्व्यं ब्रह्म युजे] पुरातन स्तोत्रको करता हूं । अर्थात् नमस्कारपूर्वक मैं वेदमंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूं । [श्लोकः] यह किया हुआ स्तुतिसमूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है । इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि [पथ्या सूरिः इव] जिस प्रकारसे कि उत्तम धर्ममार्गसे विद्वान् इच्छित पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकारसे यह हमसे की गई स्तुति तुमको प्राप्त होती है। [एतत्] इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्रको (विश्वे अमृतासः) सर्व अमृत लोक (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३९ ॥

[रूपः] रूप [त्रीणि पदानि अन्वरोहत्] तीन स्थानोंपर चढता है क्योंकि [व्रतेन] अपने यज्ञादि कर्मद्वारा [चतुष्पदीं अनु ऐतत्] चतुष्पदीका अनुसरण करता है । और [अक्षरेण] अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते] सूर्यके सदृश प्रकाशमान अपने को बनाता है । अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है । उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है । वह अपने आपको [ऋतस्य नाभौ] यज्ञके मध्यमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें [अभि संपुनाति] चारों ओरसे अच्छीप्रकार शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ-मेरी दोनों लोकोंमें आनेवाले विघ्नोंसे रक्षा हो। क्योंकि दोनों हविर्धानी कार्यके लिए इधर उधर विचरण करते रहते हैं। तुम्हारा भरणपोषण हम करते रहें व तुम दोनों अपने कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए कार्य करते रहो ॥ ऋ० (१०।१३।२)॥३८॥

हे हविर्धाने ! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलानेवाले होओ । मैं उसके बदलेमें तुम्हारी वेदमंत्रोंसे स्तुति करूं । मेरी स्तुति तुमको ऐसे पहुंचे जैसे कि विद्वान् सन्मार्गसे अपने अभिलषित स्थानको पहुंचता है । अर्थात् जिस प्रकार विद्वान् सन्मार्गसे अवश्य ही वांछित फल लाभ करता है उसी प्रकार यह स्तुति भी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है । मेरी इस स्तुतिको सर्व अमृतगण सुनें अर्थात् वे मेरी स्तुति के लिए साक्षीभूत होवें ॥ ३९ ॥

यज्ञ करके वा सत्यनियमोंके अनुसार आचरण करके वह मनुष्य अपने आपको शुद्ध करता है । ऋ० १०।१३।३) ॥४०॥

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं१ मा रिरेच ॥ ४१ ॥
त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वा ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥
आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ! अर्थात् देव भी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [अमृतं अवृणीत] अमरता को प्राप्त किया, पर [प्रजायै] प्रजाके लिए [किं अपि अमृतं] कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव [यमः] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे [प्रियां तन्वं] उनकी प्यारी देह [आरिरेच] छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) जातवेदस् अग्नि ! (ईडितः त्वं) स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको (सुरभीणि कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाट्) वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे। (ते) वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। (देव) हे प्रकाशमान अग्नि ! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा ॥ ४२ ॥

[अरुणीनां उपस्थे आसीनासः] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। [तस्य] उस दानीके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] यज्ञमें [आगच्छत] आओ [सदः सदः सदत] घरघरमें स्थित होओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- देव अमर हैं और मनुष्य नश्वर हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और पितरोंको ले जाकर देती है ताकि वे खावें ॥ ४२ ॥

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो। यजुर्वेद (१९। ६३) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे उद्देश्यसे दी गई हवियोंको खाओ तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो ॥ ४४ ॥

उप॑हूता नः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ।
त आ ग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥ ४५ ॥
ये नः॑ पि॒तुः पि॒तरो॒ ये पि॑ताम॒हा अ॑नूजहि॒रे सो॑मपी॒थं वसि॑ष्ठाः ।
तेभि॑र्य॒मः सं॑ररा॒णो ह॒वींष्यु॒शन्नु॒शद्भिः॑ प्रतिका॒मम॑त्तु ॥ ४६ ॥
ये ता॑तृ॒षुर्दे॑व॒त्रा जेह॑माना होत्रा॒विदः॒ स्तोम॑तष्टासो अ॒र्कैः ।
आग्ने॑ याहि स॒हस्रं॑ देवव॒न्दैः स॒त्यैः क॒विभि॒रृषि॑भिर्घर्म॒सद्भिः॑ ॥ ४७ ॥
ये स॒त्यासो॑ हवि॒रदो॑ हवि॒ष्पा इन्द्रे॑ण दे॒वैः स॒रथं॒ तुरे॑ण ।
आग्ने॑ याहि सुवि॒दत्रे॑भिर॒र्वाङ् परैः॑ पूर्वै॒रृषि॑भिर्घर्म॒सद्भिः॑ ॥ ४८ ॥

अर्थ- [ते] वे [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें [उपहूताः] बुलाए गए हैं । [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आगमन्तु] आवें । (ते अधिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन [नः] हमारे [पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरोंने (सोमपीथं) सोमपानको यज्ञमें [अनु जहिरे] प्राप्त किया था, [तेभिः] उन [उशद्भिः] यमके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ [उशन्] पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, [संरराणः] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [यमः] यम (हवींषि) हवियोंको [प्रतिकामं] इच्छानुसार [अत्तु] खावे ॥ ४६ ॥

[देवत्रा जेहमानाः] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [होत्राविदः] यज्ञोंके जाननेवाले [स्तोमतष्टासः] स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए [सत्यैः कविभिः ऋषिभिः] सत्यवचनी, क्रांतदर्शी तथा ज्ञानी व [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि ! तू [आयाहि] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी, [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] वेगवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः] उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले [पूर्वैः परैः] पुरातन व अर्वाचीन [ऋषिभिः] ज्ञानी [घर्मसद्भिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अर्वाङ्] हमारे प्रति [अग्ने] अग्नि ! तू [आयाहि] आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ- याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें । आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एक ही रथपर विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें हे अग्ने ! तू ले आ । अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्रसे ज्ञान पड़ता है ॥ ४८ ॥

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु॒ प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त् ॥ ४९ ॥
उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपसर्प॒णा ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑निं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)
उ॒च्छ्वञ्च॑माना पृथि॒वी सु ति॑ष्ठतु स॒हस्रं॒ मित॒ उप॒ हि श्रय॑न्ताम् ।
ते गृ॒हासो॑ घृत॒श्चुतः॑ स्यो॒ना वि॒श्वाहा॑स्मै शर॒णाः स॑न्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ- हे मनुष्य ! [एतां] इस [उरुव्यचसं] बडे विस्तारवाली अतएव [पृथिवीं] फैली हुई, (सुशेवां) अति सुख देने वाली (मातरं भूमिं) माताभूत भूमिके [उप सर्प] समीप जा । (समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका बारिकीसे अवलोकन कर, क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं । भूमिका बारिकी से अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बडा सुख होता है ।) [दक्षिणावते] दान देनेवालेके लिए [ऊर्णम्रदः] ऊनके समान नरम--कोमल [एषा पृथिवी] यह पृथिवी (त्वा) तेरी [प्रपथे] इस संसारसागरके विस्तृत मार्गमें [पुरस्तात्] आगेसे रक्षा करे । [ऋ० १०।१८।१०] ॥ ४९ ॥

[पृथिवी] हे पृथ्वी ! तू [उच्छ्वञ्चस्व] पुलकित हो । इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको [मा निबाधथाः] किसी भी प्रकार की पीडा वा कष्ट मत पहुंचा । (अस्मै) इसके लिए [सूपायना] अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय वा कष्टके समीप आने योग्य तथा [सूपसर्पणा] सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो । [एनं) इस पुरुषको [भूमे] हे भूमि [अभि ऊर्णुहि] चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांप ले [यथा] जिस प्रकारसे कि [माता] माता [सिचा पुत्रं] अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है । (ऋ० १०।१८।११) ॥ ५० ॥

(उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी [सु तिष्ठतु] अच्छी प्रकार स्थित होवे । और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें। (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी [गृहासः] घर तथा [विश्वाहा] सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहां पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें । (ऋ० १०।१८।१२) ॥ ५१ ॥

भावार्थ- इस अत्यन्त विस्तृत भूमिका बारिकीसे अवलोकन करो क्योंकि यह बडा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसकेलिए यह पृथिवी ऊनके सदृश कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू सदा प्रसन्न बनी रह । तेरे पर वास करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे । वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके । तू मनुष्यको नानाविध पदार्थोंसे ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है । अर्थात् जैसे माता अपने वस्त्रसे बडे स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी गरमी आदि कष्टसे बचाती है उसी प्रकार हे पृथिवी! तू भी उतने ही स्नेहके साथ तेरे पर निवास करनेवाले मनुष्यको नानाविध द्रव्य दानसे ढांपकर दुःखदुन्द्वोंसे बचा ॥ ५० ॥

पृथिवी स्थिर बनी रहे । भूचाल आदिसे विचलित न होवे । नानाविध पदार्थ इसका आश्रय लेकर स्थित होवें । इस पृथिवीपर वास करते हुए मनुष्यके लिए घृतादिसे पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें । किसी भी दिन किसी भी घरमें इसे कष्ट न होवे ॥ ५१ ॥

उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् ।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥
इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥
अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते ।
तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥ ५४ ॥
यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ ५५ ॥

अर्थ- [ते] तेरे लिए [पृथिवीं] पृथ्वीको [उत् स्तभ्नामि] थामता हूं । [त्वत् परि] तेरे चारों ओर [इमं लोगं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [मो रिषम्] मत नष्ट होऊं। [तत्र] वहां अर्थात् इस निवास स्थान में [ते] तेरे लिये [एतां स्थूणां] इस नीव को [पितरः] पितृगण [धारयन्ति] धारण करें अर्थात् तेरे आवासस्थानकी नींव पितर रखें और [तत्र] उस नींवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] घरोंको [कृणोतु] बनावे [ऋ० १०।१८।१३] ॥ ५२ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर । क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है । (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं । (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्तां) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निश्चल मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) अन्नबलादिसे पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यशालीके लिए (अबिभः) धारण किया था (तस्मिन्) उस चमसमें (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है । और (तस्मिन्) उस चमसमें (विश्वदानीं) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बहता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने या, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है, तो [अग्निः] अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोग रहित करें । (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे । (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है । यह देवोंका प्रिय है । इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमात्मा यह सर्वांशमें पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान आत्माके लिए प्रदान करता है । यह आत्मा अपने सुकृत कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाती है। कर्म फल शरीरके विना नहीं भोगे जा सकते । इसी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बहता रहता है ॥ ५४ ॥

काले अनिष्टकारी पक्षी या कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं पर्यः ।
अपां पर्यसो यत् पर्यस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ५७ ॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥
ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

अर्थ- (ओषधयः) औषधियां सेवन की जानेपर हमारे लिये (पयस्वतीः) सारवाली होवें ।(मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वह भी (पयस्वान्) सारवाला होवे । (अपां) जलादि रसोंके (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः जो) उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुंभतु) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वाली, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वाली (नारीः) नारियां (आञ्जनेन सर्पिषा) अंजनसंबंधी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संयुक्त होवें अर्थात् घृतवाले अंजन का उपयोग करें । (अंजन का प्रयोग सधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पडता है।) (अनश्रव:) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक रहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण की हुई (जनयः) संतानोत्पत्ति करनेवालीं होती हुई (अग्रे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

हे मृत पुरुष ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा । (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा । (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्याग करके अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्ति से युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीर-को धारण करके संसारमें विचरण कर ॥ ५८ ॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिये (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको (यथावशं) कामनाके अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

भावार्थ- ओषधि, जल आदि सर्व पदार्थोंका जो सारभूत अंश है वह मुझे प्राप्त होवे जिससे कि मैं संसारमें शोभायमान होऊं । ओषधी आदि सारवान् पदार्थोंका सेवन करके मनुष्यको सुन्दर बनना चाहिए ॥ ५६ ॥

स्मशान से लौटकर सबसे पहिले स्त्रियां घरमें प्रवेश करें । (ऋ० १० । १८ । ७) ॥ ५७ ॥

स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्माको पृथिवी पर लेने आते हैं । यम लोक उत्कृष्ट लोक है । उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यम लोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है ॥ ५८ ॥

पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे होता है ॥ ५९ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)
विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥
विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे३षामसवो यमं गुः ॥ ६२ ॥
यो दध्रे अंतरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—(ते) तेरे लिए [नीहारः] कुहरा [शं भवतु] सुखकारी होवे । [ते] तेरे लिए [प्रुष्वा] वृष्टि [शं] सुखरूप हुई हुई [अवशीयताम्] नीचे गिरे । [शीतिके] हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकावति] हे शैत्यगुणसंपन्न ओषधि ! [ह्लादिके] हे हर्षित करनेवाली तथा [ह्लादिकावति] आनन्दित करनेवाले गुणोंवाली ओषधि ! अप्सु जलमें जिस प्रकार [मण्डूकी] मेंडकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंडकीको शान्ति पहुंचानेवाला होता है उसी प्रकार तू (शं भुव) सुखकारी हो और (इमं अग्निं) इस आगको (अर्थात् जलनेसे जो शरीरमें दाह (जलन) पैदा होता है उसको (सुशमय) अच्छी प्रकारसे शान्त कर दे । (ऋ० १०।१६।१४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (नः अभयं कृणोतु) हमें अभय बनावे । (यः) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानुः) जीवनदाता व [सुदानुः] उत्तम दाता है । (इह) इस संसारमें (इमे) ये (वीराः) पुत्रपौत्रादि [बहवः भवन्तु] बहुत हो जावें । अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि खूब होवें । और (गोमत्) गौओंवाला तथा (अश्ववत्) घोडोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि अस्तु) मेरेमें होवे । अर्थात् मैं गौघोडोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

(विवस्वान) सूर्य (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जावे । (नः अमृतं एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे । वह विवस्वान् (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णः) वृद्धावस्थापर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे । (एषां असवः) इन पुरुषोंके प्राण (मा यमं गुः) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ॥ ६२ ॥

(यः) जो (प्रमतिः) प्रकृष्ट बुद्धिवाला (कविः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितृणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मह्ना न) मानो अपनी महिमासे ही (अंतरिक्षे) अंतरिक्षमें (दध्रे) धारण करता है, (विश्वमित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यों ! (तं) उस यमकी (हविर्भिः अर्चत) हवियोंसे पूजा करो । (सः यमः) वह यम (नः) हमें जीवसे दीर्घायुके लिए (प्रतरं धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे । हमारी संतति खूब बढे व हम गो घोडों आदियोंसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे; हमारे सब पुरुषोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे; हमारे में से कोईभी वृद्धावस्थाके पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंको अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए हैं । हे मनुष्यो ! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हवियोंसे पूजा करो, जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन ।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥
प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥
नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥ ६६ ॥
इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

अर्थ-(ऋषयः) हे मंत्रद्रष्टा जनो ! (उत्तमां दिवं आरोहत) उत्तम द्यु अर्थात् स्वर्गको चढो । अर्थात् स्वर्गमें जाओ । [मा बिभीतन] मत डरो । हे [सोमपाः] सोमपान करनेवाले तथा [सोमपायिनः] अन्यों को सोमपान करानेवाले जनो! [वः] तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि हम करते हैं । [उत्तमं ज्योतिः] जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको [अगन्म] प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

(अग्निः) अग्नि [बृहता केतुना] अपने बडे भारी केतुसे अर्थात् ज्वालारूपी झंडोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह चमकता है । और वही अग्नि [रोदसी] द्यावा पृथिवीमें [वृषभः] वर्षादि द्वारा कामनाओंकी पूर्ति करता हुआ (रोरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है । वह (दिवः अन्तात्) द्युके अन्तसे [माम् उप] मेरे तक अर्थात् द्यु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (उत् आनट्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है । [महिषः] महान् अग्नि (अपां उपस्थे) जलोंकी गोदमें [ववर्ध] बढता है । अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजली रूपमें यह अग्नि बढता रहता है ॥ ६५ ॥

(नाके उप पतन्तं सुपर्णं इव) आकाशमें उडते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे सर्वजन देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए [त्वा] तुझे [हिरण्यपक्षं] सोने जैसे चमकीले पंखोंवालेको, [सूर्यका प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है] और (वरुणस्य दूतं) वरुण जल की देवता है, उसको प्राप्त करानेवाले अर्थात् वृष्टि देनेवाले तुझको, (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात् अंतरिक्षमें (यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्) वर्षा प्रकाश आदिके देनेद्वारा सबके पालक तुझको विद्वान् गण (हृदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत) भली प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

(इन्द्र) हे ऐश्वर्यशाली ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे [यथा] जिस प्रकार से कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी संतानों को देता है । [पुरुहूत] हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र ! (अस्मिन् यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे । अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय सिखा । जिससे कि [जीवाः] हम जीवलोग [ज्योतिः अशीमहि] ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भावार्थ- ऋषिगण निर्भय होकर स्वर्गको जाते हैं । सोमपान करनेवालों व दूसरोंको करानेवालोंके लिए हवि देने से उत्तम ज्योतिका लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि पृथिवीपर ज्वालाओंसे चमकता रहता है । द्यावापृथिवीमें वर्षा करनेवाला हुआ हुआ सूर्य विद्युत् आदिके रूपमें गर्जता रहता है । द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है । अंतरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढता रहता है । कहने-का अभिप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें द्यावापृथिवी को व्याप्त किए हुए हैं ॥ ६५ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तु विभ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ६९ ॥
पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥७०
आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥
ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

अर्थ- [यान्] जिन [अपूपापिहितान्] मालपूओंसे ढके हुए [कुम्भान्] घडोंको [देवाः] देवोंने [ते] तेरे लिए [अधारयन्] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ते] वे घडे [ते] तेरे लिये [स्वधावन्तः] स्वधावाले, [मधुमन्तः] मधुरतायुक्त तथा [घृतश्चुतः] घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

[ते] तेरे लिए [याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः] जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको (अनुकिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूं, [ताः] वे धान [ते] तेरे लिए [विभ्वीः] नानाप्रकारवाले व [प्रभ्वीः] प्रभूत मात्रामें यानि बहुत मात्रामें [सन्तु] होवें । [ताः] उन्हें [ते] तुझे देनेके लिए [यमः राजा] यम राजा [अनुमन्यतां] अनुमति देवे । [यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है] ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पति ! [यः एषः] जो यह [त्वयि निहितः] तेरेमें रखा है उसे [पुनः] फिर वापिस [देहि] दे [यथा] जिससे [यमस्य सादने] यमके घरमें वह [विदथा वदन्] विज्ञानोंको बोलता हुआ [आसातै] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ- [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [आरभस्व] जलाना प्रारंभ कर । [ते] तेरा [हरः] हरनेका सामर्थ्य [तेजस्वत् अस्तु] तेजवाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे शीघ्र जलाकर भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होवे, जलानेमें देर न लगे । [अस्य] इस मृतका [शरीरं संदह] शरीर अच्छी तरह जला डाल । (अथ) जलानेके बाद [एनं] इसकी आत्माको [सुकृतां लोके] श्रेष्ठजनोंके लोकमें (धेहि) धारण कर अर्थात् वहांपर पहुंचा ॥ ७१ ॥

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरों के लिए [शतधारा व्युन्दती] सैंकडों धाराओं वाली उमडती हुई [घृतस्य कुल्या] जलकी कुल्या- क्षुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

भावार्थ— यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसे कर्म वह यहां करें ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तत्संबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमलोकमें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर का पानी प्रयुक्त किया जावे ॥ ७२ ॥

एतद्वा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते ।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र ॥ ७३ ॥

[४]

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके ॥ १ ॥
देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि ।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥ २ ॥

अर्थ-[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ । [इह] यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव [बृहत् उदीदयन्ते] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं- अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर । [मध्यतः अभिप्रेहि] उन बन्धुबांधवों के मध्यसे आ । [पितृणां लोकं] पितरोंके लोकका [मा अपहास्थाः] त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । [यः] जोकि पितृलोक (अत्र) यहां [प्रथमः] मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[४]

(जातवेदसः) हे अग्नियो ! तुम [जनित्रीं आरोहत] अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुंचो । मैं (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे [सं आरोहयामि] अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं । (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्यों का वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अव्याट्] वहन करता है । हे अग्नियो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें [धत्त] धारण करो अर्थात् वहां उसे ले जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (ऋतवः) वसन्त आदि षट् ऋतुएं [यज्ञं] यज्ञ अर्थात् दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं-करते हैं । और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (स्रुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनभूत यज्ञके लिए उपयुक्त चमचेकी आकृति जैसे स्रुवे तथा अन्य (यज्ञायुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बनाते हैं । (तेभिः देवयानैः पथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमार्गोंसे हे मनुष्य ! तू (याहि) विचरण कर अर्थात् तूभी उनकी तरह नित्यप्रति यज्ञको यथाविधि कर । (यैः) जिन देवयानमार्गोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोग (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मृतात्मा यमलोकको पहुंचे और वहां वह आनन्दसे रहे ॥ ७३ ॥

[४]

यज्ञ करनेवालोंको अग्नि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुंचाती है । अतः सुकृतोंके लोककी प्राप्तिके लिए यज्ञ करना जरूरी है ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं । उनका अनुकरण करनेवाले लोग स्वर्गको प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि हररोज यज्ञ करना चाहिये जिससे कि स्वर्गलोक उपलब्ध हो सके ॥ २ ॥

ऋतस्य॒ पन्थ॒मनु॑ पश्य सा॒ध्वङ्गि॑रसः सु॒कृतो॒ येन॒ यन्ति॑ ।
तेभि॑र्याहि प॒थिभि॑ः स्व॒र्गं यत्रा॑दि॒त्या मधु॑ भ॒क्षय॑न्ति तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यस्व ॥ ३॥
त्रयः॑ सुप॒र्णा उप॑रस्य मा॒यू नाक॑स्य पृ॒ष्ठे अधि॑ वि॒ष्टपि॑ श्रि॒ताः ।
स्व॒र्गा लो॒का अ॒मृते॑न वि॒ष्ठा इष॒मूर्जं॒ यज॑मानाय दुह्राम् ॥ ४ ॥
जु॒हूर्दा॑धार॒ द्यामु॑प॒भृद॒न्तरि॑क्षं ध्रु॒वा दा॑धार पृथि॒वीं प्र॑ति॒ष्ठाम् ।
प्रतीमां लो॒का घृ॒तपृ॑ष्ठाः स्व॒र्गाः काम॑कामं॒ यज॑मानाय दुह्राम् ॥ ५ ॥
ध्रुव॒ आ रो॑ह पृथि॒वीं वि॒श्वभो॑जसम॒न्तरि॑क्षमुपभृ॒दा क्र॑मस्व ।
जुहु॒ द्यां ग॑च्छ॒ यज॑मानेन सा॒कं स्रु॒वेण॑ व॒त्सेन॒ दिशः॒
प्रपी॑नाः॒ सर्वा॑ धु॒क्ष्वाहृ॑णीयमानः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ऋतस्य पन्थां) यज्ञके मार्गको (साधु अनुपश्य) अच्छी तरहसे जान । और (येन) जिस यज्ञ संबन्धी मार्गसे (सुकृतः अङ्गिरसः) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पथिभिः) उन मार्गों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र) जहां कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि (आदित्याः) अखण्डनीय सामर्थ्य-वाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं। (तृतीये नाके) तीसरा जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विश्रयस्व) विश्रान्ति ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतया पालन करनेवाले तथा (उपरस्य मायू) मेघके संबन्धसे शब्द करनेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गके ऊपर (अधि श्रिताः) स्थित हैं। (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्ठाः) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं। ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इषं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुह्राम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहूः) जुहूने (द्यां दाधार) द्युलोकको धारण किया हुआ है। और (उपभृत्) उपभृतने (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको धारण कर रखा है। (ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है। (इमां प्रति) इस पृथिवीकी ओर लक्ष्य करते हुए (घृतपृष्ठाः) चमकीली पीठोंवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्गलोक [यजमानाय] यज्ञकर्ताके लिए [कामं कामं] प्रत्येक कामनाको [दुह्राम्] पूर्ण करें ॥ ५ ॥

[ध्रुवे] हे ध्रुवा ! [विश्वभोजसं पृथिवीं] सबको खिलानेवाली अर्थात् पालक पृथिवी पर [यजमानेन साकं] यजमान के साथ [आरोह] चढ, स्थित हो। (उपभृत्) हे उपभृत् ! तू यजमानके साथ (अंतरिक्षं आक्रमस्व) अंतरिक्षमें संचार कर । (जुहु) हे जुहु ! तू (यजमानेन साकं) यजमानके साथ [द्यां गच्छ] द्युलोकको जा। हे यजमान ! इस प्रकार तू (अहृणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन स्रुवेण) बछडेरूपी स्रुवासे (सर्वाः) सब [प्रपीनाः] अच्छी तरह वृद्धिको प्राप्त हुई हुई [दिशः] दिशाओंको [धुक्ष्व] दो । अर्थात् यज्ञद्वारा अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भावार्थ-- शुभकर्म करनेसे उन्नति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥
तीनों दैवी शक्तियां यज्ञकर्ताको अन्न, बल और आनन्द देती हैं ॥ ४ ॥
स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥
यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अव्याहत गतिसे जाता है। यज्ञद्वारा सब दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥
आङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥
पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने
परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥
यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

अर्थ- [यज्ञकृतः] यज्ञों के करनेवाले [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [येन यन्ति] जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [तीर्थैः] तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा [प्रवतः महीः] बडी बडी आपत्तियां भी [तरन्ति] तर जाते हैं। [यत्] यदा [दिशः] दिशायें तथा [भूतानि भूतोंको अर्थात् प्राणियों को [अकल्पयन्त] निर्माण करते हैं उस समय [यजमानाय] यजमान के लिए [लोकं अदधुः] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[आङ्गिरसां] आङ्गिरसोंका [अयनं] मार्ग [पूर्वः अग्निः] पूर्वका अग्नि है। [आदित्यानां] आदित्योंका [अयनं] मार्ग [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है। [दक्षिणानां] कार्यमें दक्षोंका [अयनं] मार्ग [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि है। [ब्रह्मणा] वेदमंत्रों द्वारा [विहितस्य] यज्ञमें स्थापित की गई अग्निकी [महिमानं] महिमाको, [समङ्गः] दृढ अंगोंवाला होकर, [सर्वः] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसीलिए [शग्मः] सुखी हुआ हुआ तू [उपयाहि] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[पूर्वः अग्निः] पूर्व की अग्नि [त्वा] तुझे [पुरस्तात्] आगेसे [शं तपतु] सुखपूर्वक तपावे। [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि [पश्चात्] पीछेसे [शं तपतु] तुझे सुखपूर्वक तपावे। [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि [ते] तेरे लिए [शर्म] सुखरूप हुई हुई व [वर्म] कवचरूप हुई हुई तुझे [तपतु] तपावे। [अग्ने] हे अग्नि ! तू हमें [उत्तरतः] उत्तर दिशासे [मध्यतः] दिशाओंके बीचसे [अन्तरिक्षात्] अंतरिक्षसे [दिशः दिशः] प्रत्येक दिशासे आनेवाले [घोरात्] क्रूर— हिंसकसे [परिपाहि] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

(अग्ने = अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो ! (यूयं) तुम (पृष्टिवाहः अश्वाः भूत्वा) पीठसे ले जानेवाले घोडों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनूभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्ग लोकं अभि) स्वर्गलोक की ओर (वहाथ) ले जाओ। (यत्र) जहां स्वर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमादं) देवोंके साथ आनन्द को (मदन्ति) भोगते हुए तृप्त होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवाले सुकृत् लोकमें जिस उत्तम मार्गसे जाते है उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बडी बडी विपत्तियां भी तरी जा सकती हैं। यज्ञ करनेवाले को सृष्टिनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि यज्ञ करनेवाले को कभी भी कष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अयन अर्थात् मार्ग के अनुसार अपना आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अग्निसे प्रार्थना की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर। सब ओर क्रूरोंसे हमारा संरक्षण कर ॥ ९ ॥

यज्ञकर्ता को अग्नियाँ घोडों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती हैं जहां कि स्वर्गमें वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं। अतः स्वर्ग प्राप्त्यर्थ यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

शमग्ने पश्चात् तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात् तपैनम् ।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥
शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥
यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥ १४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! तू (एनं) इस यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (पश्चात्) पीछेसे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्तात्) आगेसे (तप) तपा । (उत्तरात्) उत्तरसे (शं) सुखपूर्वक तपा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तपा । (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि ! तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है । तू (एनं) इस यजमान को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ जनों के लोकमें (सम्यक्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहांपर इसे पहुंचा दे॥ ११॥

(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले [मेध्यं] पवित्र इस यजमानको [शं] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [आरभन्तां] उत्सुक बनावें । (इह) यहां पर यज्ञ कार्यमें वे अग्नियाँ यजमान को [शृतं कृण्वन्तः] पक्व अर्थात् पूर्ण बनावें । उसे इस कार्यमें [मा] मत [अव चिक्षिपन्] गिरने देवें ॥ १२ ॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ [कल्पमानः] समर्थ हुआ हुआ [ईजानं] यज्ञ किए हुए को [स्वर्गं लोकं] स्वर्ग लोक को [अभिएति] पहुंचाता है । [तं] उस [सर्वहुतं] जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको [अग्नयः] अग्नियां [जुषन्तां] संतुष्ट करें । शेष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ॥ १३ ॥

[नाकस्य पृष्ठात्] स्वर्ग के ऊपरसे [दिवं उत्पतिष्यन्] द्युको जानेकी इच्छा करता हुआ [ईजानः] यज्ञ किया हुआ पुरुष [चितं अग्निं] चयन की हुई अग्नि को [अरुक्षत्] प्रकट करता है, प्रज्वलित करता है । [तस्मै सुकृते] उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए [नभसः] आकाशका [ज्योतिषीमान्] प्रकाशवाला [देवयानः] देव जिससे जाते हैं ऐसा [स्वर्गः] सुखदायी [पन्थाः] मार्ग [प्रभाति] प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ-अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करती है । वस्तुतः वह एक ही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से स्थापना की जाती है । यज्ञकर्ताको वह स्वर्गमें पहुंचाती है ॥ ११ ॥

यज्ञादि कार्यों में प्रज्वलित अग्नियां यजमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाली बनाती हैं । वह अपने कार्य में सफल बनाता है क्योंकि अग्नियां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती है ॥ १२ ॥

विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यजमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है । अग्नियां उसे अभिमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती हैं व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती ॥१३॥

स्वर्गसे द्युको जानेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए। और जो चयन कीहुई वह्नि को प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ॥ १४ ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु ।
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम् ॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १६ ॥
अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥
अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अर्थ— [ते] तेरा [अग्निः होता] अग्नि-होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला [अस्तु] होवे। [बृहस्पतिः] बडों बडों का पालक तेरा [अध्वर्युः] यज्ञ करानेवाला होवे । और [इन्द्रः] इन्द्र [ब्रह्मा] ब्रह्मा बनकर [ते दक्षिणतः अस्तु] तेरी दाहिनी ओरमें होवे । [अयं] यह [हुतः] आहुति दिया गया और [सं स्थितः] अच्छी तरह किया गया [यज्ञः] यज्ञ [एति] वहां जाता है [यत्र] जहां कि [पूर्वं] पहिले [हुतानां] आहुति दिए गए यज्ञोंका [अयनं] जाना होता है ॥ १५ ॥

[अपूपवान्] मालपूए आदि गेहूंके आटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [क्षीरवान्] दूधवाला [चरुः] यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक [इह] यहां यज्ञमें [आसीदतु] स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उस उपरोक्त चरुद्वारा पूजा करते हैं– सत्कार करते हैं । (ये) जो कि लोककृत् व पथिकृत् तुम (इह) यहांपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः जिनके लिए कि भाग दिया गयाहै ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (दधिवान् दहीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (द्रप्सवान्) अन्न पुष्ट करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १८ ॥

(अपूपवान् मालपूवे आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १९ ॥

भावार्थ– जिस यज्ञका अग्नि होता है, बृहस्पति अध्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है वह यज्ञ अवश्य ही सफल होकर यथास्थान पहुंचता है व यजमान को उचित फल प्रदान करवाता है ॥ १५ ॥

जो संसारके उद्धारक व मार्गदर्शक लोग हैं उनका यज्ञमें नाना प्रकारसे निर्माण किए हुए चरुसे सत्कार करना चाहिए ॥१६ ॥

यज्ञमें उत्तम अन्नादिपदार्थोंसे सब का सत्कार करना योग्य है ॥ १७–२४ ॥ २५–२६ ॥

अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानन्नवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥
अपूपवान् मधुमाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥
अपूपवान् रसवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥
अपूपवानपवाँश्चरुरेह सीदतु ।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥
अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥
अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त तथा (अन्नवान्) अन्न अर्थात् नाना तरहके धान्योंवाला (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (मधुमान्) मधु अर्थात् शहद अथवा मीठे पदार्थोंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहां (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदिसे युक्त (रसवान्) अनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालपूये आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ (चरुः) चरु (इह) यहां यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे। (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देखो मंत्रार्थ १८।३।६८-६९ ये दो मंत्र पीछे आगये हैं) ॥ २५—२६ ॥

(भूयसीम्) बहुत और (अक्षितिं) क्षयरहित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त यम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भावार्थ— हमे अक्षय अन्नादिक साधन प्राप्त हों ॥ २७ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् ।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥
कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ ३० ॥ (२२)
एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

अर्थ– (द्रप्सः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (इमं द्यां अनु) द्युलोकमें (चस्कन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्याप्त कर रखा है (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रप्सं) हर्षप्रद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होतागणों द्वारा सब दिशाओंमें (जुहोमि) हवि प्रदान करता हूं ॥ २८ ॥

(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले– मनुष्योंके स्वभाव आदिको ताडनेवाले बुद्धिमान मनुष्य (शतधारं) सैकडों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गतिमान्, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अर्कं) पूजनीय (स्वर्विदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अभिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं। (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पृणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य [सप्तमातरं दक्षिणां] सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को [दुह्रते] दोहते हैं– प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[स्वस्तये] कल्याणके लि [चतुर्बिलं] चारस्तनरूपी छिद्र (स्तन) वाले [कोशं] मानो जो दूधका खजाना है ऐसे [कलशं] घडेसे बडे भारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठे दूधवाली [इडां धेनुं] इडा नामवाली गायको [दुहन्ति] दोहते हैं। [अग्ने] हे अग्नि ! [जनेषु ऊर्जं मदन्ती] जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तृप्त करती हुई [अदितिं] मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमन्) विश्वमें [मा हिंसी.] मत मार। अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें भी लग सकता है—कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार स्तनोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली [इडां धेनुं] भूमिरूपी गायको दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुष ! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए [एतत् वासः] यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर(यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें (चर) विचरण कर॥३१॥

भावार्थ— आदित्य, द्यु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनोंमें व्याप्त हो रहा है। ऐसे हर्षप्रद आदित्यके लिए सर्व दिशाओंमें होम करता हूं ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा लाभ कर इहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

अन्नादिसे जन–समाजकी तृप्ति करती हुई अखण्डनीय भूमि को हे अग्नि ! परम व्योममें मत नष्ट कर ॥३०॥

मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है उसको वस्त्र देना चाहिये ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥
एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।
एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥
एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।
तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥
वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् ।
स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

अर्थ- यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धानाः) धान [धेनुः] दूध करनेवाली गौ (अभवत्) बनते हैं। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा [तिलः] तिल [अभवत्] बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह [तां] उस धानों की बनी हुई गाय पर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

[असौ] हे अमुक नामवाले पुरुष ! [एताः] ये गायें [ते] तेरे लिए [कामदुघाः] कामनाओंको पूर्ण करनेवाली [भवन्तु] होवें। (एनीः) संध्या जैसे रंगवाली अर्थात् लाल रंगवाली, [श्येनीः] सफेद, [सरूपाः] एकसे रूपवाली व [विरूपाः] विविध रूपवाली तथा [तिलवत्साः] तिल है बछडा जिनका ऐसी गायें [अत्र] यहां जहां तेरा वास है वहां [त्वा उप तिष्ठन्तु] तेरे समीप स्थित रहें वा तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[अस्य ते] इस तेरे [हरिणीः धानाः] हरे रंगवाले धान [एनीः श्येनीः धेनवः] अरुण व सफेद गायें होवें। [कृष्णाः धानाः] काले धान [रोहिणीः धेनवः) लाल रंगकी गायें होवें। (तिलवत्साः) तिल जिनका बछडा है ऐसी ये गायें (अनपस्फुरन्तीः) कभी भी नष्ट न होती हुई (अस्मै) इसके लिए (विश्वाहा) सर्वदा [ऊर्जं दुहानाः संतु] बलदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

[वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि] वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि [शतधारं साहस्रं उत्सं इव] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। [सः] वह वैश्वानर अग्नि [पिन्वमानः] उस हविसे तृप्त हुई हुई [पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओं-का धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ- धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष ! ये नाना रंगों व रूपोंवाली गायें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्चे धान अरुण व श्वेत रंगकी गायें बनती हैं। और काले धान तिल आदि अथवा भूननेसे जो कुछ काले रंगके हो गए हैं ऐसे धान लाल गायें बनते हैं। ये सब गायें सदा अविनश्वर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें॥३४॥

अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥
इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत ।
मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु ॥ ३७ ॥
इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः । इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥
पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥
आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् ।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ॥ ४० ॥(२३)

अर्थ— [शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैंकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनपस्फुरन्तं कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[इदं कसाम्बु] इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकरके [चितं] ढेर लगाया है– इकट्ठा किया है । [तत्] उसको [सजाताः] हे सजातीय बन्धुगण ! [एत] आओ और [अवपश्यत] ध्यानसे देखो । [अयं मर्त्यः] यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [अमृतत्वं] अमरताको [एति] प्राप्त होता है । [तस्मै] उसके लिए [यावत् सबन्धु] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब [गृहान् कुरुत] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू [इह एव एधि] यहीं पर ही वृद्धि प्राप्त कर । [इह] यहांपर [चित्तः] ज्ञानवान हुआ हुआ व [इह] यहांपर [क्रतुः] कर्मशील हुआ हुआ व [धनसनिः] हमें धन देनेवाला हो । [इह] यहां पर ही [वीर्यवत्तरः] अति बलवान् हुआ हुआ और अतएव [अपराहतः] शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ [वयोधाः] अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर [एधि] बढ ॥ ३८ ॥

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं । [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीःआपः] ये दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्रपौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ॥ ३९ ॥

(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो । (मे पितरः) मेरे पितृगण (इमं यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञका सेवन करें । (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) वे पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन–संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

भावार्थ– पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो ! आकर देखो । यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु– संचय किया गया है वह अमृत को प्राप्त होवे । उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू ज्ञानी व कर्मकुशल होकर हमें धन-- प्रदान करता हुआ संसार-- वृद्धिको प्राप्त कर । बलवान् हुआ हुआ किसीसे पराजित न होकर जनसमाज की अन्नादिसे पुष्टि करके दीर्घायु होकर वृद्धिका लाभ कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितृन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥
यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ४२ ॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ ४३ ॥
इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥
सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं। और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानों की तरह [यहां लुप्तोपमा है] (परावतो गतान् पितृन्) दूरगत पितरों को (वेद)जानती है ॥ ४१ ॥

(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे- विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिए (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवे ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आज की (नियानं) बैलगाडी है । (येन) जिस पुरानी बैलगाडी से (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं। (अस्य) इस आज की बैलगाडी के (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, [जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों ओर पार्श्वोंमें जुते हुए, होते हैं] (पुरोगवाः) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतों के लोकमें [वहन्ति] प्राप्त करावें ॥ ४४ ॥

[देवयन्तः] देव होने की कामना करते हुए मनुष्य [सरस्वतीं] सरस्वतीको [हवन्ते] बुलाते हैं। [तायमाने] विस्तृत [अध्वरे] हिंसारहित यज्ञादि कार्य में बुलाते हैं। [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। [सरस्वती] सरस्वती [दाशुषे] दानी पुरुषके लिए [वार्यं] वरणीय अभिलषित पदार्थ [दात्] देती है ॥४५॥

भावार्थ- ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको दोहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरोंको तृप्त करें ॥ ३९ ॥ जल अग्निको पितरोंके पास ले जाएं जिससे कि अग्निमें होम हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥४०॥

छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं [चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों] उन्हें अग्नि जानती है। अतः वह पितरों को हवि पहुंचाए और इसीलिए वही पहुंचा सकती है ॥ ४१ ॥

चावल और मीठा दान करना योग्य है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

प्रेतको स्मशान में बैलगाडीसे ले जाना योग्य है ॥ ४४ ॥

देवत्वकी कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्योंकि सरस्वती दानीको वांछित फल प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥
पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।
परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥
आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

अर्थ- [दक्षिणा] दक्षिणा दिशासे आकर [यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं । वे तुम [अस्मिन् बर्हिषि] इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] आनन्दित होओ। [अस्मे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको हे सरस्वती ! तू [आधेहि] दे ॥ ४६ ॥

[सरस्वती देवि] हे सरस्वती देवी ! [या] जो तू [पितृभिः स्वाधाभिः] मदन्ती पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाथ] आई है । वह हे सरस्वती ! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इडः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टि को [धेहि] दे ॥ ४७ ॥

[पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि] मिट्टी से बने हुए हे मृत पुरुष ! तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाडता हूं । (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धारक देव हमारी आयुको बढावे । हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हमसे दूर चले गए पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो । (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरोंमें अच्छीतरह होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें ॥ ४८ ॥

हे प्रेतवाहक बैलो ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ । (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो आगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ । उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं- [अभिभाः] दोष देनेवाले पुरुषोंने [वां] तुम दोनोंको ' पुंगवौ किम अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊहवन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, [यत् ऊचुः] जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ । [अघ्न्यौ] हे हिंसा करनेके अयोग्य बैलो ! [अस्मात्] इस निन्दा की कारणभूत गाडीसे [एतं] जो छूट आना है [तत्] वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे । और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्निको देते हुए या हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थ- पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढती, स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश है ।] यह मानव देह पार्थिव तत्त्वोंके आधिक्यसे बना हुआ है, अतएव यहांपर मृतदेहको पृथिवी [मिट्टी] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

स्मशानमें जाकर बैलगाडी छोडकर बैलोंका स्वास्थ्यविचार करना उचित है ॥ ४९ ॥

एवमंगन् दक्षिणा भद्रतो नौ अनेन दुत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)
इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्। ॥ ५१ ॥
एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥
पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

अर्थ–[सुदुघा] उत्तमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः नः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्थाके चले जाने पर जीवों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवों को [पितृभ्यः] पितरोंके लिए भली प्रकार [उप संपराणयात] प्राप्त करावे अर्थात् पितरोंके पास उत्तम रीति से पहोंचावे ॥ ५० ॥

[इदं बर्हिः पितृभ्यः प्रभरामि] यह कुशासन पितरों के लिए रखता हूं बिछाता हूं, [देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि] देवोंके लिए जीवको उससे ऊंचा बिछाता हूं। [पुरुष] हे पुरुष! [मेध्यः भवन्] पवित्र होता हुआ तू [तद् आरोह] उस पर बैठ। [परेतं त्वां पितरः प्रति जानन्तु] परेत अर्थात् परे गए हुए या उच्चासन को प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

हे पुरुष! [इदं बर्हिः असदः] इस कुशासन पर तू बैठा है। [मेध्यःभूः] पवित्र हुआ है। [पितरः परेतं त्वां जानन्तु] पितर परेत हुए हुए तुझको जानें। [यथा पर तन्वं संभरस्व] जोडोंके अनुसार शरीरको भर; अर्थात् जहां जोड चाहिए वहां जोड बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर। मैं [ते गात्राणि] तेरे अंगोंको [ब्रह्मणा] ब्रह्मद्वारा [कल्पयामि] समर्थ बनाता हूं यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूं ॥ ५२ ॥

[पर्णः राजा] पालक राजा [चरूणां] चरुओंका ढकन है। [ऊर्जः] अन्न, [बलं] बल, [सहः] शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य, [ओजः] तेज ये सब [नः] हमें उस पर्ण राजासे [आ अगन्] प्राप्त होवें। [शतशारदाय दीर्घायुत्वाय] सौ वर्ष जितनी दीर्घायु के [जीवेभ्यः] लिए जीवितों के लिए [आयुः विदधत] आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ– दक्षिणा देनेसे पितरोंकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी शुद्धि कराके उसको सुदृढ बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पर्णराजा चरुओं का ढक्कन है। वह हमें अन्न, बल, तेज आदि देता है। वह हम जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्माश्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ ५४ ॥
यथा यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥५६॥
ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः ।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ- [यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अश्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको [जगाम] प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे सबके मित्रो ! [हविर्भिः] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो । (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धात्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्य) घरको (अवपन्) बनाया है (एव) इसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि]स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, ये (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च यज्ञियाः) और जोकि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपर्युक्तों के लिए (मधुधारा) मधुरधारावाली (व्युन्दती) उमडती हुई (घृतस्य) घी वा जलकी (कुल्या) छोटी नदी (एतु) प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विशेषतया देखनेवाला (वृषा) अभिमत कामनाओंका वर्षक (मतीनां पवते) मतियोंका पवित्र करनेवाला है । (सूरः) सूर्य (अह्नां) दिनरातका, (उषसां) उषाओंका तथा (दिवः) द्युलोक का (प्रतरीता) बढानेवाला है । (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशान्) घडोंको जलधाराओंसे (अचिक्रदत्) गुंजाता है । (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (इन्द्रस्य) इन्द्रके (हार्दि) हृदयमें (आविशन्)प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ- यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुरधारावाली बहती हुई छोटीसी जलवाली नदी प्राप्त होवे ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें ज्ञान, बल, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियां बढें ॥ ५८ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षञ्छुक्र आततः
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥
प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।
मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)
अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः ।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥
परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः ।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ- [पावक] हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! [ते]तेरा [शुक्रः] शुद्ध [आततः] सब तरफ फैला हुआ [त्वेषः] प्रकाश [दिवि] द्युलोकमें [धूमः] धुंएकी तरह [ऊर्णोतु] सबको ढँकले । [द्युता] अपने प्रकाशसे [सूरः न] सूर्यकी तरह [त्वं] तू [कृपा] कृपा करके [रोचसे] दीप्त होता है ।। ५९ ।।

[इन्दुः] ऐश्वर्य देनेवाला सोम [इन्द्रस्य निष्कृतिं] इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाली पुरुष निष्कृतिको [प्र एति] अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोडता है। जैसे कि [सखा] मित्र [सख्युः] मित्रकी [संगिरः] उत्तम वाणियोंको [न प्रमिनाति] नहीं तोडता अर्थात् अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्र भी अवश्य ही सोमका रस निचोडता है और इस प्रकार सोम रस निचोडने पर [मर्यः योषाः इव] जिस प्रकार पुरुष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [सोमः] सोम तू [कलशे] सोम निचोडनेके पात्र-घडेमें [शतयामना पथा]सैंकडों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोडने पर कई धाराओंसे[सं अर्षसे]अच्छी प्रकारसे जाता है।६०।

[स्वभानवः] स्वयं प्रकाशमान, [विप्राः] मेधावी पितर [अक्षन्] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाते हैं। [अमीमदन्त] खाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और [हि] निश्चयसे प्रियान् अपने प्रियजनोंको (अव अधूषत) कान्तिमान् बनाते हैं । उनकी [अस्तोषत] प्रशंसा करते हैं । [यविष्ठाः] अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम [ईमहे] इन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ।। ६१ ।।

[सोम्यासः पितरः] हे सोमपान करनेवाले पितरो ! [गंभीरैः] गंभीर [पितृयाणैः पथिभिः] पितृयाण मार्गों से [आ यात] आओ । [अस्मभ्यं आयुः, प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । [पोषैः] अन्य पुष्टियोंसे [नः] हमें [अभिसचध्वं] चारों ओर से युक्त करो ॥ ६२ ॥

[सोम्यासः पितरः] हे सोम संपादक पितरो ! [गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः [गंभीर पूर्याण मार्गोंद्वारा [परायात] वापस चले आओ । जहांसे आए थे वहां पर लौट आओ । [अथ पुनः] और फिर [सुप्रजसः सुवीराः] हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो ! [मासि] मासके अन्तमें यानि महीनेके बाद [नः गृहान्] हमारे घरोंमें [हविः अत्तुं] हविके खाने के लिए [आयात] आओ ॥ ६३ ।।

भावार्थ— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढँक ले जिस प्रकार कि धूंआ सबको ढक लेता है। जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशसे चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह। (ऋ. ६।२।६ ॥ ५९ ॥

इन्द्र सोमको निचोडनेके कार्य को नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणीको नहीं टालता । सोम निचोडा जानेपर कई धाराओंमें घडेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है, जिस प्रकारसे कि पुरुष स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें बुलाना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए। ऐसा करनेसे यजमान की कीर्ति बढती है ॥ ६१ ॥

पितरों ! गंभीर जो पितृयाण मार्ग हैं उनसे बुलानेपर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो।६२।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।
तद् व एतत् पुनरा प्यायायामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥
अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥
असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः । अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥
शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥
येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि ॥ ६८ ॥

अर्थ- हे पितरो ! [वः यत् एकं अङ्गं] तुम्हारे जिस एक अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे, उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं। (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

(सायं न्यह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरोंसे वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है। क्योंकि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें। (त्वं अद्धि) तू भी उन हवियोंको खा ॥ ६५ ॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुलस्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार (एनं) इस प्रेत को (अभि ऊर्णुहि) भली प्रकार ढांप ॥ ६६ ॥

(पितृषदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बर्हिः) आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ- प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ॥ ६४ ॥

जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पाससे हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिये अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

प्रेतके जमीनमें गाडने का भी एक विधि है। भूमि प्रेतको ढांपे ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए ॥ ६८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अर्था वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ ६९ ॥
प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे ।
अर्था जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः ॥ ७० ॥ (२६)
अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥
सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥
पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥
यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥
एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

अर्थ- (वरुण) हे वरणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उत्तमं) उत्तम (पाशं) पाशको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रथाय) ऊपर से खोल दे । (अधमं) और जो तेरा अधम पाश है उसको (अव श्रथाय) नीचेकी ओरसे खोल दे । (मध्यमं) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको (विश्रथाय) विविध रीतिसे खोल दे । (अथ) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंसे विमुक्त होनेके बाद (अनागसः) पापरहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अखण्डनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (व्रते) व्रत अर्थात् नियममें (अदितये) अदीनताके लिए अर्थात् समृद्ध हुए हुए (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

(वरुण) वरुण राजन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान् पाशान्) तेरे सब पाशों-फन्दों-को (प्रमुञ्च) अच्छी तरह से खोल दे । (यैः) जिन फन्दोंसे कि (सं+आमे) समाम में और (यैः) जिनसे कि (वि-आमे) व्याममें (बध्यते) प्राणी बांधा जाता है । (अथ) तेरे उपरोक्त पाशोंसे छूटकर हम (राजन्) हे वरुण राजन् ! (त्वया गुपिताः) तेरेसे रक्षा किए गए अतएव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदं) सैकडों बरस (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥७१॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमाय) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥

हे (प्रततामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे । (ये च त्वां अनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

भावार्थ— हे वरुण ! तू तेरे दुष्टोंको बांधनेवाले तीनों प्रकारके उत्तम, मध्यम व अधम पाशोंसे हमें मुक्त कर । हम पापरहित हुए तेरे नियमोंमें रहते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ॥ ६९ ॥

हे वरुण राजन् ! तू अपने उन फन्दोंसे हमें मुक्त कर जिनसे कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। तेरी रक्षासे रक्षित हुए हुए सैकडों बरस जीवें ॥ ७० ॥

यम और पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७१-७४ ॥

पितरोंके लिए अन्न देना योग्य है ॥ ७५-८० ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥
एतत् ते तत स्वधा ॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥
नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ ८३ ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥
येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ ८६ ॥

अर्थ-[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७७ ॥

[पृथिवीषद्भ्यः] पृथिवीपर बैठनेवाले [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७८ ॥

[अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७९ ॥

[दिविषद्भ्यः पितृभ्यः] द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८० ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुमारे रस अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे (मन्यवे) मन्युके लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् घोरं) जो घोर कर्म हैं (तस्मै) उनके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो [शिवं] कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे । (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

(ये पितरः अत्र) वे अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण (अत्र स्थ) यहां पर हो, (ते) वे अन्य पितर (युष्मान् अनु) तुम्हारे अनुकूल होवें और (यूयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होओ ॥ ८६ ॥

भावार्थ— पितरोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य श्रेष्ठ बने ॥ ८१-८७ ॥

ये इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः।

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ– (ये) जो [पितरः] पितृगण (इह) यहां हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहां (जीवाः स्मः) जीवित हैं। (ते पितरः अस्मान् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (द्युमन्तं) चमकती हुई (अजरं) जरारहित (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं। (यत् ते) जिस तेरी (सा) वह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समित्) दीप्ति-चमक प्रकाश (द्यवी) अंतरिक्षमें अथवा सूर्यमें (दीदयति) प्रकाशित हो रही है। अर्थात् तू ही सूर्य रूपसे प्रकाशित हो रही है। ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोतृभ्यः) तेरी स्तुति करनेवालोंके लिए (इषं) अन्न वा इष्ट फलकों (आ भर) दे। (ऋ० ५।६।४) ॥ ८८ ॥

[सुपर्णः] सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रश्मियोंवाला [चन्द्रमाः] चन्द्र [अप्सु अन्तः] जलोंके अन्दर रहता हुआ [दिवि] अंतरिक्षमें [धावते] दौडता रहता है। [रोदसी] हे द्यावापृथिवी! [वः] तुम्हारी [पदं] स्थितिको [हिरण्य-नेमयः] सोने जैसी चमकीके प्रान्तभाग-सीमावाली [विद्युतः] बिजलियां अथवा प्रकाशमान पदार्थ [न विन्दन्ति] नहीं प्राप्त करते। अर्थात् तुम इतनी लंबी चौडी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता। [मे] मेरी [अस्य] इस उपरोक्त स्तुतिको [वित्तं] तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ– हम सदा प्रकाशमान अजर अग्निको प्रकाशित करते रहें। उसीकी ज्योति द्युलोकको व सूर्यादिको प्रकाशित कर रही है। वह स्तुति करनेवालोंको अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ द्युलोकमें बराबर दौड रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस द्यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड रहे हैं, वे इस द्यावापृथिवीकी स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते। (ऋ० १।१०५।१) ॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

इति अष्टादश काण्ड समाप्त।

अष्टादश काण्डका मनन।

(१) पितर।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक बडाभारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बडे महत्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है। वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है। हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है। वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबन्धी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है? क्या पुराणोंकी ही यह कपोलकल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक विना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबंधियोंसे कोई संबन्ध रहता है वा नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यमके दूत क्या हैं, यम कहांका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं। क्योंकि मरनेके बादका वृत्तान्त जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे।

पितृलोक।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे। जिन जिन वेदमंत्रोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होगा उन सब मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे। निम्न मंत्रमें सिर्फ पितृलोकका निर्देश मिलता है।

> शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः।
> पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि॥
>
> अथर्व. १८।४।६७॥
>
> शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि॥
>
> यजुः ५।२६॥ तथा ॥ ६।१ ॥

अर्थ- (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों। (त्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठलाता हूं।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है।

> एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते।
> अभिप्रेहि मध्यतो मापहास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥ अथर्व. १८।३।७३॥

अर्थ-(उन्मृजानः) अपनेको शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ। (इह) यहां (स्वाः) तेरे बन्धुबांधव (बृहत् उदीदयन्ते) बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं-अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर। (मध्यतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबांधवों के मध्यसे आ। (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपहास्थाः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे। (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहां (प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है। अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं-

१ पितृलोक-'पृथिवी'।

> स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः॥
>
> अथर्व० १८।४।७८॥

अर्थ- (पृथिवीषद्भ्यः) पृथिवीपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

पृथिवीस्थ पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यहांपर है। पूर्वोक्त बहुतसे पितृलोकोंमेंसे एक पृथिवी लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है।

२ पितृलोक—'अंतरिक्ष'।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व १८।४।७९ ॥

अर्थ-(अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम्। तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।३।५९ ॥

अर्थ-(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह-दादा (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविशुः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वयं-प्रकाशमान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको [यथावशं] कामनाके अनुकूल [कल्पयाति] समर्थ करता है।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहां पर विशेष मतलब नहीं है। उसपर अन्यत्र विचार करेंगे।

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।३।८

अर्थ-[उत् तिष्ठ] उठ, [प्रेहि] जा, [प्रद्रव] दौड। [सधस्थे] जहां सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे [सलिले] अंतरिक्ष में (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां अंतरिक्षमें (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ ऐकमत्य को प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्व) अच्छी तरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ आनंदित हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें किसीके भेजे जाने का और वहां स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है। अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है।

उपरोक्त सब मंत्रोंमें हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोकों में से एक लोक है जहां पितर निवास करते हैं।

३ पितृलोक—'द्यु'।

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ अथर्व ० १८।४।८० ॥

अर्थ-(दिविषद्भ्यः पितृभ्यः) द्युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि द्युलोकमें बैठते हैं, और वहां बैठकर स्वधा लेते हैं।

आ नः पवस्व वसुमद्धिरण्यवदश्ववद्गोमद् यवमत् सुवीर्यम्। यूयं हि सोम पितरो मम स्थन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

ऋ० ९।६९।८॥

अर्थ- हे सोम! तू (नः) हमें (वसुमत्) वसुयुक्त (हिरण्यवत्) सोनाचांदीवाले (अश्ववत्) घोडोंवाले, (गोमत्) गौओंवाले, (यवमत्) यवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर। अर्थात् हमें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हमको ऐसा पराक्रम दे। हे सोम! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) द्युलोक के समान ऊंचे उठे हुए (स्थन) हो॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंने हमें दर्शाया कि द्युलोक में भी पितर रहते हैं। द्युलोक में पितर कहां रहते हैं यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है—

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥

अथर्व०१८।२।४८ ॥

अर्थ- (अवमा द्यौः उदन्वती) सबसे नीचे की जो 'द्यु-लोक' वह है जिसमें कि जल रहता है। जिस द्युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे नीचेका द्युलोक है।(पीलुमती इति मध्यमा) और जिसमें ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीच का द्युलोक है।

(इ) निश्चयसे (तृतीया) तीसरा (प्रद्यौः इति) प्रद्यु नाम का द्युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि द्युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के द्युलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे उपर है और उसमें पिलु अर्थात् ग्रह नक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका द्युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रद्यौ के नामसे प्रख्यात है और यही द्युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं । अबतक के सब मंत्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोकमें आते हैं और वहांसे चलकर सबसे अंतमें इस द्युलोक में निवास करते हैं । यह द्युलोक ग्रह नक्षत्रादि के निवासक द्युसे भी परे है ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक द्युलोक सूर्यलोकसे परे हैं । इसी मंत्रके भावको निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुष्ट करती है ।

> तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् । आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥ ऋ० १।३५।६॥

अर्थ– (तिस्रो द्यावः) तीन द्युलोक हैं । (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्थाँ) समीप हैं (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोकमें स्थित है जो कि (विराषाट्) विराषाट् है, अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं । (रथ्यं आणिं न) जैसे रथ आणिपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता = अमृतानि) ये सब अमृत ग्रह नक्षत्रादि (अधितस्थुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं । (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिकेतत्) भली प्रकार जानता है, वह (इह) यहांपर हमें (ब्रवीतु) उन तत्त्वोंका विवेचन करे । 'आणि' नाम उस कीलका है, जो कि धुरेके किनारेपर छेद करके पहिए को बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है ।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा द्युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्य इस द्युलोक में है । पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उन का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी । यहांपर, उस बातका निर्देश मात्र है ।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित द्युका विशेषण 'विरा–षाट्' दिया है । अर्थात् उस द्युमें वीरगण आकर निवास करते हैं । इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पुष्ट करता हुआ साथमें पितरोंका द्युलोकमें जाना दर्शा रहा है ।

> इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।
> प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामंगिरसो ययुः ॥
> अथर्व० १८।१।६१ ॥

अर्थ–(एते) ये पितर (इतः) यहांसे (उत् आ अरुहन्) ऊपर को चढते हैं । (दिवः पृष्ठानि आरुहन्) और द्युके पृष्ठोंपर प्रष्टव्य स्थानोंपर–चढते हैं । (यथा पथा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्जयः) भूमि जीतनेवाले वीर (अंगिरसः) अंगिरस पितर (द्यां) द्युलोकको (प्रययुः) गए हुए हैं ।

अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चला है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा द्यु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं । इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है । इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है ।

> ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविशु–रुर्वन्तरिक्षम् । य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १८।२।४९॥

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह, हैं (ये) जो कि (उरु अंतरिक्षं आविविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवीं उत द्यां) पृथिवी तथा द्युलोकमें (आक्षियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं । यह मंत्र स्वयमेव अधिक स्पष्ट है । यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है ।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल वा घर।'

इन उपरोक्त पितृलोकों.के सिवाय हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर वा पिताका कुल प्रतीत होता है । मंत्र इस प्रकार है–

> उदवतीः कन्यका इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः अव–दीक्षामसृक्षत स्वाहा । अथर्व. १४।२।५२ ॥

(इमाः) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्यायें (पितृलोकात्) पितृकुलसे [पतिं यतीः] पतिके पास आती हुई (स्व—आहा) उत्तम वाणी द्वारा [दीक्षां] दीक्षाको (अवसृक्षत) दें।

नियम व्रत आदिकी शिक्षा का नाम दीक्षा है। यहांपर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

५ पितृलोक-पितरोंका देश।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पैत्रिक भूमि है। जिस भूमिमें वंशपरंपरासे रहते चले आए हैं, उस भूमिका नाम पितृलोक से यहां कहा गया है।

> पंचापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
> प्र दातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम्॥
>
> अथर्व० ३।२९।४॥

[पंच-अ-पूपं] पांचों जनों (ब्राह्मणादि चार वर्ण तथा पांचवां निषाद) को न सतानेवाले अतएव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत [शितिपादं अविं] हिंसकोंको [दबाने-वाले संरक्षक कर भागको [प्रदाता] देनेवाला [पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोकके संबन्धमें यहांपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है। अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

पितृयाण।

पितृलोककी स्थापना के अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं? इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं। जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है। तथा जिससे देवलोक जाते हैं वह देवयान कहलाता है। इसी भावको निम्न मंत्र दर्शा रहा है। मंत्र इस प्रकार है।—

> द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
> ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
>
> ऋ० १०। ८८।१५॥
>
> यजु० अ० १९।४७॥

(मर्त्यानां पितॄणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (द्वे स्रुती) दो मार्ग (देवयान और पितृयाणनामक) (अशृणवं) मैंने सुने सुने हैं। (ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत् विश्वं) यह गतिमान् विश्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस द्यु पिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है।

एवं इस मंत्रसे इतना पता चलता है कि देवयान और पितृयाणनामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

> आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अव्याड् ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥
>
> अथर्व० १८।४।१॥

(जातवेदसः) हे अग्नियो! तुम (जनित्रीं आरोहत) अपनी उत्पन्न करनेवालीके पास पहुंचो। मैं [वः] तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुंचाता हूं। (इषितः हव्यवाहः) प्रिय हव्योंका वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अव्याट्] वहन करता है। हे अग्नियो! (युक्ताः) तुम मिलकर [ईजानं] यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंके लोकमें (धत्त) धारण करो अर्थात् वहां उसे लेजाओ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष संबन्ध प्रतीत होता है। यह संबन्ध कैसा व क्या है इसपर विस्तारसे विचार आगे 'अग्नि व पितर' इस शीर्षक के नीचे करेंगे। यहां पर तो सिर्फ पितृयाण मार्गसे ही मतलब है इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएंगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को भी जानता है।

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्
>
> ॥ ऋ० १०।१४।७॥

यही मंत्र थोडेसे पाठभेद से अथर्ववेदमें निम्न प्रकारसे आया है—

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्याणैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः। उभा राजाना स्वधया मदन्ती यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ अथर्व० १८।१।५४

(यत्र)जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (परेयुः) गए हुए हैं, वहां (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) तू जा । वहां (स्वधया) स्वधासे (मदन्ती) तृप्त होते हुए (उभौ राजानौ) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम और वरुण देव को (पश्यासि) देख ।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के मार्ग पितृयाण के नाम से प्रख्यात हैं । इसके सिवाय एक मंत्र ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाण मार्गसे आनेका भी उल्लेख पाया जाता है ।

आ यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृयाणैः। आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ अथर्व० १८।४।६२

(सोम्यासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरो ! (गंभीरैः) गंभीर (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाण मार्गोंसे (आयात) आओ । (अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः) हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । (पोषैः) अन्य पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से युक्त करो ।

इस मंत्र में पितरोंके पितृयाण से आकर आयु, प्रजा आदि देनेका उल्लेख है । इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृयाण का उल्लेख मिलता है ।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम । ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ अथर्व० ६।११७।३ ॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनृणाः) ऋण रहित होवें (परस्मिन्) पर लोक में (अनृणाः) हम अनृण होवें । तथा (तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनृणाः) ऋणरहित (स्याम) होवें । (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान व पितृयान मार्ग हैं, (सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनृणाः) ऋण रहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरण करें ।

इस लोकमें दो प्रकारका ऋण है । (१) भौतिक धन,सोना चांदि आदि उधार लेना । (२) वैदिक "जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति" (तै. सं. ६।३।१०।५॥) अर्थात् तीन प्रकारका वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढता है वह तीन प्रकारका ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है । ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषिऋण उतरता है, यज्ञ करनेसे देवऋण उतरता है तथा संतानोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है। निम्न मंत्र पितृयाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन पितृयाण मार्गको जानता है और कौन नहीं ।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान। पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो विभाहि ॥ ऋ० १०।२।७॥

हे अग्ने ! (यं त्वा) जिस तुझको (द्यावापृथिवि) द्युलोक और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते हैं और (यं त्वा) जिस तुझे (आपः) जल विद्युत् रूपसे पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तुझको (सुजनिमा) उत्तम उत्पादक (त्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है, वह तू (पितृयाणं पंथां) पितृयाण मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी प्रकारसे जानता हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ (द्युमत्) दीप्तिवाला होता हुआ (विभाहि) प्रकाशमान हो ।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाण मार्गका जाननेवाला बताया गया है । हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका विशेष संबन्ध है । उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया जायगा । अग्नीको छोडकर और कौन पितृयाण मार्ग जानता है यह निम्न मंत्र दिखाता है ।—

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति ।
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥
अथर्व० १५।१२।४-५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् सत्यव्रती अतिथिसे (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता है वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्ग को (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार जानता है । इसके प्रतिकूल—

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानं ॥
अथर्व० १५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा व्रात्येन) विद्वान् व्रात्यसे (अनतिसृष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता

है। वह (न पितृयाणं पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्ग को ही भली भांति जानता है और नहीं (देवयान) देवयान मार्गको जानता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इसप्रकार है-

> देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
> यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति
> लोकम्॥ अथर्व० ५।१८।१३॥

(देवपीयुः गरगीर्णः मर्त्येषु चरति) देवोंकी हिंसा करनेवाला जहर खाया हुआसा मनुष्योंमें विचरण करता है। वह (अस्थि-भूयान् भवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीर में मांसादिके न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियां ही हड्डियां है और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता। (यः) जो (देवबन्धुं ब्राह्मणं हिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाणं लोकं) पितृयाण मार्गको (अपि) भी (न एति) नहीं प्राप्त होता।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससे कि पितृगण एक लोकसे दूसरे लोकमें आते जाते हैं। अब वह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे साम-ने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र डाल रहा है। इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में भी डालेगा। मंत्र इस प्रकार है-

> आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं
> शचीभिः। इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं
> पितरो न आसन्॥ ऋ, १।१०९।७॥

(वज्रबाहू इन्द्राग्नी) बलवान् भुजाओंवाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आभरतं) हमारा अच्छी प्रकार भरण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें, और (शचीभिः अवतं) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें। (नु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्य-की ये वे किरणें हैं (येभिः) जिनसे कि (नः) हमारे (पि-तरः) पितर (सपित्वं आसन्) सपित्व हैं।

यहांपर आया हुआ सपित्व शब्द बडे महत्त्व का है। इसी पर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्योंकि जो कुछ परिणाम निकाला जा सकता है वह इसीपर आश्रित है। सपित्वं पि=गतौ धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे पित्व बनता है। 'समानं च तत् पित्वं च इति सपित्वं' अथवा 'सह पित्वं सपित्वं।' गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) सह गमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान। सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष शेष रहते हैं (१) सह-गमन वा सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

निरुक्तकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद ३, खण्ड १४ में 'कुहस्विद्दोषा कुहवस्तो रश्विना' इत्यादि ऋ. १०।१४।२ ॥ की व्याख्या करते हुए 'कुहाभि पित्वं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुहाभि पित्वं करतः' का अर्थ करते हैं 'क्वाभि प्राप्तिं कुरुथः'।

सायणाचार्य ने सपित्वं का अर्थ 'सह प्राप्तव्यं स्थानं' ऐसा किया है। सह शब्द उपपद रखके 'आप्लृ व्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः, इस सूत्रसे 'त्वन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं' से पिभाव करके सपित्व संपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपित्व की सिद्धि अन्य रीतिसेभी करते हैं। 'षप समवाये, इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करने से सपि शब्द बनाकर, 'सपेर्भावः सपित्वं।' अर्थ वही उपरोक्त।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह-गमन वा सह-प्राप्ति है। हम ऊपर पितृलोक के मंत्रों में देख आए हैं कि पितर द्युलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं। और यहां इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं। अतः इससे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और वह पितृयाण मार्ग संभव है 'सूर्य-किरणें' हों। इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश 'अग्नि व पितर इस प्रकरण में डाल सकेंगे ऐसी हमें आशा है। यहां पर यह संकेत रूपमें किया है। पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अतः इसके विषयमें एकदम निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। पाठक गण इसपर विचार कर कुछ सहायता करेंगे तो अच्छा होगा!

२ पितरोंके कार्य ।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं । पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परंतु वे अन्य प्रकरणोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको यहां दिया जायगा।

१ रक्षा करना ।

> उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥
> ऋ० १०।१५।१॥ यजु० अ० १९।४९ ॥
>
> अथर्व० १८।१।४४

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे उत् मध्यमाः उत् परासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें । (ये अवृकाः ऋतज्ञाः) जिन हिंसारहित सत्य वा यज्ञके जाननेवाले पितरोंने (असुं ईयुः) प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संग्रामोंमें—युद्धोंमें वा बुलाए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें ।

> गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
> दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥
>
> अथर्व० ८।८।१५॥

(गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको, (पितॄन्) पितरोंको (दृष्टान् अदृष्टान्) चाहे ये देखे हुए हों वा न हों इन सबको (इष्णामि) प्राप्त करता हूं। (यथा) जिससे कि ये सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें—नष्ट कर दें ।

> वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
> गंधर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
> सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च
> प्रदर्शय ॥   अथर्व० ११।९।२४

[वनस्पतीन्] वनस्पतियोंको, [वानस्पत्यान्] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [ओषधीः] औषधियोंको [उत] और [वीरुधः] लताओंको [गंधर्वाप्सरसः] गंधर्व तथा अप्सराओंको [सर्पान्] सर्पोंको [देवान्] देवोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको (पितॄन्) पितरोंको (तान् सर्वान्) इन सबको तथा [उदारान्] उदारोंको [अर्बुदे] हे अर्बुदि ! [त्वं तू [अमित्रेभ्यः दृशे कुरु] शत्रुओंको देखने लिए कर । अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ताकि ये शत्रुओंका विनाश करें । इनकी घातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो ।

अर्बुदिका अर्थ एतेरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है— ' अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिः मंत्रकृत् ' [ऐ. ब्रा, ६।१] अर्बुद नामका कोई सर्पऋषि वा उसका पुत्र अर्बुदि । ' अतइञ् ' इस सूत्रसे इञ् । ' संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है ।

सायणाचार्यने इसका अर्थ ' अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात वा अन्य आंतरिक्ष उत्पात ' ऐसा किया है । इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि 'तस्मात् ते पानाद् उदारा अजायन्त ' तै० ब्रा० २।२।९।२ उत् आरयन्ति आर्ति उद्भावयन्ति इति उदाराः । ' अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती ।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं। हमारे शत्रुओंसे लडकर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं । इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान है। अब हम ऐसे मंत्र उधृत करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है ।

> अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा। रथं न दुर्गाद्वसवः सुदानवो विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्तन ॥   ऋ० १।१०६।३॥

[सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु] उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें। (उत) और [देवपुत्रे ऋतावृधा देवी] देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रक्षक हैं तथा जो सत्य से बढनेवाली हैं ऐसी द्यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें । हे [सुदानवः] उत्तम दानवाले [वसवः] वसुओ (दुर्गात् रथं न) दुर्गमनीय स्थानसे रथकी तरह (विश्वस्मात् अंहसः) सब पापों से [नः निष्पिपर्तन] हमें निकालकर पालो ।

> अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा
> सिन्धवः पिन्वमानाः । अवन्तु मा पर्वतासो
> ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ।
>
> ॥ ऋ० ६।५२।४ ॥

[जायमानाः उषसः मा अवन्तु] उत्पन्न होती हुई उषायें मेरी रक्षा करें। [पिन्वमानाः सिन्धवः मा अवन्तु] जलका सिंचन करती हुई नदियां मेरी रक्षा करें। [ध्रुवासः पर्वतासः मा अवन्तु] निश्चल पर्वत मेरी रक्षा करें, और [देवहूतौ] देवोंके आह्वान करनेमें (पितरः) पितृगण (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंको देवोंके आह्वान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है।

> इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा
> रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः
> पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं
> वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥
>
> यजु० अ० ५।११ ॥

(इन्द्रघोषः त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्रकी वाणी तेरी आगेसे वसुओं द्वारा रक्षा करे। (प्रचेताः रुद्रैः त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रोंद्वारा तेरी पीछेसे रक्षा करे। (मनोजवाः पितृभिः त्वा दक्षिणतः पातु) मनोजव पितरों द्वारा तेरी दक्षिण से रक्षा करे। [विश्वकर्मा आदित्यैः त्वा उत्तरतः पातु] विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तेरी उत्तरसे रक्षा करे। [अहं] मैं [इदं तप्तं वाः] यह गरम जल [यज्ञात्] यज्ञसे [बहिर्धा] बाहिरकी ओर [निःसृजामि] फेंकता हूं। पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं, अर्थात् दक्षिण दिशासे आनेवाले विघ्नों को पितर दूर करते हैं; ऐसा इस मंत्रसे सूचित होता है।

निम्न मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि पितर किन किन कार्योंमें हमारी रक्षा करते हैं। मंत्र इस प्रकार है--

> पितरः परे ते मावन्तु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन्
> कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
> चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां
> स्वाहा ॥
>
> अथर्व० ५।२४।१५ ॥

[ते] वे [परे पितरः मा अवन्तु] पूर्वकालीन वा उत्कृष्ट पितर मेरी निम्न कर्मोंमें रक्षा करें। [अस्मिन् ब्रह्मणि] इस ब्रह्मयज्ञमें [अस्मिन् कर्मणि] इस कर्मयज्ञमें। [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहितके कार्य में [अस्यां प्रतिष्ठायाम्] इस प्रतिष्ठामें। [अस्यां चित्याम्] इस चेतनायुक्त कार्योंमें। [अस्यां आकूत्याम्] इस संकल्प में। [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वाद कार्यमें। [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आह्वानमें [स्वाहा]।

इस प्रकार हमने इन मंत्रोंसे देखा कि कहां कैसे पितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं। अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं।

२ सूर्य प्रकाश देना।

> अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेदुर्ऋत-
> माशुषाणाः। अश्मव्रजाः सुदुघा वव्रे अन्तरु-
> दुस्रा आजन्नुषसो हुवानाः ॥
>
> ऋ० ४।१।१३ ॥

[अत्र] यहां [ऋतं आशुषाणाः] यज्ञ वा सत्यको प्राप्त करतेहुए [मनुष्याः पितरः] मननशील पितर [अभिप्रसेदुः] प्रसन्न होते हैं, और अश्मव्रजाः (सुदुघाः) मेघोंमें गमन करनेवाली, सुखसे कामनाओं को पूर्ण करने-वाली (उषसः) उषाओं को (हुवानाः) बुलाते हुए (वव्रे अन्तः) अन्धकारमें (उस्राः) सूर्यकिरणोंको (उत् आजन्) प्राप्त करते हैं। अथवा अंधकारमें सूर्य की किरणें फैंकते हैं यानि सूर्यकिरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं। एवं इस मंत्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमा-
> शुषाणाः। शुचीदयन् दीधितिमुक्थशासः क्षामा
> भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्।
>
> ऋ० ४।२।१६ ॥ तथा यजु० अ० १९।६९।

यह मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आया है।

> अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशानाः।
> शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो
> अरुणीरपव्रन् ॥
>
> अथर्व० १८।३।२१

(यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः) जैसे हमारे श्रेष्ठ पुरा-ने पितरों ने (ऋतमाशुषाणाः) सत्य वा यज्ञ को प्राप्त करते हुए (शुचिदीधिति) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया था और (उक्थशासः) उक्थों से प्रशंसा स्तुति करते हुए (क्षामा = क्षाम) क्षयकारी अंधकार को (भिन्दन्तः) नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाओं की किरणों-को (अपव्रन्) प्रकाशित किया था, उसी प्रकार हे अग्ने! तूभी कर।

उक्थ वेदों के खास सूक्तों का नाम है । ब्राह्मणों व उपनिषदोंमें उक्थ शब्द प्राणके लिए भी आता है । कहीं अन्न प्रजा आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है । क्षामा = क्षाम । ' संहितायां ' से दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि क्षाम शब्दका पाठ निघण्टुमें पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि यहां क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे ' अंधकार ' ही करना उचित है और यही ठीक जंचता है । इसके अतिरिक्त इस विभागमें दिए गए सब मंत्रभी इसी अर्थको पुष्ट कर रहे है । पृथिवी को भेदन करने का यहां कोई संबंध प्रतीत नहीं होता । अरुणीका अर्थ उषःकालकी किरणें ऐसा है । ' अरुण्यः गावः उषसाम् ' अर्थात् उषाओंकी किरणोंका नाम अरुणी है । निघण्टुः १।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही पुष्ट कर रहा है-

> त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
> गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमंत्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ऋ. ७।७६।४॥

(ते इत् ऋतावानः, कवय, पूर्व्यासः सत्यमंत्राः, पितरः) वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी पूर्वकालीन, सत्य मंत्रणावाले पितर (देवानां सधमादः आसन्) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले थे कि जिन पितरोंने (गूळ्हं ज्योतिः) छिपे हुए प्रकाशको (अनु अविन्दन्) प्राप्त किया और (उषासं) उषाको (अजनयन्) उत्पन्न किया ।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उषा पैदा करके सूर्य प्रकाश देनेकी बातको कहा गया है ।

> वीळु चिद्दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वः विविदुः केतुमुस्राः ॥ ऋ. १।७१।२॥

(नः अङ्गिरसः पितरः) हमारे अङ्गिरस पितरोंने (उक्थैः) शब्दोंसे, (रवेण) और उक्थ अर्थात् वेदके स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वीळु चित्) बलवान् तथा (दृळ्हा) दृढ (अद्रिं) मेघको (रुजन्) तोड गिराया । अर्थात् वेद मंत्रोंके पाठसे इतना बडा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर नीचे आगिरे और । तब (बृहतः दिवः गातुं चक्रुः) बडे भारी द्युलोकमें से मार्ग बनाया । और इस प्रकार (अस्मे) हमारे लिए (स्वः अहःकेतुं) सुख से प्रापणीय सूर्यको तथा (उस्राः) सूर्यकिरणों का (विविदुः) प्राप्त किया ।

इस मंत्रमें उक्थों की महिमा का वर्णन किया गया है और साथ ही में उन उक्थों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके, यह दर्शाया गया है । पितर बादलोंको हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है। उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा है ।

> स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत् । येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥ ऋ. ९।९७।३९ ॥

(सः) वह (वर्धनः) बढता हुआ (वर्धिता) बढानेवाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मिढ्वान्) सुख या कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि आवीत) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रक्षा करे । (येन) जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः, स्वर्विदः, पूर्वे पितरः) हमारे परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि॰ अभिलक्ष्य उद्देश्य करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रिं उष्णन्) मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर हटाया जिससे कि सूर्य किरणोंके आनेमें रुकावट न हो ।

पूर्व मंत्रोक्त भावको इस मंत्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है । उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है ।' स्वर्विदः' का अर्थ है सूर्य को जाननेवाले । द्युलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः द्युलोक को जाननेवाले भी अर्थ है । यास्काचार्य भी यह अर्थ स्वीकार करते हैं । उन्होंने स्वः शब्दका निर्वचन निरु० अ० २। पा० ४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है-

"स्वः आदित्यो भवति । सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा । एतेन द्यौर्व्याख्याता । " अर्थात् स्व आदित्यका नाम है क्योंकि यह सूर्य (सु--अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अंधकार को दूर भगानेवाला है ।

सु अर्=स्वः । अथवा ' स्वृतो रसान् ' यह रसोंके प्रति ग्रहणके लिए आता है। सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है । सूर्यके रस लेनेकी बातको कालिदासने रघुवंश में इस प्रकार कहा है-

'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः'

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करनेके लिए रसोंको पृथिवी

परसे लेता है। सु पूर्वक ऋ गती। सु×अर् = स्वः। अथवा 'स्वृतो भावं ज्योतिषां' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'स्वृतो भासा' दीप्तीसे युक्त होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे द्युलोक की भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है, अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरों की सूर्यकिरणोंके साथ सहप्राप्ति व सहगमन बताया गया है। यहांपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को लक्ष्यमें रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहांसे फिर द्युलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है वही पितृयाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मन्त्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है—

> अभिश्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ऋ० १०।६८।११॥ तथा
>
> अथर्व० २०।१६।११

(बृहस्पतिः अद्रिं भिनत्) जब बृहस्पतिने मेघको तोड गिराया और (गाः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृशनेभिः श्यावं अश्वं न) जैसे सुवर्णके अलंकारोंसे काले घोडेको शोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रेभिः द्यां अपिंशन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा द्युलोकको दीप्त किया व शोभायमान किया। और फिर (रात्र्यां तमः अदधुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अदधुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें ' प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं' यह दर्शाया गया है।

> आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि॥ ऋ० १०।१०७।१॥

[एषां माघोनं महि आविरभूत्] इन पितरोंका मघवा संबन्धी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने [विश्वं जीवं] सारे संसारको तमसः निरमोचि] अंधकारसे छुडाया। [पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात्] वह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [दक्षिणायाः उरुः पन्थाः अदर्शि] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

' माघोनं ' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश सूर्यकी चैत्र मासमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमासमें इन्द्र कहलाता है। अतएव माघोनं का यहां अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड फोडकर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। द्युलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानाभी पितरोंका कार्य है। इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा।

३ पापसे छुडाना

> अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन्
> मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
>
> अथर्व. ११।६।१६

[अरायान्] न दान देनेवालोंको, [रक्षांसि] राक्षसोंको, [सर्पान्] सर्पोंको, [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको और [पितॄन् पितरोंको [ब्रूमः] कहते हैं तथा [एकशतं] मृत्यून् एक सौ मृत्युओंको [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] वे सब [नः अंहसः] हमें पापसे [मुञ्चन्तु] छुडावें। यहांपर अन्योंके साथ पितर भी पापसे छुडाते हैं यह दर्शाया गया है।

४ सुख व कल्याण करना।

> विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव
> शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥
>
> अथर्व. १८।३।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्न-बल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, (सुसंशासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम (नः मृडत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अत्रिः) बलविशिष्ट अत्रिने (नमोभिः)

अन्नोंसे हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है।

अथवा छर्दिः = छर्दिः = घर। छर्दिका अर्थ घर करने पर छर्दिका विभक्ति व्यत्यय करना पड़ेगा। छर्दिः = छर्दिम्। इस अवस्था में तृतीय पादका अर्थ होगा कि " क्यों कि अग्निने हमारे घरोंको अन्नोंसे भर दिया है, अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखी करो।" अत्रिका अर्थ है जिसके तीनों ताप नहीं रहे। (निरु० ३। १७) इस मंत्रमें विश्वामित्र, जमदग्नि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं।

> शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० ७।३५।१२
>
> तथा अथर्व० १९।११।११

(सत्यस्य पतयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः शं भवन्तु) हमारा कल्याण करें। और (अर्वन्तः नः शं) घोडे हमारे लिए कल्याणकारी हों। (उ) और (गावः शं सन्तु) गौएं हमारे लिए कल्याणकारी हों। (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) श्रेष्ठ कर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों। (हवेषु) बुलाए जानेपर (पितरः नः शं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें।

ऋभु का अर्थ निघण्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है। (निघण्टु ३। १५।)

५ गर्भ धारण करना

> अरुरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः। मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ऋ० ९।८३।३

(अग्रियः) अग्रणी – मुख्य – प्रसिद्ध [उषसः पृश्निः] उषासे संबन्ध रखनेवाला सूर्य [अरुरुचत्] सबको प्रकाशित करता है। [वाजयुः] भूतजातके लिए अन्नकी कामना करता हुआ अतएव [उक्षा] जलोंका सिंचन करनेवाला सूर्य [भुवनानि बिभर्ति] भुवनों का धारण पोषण करता है। [अस्य मायया] इसकी मायासे [मायाविनः) मायावीगण [ममिरे] पदार्थोंका निर्माण करते हैं और [नृचक्षसः पितरः गर्भं आदधुः] मनुष्योंके देखनेवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। सूर्यकिरणें जलको अपने गर्भ में धारण करती हैं। सूर्यका किरणोंद्वारा जल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय [illegible] प्रसिद्ध ही है।

> आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजुः अ० २।३३॥

[पितरः] हे पितरो! [पुष्करस्रजं कुमारं गर्भं आधत्त] पुष्करस्रक् कुमारको गर्भमें धारण करो। [यथा] जिससे कि [इह पुरुषः असत्] यहां वह पुरुष बन जावे।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवटाचार्य तथा महीधराचार्यने पुष्करस्रक् कुमारका अर्थ अश्विनी कुमार जोकि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार ऐसा किया है। पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो। स्वामी दयानंदजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रक् कुमार का अर्थ ' विद्याग्रहणार्थं फूलकी माला धारण किये हुआ कुमार' ऐसा किया है। इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समयका वर्णन करता है, ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं–

१ यहां आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए गुरुके पास जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है।

पाठकों के सामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है। इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें।

६ पितरोंका संतति बढाना आदि

> द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा। स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरे-ष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥ ऋ० १०।५६।६

[सूनवः] आदित्यके पुत्र देवोंने [असुरं स्वर्विदं] बलवान् द्यु लोकको जाननेवाले आदित्यको (तृतीयेन कर्मणा) प्रजोत्पत्ति नामक तीसरे कर्मसे (द्विधा) दो प्रकारका अन्त व उदयवाला (अस्थापयन्त) स्थापित किया। (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाको उत्पन्न करके (अवरेषु पित्र्यं सहः आदधुः) आनेवाली संततिमें पैत्रिक तेजबल स्थापित किया और इस प्रकार (तन्तुं आततं) संततिको विस्तृत बनाया।

पितर संतति बढाकर उसमें पैत्रिक तेज स्थापन करते हैं, ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है।

७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें पितरोंकी सहायता !

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः
जीवं व्रातं सचेमहि ॥

ऋ० १०।५७।५ तथा यजु० ३।५५

[नः पितरः] हमारे पितर तथा [दैव्यः जनः] देवोंका संघ [पुनः नः मनः ददातु] फिरसे हमें मनको देवे । हम (जीवं व्रातं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें।

जन शब्द यह संघके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है । यह मंत्र पुनर्जन्मपर प्रकाश डालताहुआ पितरोंका मनादि इन्द्रियोंके देनेमें सहायक होना दर्शा रहा है ।

मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १०।५७।३

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया हुआ है—

मनोन्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन
पितॄणां च मन्मभिः ॥

यजु० अ० ३।५३

हम [नाराशंसेन सोमेन] नर जिसकी प्रशंसा करते हैं ऐसे सोम [चंद्रमा] से [च] और [पितॄणां मन्मभिः] पितरोंके मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे [नु] निश्चयसे [मनः] मनको [आ हुवामहे] बुलाते हैं ।

यजुर्वेदमें ' सोमेन ' के स्थानमें । ' स्तोमेन ' ऐसा पाठ है । वहांपर ' स्तुतियोंसे ' ऐसा अर्थ होगा। मनकी उत्पत्ति सोम अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरुषसूक्त [यजु० अ० ३१] से पता चलता है। यहांपर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पितरोंकी स्तुतियोंको साधन बताया गयाहै । उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें मनकी पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह स्पष्टतया दिखाया गया है।

८ पितरोंके स्तोत्र ।

तमूषु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः
नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपो-
दये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥

ऋ० ८।४१।२॥

[तं उ समानया गिरा] इस वरुणकी समान स्तुतिसे [च] और [पितॄणां मन्मभिः पितरोंके मननीय स्तोत्र अर्थात् स्तुतियोंसे तथा [नाभाकस्य प्रशस्तिभिः] नाभाकके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे [सु अभिष्टौमि] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूं । [यः] जो [मध्यमः] मध्यम वरुण [सिन्धूनां उप उदये सप्त स्वसा] नदियोंके उद्गम स्थानमें सात बहिनोंवाला है । [समे] सब [अन्यके] जो हमसे द्वेष करते हैं, ऐसा दुष्टबुद्धिवाले-पापबुद्धिवाले पापसंकल्प [नभन्तां] न रहें।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र हैं। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है-

यह मंत्र विशेष विचारणीय है। उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या निरुक्तकार यास्काचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है

'तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः । ऋषिर्नाभाको बभूव । यः स्यन्दमानानामुपोदये सप्त स्वसारमेनमाहवाग्भिः । स मध्यमः इति निरुच्यते । अथैष एव भवती । नभन्तामन्यके समे, भुवन्त्वन्यके सर्वे येनो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियःपापसंकल्पाः ॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही किया है ।

नाभाक ऋषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मननीय स्तोत्रोंसे वरुणकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें सहायक हैं, यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके सिवाय पितरोंकी स्तुतियोंसे और क्या विशेष लाभ हैं यह निम्न मंत्र दर्शाता है-

त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वाम जरितारो असन्वन् । त्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यश्वास्त्वं वसु देवयते वनिष्ठः ॥ ऋ० ७।१८।१॥

हे इन्द्र ! (त्वे) तेरेमें (जरितारः नः पितरः विश्वा=विश्वानि वामा=वामानि) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने सारे प्रशंसनीय पदार्थों वा धनों को (असन्वत) प्राप्त किया । (यत्) क्यों कि (त्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही जानेवाली गौएं हैं । (त्वे अश्वाः) तेरे पास घोडे हैं और साथ ही तू (हि) निश्चयसे (देवयते वसु वनिष्ठः) कामना

करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है ।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है। पितरोंकी स्तुतिका फल यहांपर दिखाया गया है। अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिन में से कि प्रत्येक में पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है ।

पितरोंसे दीर्घायु ।

> वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन । चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ अथर्व० १८।३।१०

[सोम्यासः पितरः मां वर्चसा अञ्जन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें । [देवाः मधुना घृतेन] देव मुझे माधुर्ययुक्त घृत से व्यक्त करें। [चक्षुषे मां प्रतरं तारयन्तः] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [जरदष्टिं मां] जिसका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको [जरसे] वृद्धावस्था तक [वर्धन्तु] बढावें अर्थात् जिस बुढापेमें खाने पीनेकी शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढापेतक मुझे पहुंचाएं । यथासंभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएं, उससे पूर्व मैं क्षीण न होऊं ।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुष्यके लिए कहा गया है। दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ।

> पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ यजुः अ० १९।३७

[सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें । [पितामहाः मा पुनन्तु] पितामह मुझे पवित्र करें । [प्रपितामहाः] प्रपितामह मुझे पवित्र करें। [पवित्रेण शतायुषा] पवित्र सौ वर्ष की आयुसे । अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र सौ वर्ष की आयु दें ! मेरा सौ वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ [विश्वं आयुः व्यश्नवै] सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करूं । पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्णायु भोगी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।

निम्न मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं । मंत्र इस प्रकार है ।

> यत्ते अङ्गं प्रतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेशयन्तु ॥ अथर्व० १८।२।२६

[ते यत् अङ्गं पराचैः प्रतिहितम्] तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और [यः ते प्राणः, अपानः परेतः] जो तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, [तत् ते] उस उपरोक्त तेरे अङ्ग वा प्राण या अपान को [सनीडाः पितरः] साथ रहनेवाले पितर [संगत्य] मिलकर [घासाद् घासं इव] [यहां लुप्तोपमा प्रतीत होती है] जैसे घाससे घास बांधी जाती है,उसी प्रकार[पुनः आवेशयन्तु] फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें, यानि पुनरुज्जीवित करें ।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस हालतमें शव या मृत देह कहलाता है। इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इस के सिवाय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो या टूट गया हो,तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाते हैं ऐसा ज्ञात होता है ।

सायणाचार्य ने 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार किया है- 'अद्यते भुज्यते अस्मिन्निति घासः । भोगायतनं शरीरम् । घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्यत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु ।' अर्थात् जिसमें खाया जावे उसका नाम है घास। भोगायतन शरीरका नाम घास है, क्यों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं। अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घासं यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं । मरने के बाद एक शरीर छुडाकर दूसरा शरीर देते हैं यह अभिप्राय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषय में लिखना पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिये जाएंगे । उनकी यहां उपयुक्तता अधिक होनेसे यहां पर वे नहीं दिये हैं ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्वधा आदि देनेका वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए यज्ञ अथवा पितरोंसे यज्ञ का सबन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे । इस दूसरे विभाग का शीर्षक 'पितर और यज्ञ' होगा । प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शीर्षक होंगे । इस विभाग का सामुहिकरूपसे शीर्षक देना कठिन है ।

१ पितरों के लिए नमस्कार ।

'नमः' का अर्थ अन्नमी होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही है, क्यों कि पितरोंके अन्नका खास नाम 'स्वधा' है और अतएव जहां पितरोंके लिए अन्न अभिप्रेत होता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है ।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ॥ ऋ० १०।१५।२ ॥ तथा
> यजु अ० १९।६८

यही मंत्र अथर्व में थोडेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य अपरास ईयुः।
> ये पार्थिवे रजस्यानिषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥
> अथर्व० १८।१।४६

(ये) जो कि (पूर्वासः) पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर [ईयुः] स्वर्ग को गए हैं, [पितृभ्यः अद्य इदं नमः अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो। [ये पार्थिवे रजसि आनिषत्ताः] और जो कि पितर पृथिवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि[नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमे स्थित हैं, उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो। अथर्ववेदमें विक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है । वहांपर ' ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ' का अर्थ ऐसा होगा —'अथवा जो कि पितर निश्चय से उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं । '

> नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः
> उत ये नयन्ति । उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं
> पुरो दधे स्मा अरिष्टतातये ॥
> अथर्व० ५।३०।१२

[यमाय नमः अस्तु] यमके लिये नमस्कार हो।[मृत्यवे नमः] मृत्युके लिए नमस्कार हो । [पितृभ्यः नमः] पितरों के लिए नमस्कार हो । [उत ये नयन्ति] और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders) हैं उनके लिये भी नमस्कार हो । [य उत्पारणस्य वेद] जो उत्पारण अर्थात् पार लगानेके उपाय वा मार्ग को जानता है (तं अग्निं) उस अग्नि को (अस्मै अरिष्टतातये) इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए (पुरो दधे) आगे रखता हूं अर्थात् उस ऐसी अग्निको सदा मैं अपने सामने धारण करता हूं ।

> यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
> अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥
> अथर्व० १४।२।२०

(यदा पूर्वं इयं वधूः गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्) जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि की पूजा करे [अध] तब उसके बाद (नारि) हे नारी ! तू [सरस्वत्यै पितृभ्यः च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुरु] नमस्कार कर।

इस प्रकार हमनें देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है।

२ पितरोंके लिए स्वधा ।

> अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितं
> सम्मार्ज्मि नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
> सुयमे मे भूयास्तम् ॥ यजु० अ० २।७ ॥

[वाजजित् अग्ने] हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि ! [वाजं सरिष्यन्तं त्वा] अन्नके प्रति जाती हुई तुझको (सं मार्ज्मि) शुद्ध करता हूं । [देवेभ्यः नमः] देवोंके लिये नमस्कार हो । तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो । [मे] मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हों । अथवा नमः और स्वधा, मुझे नियममें रखनेवाले हों ।

यहांपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधाका निर्देश है । 'वाजं सरिष्यन्तं त्वां संमार्ज्मि' से पता चलता है कि अन्न पकानेके लिए शुद्ध अग्निका ही प्रयोग करना चाहिये। अशुद्ध वह्नि अन्न पकानेके लिए अनुपयुक्त है।

> पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपिता-
> महेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन्
> पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः ॥
> पितरः शुन्धध्वम् यजु० अ० १९।३६।५

[स्वधायिभ्यः पितृभ्यः] स्वधा प्राप्त करना जिनका शील [स्वभाव] है ऐसे पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा और नमस्कार हो । [स्वधायिभ्यः पितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले पितामहोंके लिये स्वधा और नमस्कार हो ।

[स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। [पितरः] हे पितृ गणो! [अक्षन्] उस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरों! [अममिदन्त] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। [पितरः] हे पितरो उस स्वधाको खाकर [अतितृपन्त] अत्यन्त तृप्त होओ। [पितरः शुन्धध्वम्] हे पितरों शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
यजु० अ. १९।४५

[यमराज्ये] यमके राज्यमें [ये पितरः समानाः समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्प-वाले हैं, [तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः] उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पतां] देवोंमें समर्थ होवे।

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्यहं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा
समिमान्त्सृजामि॥ अथर्व० १२।२।३२

मैं [एतौ] इन दोनोंको [हविषा] हविद्वारा [व्याकरोमि] प्रसिद्ध करता हूं। [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [ब्रह्मणा विकल्पयामि] ब्रह्मद्वारा विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूं। [पितृभ्यः स्वधां अजरां कृणोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हूं। [इमान् दीर्घेण आयुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संसृजामि] संयुक्त करता हूं अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूं। इस मंत्रमें पितरों के लिये अक्षय्य स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥
अथर्व० १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देनेसे और [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करनेसे तथा [दानेन] दान करनेसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेडं न गच्छति] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता। यहांपर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिये स्वधा न देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करती है।

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७५॥

हे [प्रततामह] प्रततामह ! [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय ब्रा० का प्रमाण है-'एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षर द्व्यक्षरां ततेति तातेति। तथैवैतत् ततवस्या वाचा प्रतिपद्यते।' इति ऐ० ब्रा० ११३।६॥ आश्वलायनने भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है— 'नामान्यविद्वाँस्तत पितामहप्रपितामहेति' आश्व० २।६॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥
अथर्व० १८।४।७६

[ततामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे। [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे।

एतत् ते तत स्वधा ॥ अथर्व० १८।४।७७ ॥

हे [तत] पिता! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे। इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥
अथर्व० १८।४।८५॥

हे [पितरः] पितरो [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु
पितृषु स्वधावत् ॥ अथर्व० ७।४१।२

(नृचक्षाः) मनुष्योंका देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवगुणोंसे युक्त,(सुपर्णः) उत्तम गतिवाला, (सहस्रपाद्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) सैकडोंका कारण यानि सैकडोंका उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अन्न,बल, आयुके

देनेवाला जो [श्येनः] श्येन है [सः] वह [नः] हमें [यत् परामृतं वसु] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [नियच्छात्] वापस दे और वह धन [अस्माकं पितृषु स्वधावत्] हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस धनसे पितर स्वावलंबी बनें, स्वाश्रयी होवें। यहांपर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम थोडासा स्वधापर प्रकाश डालने की कोशीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

> सोदक्रामत् सा पितॄनगच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ अथर्व० ८।१३।५॥
> तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८।१३।८

[सा] वह विराट् [उत् अक्रामत्] ऊपरको उछली। [सा] वह [पितॄन् अगच्छत्] पितरोंके पास गई। [तां उसे पितरः उप आह्वयन्त] पितरोंने अपने पास बुलाया कि [स्वधे] हे स्वधा! [एहि इति] तू हमारे पास आ। [पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति] पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं। [यः एवं वेद] जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी [उपजीवनीयः भवति] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता है।

इन मंत्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं, अतः पितरोंको स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकेगा।

४ जलद्वारा पितृतर्पण।

हिंदू लोग मृत पितरोंका जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार संभवतः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार हैं—

> ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
> स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ यजु० अ० २।मं. ३४

इस मंत्रका देवता ' आपः ' अर्थात् जल है। [ऊर्जं] बलको, [अमृतं] अमृतको, [घृतं] घीको, [पयः] दूधको, [कीलालं] अन्नको तथा [परिस्रुतं] फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको [वहन्ती] वहन करते हुए [आपः] हे जलो! तुम [स्वधा स्थ] स्वधा होवो। अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और [मे पितॄन् तर्पयत] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है—

> ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
> तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥
> अथर्व० १८।३।७२

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [तेभ्यः] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [शतधारा व्युन्दती] सैंकडों धाराओंवाली उमडती हुई[घृतस्य कुल्या]जलकी कुल्या क्षुद्र नदी [एतु] प्राप्त होवे। यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्रभी स्पष्ट है। कुल्याका अर्थ निघण्टुमें ' कृत्रिमा सरित् ' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्रका मालूम पडता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

> पुत्रं पौत्रमभि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः। स्वधां पितृभ्यः अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥
> अथर्व० १८।४।३९

[पुत्रं पौत्रं अभि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूर्णतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जल हैं। [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए[देवीः आपः]ये दिव्यजल[उभयान्] दोनों पुत्र पौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पण का उल्लेख है।

हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर है ।

किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह इससे नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए ।

> यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
> संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥
> अथर्व० ११।१।१॥

[यत् यज्ञे पितृभ्यः ददतः ते नाम जगृहुः] यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो [सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्] उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे–कहनेसे किए गये पापसे [इमाः औषधीः त्वा मुञ्चन्तु] ये औषधियां तुझे छुडाएं । इस मंत्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का उल्लेख है ।

५ पितरोंका भाग ।

> पितृणां भागःस्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
> अथर्व० १०।५।१३

इस मंत्रका ' आपः ' देवता है । हे जलो ! तुम [पितृणां भागः स्थ] पितरोंका भाग–अंश हो । [देवीः आपः] हे दिव्य जलो ! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका वीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दो । [अस्मै लोकाय] इस लोकके लिए, [प्रजापतेः धाम्ना वः सादये] प्रजापतिके तेजसे तुम्हें बिठलाता हूं स्थित करता हूं । इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग–अंश बतलाया है ।

> त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम् । अंशान् जानीध्वं विभजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ अथर्व० ११।१।५॥

[वः देवानां पितृणां मर्त्यानां] तुम देवों, पितरों व मनुष्योंका [यः त्रेधा भागः] जो तीन प्रकारका भाग [पुरा निहितः] पहिलेसे रखा है, उसमेंसे अपने अपने [अंशान्] अंशोंको भागोंका [जानीध्वं] जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व देवोंका जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे अपने अपने भागको जानते हुए लो । [तान् विभजामि] उन भागोंको मैं बांटता हूं । [वः देवानां यः सः इमां] तुम देवोंका जो अंश है वह इस ब्रह्मौदन पाचक पत्नीको [पारयाति] पार लगावे अर्थात् जिस कार्यका इसने प्रारंभ किया है उसमें यह पार हो जावे । इस मंत्रमें देव, मनुष्य व पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है ।

६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना ।

> यत्र शूरासस्तन्वो वितन्वते प्रिया शर्म पितृणाम् ।
> अध स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिरचित्तं यावय द्वेषः ॥
> ऋ० ६।४६।१२

[यत्र शूरासः तन्वः] जहांपर शूरवीर अर्थात् शूरवीर गण शरीर [पितृणां प्रिया शर्म वितन्वते] पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहांपर [तन्वे तने च] अपने शरीरके लिये व हमारी संततीके लिये [अचित्तं छर्दिः यच्छ स्म] शत्रुओंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु हमारा व ह री संतानका विनाश न कर सकें।[द्वेषः]द्वेष करनेवालोंको भाव रखनेवालोंको [यावय] दूर कर । हम सब मित्रतापूर्वक शत्रुरहित हुए हुए रहें । शर्मका अर्थ निघण्टुमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है ।

शर्म = गृहं । निघण्टु ३।४॥
शर्म = सुखं । निघण्टु ३।६॥

'पितृणां प्रिया शर्म' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशसे है अर्थात् जहां पर वंशपरंपरासे पितृगण निवास करते चले आ रहे हैं हम मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है । 'छर्दिः गृह ।' निघण्टु ३।४॥ ' अचित्तं छर्दिः ' से यह दर्शाया है कि गुप्त रूपसे भी शत्रु हमारे घरमें न रहने चाहिए, अन्यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा ।

पितर और यज्ञ ।

इस विभागमें प्रायः वे मंत्र दिए जायंगे, जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जाने व हवि खाने आदि का वर्णन होगा । इस विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञादि करने चाहिए, उन्हें हवि देना चाहिए, और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते हैं तथा अन्य कष्टोंके दूर करनेमें सहायक होते हैं ।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
> त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
> ऋ. १०।१५।५ ॥ तथा यजुः अ० १९।५७॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वहां प्रारंभमें थोडासा पाठभेद है। 'उपहूताः पितरः'के स्थानपर'उपहूता नः पितरः'है। केवल'नः' और अधिक है शेष समान है। देखो अथर्व० १८।३।४५॥

[प्रियेषु बर्हिष्येषु निधिषु] प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधियोंमें [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले [पितरः] जो पितर [उपहूताः] बुलाए गए हैं [ते आगमन्तु] वे पितर आवें। [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [अभिश्रुवन्तु] हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और [अधि ब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें, तथा ते अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें।

'बर्हिष्य'—बर्हिष् नाम है यज्ञका; उसमें होनेवाला बर्हिष्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त ' सोम्यासः ' पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यास्काचार्यने निरुक्तमें सोम्यासः का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणसे भी यही अर्थ होता है, क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है।

निधिका अर्थ निरुक्ताचार्य यास्कने अपने निरुक्त की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है-

निधिः शेवधिरिति। शेवधिका अर्थ है सुखका भण्डार। निरु० अ० २। पा० १। खं. ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ऋ १०।१५।६ तथा
> यजुः अ० १९।६२

यह मंत्र अथर्व वेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ आया है-

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ अथर्व. १८।१।५२॥

(विश्वे) सब तुम पितरो! (जानु आच्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाई ओर बैठ कर (इमं यज्ञं) इस यज्ञका (अभिगृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो! (यत् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अपराध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं। (केन चित्) ऐसे किसी भि अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें मत मारो अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र भूलका पात्र होता है, अतः यदि अपराध हो भी जाए, तो भी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेककर ऐसा किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। अथैनं पितरः। प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदं स्तानब्रवीत्'... इत्यादि॥ शतपथ २।४।२।२॥ शतपथके इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि दांया घुटना टेककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

> परा यात पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पूर्याणैः। अधा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ अथर्व० १८।४।६३

(सोम्यासः पितरः) हे सोम संपादक पितरों! (गंभीरैः पूर्याणैः पथिभिः) गंभीर पूर्याण-मार्गोंद्वारा (परायात) वापस चले जाओ। जहांसे आए थे वहां पर लौट जाओ। (अथ पुनः) और फिर (सुप्रजसः सुवीराः) हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरो! (मासि) मासके अन्तमें यानि महीने महीनेके बाद (नः गृहान्) हमारे घरोंमें (हविः अत्तुं) हवि के खानेके लिए (आयात) आओ।

' पूर्याण-पुरं यातीति पूर्याणः।' नगरको जानेवाले रस्तेका नाम पूर्याण है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देशान्तरमें स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका भाव है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥
> ऋ १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमें भी थोडेसे पाठभेदसे आया है। देखो—यजु. १९।५९। तथा अथर्व १८।३।४४ अर्थ इस प्रकार है-

(अग्निष्वात्ताः सुप्रणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व उत्तम नेता पितरो! (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ। (सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ। (अथ) और (बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त) यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलानेका व उनसे वीरता पूर्ण धन मांगनेका वर्णन है।

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः॥

अथर्व. १८।४।३६

[शतधारं सहस्रधारं उत्सं] सैकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकडों धाराओंसे युक्त है ऐसे, और जो [सलिलस्य पृष्ठे व्यचमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ऊर्जं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनपस्फुरन्तं] कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधाओंके साथ [उपासते] सेवन करते हैं।

यहांपर हवि शब्दका अध्याहार पूर्व मंत्रसे करना पडता है क्योंकि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणोंका कोई भी विशेष्य नहीं है।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है। यहां पर भी पूर्व मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है।

पितरोंका यज्ञमें धनदान।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात॥

ऋ. १०।१५।७॥
यजु. अ. १९।६३॥ तथा अथर्व० १८।३।४३॥

[अरुणीनां उपस्थे] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [आसीनासः] बैठे हुए पितरो! [दाशुषे मर्त्याय] दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस दानी मनुष्यके लिए [रयिं धत्त] धनको दो। [तस्य] और उस मनुष्यके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ते] उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम [इह] इस यज्ञमें [ऊर्जं] अन्नको धारण करो।

परायात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥

अथर्व० १८।३।१४॥

[पितरः] हे पितरो! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ। [च] और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः वः मधुना समक्तः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे सिंचित हुआ है। [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनोंको [दत्तो] दो। [भद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति समृद्धिसे [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो। मधुका अर्थ है मधुरसपूर्ण आज्य। देखो. ऐ. ब्रा. २।२। 'एतद् वै मधु दैव्यं यद् आज्यम्।'

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्। आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नियच्छात्॥

अथर्व० १८।४।४०

[आपः] हे आप! तुम [अग्निं पितॄन् उपप्रहिणुत] अग्नि को पितरों के पास भेजो। [मे पितरः] मेरे पितृगण [इमं यज्ञं जुषन्ताम्] इस यज्ञका सेवन करें। [ये] जो पितर [आसीनां ऊर्जं उपसचन्ते] उपस्थित अर्थात् हमारे से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ते] वे पितर [नः] हमें सर्ववीरं रयिं] सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन-संपत्ति को [नियच्छात्] निरन्तर देते रहें।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंसे कहा गया है कि वे अग्निको पितरों के पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि पितरों को पहुंच सके।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थीको धन देते हैं। इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है। पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, वहांपर उन्हें हवि दी जाती है, जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते हैं। यह बात अथर्व.१८।४।४० से स्पष्ट होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई हवि पितरोंको पहुंचती है। इसलिये जिसको सर्ववीरोपेत धन सम्प्राप्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंको हवि देनी चाहिये। इन उपरोक्त बातोंका हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर सकते हैं।

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः॥

अथर्व. १८।२।२९.

[इह] इस यज्ञमें [नः] हमारे [स्वाः पितरः] ज्ञातिके पितृगण [स्योनं कृण्वन्तः] सुख उत्पन्न करते हुए [सं विशन्तु] प्रविष्ट होवें। और [आयुः प्रतिरन्त] आयुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलेमें [नक्षमाणाः] गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम [ज्योक् पुरूचीः शरदः] चिरन्तर बहुत से वर्षोंतक [जीवन्तः] जीवन धारण करते हुए [तेभ्यः] उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी [हविषा] हविद्वारा [शकेम] परिचर्याके लिये समर्थ बने रहें।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है। निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इसमें पितरोंके लिये मांस व वपाके हवनका विधान मिलता है।

> वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् परांके। मेदसः कुल्या उपतान्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्तां स्वाहा॥ यजु: अ० ३५।२०

(जातवेदः) हे अग्नि ! (पितृभ्यः वपां वह) पितरोंके लिये वपाका वहन कर, (यत्र) जहां (परांके) दूरपर (निहितान्) स्थित (एतान् वेत्थ) इन पितरोंको तू जानता है। (मेदसः कुल्याः तान् उपस्रवन्तु) चरबीकी छोटी छोटी नदियां उनको प्राप्त होवें और (एषां सत्याः आशिषः) उनके सत्य आशीर्वाद (सं नमन्ताम्) हमें प्राप्त होवें। (स्वाहा) उपरोक्त कथन सत्य है।

यहांपर अग्निको पितरोंके लिये चरबीकी नहरें पहुंचानेके लिये कहा गया है। निम्न मंत्रमें पितरोंके लिये मांसवाले चरुके देनेका विधान है-

> अपूपवान् मांसवाँश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥
>
> अथर्व. १८।४।२०॥

अपूपों व मांसवाला चरु यहां वेदी पर आवे। (लोककृतः पथिकृतः) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको (यजामहे) हम पूजते हैं। (ये) जो कि तुम (इह) यहां (देवानां हुतभागाः) देवोंमें दिये हुए भागका लेनेवाले हो।

वेदमें मांस शब्द मांसके लिये आता है। यास्काचार्यने इसके जो निर्वचन किये हैं, वे इसी बातका सिद्ध कर रहे हैं। साथही जो उन्होंने मंत्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें बकरीके मांस खानेका निषेध है। यास्काचार्यने मांसके निर्वचनमें निम्न किये हैं- देखो निरुक्त- ४।१।३।३

(१) मांसं माननं- (मा+अननं) अर्थात् मांसभक्षणसे दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

(२) मानसं-मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते है।

(३) मनोऽस्मिन्सीदति-मांस खानेमें मन जाता है। मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतिमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है। वह इस प्रकार है—

> मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्
> एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५।५५॥

अर्थात् जिस प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूं, पर. जन्ममें वह मुझे खाएगा। यह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान् लोकोंका कथन है।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है। वह मंत्र इस प्रकार है—

> यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते। ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ अथर्व० १८।४।४२॥

(ते) तेरे लिये (यं मन्थं) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे बिलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदिको और (यं ओदनं) जिस भातको (यत् मांसं) जिस मांसको (ते) तेरे लिये (निपृणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतश्चुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिये होवें।

इस मंत्रमें मांसका विधान है। प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है।

> अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।
> अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिष
>
> यजु अ० २।३१

(पितरः) हे पितरो ! (अत्र) इस यज्ञमें [मादयध्वम्] प्रसन्न होओ और (यथाभागं) अपने अपने भागके अनुसार हवि लेते हुए [आवृषायध्वम्] वृष को तरह आचरण करो अर्थात् मस्त होकर खाओ। जिस प्रकार कि [अमी पितरः] वे पितर [यथाभागं] अपने अपने भागके अनुसार हवि लेकर [मदन्त] प्रसन्न हुए और [आवृषायिष] उन्होंने उसे खाया।

शतपथ ब्राह्मणमें 'यथाभागमावृषायध्वं' का अर्थ किया है 'यथाभागं अश्नीतेति' श०२।४।२।२० ॥ पितरों के लिए

यज्ञ में खास हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं। यह इससे सूचित होता है। अतः यज्ञमें पितरोंके लिए भाग रखना चाहिए।

> यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत॥ ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥ अथर्व० १८।३।१९

[पितरः] हे पितरो! [वः यत् मुद्रं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सौम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा [सचध्वं] हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो। [हि] निश्चयसे तुम [स्वयशसः] अपने यशसे ही यशस्वी [भूत] होते हो। [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निरालसी, [कवयः] क्रान्तदर्शी तथा [सुविदत्राः] उत्तम धनवाले, [हूयमानाः] बुलाए गये [ते] वे तुम [विदथे] यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनायें [आशृणोत] आकर सुनो।

अबतकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और वहांपर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है। प्रसन्न हुए हुए वे आयु, धनादि की इच्छा पूर्ति करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञ साधनभूत है।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान।

> सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत।
> सा मासि समभवत्॥ अथर्व० ८।१२।३॥
> तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददाति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद॥ अथर्व० ८।१२।४

(सा) वह विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपरको उछली और (सा) वह (पितॄन् अगच्छत्) पितरोंके पास गई। (तां) उसको (पितरः अघ्नत) पितरोंने प्राप्त किया। फिर (सा) वह विराट् (मासि) मासमें (संभवत्) संयुक्त हुई॥ अथर्व० ८।१२।३॥ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए महीनेमें (ददाति) देते है। (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको महीने में दिया जाता है ऐसा जानता है, वह (पितृयाणं पन्थां) पितृयाण मार्गको [प्रजानाति] अच्छी प्रकार जानता है।

वहांपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निकलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनके लिए कुछ देना चाहिए।

पितरोंका आसन।

> येऽस्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ अथर्व० १८।४।६८॥

[ये] जो [अस्माकं पितरः] हमारे पितर हैं, [तेषां] उनका (बर्हिः) आसन [असि] है।

कुशाघासका नाम बर्हि है। बर्हिको संबोधन करके कहा गया है। यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है।

अग्नि और पितर।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंको दर्शायेंगे। पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंको ध्यानपूर्वक पढें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर गौर करें।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना।

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिः अर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिः घर्मसद्भिः॥ ऋ० १०।१५।९

(देवत्रा जेहमाना) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] पूजनीय स्तुतियोंसे [तातृषुः] अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे [सुविदत्रेभिः, सत्यैः, कव्यैः, घर्मसद्भिः पितृभिः] उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध, सत्यवचनी, कवि अथवा कव्य नामवाले पितरोंके लिए दिए गये हव्य का। अतः कव्योंके लेनेवाले, यज्ञोंमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि तू [आयाहि] आ।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ऋ१०।१५।१०

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः सन्ति] इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढते हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन [घर्मसद्भिः पितृभिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आयाहि) आ। ऊपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एकही बात कर रहे हैं। इन दोनोंमें अग्निको, पितरोंको अपने साथ लानेके लिए

कहा गया है। पितरोंको यज्ञादिमें साथ लाना अग्निका कार्य है, यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। वह अग्नि कौन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठक कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविसे विशेष संबन्ध है, यह आगे आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। उन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए ही अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा कहना है।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
ऋ० १०।१६।१२ तथा यजुः अ० १९।७०॥
तथा अथर्व० १८।१।५६॥

हे अग्ने! (उशन्तः) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमहि) तेरी स्थापना करते हैं। और (उशन्तः समिधीमहि) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (उशन्) कामना करती हुई हे अग्नि तू (हविषे अत्तवे) हविके खानेके लिए (उशतः पितॄन्) कामना करते हुए पितरोंको (आ वह) ले आ। यहांपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।१।५७॥

हे अग्नि! (द्युमन्तः) दीप्तिमान होते हुए हम (त्वा इधीमहि) तुझे प्रकाशित करें। (द्युमन्तः) और दीप्तिमान हम (समिधीमहि) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। (द्युमान्) दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमतः पितॄन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ। उपरोक्त मंत्रके भाव का ही यह मंत्र भी समर्थन कर रहा है।

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
अथर्व० १८।२।३४॥

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये परोप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो पितर अग्निसे जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्धिताः) जमीनके ऊपर रखे गए हैं, (तान् सर्वान्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अत्तवे) हवि भक्षणार्थ (आवह) ले आ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अंत्येष्टि संस्कार होता है। (१) गाडना, (२) बहाना, (३) जलाना, (४) हवामें खुला छोडना। यहां पर इन चारों संस्कारोंसे संस्कृत पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको बुलानेके लिए कहा गया है। इस मंत्र पर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अंत्येष्टि नामक' शीर्षकके नीचे डालेंगे।

अग्निका पितरोंको हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंको हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि वह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहां उन्हें देती है।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ऋ० १०। १५। १२ तथा
अथर्व० १८। ३। ४२॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ यजुः अ० १९।६६

(जातवेदः अग्ने!) हे जातवेदस् अग्नि! (ईळितः त्वं) स्तुति किया गया तू (हव्यानि) हव्योंको (सुरभीणि कृत्वी) सुगन्धित बनाकर (अवाट्) वहन कर। और फिर (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों को दे। (ते) वे पितर (प्रयता हवींषि) दी गई हवियोंको (स्वधया अक्षन्) स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [अद्धि] उन हवियोंको खा।

इस मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हवियोंको ले जाकर पितरोंके दे, ताकि वे उन्हें खावे। यजुर्वेद में स्थित उपरोक्त मंत्रमें अग्निका विशेषण 'कव्यवाहन' आया हुआ है। पितरोंके लिए दी गई हवि का नाम कव्य है। और क्यों कि अग्नि इस कव्यको पितरोंको पहुंचाती है अतः उसे कव्य वाहनके नामसे पुकारा गया है। हम आगे भी देखेंगे कि पितरोंके प्रति हविको ले जानेवाली अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है।

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो

नृभिः । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ अथर्व० १८ । ४ । ६५

(सायं प्राह्ने) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरों से वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः दूतः अभूत्) भेजा हुआ दूत है । क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवियोंको [पितृभ्यः प्रादाः] पितरोंके लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, [स्वधया अक्षन्] स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावें । [त्वं अद्धि] तू भी उन हवियोंको खा । इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों को ले जाकर पितरोंको पहुंचाती है। हमारे से दी गई हवियोंको पितरों तक पहुंचानेके लिए अग्नि माध्यम है, यह यहां पर स्पष्ट होता है ।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरोंके पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लानेके लिए भेजते हैं ।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ।
ऋ० १०। १६ । ११ ॥ तथा यजुः अ० १९ । ६५

[यः अग्निः] जो अग्नि [कव्यवाहनः] कव्य का अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो [ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्] यज्ञ वा सत्य से बढनेवाले पितरोंका यजन करती है वह अग्नि [देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति] देवों और पितरों के लिये हव्यों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूं ।

पूर्व मंत्रमें हम अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवियोंको ले जाती है। हवि ले जानेपर पितरोंको वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूं इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है । यहांपर अग्निको कव्यवाहन कहा गया है । देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है । निम्न मंत्रमें भी अग्निको कव्यवाहनके नामसे कहा गया है ।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ अथर्व. १८।४।७१

(कव्यवाहनाय अग्नये) कव्यका वहन करनेवाली अग्नि के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ।

पितरोंके लिए दी जाती हविका नाम कव्य है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है ।

अग्निका दूरगत पितरोंको जानना ।

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् । स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥
अथर्व० १८।४।४१

(अमर्त्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं । और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां लुप्तोपमा है) (परावतो गतान् पितॄन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है ।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आंखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है । इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकती है ।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म । त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३

(ये च इह पितरः)जो पितर यहांपर हैं,(ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यान् च विद्मः) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यां च न प्र विद्म) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (त्वं वेत्थ) तू जानती है । (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान् अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंको जाननेवाला बताया गया है । निम्न मंत्रमें अग्निका पितरोंको पितृलोकमें पहुंचानेका निर्देश है ।

यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः । तद् व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् । अथर्व० १८।४।६४

हे पितरो ! (वः यत् एकं अङ्गं) तुम्हारे जिस अङ्गको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहात्) छोड दिया है (वः तत् एतत्) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं (पुनः) फिर (आप्याययामि) पूर्ण करता हूं । (साङ्गाः पितरः) अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरनेके अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अवयवको यहांपर छोड जाती है ।

इसके सिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि अग्नि पितृयाण मार्गको जानती है । यहां हमें पता चलता है कि अग्नि पितरोंको जानती है, पितृलोक को जानती है । इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुंचाती है और वहांसे उनको हमारे यज्ञोंमें भी अपने साथ ले आती है । हमने पितृयाण में यह भी देखा है कि पितर सूर्यकिरणोंके साथ जाते हैं । इन बातोंसे ऐसा पता चलता है कि पृथिवी लोक की हदतक पार्थिव अग्नि पितरोंको ले जाती है । तथा द्युलोकमें वही अग्नि सूर्यरूपमें परिणत होकर ले जाती है । इस प्रकार द्युलोकमें जानेके पितृयाण मार्गका कुछ पता किया जा सकता है। अबतकके विवेचनसे इतना हमें जरूर बतलाना है कि पितरोंको अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले जाती है और वहांसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि खानेके लिए ले भी आती है ।

अग्निका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुंचाना ।

> पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
> स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥ ऋ० १०।१७।३
>
> तथा अथर्व० १८ । २ । ५४

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्राका रक्षक पूषा, (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृष्ट मार्ग की ओर ले जावे । (सः अग्निः) वह अग्नि (त्वा) तुझे (एतेभ्यः पितृभ्य) इन पितरोंके लिए वा (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धनवाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है । (निरु० ७ । ३ । ९) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषकी आत्माको अपनी रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है । पितृयाणमें जो मंत्र(ऋ० १।१०९।७)हमने दिया है उसीको यह मंत्र पुष्टि करता हुआ प्रतीत होता है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार आया है ।

> मैनमग्ने विदहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥
>
> अथर्व० १८।२।४

(अग्ने) हे अग्नि ! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो । (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर । (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी चमडीको मत फेंक । (मा शरीरं) और इस प्रेतके शरीर कोभी मत फेंक अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर पूर्णतया जला दे, कोई भी भाग दहनक्रियासे अवशिष्ट न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इसको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचा दे ।

यह मंत्र यद्यपि अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है तथापि अग्निका पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शानेके लिए यहां दिया गया है । इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जबतक देह संपूर्ण तया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके आसपास ही मंडराती रहती है । इस परिणामानुसार तो आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित स्थानपर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम प्रतीत होता है ।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः।
यदागच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
ऋ. १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं करसि) जब इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए सौंपदे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत शरीर) (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

प्रेत देवोंके वश किस प्रकार होता है वह इसी मंत्रके बाद के मंत्र अर्थात् ऋ. १०।१६।३ ॥ में दर्शाया है।

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ. १०।१६।३

हे प्रेत! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्यको जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे। और हे प्रेत! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्म फलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (द्यां च पृथिवीं च गच्छ) द्यौ व पृथिवीको जा, अर्थात् जो द्युका अंश तेरे में है वह द्युमें जावे व पृथिवीका है वह पृथिवीमें जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलांश जावे (यदि तत्र ते हितं) यदि वहां का कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो; और इसी प्रकार (ओषधीषु शरीरैः प्रतितिष्ठा) ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

यह ऋग्वेदके १० वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त अंत्येष्टिसंस्कार विषयक है, अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे। यहां पर हमें इतना ही देखना था, कि अग्नि प्रेतको क्या करती है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है।

मरनेपर पितृलोकमें जाना।

जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः। सु गार्हपत्यो वितपन्नराति मुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ अथर्व० १२।२।४५॥

(अग्ने) हे अग्नि! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवितोंकी आयुको बढा और जब (ये मृताः) वे मर जावें तब (पितृणां लोकं अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु वृद्धि करता रह और जब मरें तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अरातिं वितपन्) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ (सुगार्हपत्यः) उत्तम गार्हपत्य तू (अस्मै) इस जीवके लिए (श्रेयसीं उषां उषां) कल्याणकारिणी प्रत्येक उषाको (धेहि) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उषा कल्याण करनेवाली हो। इस मंत्रमें अग्निसे उषा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उषा तो सूर्य देता है अतः यहां अग्नि सूर्यके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है। इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना करनेवाले मंत्र हैं तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं, अतः अग्निसे यह सूर्यका ग्रहण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृतको पितृलोकमें ले जवे। पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्त्यलोकमें जीवात्माको लौटा लाती है, यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है-

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋ. १०। १६। ५ ॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठ भेदके साथ निम्न प्रकार आया है-

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्। आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ . अथर्व. १८। २। १० ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यः) जो (ते आहुतः) तेरे में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता है उसको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अवसृज) यहां छोड, जिससे कि (शेषः) वह पुनर्जन्म लिया हुआ अपत्य (उपयातु) कुटुंबियों को प्राप्त करे तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (तन्वा संगच्छतां) वह शरीरसे युक्त होवे। शेष नाम संतान का है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरु० ३। २ ॥ अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है।

हे अग्ने ! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा। वहां शेष अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर आए। वह तेजयुक्त शरीरको प्राप्त होवे।

इस अर्थके अनुसार इस मंत्रका भी विनियोग अंत्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है। मंत्रके पूर्वार्धसे मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्ध से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है।

क्रव्यात् अग्नि।

जिस अग्निका अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। क्रव्यात् अग्निका अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि। अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इसका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इसके सिवाय कइयोंका ऐसा भी मत है कि अन्यत्र पितृयज्ञादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य' इस शीर्षकके नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वपा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है। श्राद्ध करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर माश (उडद) देते हैं। परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही वपा और मांसके होमने की कल्पना वेदमें की गई हैं, क्यों कि मृत शरीरमें वपा और मांस तथा मेद होते हैं। अस्तु, अब हम देखते हैं कि, क्रव्यात् अग्निके क्या कार्य हैं व पितरोंसे उसका क्या विशेष संबन्ध है।

> क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञोगच्छतु रिप्रवाहः।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥
> ऋ० १०।१६।९।॥ यजुः अ० ३५।१९॥
> अथर्व० १२।२।८॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांस भक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पापका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है उन प्रदेशोंको चली जावे। (इह) यहां पर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्यों का हवन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्नि को यमराज के देशमें भेजनेका निर्देश है और साथ ही क्रव्यात् अग्नि देवोंके हव्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रव्यात् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है जहां कि पितर रहते हैं।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥
> ऋ० १०।१६।१०॥

यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे। अ० १२।२।७॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देख कर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घर में घुस गई है। (तं देवं) उस दीप्यमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं। (सः) वह (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें(घर्म) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त होवे। यहींपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए काम आती है। इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृयज्ञ में मांसकी आहुतियां हैं जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है। इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस व वपाका होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि क्रव्यात् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है। क्रव्यात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है कि पितृयज्ञको छोडकर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोगही होता है। बाद पितृयज्ञ वा पितरोंके अन्य कार्योंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए क्रव्यात् अग्निका प्रयोग होता है।

> क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्। नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु॥ अथर्व० १२।२।९

(इषितः) प्रेरणा किया गया मैं (जनान् मृत्युं दहन्तं) मनुष्योंको मृत्युसे दढ करती हुई अर्थात् मनुष्योंमें मृत्युसंख्याको बढाती हुई (क्रव्यादं अग्निं) क्रव्यात् अग्निको (वज्रेण) वज्रद्वारा [हरामि] दूर भगाता हूं। [विद्वान्] ज्ञानी मैं [तं गार्हपत्येन निदधामि] उस क्रव्यात् अग्निको गार्हपत्य द्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताकी मृत्यु मनुष्योंमें दढ न होने पावे। इस प्रकार क्रव्यात् अग्नि पर शासन करनेके कारण (पितृणां लोकेऽपि) पितरोंके लोकमें भी (भागः अस्तु) मेरा भाग हो।

क्रव्यात् अग्नि पर शासन करनेसे अर्थात् उसे वशमें करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो क्रव्यात् अग्निको वशमें करना चाहिए। क्रव्यात् अग्निके रहनेका स्थान मुख्यतया पितृलोक ही है ऐसा इस नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है।

> क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥
>
> अथर्व० १२।२।१०

(शशमानं उकथ्यं क्रव्यादं अग्निं) शशमान, प्रशंसाके योग्य, मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः) पितृयाणमार्गों द्वारा (प्रहिणोमि) पितृलोकमें भेजता हूं। (देवयानैः पुनः मा अत्र आगाः) देवयान मार्गों द्वारा फिर यहां वापिस लौटकर मत आ। (एधि) वहीं पर वृद्धिको प्राप्त हो। (पितृषु एव त्वं जागृहि) पितरोंमें ही तू जागती रह, अर्थात उन्हींमें तू सावधानता पूर्वक रह।

क्रव्यात् अग्निका पितरोंसे कोई विशेष संबन्ध है, अतएव उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस न आनेके लिए आदेस इस मंत्रमें दिया गया है।

शशमान-शशप्लुतगतौ से यह शब्द बना है। प्लुत गतिका अर्थ उछल उछलकर आना है। यहां पर क्रव्यात् अग्निको शशमान विशेषण दिया है। इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि क्रव्यात् अग्नि मांसको चटक चटक कर जलाती है। उस चटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उछल उछल कर जल रही है, इसी कारण संभव है इसे शशमानसे पुकारा गया है।

> अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा। प्रियं पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥
>
> अथर्व० १२।२।३४

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निसे (अपावृत्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निको छोडकर (क्रव्यादा) क्रव्यात् अग्नि के साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशाको जाओ। (आत्मने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो। (ब्रह्मभ्यः प्रियं) ब्रह्मज्ञानियोंके लिए प्रिय करो।

हमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है। और उपरोक्त मंत्रोंसे यह भी भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि क्रव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है। इन दो बातोंको लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्रको देखनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है। यहांपर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश है। इसके सिवाय यह भी हमें पता चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है, अतः पितृलोक दक्षिणमें है। क्रव्यात् अग्निके इतने विवेचनसे क्रव्यात् अग्निके कार्य क्या हैं व उसका पितरोंसे क्या संबन्ध है इत्यादि बातें पाठकोंके ध्यानमें आगई होंगी। अब अग्नि के अन्य कार्योंको दर्शानेवाले मंत्रोंको दिया जाता है। निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओंका यज्ञसे हटाना बतलाया गया है। मंत्र इस प्रकार है।

> ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥ अथर्व० १८।२।२८ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिए हुएको खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपक्षय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टाः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चरन्ति) विचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुत्रोंको तथा (निपुरः) पौत्रोंको (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओंको [अग्निः] अग्नि [अस्मात् यज्ञात्] इस यज्ञसे [प्र धमाति] दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता।

भरन्ति = हरन्ति ('हृग्रहोर्भश्छन्दसि' से ह को भ हो गया है।

इस मंत्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञातिगण जिनकी कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी संततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हवियों को जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हैं खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खाने नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले। अग्नि ज्ञाति मुख लोगोंको न लेने देगी।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

> यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या त तनूः पितृष्वाविवेश।
> पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ॥
> अथर्व० १९।३।३॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः ते महिमा) जो तेरी महिमा (देवेषु स्वर्गः) देवोंमें सुख पहुंचानेवाली है और (या ते तनूः) जो तेरा शरीर (पितृषु आविवेश) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु प्रप्रथे) मनुष्यों में फैली हुई है (तया) उससे (अस्मासु रयिं धेहि) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पति दे।

यहा पर अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इसका अभिप्राय मालूम पडता है। निम्न मंत्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें। मंत्र निम्न है—

> यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तरा विवेशामृतो मर्त्येषु।
> मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम् ॥ अथर्व० १२।२।३३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! (यः अमृतः अग्निः) जो अमरणशील अग्नि (नः मर्त्येषु हृत्सु) हम मरणशीलोंके हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (तं देवं) उस प्रकाशमान अग्निको (अहं मयि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूं— स्थापित करता हूं। (सः) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मर्त्योंसे द्वेष मत करे और (वयं मा तं) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपरोक्त मंत्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मंत्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मंत्र इस प्रकार है—

> मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३।५५।२ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (अत्र) यहांपर (देवाः मो नः सुजुहुरन्त) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और (पूर्वे पदज्ञाः पितरः मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि ! [केतुः] प्रकाशक तू [पुराण्योः सद्मनोः] पुरातन द्यावापृथिवीके [अन्तः] अन्दर सूर्यरूपसे प्रकाशित होती है [अध्याहार] और क्योंकि तू [देवानां एकं महत् असुरत्वं] देवोंका एक महान् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सूर्यके लिए यहां पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि द्यु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त ' महद्देवानां असुरत्वमेकं ' से भी यही पता चलता है। सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

> असुरत्व–असु नाम है प्राणका। ' प्राणो वा असुः ' श० ६।६।२।६ ॥ असुं प्राणं राति ददातीति असुरः प्राणदाता आत्मा। असुरस्य भावः असुरत्वम्– आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सूर्यको देवोंकी आत्मा कहा गया है। ' सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा ' । श० १४।३।२।९ ॥

जुहुरन्त– हृ प्रसह्यकरणे धातुके लङ् लकार का रूप है। ' प्रसह्यकरणे ' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्तीसे कोई काम करना।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

> होताजनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
> प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम् ॥ ऋ० २।५।१

(चेतनः) चेतनवाला व चेतना देनेवाला (पिता) पालक व रक्षक (होता) लेने व देनेवाला (अग्निः) अग्नि (पितृभ्यः ऊतये) पितरों की रक्षाके लिए (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। उस अग्निकी सहायता से (वाजिनः) बलवान् वा अन्न से युक्त हुए हुए हम (प्रयक्षं) अत्यन्त पूजनीय (जेन्यं) जयशील जीतने लायक (वसु) धनका (यमं शकेम) नियमन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् इस प्रकारके धनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें।

इस मंत्रमें अग्निकी उत्पत्तिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा बतया गया है। हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त सहायक है। उसके बिना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं। इसीको यह मंत्र प्रतिपादित कर रहा है।

वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना।

> वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम्। स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ॥ अथर्व० १८।४।३५॥

(वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि) वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि (शतधारं साहस्रं उत्सं इव) सैंकडों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैंकडों व हजारों धाराओंवाली है। (सः) वह वैश्वानर अग्नि(पिन्वमानः)उस हविसे तृप्त हुई हुई(पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति) पिताका,दादाओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है।

यहां पर अग्निको वैश्वानरके नामसे कहा गया है। वैश्वानर का अर्थ है सब नरोंको लेजानेवाला। अग्नि सब मनुष्योंको ले जाती है। अंत्येष्टिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकमें ले जाती है, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं। इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है। इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति की गई है। पितरोंके लिए जो कुछ देना हो, वहअग्नि को देना चाहिए, वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है।

(२)

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है। क्योंकि भिन्न भिन्न भाष्यकर्ताओंने इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है। तथापि वेदमंत्रोंसे इसका क्या अर्थ निकलता है यह हमें देखना है। अग्निष्वात्तका शब्दार्थ इस प्रकार है 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं। इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है— 'यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः' श० २।६।१।७ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इस विवेचनसे अग्निष्वात्त पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात्त पितर है। अब हम वेद मंत्रोंपर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है।

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६०॥

[ये] जो [अग्निष्वात्ताः] अग्निष्वात्त पितर और [ये] जो [अनग्निष्वात्ताः] अनग्निष्वात्त पितर [दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते] द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, [तेभ्यः] उन पितरों के लिए [स्वराट्] स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम [यथावशं] कामनाके अनुसार अर्थात् कर्मानुसार [एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयाति] इस प्राणों द्वारा ले जाए जानेवाले शरीरको बनाता है।

असुनीतिका अर्थ है जो प्राणोंद्वारा लेजाया जावे यानि जिसका प्राणों द्वारा संचालन होवे। यह शरीर असुनीति है क्योंकि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है। इस मंत्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन्म होता है। उपरोक्त मंत्र ठीक ऐसा का ऐसा ही ऋग्वेदमें मिलता है। वहांपर जो थोडासा परिवर्तन है वही अग्निष्वात्तके अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ ऋ. १०।१५।१४

अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। इन दोनों मंत्रों की तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात्त का अर्थ ज्ञात हो जाएगा। यजुर्वेदस्थ इस मंत्र में जहां 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः' पद हैं वहां पर ऋग्वेदमें 'अग्निदग्धाः' व 'अनग्निदग्धाः' पद हैं। शेष मंत्र सर्वथा समान हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्त का है वही अर्थ अग्निदग्ध का है। अग्निदग्ध का अर्थ स्पष्ट है कि जो अग्नि

द्वारा जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि शतपथ ब्राह्मणने भी यही अर्थ किया है जो कि वेदमंत्रों से पता चल रहा है। इस प्रकार वेद व ब्राह्मण अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि 'जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पडता है। अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होने पर निश्चय से अग्निष्वात्त पितर मृत पितरही हैं यह सिद्ध होता है और उनसे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें बुलाकार रक्षा करने, धनादि देने, वह हवि खिलानेका उल्लेख है। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिए। इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डालने के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यज्ञादि में आने, हमारी रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मंत्रोंको उद्धृत करते हैं।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ १०।१५।११

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ यजुर्वेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यजुः १९।५९ तथा अथर्व० १८।३।४४॥ अर्थ इस प्रकार है--

हे उत्तम नेता अग्निष्वात्त पितरो! इस यज्ञमें आओ। घर घरमें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हवियोंको खाओ। हमें सब प्रकारकी वीरतासे पूर्ण धनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने, हवि खिलाने तथा मांगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

> आयान्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ यजु. अ० १९।५८॥

(सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले [नः अग्निष्वात्ता पितरः] हमारे अग्निष्वात्त पितर [देवयानैः पथिभिः] देवयान मार्गों द्वारा [अस्मिन् यज्ञे आयान्तु] इस यज्ञमें आवें। [स्वधया मदन्तः] स्वधासे तृप्त होकर आनन्दित होते हुए [अधिब्रुवन्तु] हमें उपदेश करें और [ते अस्मान् अवन्तु] वे हमारी रक्षा करें।

इस मंत्रमें भी पूर्व मंत्रानुसार यज्ञमें पितरोंके आने स्वधासे तृप्त होने, उपदेश करने व हमारी रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

> अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशंसे सोमपीथं य आशुः। ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ यजुः अ० १९।६१॥

(ऋतुमंतः) ऋतुओंवाले (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्त पितरोंको (हवामहे) हम बुलाते हैं, (ये) जो कि (नाराशंसे सोमपीथं आशुः) जिस में मनुष्य प्रशंसाको पाते हैं ऐसे यज्ञमें सोमपानको करते हैं, (ते विप्रासः) वे मेधावी पितर (नः सुहवाः भवन्तु) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें उन्हें बुलानेमें कष्ट न हो, बुलाते ही वे हमारी प्रार्थना का स्वीकार कर आ जावें। (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें।

'ऋतुमतः' का अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता। आशुः 'अश-भोजने' से बना है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे सुगमतासे हमारे आमंत्रण को स्वीकार करें। निम्न मंत्र में भिन्न भिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है।

> धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणां सोमवतां, बभ्रवो धूम्रनीकाशाः पितॄणां बर्हिषदां, कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः यजुः २४।१८॥

(धूम्राः) धूएंके रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवतां पितॄणां) सोम रसपान करनेवाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (धूम्रनीकाशाः) धूएं जैसे पशु वा पदार्थ (बर्हिषदां पितॄणां) कुशा घास पर बैठनेवाले पितरों के हों। (कृष्णाः) काले तथा (बभ्रुनीकाशाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितॄणां) अग्निष्वात्त पितरोंके हों। शेष 'कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः' इस मंत्र भागका कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहां पर प्रायः समाप्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

(३)

बर्हिषद् पितर।

> आहं पितॄन्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः। बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥ यजुः १९।५६॥ अथर्व० १८।१।४५॥

(सुविदत्राद् पितॄन् अहं विष्णोः आ आविदिक्षि) उत्तम ज्ञानवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्थात् अजेय विक्रम यानि पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है। अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पित्वः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्भ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोड कर उत्पादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ।

यहां पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें बुलानेका निर्देश है।

> बर्हिषदः पितरः ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्। त आ गता वसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥ यजु. अ० १९।५५॥
> अथर्व० १८।१।५१॥

(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरो ! (ऊती) रक्षा द्वारा (अर्वाक्) हमारी ओर होओ अर्थात् हमारी रक्षा करो। [वः] तुम्हारे लिए (इमा हव्या चकृम) इन हव्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो। (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ गत) आओ। (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का शमन तथा (योः) भयोंका दूर भगाना और [अरपः] पाप रहित आचरण दो।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, रोगों का शमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है।

इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं। इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है। जिन जिन मंत्रोंसे ये विचार मिलते हैं उन मन्त्रोंको उनके मंत्रार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिये है।

प्रेत व अंत्येष्टि।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की सब क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेतसंबंधी जो प्रार्थनायें हैं उनका उल्लेख करेंगे।

(१)

प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है। जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है।

> इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
> स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥
> अथर्व० १८।४।५६

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता अबिभः] तेरे पिताने धारण किया था। इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दांये हाथको सुशोभित कर।

निर्मृड्ढि– मृज् 'शौचालङ्कारयोः' से बना है। मृज् धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है।

इस मंत्रमें दर्शाई गई क्रिया हम अभीतक कई हिंदु×जातियों में पाते हैं। मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दांये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है। सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा।

इस मंत्र पर उनका भाष्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है। इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है।

> येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
> तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥
> अथर्व० ५।१९।१४

×जैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रांत व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है। संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा। कच्छ प्रांतकी 'लुहाणा' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर एकाध सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपी हुई जमीन पर प्रेतको सुलाकर तुलसी सुवर्णादि रख देते हैं। युक्तप्रांत में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है। कोई कोई तो प्रेत के दांतोंमें सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे।

हे [ब्रह्मज्य] ब्राह्मणको सतानेवाले ! [येन मृतं स्नपयन्ति] जिससे मृत पुरुषको स्नान कराते हैं, [येन श्मश्रूणि च उन्दते] जिससे दाढीमूंछके बाल गीले करते हैं, [तं वै अपां भागं देवाः ते अधारयन्] उस जलोंके भागको अर्थात् जलको देवोंने तेरे लिए निर्धारित किया है। यहांपर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्पष्ट रूपसे निर्देश हमें मिलता है ।

३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना ।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मशानोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मंत्रमें निर्देश है—

> एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपमदूह यदिहा बिभः पुरा। इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ अथर्व० १८।२।५७

हे मृत पुरुष ! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अगन्] तुझे प्राप्त हुआ है। [यत् इह पुरा अबिभः] जिस वस्त्रको पहिले यहांपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊह] छोड दे। [यत्र] जहां [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा प्रायः बिबन्धुओंमें जो दान है, उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्तं] अर्थात् तज्जन्य फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो ।

विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाथ गरीब आदि ।

इस मंत्रमें मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्याग कर शवको नवीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनानेका उल्लेख है।

४ स्मशान भूमिकी तरफ प्रयाण ।
स्मशान का ग्रामसे बाहर होना ।

> अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः, मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार ॥ अथर्व० १८।२।२७

(जीवाः) प्राणधारी लोगोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहर कर दिया है (तं) उसको तुम लोग (इतः ग्रामात्) इस ग्रामसे (परि निर्वहत) बाहर की ओर स्मशान भूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (असून्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है। इसलिए इसके शवको ग्रामसे बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहर ले जाना चाहिए। स्मशानभूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है ।

अप पूर्वक रुध् धातुका अर्थ बाहर करना है । यहां पर मृत्युको यमका दूत बताया गया है ।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि कराकर वस्त्र बदल कर उसे स्मशान भूमिमें ले जाने की बारी आती है । हिन्दुलोग शवको, बांसोंकी शय्या बनाकर उस पर घास फूस डालकर उसे चार आदमी कंधेपर रखकर स्मशानमें ले जाते हैं । मुसलमान लोग भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं । ईसाई लोग गाडीमें शव डालकर स्मशानभूमिमें ले जाते हैं । नीचे दिए गए तीन मंत्रोंके सायण भाष्यसे शवको बैलगाडीमें ले जाना चाहिये ऐसा पता चलता है ।

> इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।
> ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥
> अथर्व० १८।२।५६

हे मृतपुरुष ! (इमौ वह्नी) वहन करनेवाले इन दो बैलोंको (ते वोढवे) तेरे वहन करनेके लिए (युनज्मि) बैलगाडीमें जोडता हूं। किस लिये ? (असुनीताय) जिसमेंसे प्राण निकल गए हैं, उस असुनीत अर्थात् गतप्राण देहके वहन करनेके लिए अथवा असुनीतका अर्थ है जोकि सुखपूर्वक न लेजाया जा सके। जिसके उठानेमें तकलीफ होती हो। (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य सादनं इति) यह यमका घर है इस प्रकार (सं अवगच्छतात्) भली भांति जान ।

> इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
> पुरो गवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ अथर्व० १८।४।४४

[इदं] यह सामने स्थित (पूर्वं) पुरातन तथा (अपरं) आजकी (नियानं) बैलगाडी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाडीसे (ते पूर्वे पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहांसे गए हैं। (अस्य) इस आजकी बैलगाडीके (अभिशाचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, (जैसा कि बैलगाडीमें बैल दोनों ओर पार्श्वोंमें जुते हुए होते हैं) [पुरोगवाः] जिसके आगमें

अर्थात् धुरामें जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वा) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृतोंके लोकमें (वहान्ति) प्राप्त करावें।

नियानं = नीचीनं पराङ्मुखं यान्ति अनेन प्रेता इति नियानं शकटम्। स्मशानमें पहुंचनेपर बैलोंका गाडीसे खोलना–

> आ प्रच्यवेथामपतन्मृजेथां यद् वामभिभा
> अत्रोचुः। अस्मादेतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः
> पितृष्विह भोजनौ मम॥
>
> अथर्व० १८।४।४९

हे प्रेतवाहक बैलो! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाडीसे वियुक्त होओ। (तत्) उस (वक्ष्यमाण) जो आगे कहा जायगा निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होनेको कहा गया है, कहते हैं-- (अभिभाः) दोष देनेवाले पुरुषोंने (वां) तुम दोनोंको 'पुंगवौ केल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊहवन्तौ' इत्यादि निन्दाक, (यत् ऊचुः) जो वाक्य कहा है, उससे शुद्ध होओ। (अघ्न्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणभूत गाडी से [एतं] जो छूट आना है (तत्) वह [वशीयः] श्रेष्ठ होवे। और तब [इह] इस पितृमेध में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि को देते हुए वा हविको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाडी द्वारा प्रेतका स्मशानमें ले जाना वैदिक प्रथा प्रतीत होती है।

५ स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना।

अब स्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको जलाना वा गाडना है, वहां से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रोंमें उल्लेख है। तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करनी चाहिए।

> अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः। अस्य
> लोकः सुतावतः। द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं
> यमो ददात्ववसानमस्मै॥ यजुः अ० ३५।१॥

[देवपीयवः] देवोंकी हिंसा करनेवाले [असुम्नाः] दुःख देनेवाले [पणयः] दुष्ट व्यवहार करनेवाले लोक [इतः] इस स्थानसे जहां कि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, [अपयन्तु] दूर हट जावें। क्योंकि [लोकः] यह स्थान [अस्य सुतावतः] इस सोमाभिषव करनेवाले याज्ञिक का है। [अस्मै] इसके लिये [यमः] यम [द्युभिः अहोभिः] प्रकाशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] देता है। अर्थात् इस जीवनमें अब उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यमने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होनी हैं। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोगो! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हमने इस प्रेतका अंत्येष्टि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें तुम विघ्न न डाल सको। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है। मंत्र इस प्रकार है–

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक-
> मक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसान-
> मस्मै॥ ऋ० १०।१४।९॥
>
> अथर्व० १८।१।५५॥

हे दुष्टो! [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ। क्योंकि [अस्मै] इस मृत पुरुषके लिये [पितरः एतं लोकं अक्रन्] पितरोंने यह स्थान [स्मशानभूमिका] किया है– चुना है– निर्धारित किया है। शेष उत्तरार्धका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। केवल 'अद्भिः' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोंसे। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च
> नूतनाः। अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं
> पितरो लोकमस्मै॥ यजु० १२।४५

[ये] जो तुम [पुराणाः] पुरातन विघ्नकर्ता और [ये नूतनाः] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [अत्र] यहां स्मशान–भूमिमें [स्थ] हो वे तुम [अपेत] यहांसे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्वथा हट जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अस्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए [पितरः] पितरोंने इसके लिए [इमं लोकं] यह स्मशानभूमिका स्थान [अक्रन्] किया है अर्थात् चुना है क्योंकि इसका यहां अंत्येष्टि संस्कार होना है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारी"

योंके अपनानेका उल्लेख है तदनुसार उन्हें अपनाकर अंतकी विधि करनी चाहिये ऐसा इन मंत्रोंका आशय है।

(६) प्रेतको जलाना, गाडना आदि ।

प्रेतके स्मशानभूमिपर पहुंच जानेके अनन्तर उसे गाडने, बहाने, जलाने या हवामें खुला छोडनेकी क्रिया की जाती है। नीचे लिखे मंत्रमें हम इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है।

> ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ॥
> सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥
>
> अथर्व० १८।२।३४

(अग्ने) हे अग्नि! (ये निखाताः) जो पितर जमीनमें गाडे गए हैं और (ये पराप्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धाः) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये उद्धिताः) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं, [तान् सर्वान्] उन सब पितरोंको तू [हविषे अत्तवे] हवि भक्षणार्थ (आ वह) ले आ।

यहांपर चार प्रकारके स्मशान-कर्म दर्शाए गए हैं। [१] गाडना, [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमीनपर खुला छोडना।

[१] गाडना-कुछ प्रेत जमीनमें गाडे जाते हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता। ये कौन हैं इसपर हमने थोडासा विचार करना है। जो मनुष्य संन्यासी होकर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए स्मृतियोंमें कहा गया है, क्योंकि संन्यासाश्रममें प्रवेश करते हुए पुरुषको सर्वमेध याग करना पडता है। इस यागमें वह अग्नि संबन्धी सर्व कार्योंसे मुक्त हो जाता है। अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता। संन्यासीके शरीरको जलाना चाहिए या नहीं इस विषयमें अभीतक हमें श्रुतिका निर्णय ज्ञात नहीं है, पर स्मृति निषेध करती है। अतः 'निखात' से संन्यासीका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समयमें विशेषतः मुसलमान व ईसाई लोग मुर्दोंको न जलाते हुए गाडते हैं। अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे ग्रहण किया जा सकता है, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मुर्देकी चार अवस्थायें हो सकती हैं उनमेंसे एक निखात है।

[२] जलाना या
[३] जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें विशेषतः हिन्दुओंमें पाई जाती हैं।

[४] जमीनपर वायुमें रखना यह चौथी अवस्था पारसियोंमें पाई जाती है।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं। वेदमें मृतोंके दो विभाग मिलते हैं [१] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा [२] अनग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते। अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्था को छोडकर शेष तीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सकती हैं।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टिसंस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें चिन्ह रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं। इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रथायें हिन्दुओंमें प्रचलित होंगी। यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं। इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है। इसे देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा।

[१] प्रायः आजकल हिन्दुलोग मुर्दा अग्निमें जलाते हैं और जलानेके बाद तीसरे दिन [२] एक अश्मा [पत्थर] लेकर उसको जमीनमें रख देते हैं। इसी प्रकार मृतकी हड्डियां चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते है अथवा वृक्षपर लटका देते हैं अथवा [३] बहुतसे लोग समीपस्थ नदी या समुद्रमें बहा देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सीधा मुर्देको ही नदीमें बहा देते हैं। यदि इतनाभी न हो सका तो चावलों या आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उस पिण्डको बहा देते हैं। [४] मरनेके बादके दसवे दिन उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर घरके बाहर खुला रख देते हैं, ताकि उसे कौवा स्पर्श करें। जबतक कौवा स्पर्श नहीं करता, तबतक अंत्येष्टि क्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है। यह संकेत हवामें मुर्देको पारसियोंकी तरह खुला छोडने की क्रिया का है।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं यह हम देख सकते हैं। उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं ये वे ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं। अतएव 'ये उद्धिताः' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमीन के ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ये परोप्ताः'का अभिप्राय जो जलद्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है। अस्तु; इनमें कही गई अवस्थाओं पर हमने

से यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाडनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

> अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
> जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥
>
> अ० १८।२।५२ ॥

हे प्रेत ! [त्वा] तुझे [मातुः पृथिव्याः] माता भूमिके [भद्रया वस्त्रेण] कल्याणकारी वस्त्रसे [अभि ऊर्णोमि] आच्छादित करता हूं अर्थात् जमीनमें तुझे गाडता हूं। [जीवेषु भद्रं तत् मयि] जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् मुझे प्राप्त हो और [पितृषु स्वधा] जो पितरोंमें स्वधा है [सा त्वयि] यह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहांपर स्पष्ट शब्दोंमें प्रेतके गाडनेका निर्देश है ।

> इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्
> माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णु हि ॥
>
> अ० १८।२।५०॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो द्युलोकमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्णु हि) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

> असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्येनं भूम ऊर्णु हि ॥ अथर्व० १८।४।६६॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहां तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती हैं या कुल स्त्रियां अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार [एनं] इस प्रेतको [अभि ऊर्णु हि] भली प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाडने का उल्लेख है। इससे गाडनेकी प्रथा भी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अंत्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदियोंमें जो मुर्देके जलाने गाडने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं, वे सब वैदिक हैं। या यूं कह सकते हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अंत्येष्टि-संस्कार।

काष्ठ संचय करके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहां देते हैं।

> मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।१६।१॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [एनं मा विदहः] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [मा अभिशोचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य त्वचं मा चिक्षिपः] इसकी त्वचा को मत बखेर।(मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेर। अर्थात् इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [यदा शृतं कृणवः] जब इसे पूर्णतया पक्व बना दे अर्थात् जला दे, [अथ] तब [एनं] इसको [पितृभ्यः प्रहिणुतात्] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोकमें पितरों के पास पहुंचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [१८ । २ । ४] में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहां पर जो कुछ विशेष वक्तव्य इस मंत्रपर था वह दे आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना व्यर्थ है।

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
>
> ऋ० १०।१६।२॥

हे जातवेदस् अग्नि ! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए सौंप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासहित उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहांपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ॥ यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥ ऋ० १०।१६।४ ॥
>
> अथर्व० १८।२।८॥

[अजः भागः] हे अग्नि इस प्रेत का जो अजभाग [आत्मा] है [तं] उसे तू [तपसा तपस्व] अपने तपसे तपा। [तं] उस अजभाग को [ते शोचिः] तेरी दीप्यमान ज्वाला [तपतु] तपावे। [तं] उस अज भागको [ते अर्चिः] भासमान ज्वाला [तपतु] तपावे। और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि! [याः ते शिवाः तन्वः] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं [ताभिः] उन द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [वह] प्राप्त करा।

इस मंत्र से भी वही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं। अर्थात् शरीर के जल जाने तक आत्मा शरीर के पास ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है। यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिसका कि अंत्येष्टि में विनियोग होता है। इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनायें करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनायें करके अंत्येष्टिपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियां देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंत्येष्टिपरक है। हम यहां वेही मंत्र देंगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबन्ध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम या पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है।

> यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥ यजुः ३९।१३॥

[यमाय स्वाहा] यम के लिए स्वाहा। [अन्तकाय स्वाहा अन्तक के लिए स्वाहा। [मृत्यवे स्वाहा] मृत्युके लिए स्वाहा] [ब्रह्मणे स्वाहा] ब्रह्मके लिए स्वाहा। [ब्रह्महत्याय स्वाहा।] ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा। [विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] सब देवों के लिए स्वाहा। [द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा] द्यु तथा पृथिवी के लिए स्वाहा।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है। इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियां देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत! -

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥ ऋ० १०।१६।३
> अथर्व० १८।२।७॥

तेरी आंख सूर्यको जावे। तेरे प्राण वायु को जावें। और हे प्रेत! तू कर्मफलजन्य धर्म से या पार्थिवादि तत्वोंके धर्म से [पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे] द्यु व पृथिवी को जा, उन उनके अंश उनमें मिल जावें। इसी प्रकार जलोंमें जलांश जावे यदि जलों का कोई अंश तेरे में स्थिर हो। इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो। इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं। इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

> सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
> ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥
> ऋ० १०।१५४।५॥ अथर्व० १८।२।१८॥

[सहस्रणीथाः कवयः] हजारों को ले आनेवाले अर्थात् हजारों के नायक, क्रान्तदर्शी, [ये] जो कि [सूर्यं गोपायन्ति] सूर्यकी रक्षा करते हैं, ऐसे [तपस्वतः] तपोयुक्त, [तपोजान्] तपसे उत्पन्न [ऋषीन्] ऋषियों को [यम] हे नियमवान्! तू [गच्छतात्] प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू जन्म ले।

८ प्रार्थनायें।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जानेपर उसके लिए पीछेसे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है।

> सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
> अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः॥
> अथर्व० २।१२।७

[ते] तेरे [तान् सप्त प्राणान्] सात प्राणोंको, [अष्टौ-मन्यः] आठों नाडियों को [ब्रह्मणा] ब्रह्म से [वृश्चामि] काटता हूं। तू [अग्निदूतः] अग्नि को दूत बनाकर [अरंकृतः] शीघ्रता करता हुआ [यमस्य] यमके [सादनं] घरको [अयाः] जा।

> सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
> हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥
> ऋ० १०।१४।८॥ अथर्व १८।३।५८

(परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरोंके साथ (संगच्छस्व) तू जा। (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टा पूर्तके साथ स्वर्गमें जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्द्य कर्मोंका त्याग करके (पुनः) फिर (अस्तं एहि) घरको आ, अर्थात् पुनर्जन्म ले। और

(सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व) शरीर धारण करके दुनियामें विचरण कर।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है। एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मंत्रोंके समन्वयसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे। अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है। इस प्रकरणमें हम उन थोडेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है। पाठक वर्ग हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे। यह प्रकरण, अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्रायसे भिन्न है। यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय- निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है। इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंको यहांपर ध्यानमें रखना चाहिये।

१ हिंसा अर्थमें।

प्र नु वोचा सुतेषु वां वीर्या यानि चक्रथुः ।
हतासो वां पितरो देवशत्रव इन्द्राग्नी
जीवथो युवम् ॥ ऋ० ६।५९।१॥

हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम दोनों (सुतेषु यानि वीर्या चक्रथुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका (नु) निश्चय से (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूं। अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं–हे इन्द्राग्नी! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करनेवाले (देवशत्रवः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट हो गए हैं। (युवं) तुम दोनों (जीवथ) जीवित हो।

पितरः—पियति हिंसाकर्मा धातुसे पितर शब्द बनाया गया है, क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है। अतः यहां पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है। मंत्र भी इस अर्थका पोषक है।

२ ज्ञानी लोक पितर

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः ।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो
विद्मने कम् ॥ ऋ० १०।८८।१८

(अग्नयः कति) अग्नियां कितनी हैं? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं? (उषासः कति) उषायें कितनी हैं? (आपः कस्वित्) भला आप कितने हैं? (कवयः पितरः) हे क्रान्तदर्शी ज्ञानी पितरो! (वः उपस्पिजं न वदामि) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरोक्त प्रश्न नहीं पूछता हूं अपितु मैं नहीं जानता अतः (विद्मने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं। मंत्र स्पष्ट है। ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है।

३ राज–सभाके सभासद पितर ।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ
संविदाने । येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु
वदानि पितरः संगतेषु ॥ अ० ७।१२।१

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितायें (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मेरी (आवतां) रक्षा करें। (येन संगच्छै) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊं यानि उसकी संगति करूं (सः) वह वह सभासद (मा उपशिक्षात्) मुझे शिक्षा दें। (पितरः) हे सभासदो! (संगतेषु) संमेलनोंमें मैं (चारु वदानि) प्रिय बोलूं।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है। उनको पितरके नामसे कहा गया है।

४ सैनिक पितर ।

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो
गभीराः । चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा
उरवो व्रातसाहाः । ऋ० ६।७५।९ ॥
यजु० २९।४६ ॥

इस मंत्रकी देवता 'रथगोपाः' अर्थात् लडाई में रथरक्षक सैनिक हैं। अर्थ इस प्रकार है–

(स्वादुषंसदः) शत्रुओंके अन्न में बैठनेवाले वा शत्रुओंके अन्नका नाश करनेवाले, (वयोधाः) अन्न देनेवाले (कृच्छ्रे श्रितः) कठिनाइयोंमें भी स्थिर रहनेवाले (शक्तीवन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अस्त्रसे युक्त (गभीराः) गंभीर, (चित्रसेनाः) दर्शनीय सेनावाले(इषुबलाः)बाण है बल जिनका अर्थात् बाणसे लडनेवाले (अमृध्राः)जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे,(सतोवीराः) वीर्यशाली, (उरवः) विशालकाय, (व्रातसाहाः) शत्रुसमुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले रथरक्षक होते हैं।

> ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत ऋ० ६।७५।१०॥
> यजुः २९।४७॥

यह मंत्र ऊपरोक्त मंत्रसे अगला मंत्र है। यह संपूर्ण सूक्त युद्ध विषयक है। इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है-

[ब्राह्मणासः] हे ब्रह्मज्ञानी, [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोके करनेवाले [ऋतावृधः] सत्यसे बढनेवाले वा सत्यको बढानेवाले [पितरः] रक्षको ! [अनेहसा द्यावापृथिवी] अहिंसक द्यु तथा पृथिवी [नः शिवे] हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों। [पूषा] पोषक सेनापति [नः] हमारी [दुरितात्] पापसे [पातु] रक्षा करे और [मा किः अघशंसः नः ईशत] कोई भी पापी हमारे ऊपर शासन मत करे। [रक्षा] उससे पूषा हमारी रक्षा करें।

इन मंत्रोंमे सैनिकोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

५ प्राण—पितर

> यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते॥
> ऋ० १०।१३०।१॥

(यः यज्ञः) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विश्वतः तन्तुभिः) चारों ओरसे क्षण, दिन, मास वा वर्षरूपी तन्तुओंसे (ततः) लम्बाईमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मेभिः) एक सौ देवकर्मोसे अर्थात् सौ वर्षकी आयुसे (आयतः) चौडाईमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ति) बुनते हैं। (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञ में आए हुए हैं, वे (तते आसते) इस विस्तृत जीवन-यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनते जाओ और पीछेका ठीक करते जाओ।

इस मंत्रमें कपडे बुननेके अलङ्कारसे जीवनरूपी वस्त्रका वर्णन है। प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं।

> स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः। स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥
> यजुः अ० १९।१५॥

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहां नहीं देंगे क्योंकि हमारा प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः' इतने से ही है। अतः इतने ही मंत्र खंडका अर्थ हम देंगे।

(ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा। संपूर्ण मंत्रमें 'पूष्णे, शरसे' आदि प्राण के लिए हैं। अतः 'ऊर्ध्वबर्हि' विशेषण प्राणों का है। यह मंत्र शतपथ में इसी प्रकार व्याख्यात है। देखो श० १४।२।२।३२॥

६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में।

> शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ ऋ० १।८९।९ यजुः २५।२२

(देवाः) हे देवो ! (नु) निश्चयसे (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्ष (अन्ति) मनुष्यके पास हैं। (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तनूनां जरसं चक्र) हमारे शरीरों में बुढापा लाते हो। (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्रगण (पितरः) संतानोत्पत्ति के लायक होकर व अन्योंका पालन करनेके लायक होकर पितर बनते हैं। इस सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तोः मध्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें (नः) हमें (मा रीरिषत) मत नष्ट करो।

> त्राता नो बोधि ददृशान आपिरभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः पितॄणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः॥ ऋ० ४।१७।१७॥

वह इन्द्र (नः) हमारा (त्राता) रक्षक, (ददृशानः) हमारा देखनेवाला, (अभिख्याता) उपदेश करनेवाला, (मर्डिता) सुख देनेवाला, (सखा) मित्र, (पिता) पालक, (सोम्यानां पितॄणां पितृतमः) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता, (कर्ता) बनानेवाला, तथा (लोकं उशते) लोकों की कामना करनेवाले के लिए (वयोधाः) अन्न-बल-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक ! (बोधि) तू जान।

ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः। उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरु रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः ॥ ऋ० १०।६४।१४॥

(मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवालीं, (मही) बडी (देवी) दिव्य गुणोंवालीं (यज्ञिये) पूजनीय (ते द्यावापृथिवी) वे द्यावापृथिवी (देवान्) देवोंको (जन्मना इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं। (उभे) दोनों द्यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे (उभयं बिभृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती हैं। और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके साथ मिलकर (पुरु रेतांसि) बहुत जलोंसे [सिञ्चतः] सिंचन करती हैं अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं।

७ इषु पितर।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथर्व० ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है। वह तिर्यक् गतिवाले सर्पादिसे रक्षा करनेवाला है। उसके बाण पितर हैं अर्थात रक्षक हैं। इत्यादि।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं।

जनकपितर।

वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिणः। वर्मण्वन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितृणां न शंसाः सुरातयः ॥ ऋ० १०।७८।३॥

[ये] जो मनुष्य [वातासः न] वायुओंकी तरह [धुनयः] शत्रुओंको कंपानेवाले हैं, तथा जो [जिगत्नवः] क्रियाशील [अग्नीनां जिह्वाः न] अग्नियों की ज्वालाओं की तरह [विरोकिणः] दीप्यमान हैं, और जो [वर्मण्वन्तः योधाः न] कवचधारी योद्धाओंकी तरह [शिमीवन्तः] शूरता के कार्योंके करनेवाले हैं, व [पितृणां शंसाः न] जनक पितरोंकी वाणियों की तरह [सुरातयः] उत्कृष्ट दान देनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें।

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सदसो न युञ्जते। अजुर्यासो हरिषाचो हरिद्रव आ द्यां रवेण पृथिवीमशुश्रवुः ॥ ऋ० १०।९४।१२॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव) निश्चयसे स्थिर हैं। तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामासः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि। इस संपूर्ण सूक्तमें 'यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए पत्थरोंका वर्णन है।'

८ पूर्वज पितर।

चाकॢप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥ ऋ० १०।१३०।६॥

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन) उस यज्ञ द्वारा (ऋषयः) ऋषिगण, [मनुष्याः] अन्य मनुष्य समुदाय व [नः पितरः] हमारे पूर्वज [चाकॢप्रे] उत्पन्न हुए। [ये पूर्वे इमं यज्ञं अयजन्त] जिन पूर्वके देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था [तान्] उन देवोंको [मनसा चक्षसा] मनरूपी आंखसे अथवा [चक्षसा मनसा] सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [पश्यन्] देखता हुआ मैं [मन्ये] उन देवोंका मनन करता हूं।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य संभवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके द्योतक प्रतीत होते हैं, जैसा कि पुरुषसूक्तमें सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकी उत्पत्ति दर्शाई गई है। क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें हुआ है, जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं।

ऋतुपितर।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः पितरो नमो वः गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ यजुः अ० २।३२॥

इस मंत्रपर शतपथ ब्राह्मणने इतनी ही टिप्पणी चढाई है। कि 'इस मंत्रमें ६ बार नमस्कार है वह इसलिए है क्यों कि ६ ऋतुएं होती हैं। शतपथका वचन इस प्रकार है-

' षड्कृत्वो नमस्करोति षड्वा ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मात् षड्कृत्वो नमस्करोति- श० २।४।२।२४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है। ब्राह्मणोंमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कहा गया है। उदाहरणार्थ-

श० २।६।१।४॥ कौ० ५।७॥ गो उ० १। २४॥
तथा ६। १५॥ श० २।६।१।३२॥
तै० १।४।१०।८॥ तथा १।३।१०।५॥

इत्यादि। इस स्थापनानुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है-

[पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय] तुम्हारी रसभूत वसंतके लिए [नमः] नमस्कार है। वसन्तऋतु में मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहां वसन्त ऋतु-का उपलक्षण है। [पितरः वः शोषाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी शोषक ग्रीष्मके लिए नमस्कार है। ग्रीष्ममें गरमी पडनेसे सब रस सूख जाते हैं अतः शोषकसे ग्रीष्मका यहां ग्रहण किया गया है। [पितरः वः जीवाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी जीवनदात्री वर्षाके लिए नमस्कार है। जीवन नाम जलका है क्योंकि वह जीवन देता है। वर्षाऋतु जीवनदात्री है। [पितरः वः स्वधायै नमः] हे पितरो ! तुम्हारी अन्न देनेवाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है। स्वधा नाम अन्नका है। और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है। स्वधा शरद् ऋतुकी उपलक्षण है। [पितरः वः घोराय नमः] पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है। हेमन्तमें बडा घोर शीत पडता है अतः घोरसे हेमन्तका ग्रहण है। (पितरः वः मन्यवे नमः] हे पितरो ! तुम्हारी मन्युभूत शिशिरके लिए नमस्कार है। शिशिरऋतुमें औषधियां जल जाती हैं, अतः तत् सादृश्यसे मन्यु शिशिरका उपलक्षण है। [पितरः] हे पितरो ! [नः गृहान् दत्त] हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंको समृद्ध करो। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [सतः देष्मे] जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे। हे पितरो ! [वः एतत् वासः] तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओढने पहिरनेका साधन है उसे लो। शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रकी व्याख्यामें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि हम प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिये व उस उस ऋतुमें उत्पन्न पदार्थकी यज्ञमें हवि डालनी चाहिए।

गो-संग्रामक पितर।

न किरेषां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोषु योधाः।
इन्द्र एषां दृंहिता माहिनावानुद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् ॥ ऋ० ३।३९।४॥

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोषु योधाः) इन्द्रियोंसे लडनेवाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न किः निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है। (माहिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दंसनावान्) कर्मशील (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंको (दृंहिता उत्ससृजे) दृढ बनाता है।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है। इन्द्रियोंको वश करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है। जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् उन्हें अपने काबुमें कर लेता है, उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रियां ही निन्दाकी जड हैं। इन्द्रिय-संयम करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाई फतेह करना है। अतएव यहां इन्द्रियसंयम करनेवाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है। इन्द्रियसंयम होनेपर आत्मा उन्हें दृढ बनाती है। संयमित इन्द्रियोंवाले पुरुषको सुख दुःख आदि द्वन्द्व कदापि सता नहीं सकते। उसका इंद्रियसमूह इतना दृढ बन जाता है कि उसे सांसारिक कोई भी आपत्ति सता नहीं सकती। इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रियसंयमका महत्त्व दर्शाया है।

सोम और पितर।

त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वं रजिष्ठमनु नेषि पंथाम्। तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ऋ० १।९१।१ ॥
यजुः १९।५२ ॥

हे सोम ! (त्वं मनीषा प्रचिकितः) तू अपने मन की गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (त्वं) तू (रजिष्ठं पन्थां अनुनेषि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पीछे पीछे लेजाता है। (इन्दो) हे इन्दु ! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व से (नः धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्नं अभजन्त) देवोंमें रत्नको प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, या देवोंसे रत्न यानि संपत्ति प्राप्त करते हैं।

इन्दु- उन्दी क्लेदनेसे इन्दु शब्द बनता है । क्लेदनका अर्थ है गीला होना । अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला । सौम्य गुणोंसे युक्त ।

इस मंत्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा बताई है । पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहांसे पता चलता है ।

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश । तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ ऋ० ८।४८।१२॥

हे (पितरः) पितरो ! (यः हृत्सु पीतः) जो हृदयोंमें पिया गया (अमर्त्यः इन्दुः) मरणरहित इन्दु (नः मर्त्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविद्वारा (विधेम) हम पूजा करते हैं । (अस्य) इस सोमके (मृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें ।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है । यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहांसे पता चल रही है ।

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ऋ० ८।४८।१३ यजु०१९।५४ ॥

हे सोम ! (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी लोकका (अनु आ ततन्थ) अनुकूलतासे विस्तार करता है । (इन्दो) हे इन्दु ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हवियोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (वयं) हम (रयीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर द्यु व पृथिवीका विस्तार करता है । उसको हवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है ।

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः । वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥ ऋ०९।९६।११ ॥

यजु० १९।५३ ॥

(पवमान सोम) हे पवित्र सोम ! (त्वया हि) तेरेसे अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ही (नः पूर्वे धीराः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए । सोम राक्षसोंका विनाश करता है । वीर अश्वोंवाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है ।

पितृमान् सोम ।

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा । अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः ।

॥ यजु० २।२९ ॥

कव्यका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो । उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो । (वेदिषदः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपहताः) नष्ट हो जावें । यहां सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है । अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मंत्रकी संगति लगानेसे पता चलता है ।

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥

अ० १८।४।७२॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो । यहां सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है ।

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ।

अथर्व० १८।४।७३॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संबन्ध है । यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि संपूर्ण सोमविषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जासके ।

अङ्गिरस् पितर

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम । येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० १।६२।२ ॥

यजुः ३४।१७

हे मनुष्यो ! (वः) तुम (महे शवसानाय) बड़े भारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आङ्गूष्यं साम) आङ्गूष्य नामके सामको (प्रभरध्वं) धारण

करके स्तुति करो (येन) जिस आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था ।

हम पहिले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है। यहांपर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है । आङ्गूष्य सामकी महिमा यहां व्यक्त हो रही है । अङ्गिरस् पितर किन पितरोंका नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे ।

आङ्गूष्यं साम–आङ्गूषका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आघोष । आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज ॥ देखो-निरुक्त आङ्गूषः स्तोमः आघोषः । नि० अ. ११ पा० १। खं. १२ । श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आघोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा । अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है। क्योंकि सामसे दुख दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है । स्यन्ति खण्डयन्ति दुःखानि येन तत् साम । पदज्ञ–परम पद (परमात्मा) को जाननेवाला । आत्मज्ञ । आत्मा वै पदं । कौ० २।३६।

नः- प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है । गाः- सूर्यकिरणें ।

ऊपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन कर रहा है ।

> य उदाजन् पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे बलम् । दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ०१०।६२।२॥

(ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवत्सरे) परिवत्सरमें (बलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ वा सत्यद्वारा (अभिन्दन्) विदारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी धनको (उत् आजन्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरो ! (वः) तुम्हारी (दीर्घायुत्वं अस्तु) दीर्घायु होवे । (मानवं प्रति गृभ्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो ।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है। साथ ही ऐसे पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्य-जातिपर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है ।

> द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् । अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।१२।५ ॥

(द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवी (मा अनु दीधीथां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवें । (विश्वे देवासः) हे सब देवो ! (मा अनु रभध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो। (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरो ! (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पापं आ ऋच्छतु) पापको प्राप्त होवें ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ताकि आगेसे वह पापकामनायें करना भूल जावे ।

> अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥
>
> अ० १८।१।५८ ॥ यजु० १९।५०॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणाः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं। (वयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषणविशिष्ट पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्याम) स्थित होवें ।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ संकल्पमें रहनेका निर्देश किया गया है ।

' नवग्व ' शब्दपर थोडासा निर्देश हम कर आए हैं। इसपर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः—'अथर्वाणोऽथर्वन्तः ' थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ '

निरु० ११।२।१८ ॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वणवाले यानि स्थिर निश्चलप्रकृतिवाले होते हैं। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जो निश्चल हो वह अथर्व ।

भृगवः— आर्चिषि भृगुः संबभूव । भृगुः भृज्यमानः, न देहे । नि० ३।३ ॥

अर्थात् भृगु ऋषि ज्वालाओंमें पैदा हुआ था। भृगुका अ. है जो आगमें भुना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें आस्था नहीं होती।

यज्ञियः— यज्ञके योग्य-पूजा, दान सत्कारादिके योग्य अथवा यज्ञमें बैठने लायक।

पितरोंकी उत्पत्ति।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अबतक के विभागोंमें नहीं आ सके हैं । यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए गए मंत्रोंका सा ही महत्त्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रोंके विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकठ्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे यहांपर दिया गया है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिसंबन्धी निर्देश मिलता है।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत्

यजु० १४।२९ ॥

(नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की जिससे (पितरः असृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए। [अदितिः अधिपत्नी आसीत्] प्रजापतिकी अखण्ड शक्ति पालन करने— वाली थी।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।४।३।७ में है। शतपथ के अनुसार यह अध्याय सृष्टि–उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा ज्ञात होता है। इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ ब्राह्मणने लिखा है कि ' अथ सृष्टीरुपदधाति । एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति ' इत्यादि।

' नवभिरस्तुवत ' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की है– नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः सप्त शीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तैरेव तदस्तुवत।'

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र आदि अन्योंकी तरह पितरोंकी भी खास ढंग से उत्पत्ति होती होगी, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे पितरोंकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १०।१०।२६ ॥

[वशां एव अमृतं आहुः] वशाको ही अमृत कहते हैं और [वशां मृत्युं उपासते] वशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी उपासना करते है। [देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः] देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण [इदं सर्वं] यह सब [वशा अभवत्] वशा ही हुई हुई है।

इस मंत्रसे हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशा से उत्पन्न होते हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः ॥

अ० ११।७।२७ ॥

[देवाः पितरः मनुष्याः] देव, पितर, मनुष्य [ये च] और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे सब [दिवि श्रिताः] द्युलोक के आश्रयमें स्थित [देवाः] सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [सर्वे] ये सब [उच्छिष्टात्] उच्छिष्ट से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए हैं।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा उत् अर्थात् सबको उत्क्रमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है।

यहांपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन मिलता है।

दक्षिणा व पितर।

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सु-
दुघा वयोधाः। यौवने जीवानुप पृञ्चती जरा
पितृभ्यः उप संपराणयादिमान् ॥

अथर्व० १८।४।५० ॥

[सुदुघा] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करने- वाली [वयोधाः] अन्नको देनेवाली [अनेन दत्ता] इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [भद्रतः

वः आ आगन्] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा अकल्याण नहीं होगा। [वीवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीवोंको वृद्धावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार वह दक्षिणा [इमान्] इन जीवोंको [पितृभ्यः] पितरों के लिए भली प्रकार [उप संपराणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुंचावे।

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यंभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यंभाविनी है ऐसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्त्वपर अवश्यमेव विचार करें।

मरने पर पितरों में गणना।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेशयामि देवो नो धाता प्रतिरात्वायुः। परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु संभवन्तु॥ अथर्व० १८।४।४८॥

(पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेशयामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष! तुझको मिट्टी में मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवी में गाडता हूं। (धाता देवः नः आयुः प्रतिरातिः) धारक देव हमारी आयु को बढावे। हे (परापरैताः) प्रकृष्टतया हम से दूर चले गए पितरो! (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो। (अध) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के पूर्वार्ध में मृत देहके गाडने का निर्देश मिलता है। वह मानव देह पार्थिव तत्त्वों के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव यहांपर मृत देहको पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावको निम्न लिखित दोहे में कहा गया है—

खाकका पुतला बना खाक की तसवीर है।
खाक में मिल जायगा खाक दामन गीर है॥

मंत्र के उत्तरार्धमें मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है। इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मनुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उसकी पितृसंज्ञा हो जाती है।

अश्विनौ तथा पितर।

युवं भुज्युं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्निवहन्ता पितृभ्य आ। यासिष्टं वर्तिर्वृषणा विजेन्यं दिवोदासाय महि चेति वामवः॥ ऋ० १।११९।४॥

(वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले अश्विनौ! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्युं) भोगदायक और जो कि (विभिः गतं) घोडों द्वारा लादकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) चारों ओर से लाकर पहुंचाते हो। इसलिए (विजेन्यं वर्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ। (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वां अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान् है यह सब को (चेति) मालूम है।

दिवोदासः--प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं ऐसा उल्लेख है।

सरस्वती और पितर।

सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आधेह्यस्मे॥ ऋ० १०।१७।८॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है—

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती। सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथर्व० १८।१।४२॥

(सरस्वति देवि) हे सरस्वती देवी! (या) जो तू (पितृभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरथं) पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई (ययाथ) आई है। वह (अस्मिन् बर्हिषि) इस यज्ञमें (आसद्य) बैठकर प्रसन्न हो। (अस्मे) हमें (अनमीवः इषः) रोगरहित अन्नोंको अर्थात् जिनके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नोंको (आ धेहि) दे।

अथर्ववेदमें जो पाठभेद है वह विशेष करके उत्तरार्धमें ही है। इस उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है- हे सरस्वती! तू [अत्र]

इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्रार्घं इळः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे। इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है।

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि ॥
ऋ० १०।१७।९॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ है-

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आधेह्यस्मे॥
अथर्व० १८।१।४२॥

[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलाते हैं, ऐसी हे सरस्वती! तू [अत्र] यहां इस यज्ञमें [यजमानेषु] यजमानोंमें [सहस्रार्घं इळः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा [रायस्पोषं] धनकी पुष्टिको [धेहि] दे।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमंत्र दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणाके साथ [आगत्य] आकर इतना अध्याहार करके अर्थ किया है। इस मंत्रमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥
अथर्व० ७।६८।२॥

[सरस्वति] हे सरस्वती! [इदं ते घृतवत् हव्यं] यह तेरे लिए घृतवाला यानि घीसे मिश्रित हव्य है। [यत् इदं हविः पितॄणां आस्यं] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है। [इमानि ते शंतमानि उदितानि] ये तेरे लिए कल्याणकारी वचन हैं। [तेभिः] इनसे [वयं] हम [मधुमन्तः स्याम] मधुयुक्त बनें।

आस्य-असु क्षेपणे से बना है। शब्दार्थ फेंका जानेवाला है, भावार्थ दिया जानेवाला ॥

इस मंत्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वतीको हव्यादि देनेका काम दर्शाया है।

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका संबन्ध विशेष है यह हमें यहां स्पष्ट पता चलता है।

गौ व पितर।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमतिद्रव ॥
अथर्व० १०।१०।२९॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व, तथा अप्सरस् हैं, (ते सर्वे) वे सब (त्वा गोप्स्यन्ति) तुझ गौकी रक्षा करेंगे, (सा) वह तू (अतिरात्रं) अतिरात्र नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर।

यहांपर अतिरात्रमें आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम॥
ऋ० १०।१६९।४॥

[प्रजापतिः] प्रजापति [विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः] सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे [मह्यं] मेरे लिए [एताः] ये गायें [रराणः] देता है। वह प्रजापति [शिवाः सतीः] कल्याणकारिणी होती हुई उन गौओंको [नः] हमारे [उपगोष्ठं आ अकः] गोष्ठके समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होवें। और इस प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर [वयं] हम [तासां प्रजया सं सदेम] उन गौओंकी संतानसे संगत होवें अर्थात् उन गौओंकी संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशोच्छेद न हो जावे।

गोष्ठ— जहांपर गौयें बांधी जाती है, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है।

इस मंत्रमें उत्तम गौयें पितरोंकी सहमतिसे हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है।

इन्द्र व पितर।

स तु श्रुधीन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः। त्वं ह्यापिः प्रदिवि पितॄणां शश्वद् बभूथ सुहव एष्टौ ॥ ऋ.६।२१।८॥

हे वीर इन्द्र! [सः] वह [कारुधायः] स्तोताओं या शिल्पियों का धारक तू [नूतनस्य ब्रह्मण्यतः] नवीन धनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेकी अथवा

नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले की (श्रुधि) प्रार्थनाको सुन (हि) क्योंकि (आ इष्टौ) आयजन करनेपर अथवा कामनाके होनेपर (सु: हव:)सुखसे बुलाने योग्य (त्वं) तू (पितॄणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृष्ट व्यवहारमें (शश्वत्) सदा (आपि:) बन्धु व्याप्त रहनेवाला (बभूथ) होता है ।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है। क्योंकि वह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है।

> जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न
> किलारिषाथ । यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे
> शुष्ममदधाता वसिष्ठाः ॥ ऋ० ८।३३।४ ॥

(वसिष्ठाः) हे उत्तम वास करानेवालो ! (यत्) क्योंकि तुम (शक्वरीषु) ऋचाओंके अर्थात् ऋचाओंमें गानमें (बृहता रवेण) बडे भारी शब्दसे यानि ऋचाओंके ऊंचे स्वरमें गानेसे(इन्द्रे शुष्मं) इन्द्रमें बलको (अदधात) स्थापित करते हो, अतः हे (नरः) नेतागणो ! (जुष्टी) प्रसन्नता वा सेवासे और [ब्रह्मणा] ज्ञानसे तुम [वः पितॄणां] तुम्हारे पितरोंका [अव्ययं अक्षं] न नष्ट होनेवाले अक्षको [किल] निश्चयसे [न रिषाथ] नष्ट होने नहीं देते। इस मंत्रमें सैनिकोंके लिए पितर आया है ऐसा प्रतीत होता है। यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ है।

नवग्व पितर।

> तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो
> अभिवाजयन्तः । नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम-
> द्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम् ॥ ऋ० ६।२२।२॥
> अथर्व० २०।३६।२॥

[सप्त विप्रासः] सात संख्यावाले मेधावी तथा [नवग्वाः नः पूर्वे पितरः]नवग्व हमारे पुरातन पितर [तं] उस इन्द्रको [उ] निश्चयसे [अभिवाजयन्तः] चारों ओरसे बलवान् बनाते हुए, [नक्षद्दाभं] आगत शत्रु वा पापका नाश करनेवाले [ततुरिं] तारक [पर्वतेष्ठां] पर्वतस्थ [अद्रोघवाचं]द्रोहरहित वा अनातिक्रमणीय वाणीवाले [शविष्ठं] बलवत्तम इन्द्रकी [मतिभिः] मननीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं ।

निरुक्तकार यास्काचार्यने ऋ० १०।१४।६ की व्याख्या करते हुए नवग्व शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— 'नवगतयो नवनीतगतयो वा '। अर्थात् नवप्रकारकी गतिवाले अथवा नवनीत यानि मक्खन जैसी गतिवाले शुद्धाचरणवाले ।

महर्षि स्वामी दयानन्दजीने ' नवीन गतिवाले ' ऐसा अर्थ किया है।

सायणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं—नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रमनुतिष्ठवन्तः ' । अर्थात् जो नवमासवाले सत्र [यज्ञविशेष] को करनेवाले हैं।

इस मंत्रमें आत्माका वर्णन व ' सप्त विप्रासः ' से ५ प्राण, मन व बुद्धिका अभिप्राय है । और इस प्रकार मंत्रमें प्राणोंको पितरसे कहा गया जान पडता है ।

काम और पितर ।

> कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न
> मर्त्याः । ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै
> ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ९।२।१९॥

[कामः प्रथमः जज्ञे] काम प्रथम पैदा हुआ। [एनं]इसको [न देवाः आपुः न पितरः न मर्त्याः] न तो देवोंने ही पाया,न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने । (ततः) इस कारणसे हे काम ! तू (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बडा है। हे महान् काम ! (तस्मै ते) उस तेरे लिए (नमः इत् कृणोमि) मैं नमस्कार करता हूं।

यहांपर कामको जाननेमें पितरों की भी असमर्थता दर्शाई गई है ।

मणि और पितर।

> यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।
> स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥
> अथर्व० १०।६।३२ ॥

(देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव, पितर व मनुष्य सदा जिस मणिके आश्रय से जीते हैं [सः अयं मणिः] वह यह मणि [श्रैष्ठ्याय] श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति करानेके लिए [मां मूर्धतः अधिरोहतु] मेरे सिरपर स्थित होवे अर्थात् ऐसे मणि को मैं सिरपर धारण करता हूं ।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव, पितर व मनुष्य मणिके आश्रयसे जीते हैं। यहां यह भी पता चलता है कि पितर व देव मनुष्यसे भिन्न हैं ।

ब्रह्मौदन पाचक पितर।

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ अथर्व० ११।१।१९॥

हे ब्रह्मौदन ! [सहस्रपृष्ठः] हजारों पीठोंवाला अर्थात् अत्यंत फैला हुआ तू [सुकृतस्य लोके] सुकृतके लोकमें [महता महिम्ना] अपनी बडी भारी महिमासे [उरुः] विस्तीर्ण होता हुआ [प्रथस्व] फैल। [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा] पितामहोंका समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और [पंचदशः अहं] पंचदश मैं [ते पक्ता अस्मि] तेरा पकाने वाला हूं।

पंचदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ भूतोंसे बना हुआ।

इस मंत्रमें पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मौदन पाचक कहा गया है। अर्थात् ये सब ब्रह्मौदन पकाते हैं।

ब्रह्मचारी व पितर।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनु-
संयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत्
त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त् स देवांस्तपसा
पिपर्ति ॥ अ० ११।५।२॥

[पितरः देवजनः देवाः]पितर, देवजन तथा देव [सर्वे] ये सब [पृथक्] अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे [ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति] ब्रह्मचारीकी रक्षार्थ अनुगमन करते हैं। [गन्धर्वाः एनं अनुआयन्] गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं। (षट् सहस्राः त्रिशतः त्रयः त्रिंशत्)छे हजार तीन सौ तैंतीस (६३३३) (सर्वान् देवान्) इन सब देवोंको (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपर्ति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है—पालन करता है।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारीकी रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारीको किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंच सके।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण।

मा छेद्म रश्मीँरिति नाधमानाः पितॄणां
शक्तीरनुयच्छमानाः। इन्द्राग्निभ्यां कं वृषणो मदन्ति
ता ह्यद्री धिषणाया उपस्थे ॥ ऋ० १।१०९।३॥

(रश्मीन् मा छेद्म इति नाधमानाः) संततिरूपी रश्मियोंको हम मत काटें, इस प्रकार याचना करते हुए, तथा (पितॄणां शक्तीः अनुयच्छमानाः) पितरोंकी शक्तियोंको नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्ययुक्त हुए हुए (धिषणायाः उपस्थे) बुद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्राग्निभ्यां) इन्द्र व अग्नि से (कं मदन्ति) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं। (हि) निश्चय से [तौ] वे इन्द्राग्नी [अद्री] न नष्ट होनेवाले हैं।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नहीं सर्वथा संतति की वृद्धि ही करनी चाहिए। पितरोंकी शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना चाहिए, जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है। यहां पितरों की शक्तिसे उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है।

देवों के पितर।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे
शृणुतेदमुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं
स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ अथर्व० १।३०।२॥

[देवाः] हे देवो ! [ये वः पितरः ये च पुत्राः] जो तुम्हारे पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [सचेतसः] सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथनको (शृणुत) सुनो। (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके लिए मैं (एतं) इस मनुष्यको (परिददामि) सौंपता हूं, (एनं) इसे (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक (जरसे वहाथ) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था- आनेके पूर्व ही अल्पायुमें मरने न पावे।

परिददामि रक्षाके लिए सौंपता हूं। परिउपसर्गपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षणार्थ देना है। इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है।

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो
अस्मि। अथर्व० ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं। (यः अस्मि) जो मैं हूं (सः अस्मि) वह मैं हूं।

सायणाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- जो देव वसुरुद्रादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो

हमारे पितर हैं वे वसुरुद्रादि रूप हैं। इस प्रकार परस्परके व्यतिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है। [यः अस्मि] जिसका मैं हूं उसका ही मैं हूं। अर्थात् एक ही पिताका हूं। क्योंकि स्त्रियां संभावित व्यतिक्रम होती हैं अतः मैं निश्चयसे कहता हूं कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हूं। अपने इस अभिप्राय की पुष्टिके लिए सायणाचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है– 'स्वपराणात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्'।

अस्तु,इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना दर्शाता है कि पितर देवत्वको प्राप्त होते हैं। इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र पहिले आचुके हैं।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार।

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥

अथर्व० १८।४।८१॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बलके लिए नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय नमः] तुम्हारे रस–अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥

अथर्व० १८।४।८२॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोधके लिए [नमः] नमस्कार हो। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [मन्यवे] मन्युके लिए [नमः] नमस्कार हो। भाम तथा मन्यु दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं। भाम साधारण क्रोधका नाम है। मन्युको हम सात्त्विक क्रोध कह सकते हैं।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् घोरं] जो कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् क्रूरं] जो क्रूर कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है।

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ अथर्व० १८।४।८४॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो (शिवं) कल्याणमय कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है। [पितरः]। हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यत् स्योनं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए नमस्कार है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार किया गया है।

पितरोंका इष्टापूर्त।

अशीतिभिः तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः। इष्टापूर्तं अवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ अथर्व० २।१२।४॥

[तिसृभिः अशीतिभिः] तीन अशीतियोंके साथ, [सामगेभिः] साम गायकोंके साथ, [आदित्येभिः] आदित्योंके साथ, [वसुभिः] वसुओंके साथ तथा [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरसोंके साथ मिलकर [पितॄणां] पितरोंका [इष्टापूर्तं] इष्टापूर्त [नः अवतु] हमारी रक्षा करे। [दैव्येन हरसा] दिव्य तेजद्वारा [अमुं] इस दुष्ट पुरुषको (आददे) ग्रहण करता हूं अर्थात् उसका नाश करता हूं।

इष्टपूर्तका लक्षण निम्न लिखित है–

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह दर्शाया है। पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए ऐसी प्रतिध्वनि यहांसे निकलती है।

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः
पुत्राच्चेतसः एन आगन्। यावन्तो अस्मान् पितरः
सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥

अथर्व० ६।११६।३॥

[यदि यत् इदं एनः] यदि यह जो पाप [नः मातुः, पितुः, भ्रातु, पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पाससे, पिताके पाससे, भाईके पाससे, पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे [परि आगत्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है, तो [यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मन्युः) क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे। उससे हमारा नुकसान न होने पावे।

इस मंत्रमें पापके कारणसे उत्पन्न पितरोंके क्रोधको शांत करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्ते न यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ अ० १८।४।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहां हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्रस्थ] यहांपर हो, [ते] वे अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल होवें और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ] उनमें श्रेष्ठ होवो।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ अ० १८।४।८७॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहां हैं उनके अनुग्रहसे [वयं] हम [इह] यहां [जीवाःस्मः] जीवित हैं, (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें। (वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म) उनमें श्रेष्ठ होवें। अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके। दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ होवें।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंसे श्रेष्ठ बननेका उल्लेख है।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु।

दमूनाः देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्यः आयूंषि। पिबात् सोमं ममदेनमिष्टे परि क्ष्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ अथर्व० ७।१४।४॥

(दमूनाः) दानशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं) रत्नको, (दक्षं) बलको और (आयूंषि) आयुको (दधत्) धारण करता हुआ (सोमं) सोमका (पिबात्) पीए। (एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान कराके (ममत्) प्रसन्न करे। (अस्य धर्मणि) इस सविता सूर्यके धर्ममें स्थित हुई हुई (क्ष्मा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते) परिक्रमा करती है। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य पितरोंके लिए धन बल आयुको देता है। यहांपर हमें 'परि क्ष्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि' से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है। पृथिवीके सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट कर रहा है। क्ष्मा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित है।

पितर व तृतीय ज्योति।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति। अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ अथर्व० ९।५।११॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ (पञ्चौदनमजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है। (श्रद्दधानेन दत्तः) श्रद्धा रखने के कारण दिया हुआ (अजः) यह अज जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया कि श्रद्धा रखने के कारण परमात्मा पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो सारे अज्ञानान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है। यहां श्रद्धाका माहात्म्य प्रकट हो रहा है।

पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ अथर्व. ११।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा अनश्वर प्रकाश है। (क्षेत्रात्) खेतसे उत्पन्न यह (पक्वं) पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुघा) मेरी यह कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली गौ है। (इदं धनं ब्राह्मणेषु निदधे) यह धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूं अर्थात् उन्हें देता हूं। और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरोंमें रस्ता बनाता हूं (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है-सुखप्रापक है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंको धन दान करनेसे पितरोंके बीचमें सुखप्रद मार्ग बनाया जा सकता है। पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक विचरण करना हो तो ब्राह्मणोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् विमृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा विमृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ अथर्व० ११।१।३१॥

(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! (बभ्रेः) पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन के (एतत् मुखं) इस मुखको अर्थात् उसके ऊपर के छिलकेको (विमृड्ढि) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान्! (आज्याय लोकं कृणुहि) उन चावलों में घी डालनेके लिए स्थान बना। (घृतेन सर्वाणि गात्राणि विमृड्ढि) घी द्वारा उस ब्रह्मौदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा मैं (पितृषु पन्थां कृण्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूं (यः) जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुखपूर्वक विचरण करना हो तो खूब घीमिश्रित चावलों (ब्रह्मौदन) का होम करना चाहिये ।।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मानु गा मा पूर्वाननु गाः ।
पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ अथर्व० ५।३०।१॥

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः)तेरे दूरसे भी (आवतः) दूर देशसे (ते असुं) तेरे प्राणको (दृढं बध्नामि) दृढता से बांधता हूं। (इह एव भव) तू यहां ही रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो। और (मा पितॄन् अनुगाः) इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्रमदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभिरक्षन्तु त्वेह ॥ अथर्व० ८।१।७॥

हे आयुकी कामना करनेवाले मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन (तत्र मा गात्) वहां मृत्यु लोकमें मत जाए। (मा तिरः भूत) और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होवे। (मा जीवेभ्यः प्रमदः) तू जीवोंके लिए अर्थात् जीवित रहनेके लिए असावधान मत रह। (पितॄन् मा अनुगाः) मृत पितरोंके पीछे मत जा। (विश्वे-देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तेरी यहां ही रक्षा करें अर्थात् सब देव तुझे यहींपर बनाए रखें, मरने न दें।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें मृत पितरोंके अनुगमन करनेका अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है। और दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए कहा गया है।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना ।

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।
तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् आपो मा प्रापन् मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितॄंश्च सर्वान् ॥ अथर्व० १४।२।६९॥

(अस्या अङ्गात् अङ्गात) इसके प्रत्येक अंगसे (वयं यक्ष्मं नि अप दध्मसि) हम यक्ष्मको बिलकुल बाहिर निकाल देते हैं। (तत् पृथिवीं मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत् प्राप्त होवे। (दिवं मा) द्युलोक को भी मत प्राप्त होवे। (उरु अंतरिक्षं-मा) विशाल अंतरिक्षको भी मत प्राप्त होवे (एतत् मलं) यह यक्ष्मरूपी मैल (आपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त होवे। (अग्ने) हे अग्नि ! (यमं मा प्रापत्) यमको भी मत प्राप्त होवे। (च) और (सर्वान् पितॄन्) सब पितरों को भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्रमें यक्ष्म रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही, पर यहां एक बात विशेष लक्ष्यमें रखने जैसी है और वह यह कि यम व पितरोंको यक्ष्मके न प्राप्त होनेकी प्रार्थना अग्नि से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए हैं कि अग्नि यमलोकमें पितरोंके पास जाती है। अतः अग्नि द्वारा ही यक्ष्मरोगके वहां पहुंचने की संभावना है। अतएव अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरोंको यक्ष्म प्राप्त मत होवे।

वधूदर्श पितर ।

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ अथर्व० १४।२।७३॥

[ये] जो [वधूदर्शाः] वधू को देखने की इच्छावाले [पितरः] पितृगण [इमं वहतुं] इस रथको [आगमन्] प्राप्त हुए हैं, [ते] वे पितर [संपत्न्यै अस्यै वध्वै] उत्तम पत्नी इस वधू के लिए [प्रजावत् शर्म] संततिवाले सुखको [यच्छन्तु] देवें। अर्थात् इसे संततिजन्य सुख देवें।

जब कन्या विवाहके नन्तर पतिगृहको जाने लगती है तब रथमें वा अन्य वाहन में सवार होनेपर उसे जो पितर देखने

आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस वधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो।

कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना।

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥
अथर्व० १।१४।१॥

(वृक्षात् स्रजं इव) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माला ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या का (भगं वर्चः) ऐश्वर्यशाली तेजको मैं (आदिषि) ग्रहण करता हूं अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता हूं। यह वधू (महाबुध्नः पर्वतः इव) बडे मूलवाले पर्वत की तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात् अपने (कन्याके) श्वशुर कुलमें स्थिर रह, जिस प्रकार बडी मूलवाला पर्वत जडोंके खूब जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है, उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे।

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि
ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः समोप्यात् ॥
अथर्व० १।१४।३॥

इस मंत्रमें वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति उक्ति है। कन्याका पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्) हे राजमान वर! (एषा) यह वधू [ते कुलपा] तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है [तां] इस प्रकारकी इस वधू को [ते परिदद्मसि] तुझे हम सौंपते हैं। यह कन्या [ज्योक्] सर्वदा [पितृषु आसाते] तेरे [वरके] पितरों में अर्थात् श्वशुरकुल में स्थित रहे। [आशीर्ष्णः सं ओप्यात्] सिरसे लेकर सब अङ्गोंमें इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वशुरकुलमें यह क्षीण न होवे सर्वदा वृद्धिको प्राप्त होती रहे।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंका अभिप्राय श्वशुरकुल प्रतीत होता है।

पूषाकी पितरोंको प्रेरणा।

आ तत्ते दस्रमन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे।
येन पितॄनचोदयः ॥ ऋ० १।४२।५॥

(दस्र) हे दर्शनीय वा दुष्टोंके नाश करनेवाले (मंतुमः) ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा! (ते अवः वृणीमहे) हम तेरी उस रक्षाको चाहते हैं (येन) जिससे कि तू (पितॄन् अचोदयः) पितरों को प्रेरित करता है।

पूषा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यहांपर ज्ञात होता है।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप।

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥
अथर्व० ५।१९।५॥

[अस्याः] इस ब्रह्मगौका [आशसनं] मारना [क्रूरं] क्रूरता का काम है। यदि [पिशितं अस्यते] उसका मांस खाया जावे तो वह [तृष्टं] प्यास लगानेवाला होता है। [अस्याः यत् क्षीरं पीयते] इसका जो दूध पिया जाता है [तद्] वह दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है।

संपूर्ण सूक्त देखने से ब्रह्म-गौका अर्थ ब्राह्मण की जमीन, वाणी किंवा गाय प्रतीत होता है। यदि राजा ब्राह्मण की जमीन को छीन ले वा उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका यहांपर वर्णन है। इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्मचारियोंका ग्रहण है।

पालक अर्थमें पितर।

खण्वखाइ खैमखाइ मध्ये तदुरि।
वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत ॥
अथर्व० ४।१५।१५

(खण्वखे, खैमखे तदुरि) हे खण्वखा, खैमखा तथा तदुरी नामक जातिवाले मण्डूको! (वर्षं मध्ये वनुध्वं) वर्षाके बीचमें आनन्दित होओ। (पितरः) हे पालक जनो! तुम (मरुतां मन इच्छत) वायुओंका (मनः) मनन करने योग्य ज्ञान प्राप्त करो। अर्थात् किस वायुसे कब व कैसी वृष्टि होती है इत्यादि वायुसंबन्धी ज्ञानके मनन करनेका प्रयत्न करो।

इस मंत्रके आध्यात्मिक अर्थमें पितर इंद्रियोंके लिए आया प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है-

(खण्वखे) हे इडानाडि! (खैमखे) हे पिंगला नाडि! (तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली नाडि! तथा (मध्ये) हे मध्यमें रहनेवाली सुषुम्ना नाडि! तुम (वर्षं वनुध्वं) ब्रह्म-

ज्ञानसे उत्पन्न आनन्दवृष्टिसे आनन्दित होओ । (पितरः) हे इन्द्रियगणो ! तुम (मनः इच्छत) मनके साथ संगत होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ, ताकि ब्रह्मज्ञान का लाभ होसके । ' कण्वबाः--कण्वं आत्मानं खनतीति कण्वबाः । खकारः छांदसः । सेमबाः-सै स्थैर्ये से मन् प्रत्यय । जो स्थिरता उत्पन्न करे । तदुरी—तत् ब्रह्म इयर्तीति तदुरी ।'

मेधाके उपासक पितर ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ।
यजु० ३२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धिकी (देवगणाः पितरः च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं, हे अग्ने ! [तया मेधया] उस मेधासे [अद्य] आज [मां] मुझे [मेधाविनं] मेधावी [कुरु] कर । [स्वाहा] ।

इस मंत्रमें उस मेधाको मांगा गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् । सम विव्यचुरुत यान्यत्विषु रैषां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥ ऋ० १०।५६।४ ॥

[एषां महिम्नः पितरः च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए। और इस प्रकार [देवाः] देव हुए हुए [देवेषु अपि क्रतुं अदधुः] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो [उत] और (यानि अत्विषु) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विव्यचुः) एकत्रित हुए। तथा (पुनः) फिर [एषां] इन पितरोंके [तनूषु] शरीरोंमें (निविविशुः) पूर्णतया प्रविष्ट होगये । पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रसे पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ यजुः ८।६०॥

(यज्ञः) यज्ञ (देवान् दिवं अगन्) देवोंको व द्युको गया है । (ततः) इस कारणसे (मा द्रविणं अष्टु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे ।

पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहां हमें मन्त्रसे पता चल रहा है । इस मंत्रमें यज्ञके महत्वका वर्णन है।

जनक अर्थमें पितर ।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः। देवत्वष्टर्भूरि ते संसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ यजुः ६।२०॥

(ऐन्द्रः प्राणः) आत्मासंबंधी प्राण (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्गोंमें (निदीध्यत्) प्रकाशित होवें । (उदानः अङ्गे अङ्गे निधीत) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें । (देवाः त्वष्टः) त्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विषुरूपं भवाति) जो एकसा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (सं समेतु) भली प्रकार एकत्रित करें वा एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यंतं त्वा देवोंके प्रति जाते हुए तेरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मदन्तु) प्रसन्न होवें ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशिनी ॥
अथर्व० ६।४४।३॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधिका वर्णन है। हे ओषधि ! तू (रुद्रस्य मूत्रं असि) भयंकर रुलानेवाले रोगसे छुडानेवाली है। अर्थात् तेरे सेवनसे भयंकर रोगका भी शमन होजाता है । तू (अमृतस्य नाभिः) अमरताकी जननी है । तेरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम असि) तू विषाणका नामवाली है। तू (पितॄणां मूलात् उत्थिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वातीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिको पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया है। पितरों के मूल से उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है, तथा वे पितर कौन हैं, जिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैद्योंके खोज करनेका

विषय है। संभव है वैद्यगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें। वैद्यगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा।

स्वर्गवर्णन।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ अथर्व० ६।१२०।३॥

[यत्र] जहांपर [सुहार्दः सुकृतः] साधु हृदयवाले श्रेष्ठ कर्मोंके करनेवाले [स्वायाः तन्वः रोगं विहाय] अपने शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त हुए हुए [मदन्ति] आनन्द भोगते हैं, [तत्र स्वर्गे] वहांपर स्वर्गमें [अश्लोणाः] अपङ्ग न होते हुए [अङ्गैः अह्रुताः] शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात् अङ्गादिके टेढे न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ] माता, पिता तथा (पुत्रान्) पुत्रोंको देखें।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है। जहांपर नीरोगी होते हुए मनुष्य सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रका आशय प्रतीत होता है।

पितरोंका धन आदि देना।

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः। यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ अथर्व० ६।७१।२॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोडा, सोना आदि धन [हुतं] दिया हुआ अथवा [अहुतं] किसीसे न दिया हुआ, स्वयं कमाया हुआ और जो [पितृभिः दत्तं] पितरोंसे दिया हुआ जिसको कि [मनुष्यैः अनुमतं] मनुष्योंने अनुमति दी है अर्थात् जो साधिकार न्यायसे [मा] मुझे [आजगाम] प्राप्त हुआ है, और [यस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उत् इव रारजीति] मेरा मन उदयको प्राप्त हुआ हुआ अत्यंत शोभायमान हो रहा है, [तत्] उस धनको [होता अग्निः] दाता अग्नि [सुहुतं] उत्तमतासे दिया हुआ बनावे। अर्थात् उसको मैं सन्मार्गमें लगाऊं ऐसी मुझे सन्मति प्रदान करे।

व्रात्य व पिता, पितामह आदि।

स सर्वानन्तर्देशाननुव्यचलत्॥ अथर्व० १५।६।२७॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन्॥ अथर्व० १५।६।२५।

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ अथर्व० १५।६।२६॥

(सः) उस व्रात्यने (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतरी देशोंमें (अनुव्यचलत्) विचरण किया॥ १५।६।२७॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेष्ठी यानि ऊंचेपदवाले विद्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह विचरने लगे॥ १५।६।२५॥ (यः) जो व्यक्ति (एवं) इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५।६।२५) में कहे अनुसार (वेद) जानता है, वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता तथा पितामहका (प्रियं धाम) प्रिय घर बनता है अर्थात् उसीके घरमें यह पूजनीय वर्ग आता है दूसरेके घरमें नहीं।

व्रात्य अर्थात् अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है। अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके घरको अपने आगमनसे पवित्र करे।

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रोऽभवत्॥ अथर्व० १५।७।१॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त॥ अथर्व० १५।७।२॥

(सः) उस व्रात्यने (महिमा) अपनी महिमासे (सद्रुः भूत्वा) वेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया। और (सः) वह व्रात्य (समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ॥ १५।७।१॥ (तं) उस व्रात्यके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, (आपः) श्रेष्ठ कर्म, (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं भूत्वा) वर्ष बनकर (व्यवर्तयन्त) वर्तमान हुए वा वर्ताव करने लगे। यहां परभी व्रात्यकी महिमा गाई गई है।

पितरोंका उत्पत्तिके विषयमें अज्ञान।

नैतां विदुः पितरो नोत देवाः येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः॥ अथर्व. १९।५६।४॥

(येषां) जिन ३३ देवोंकी (अस्पिः) दुःस्वप्नकी कारणभूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस जगतके बीचमें (चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और नहीं देव। (वरुणेन अनुशिष्टाः) वरुण द्वारा भली प्रकार उपदेश किए गए (आदित्यासः नरः) आदित्य नरोंने (स्वप्नं) स्वप्नको (आप्त्ये त्रिते) आप्त्य त्रितमें (अदधुः) स्थापित किया।

इस मंत्रसे प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर अस्पिको नहीं जानते।

नाराशंस पितर।

…पितरो नाराशंसाः ॥ यजुः। ८। ५ ॥

(नाराशंसाः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितरः) पितर नाराशंस पितर कहलाते हैं।

पिता-पितामह आदि पितर।

जीवं रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे। ऋ० १०।४०।१० ॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

जीवं रुदन्ति विमयन्त्यध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः। वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ अथर्व. १४।१।४६ ॥

(नरः) जो नर (जीवं रुदन्ति) पत्नियोंके जीवनके उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंकी बहुत परवाह करते हैं, उनकी दुर्दशापर रोते हैं तथा जो (अध्वरे विमयन्ते) यज्ञमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ यज्ञ में बैठते है, अथवा जो स्त्रियों की हिंसा नहीं करते, और जो (दीर्घां प्रसितिं) भुजाओंका लंबा लंबा आलिंगन स्त्रियोंको (अनुदीधियुः) देते हैं अर्थात् उनसे खूब प्रेम करते हैं, और (वे) जो (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (वामं) सुन्दर संतानको (समीरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे [पतिभ्यः] पतियोंके लिए [जनयः) पत्नियां [परिष्वजे] आलिंगन के लिए [मयः] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतियोंको ही वास्तव में पत्नीसुख मिलता है।

इस मंत्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किनको मिलता है, यह उत्तमतया दर्शाया गया है। पितरोंके लिए संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठानेका भी यहां निर्देश है।

—:०:—

(२) यम।

अबतक के प्रकरणों में पितरों का विषय था वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणोंमें यम पर विचार करेंगे। यमविषयक मंत्रोंके हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभागमें उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभागमें विशेषणविशिष्ट यम होगा। विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयोंमें कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभागके शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

> यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति। यस्य दूतः प्रहितः एष एतत्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ऋ० १०।१६५।४॥

[उलूकः यत् वदति] उल्लू जो अशुभ बोलता है [एतत्] वह उसका बोला हुआ [मोघं] निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूने जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। [कपोतः] और कबूतर [अग्नौ यत् पदं कृणोति] अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि सेकता है, वह भी निष्फल हो। इस अपशकुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। [एषः] यह उल्लू या कबूतर [यस्य प्रहितः दूतः] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [मृत्यवे यमाय] मारनेवाले यम के लिए [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे।

इस मंत्र में उल्लू के बोलने या कबूतर के पैर से अग्नि सेकने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की प्रार्थना है। अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहां देख सकते हैं। ऐसे अपशकुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा ज्ञात पडता है। अतएव इन अपशकुनोंके करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपशकुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको लक्ष्यमें रखना चाहिए। अस्तु, यहां यम उसी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

> यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः। योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व० ६।२८।३॥

[यः] जिस यमने [अनुपस्पशानः] खोज करते हुए [बहुभ्यः प्रथमः] बहुतोंसे पहिले होकर [प्रवतं पन्थां आससाद] प्रकृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [यः] जो [अस्य द्विपदः] इस दो पैरोंवाले मनुष्यजगत्का व [अस्य चतुष्पदः) इस चारपैरोंवाले पशुजगत्का (ईशे) स्वामी है, (तस्मै) उस [मृत्यवे यमाय] मृत्यु करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

यहां पर भी यम उसी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ अथर्व० ६।६३।२॥

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज नष्ट करनेवाली निर्ऋति! (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार है। [अयस्मयान् बन्धपाशान्] लोहेकी बनी हुई बेडियोंको (विचृत) खोलदे, काटदे। (यमः) यमने (त्वां) तुझे (मह्यं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्मतेज– 'तिग गतौ हिंसायां च' से हिंसा अर्थ में तिग शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेजका नाश करे वह तिग्मतेज।

निर्ऋतिका अर्थ है कष्ट, दुःख, अनिष्ट।

यम यहां पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एवोष्वस्मान् निर्ऋते नेहा त्वमयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० ६।८४।३ ॥

(निर्ऋते) हे निर्ऋति ! (त्वं) तू (अनेहा) न मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एवो) उसी पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय-लोहके बने हुए (बन्धपाशान्) बेडियोंको (विचृत) खोलदे काट दे। (यमः त्वा पुनः इत) यमने तुझको फिर भी (मह्यं ददाति) मुझे सौंपा है। (तस्मै मृत्यवे यमाय) उस प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

> मा वो मृगो न यवसे जरिता भूदजोष्यः। पथा यमस्य गादुप ॥ ऋ० १।३८।५ ॥

हे मरुतो ! [यवसे मृगः न] जिस प्रकार पशु घास आदि भक्ष्य पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता अर्थात् सृष्टिमें उसे जैसे सदा घास आदि भक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रतासे मिलते रहते हैं, उसी प्रकार (वः जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला (अजोष्यः) अप्रीतिकर अथवा असेवनीय अर्थात् उपभोग-सामग्री की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे। उपासकको भी मृगकी तरह स्वतंत्रतासे उपभोगसामग्री प्राप्त होती रहे। और वह उपासक (यमस्य पथा) यमके मार्ग से (मा उपगात्) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युको प्राप्त मत होवे।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका ही उल्लेख है।

> देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत। बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० १०।१३।४॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में इस प्रकार से आया है—

> बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा रिरेच ॥ अथर्व० १८।३।४१॥

[देवेभ्यः] देवोंके लिए [कं मृत्युं] किस मृत्युको (अवृणीत) स्वीकृत किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु कौनसी है ? [प्रजायै] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि संततिके लिए [किं अमृतं न अवृणीत] क्यों अमरता स्वीकृत नहीं की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया ? मनुष्योंने [बृहस्पतिं ऋषिं] बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए [यज्ञं अकृण्वत] यज्ञ बनाया, तोभी [यमः] यमने उनके [प्रियां तनुं] प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें अमरताका लाभ न हुआ। अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है—

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न था ? अर्थात् देवभी सब मरते थे। तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अवृणीत) अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजायै) प्रजाके लिए (किं अपि अमृतं न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः) प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं) उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है।

यहांपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी नश्वरताका वर्णन किया गया है।

> ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ अथर्व० ४।४०। २ ॥

[जातवेदः] हे जातवेद ! ये जो शत्रु [दक्षिणतः] दाहिनी ओरसे [जुह्वति] यज्ञ करके हम पर आक्रमण करते हैं और जो [दक्षिणायाः दिशः] दक्षिण दिशासे [अस्मान् अभिदासन्ति] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते हैं [ते] वे शत्रु [यमं ऋत्वा] यमको प्राप्त करके [पराञ्चः] पीठ मोड कर भागते हुए [व्यथन्तां] व्यथित होवें अर्थात् उनका दुर्दशापूर्वक नाश होवे। [एनान्] इन शत्रुओंको मैं [प्रतिसरेण] प्रति सरसे हन्मि] मारता हूं।

प्रतिसर सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि जिससे आभिचारिक कर्मका निवारण हो।

> रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि यमेन समजीगमत् ॥ अथर्व० ६।३२।२ ॥

[पिशाचाः] हे पिशाचो ! [वः ग्रीवाः] तुम्हारी गर्दनोंको [रुद्रः] रुद्रने [अशरैत्] काट डाला है। [यातुधानाः] हे

पीडा देनेवालो ! [वः पृष्टीः अपि] तुम्हारी पसलियां भी वह शत्रु (शृणातु) काट डाले । [विश्वतः वीर्या वीरुद् ।] सम्पूर्ण तथा वीर्यसे युक्त औषधि ! [वः] तुम्हें [यमेन सं अजीगमत्] यमके साथ भली भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले।

इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थ जहरीली औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है । यमका अर्थ यहां अत्यन्त स्पष्ट है।

> यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः । देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथर्व० ६।९३।१ ॥

(यमः) यम, (मृत्युः) मृत्यु, (अघमारः) पापसे वा पापके कारण मारनेवाला, (निर्ऋथः) निरन्तर पीडा देनेवाला (बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) उठाकर फैंक देनेवाला, (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (ते) उपरोक्त (देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्) हमारे वीर सैनिकों को (परिवृञ्जन्तु) छोड देवें अर्थात् लडाई में हमारे सैनिकोंका विनाश न हो, अपितु उपरोक्त सब शत्रुसैनिकोंका विनाश करें । यहांपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें की गई है।

> ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ अथर्व० ६।११०।२॥

(ज्येष्ठघ्न्यां जातः) ज्येष्ठघ्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः) विचृत् में पैदा हुए हुए इस कुमारको (यमस्य मूलबर्हणात्) यमके मूलोच्छेदनसे हे अग्नि! (परि पाहि) रक्षा कर । इसे मरनेसे बचा । (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व पापों विघ्नोंसे (अति) बचाकर (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घायुके लिए (नेषत्) ले चल । इसे सौ वर्षकी पूर्ण दीर्घायु प्राप्त होवे ।

ज्येष्ठघ्नी—ज्येष्ठा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान ज्येष्ठका नाश करती है । इस विषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका निम्न वचन है- ' ज्येष्ठ एषां अवधिष्मेति तज्जेष्ठघ्नी ' ।

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

विचृत्—हिंसक स्वभाववाले, मूल नक्षत्रका नाम है । इसमें पैदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है । इसमें निम्न तै० ब्रा० का वचन है- ' मूलं एषां अवृक्षामेति तन्मूलबर्हिणी ' ॥

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

यहांपर यमका जो संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश करना है, उससे बचानेकी प्रार्थना है । एवं यम यहांपर विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है ।

> विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न एतु । इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेषामसवो यमं गुः ॥ अथर्व० १८।३।६२ ॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सूर्य अमरतामें (दधातु) स्थापित करे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर भाग जाय । (अमृतं नः एतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे । (इमान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सूर्य (जरिम्णः आरक्षतु) बुढापे तक रक्षा करे । (एषां असवः मो यमं गुः) इनके प्राण यमको मत जावें ।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट रूपसे पता चलता है। यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा कि हम आगे चलकर दिखायंगे, पर इसके साथ साथ यम नाश करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है। इसीको हम यूं भी कह सकते हैं कि प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके अधिकारीका नाम यम है। हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है। इसकी बाकायदा प्रजा है, इसका लोक है, इसके दूत हैं, इत्यादि ।

अश्विनौ व यम ।

> वीळुपत्मभिराशुहेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः शाशदाना। तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय ॥ ऋ० १।११६।२॥

हे (शाशदाना) चीराफाडी करनेवाले (नासत्या) अश्विनो (विळुपत्मभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशुहेमभिः) शीघ्रगामी घोडोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः) देवोंकी प्रेरणाओंसे (तत् रासभः) उस रासभ अर्थात् गर्दभने जो कि तुम्हारी अश्विनौकी (सवारी है) (यमस्य) यमको (प्रधने आजौ)जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संग्राम में (सहस्रं) हजारोंको जीत लिया।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लडाईका आलंकारिक वर्णन है । यम मारनेवाला है, और अश्विनौ देवोंके वैद्य होनेसे जिलानेवाले हैं। यहांपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी जीतका वर्णन है ।

शाशदाना—शदल् शातने से यह शब्द बना है। इसका अर्थ चीराफाडी करनेवाला है ।

राक्षस-मर्दन, मथा। वह अश्विनोकी सवारी है देखो निघण्टु १।१५॥

> अमुत्र भूयादध यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः॥
> प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः
> यजुः २७।९; अथर्व० ७।५३।१॥

[बृहस्पते] हे बृहस्पति! [यमस्य अमुत्र भूयात् अभिशस्तेः] इस परलोकमें यमके कष्टसे [अमुंचः] हमें छुडा अर्थात् यम हमें मारने न पावे। [अग्ने] हे अग्नि! [देवानां भिषजा अश्विना] देवके वैद्य अश्विनी [शचीभिः] अपनी शक्तियों से सामर्थ्योंसे [अस्मत् मृत्युं] हमारी मृत्युको [प्रत्यौहतां] दूर करें।

अश्विनी मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं, ऐसा यहां पर व्यक्त होता है। यमकी हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार अश्विनोका जिस यमसे मुकाबला पडता है वह भी यम वही है, जो हम ऊपर दर्शा आए हैं। उपरोक्त यमकी ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है।

विष्टारी ओदन व यम।

> विष्टारिणं ओदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः॥ अथर्व० ४।३४।३

[ये] जो [विष्टारिणं ओदनं] विस्तारवाले अर्थात् फैले हुए ओदनको [पचन्ति]पकाते हैं [एनान्] उनको [अवर्तिः] दरिद्रता [कदाचन] कभी भी [न सचते] प्राप्त नहीं होती अर्थात् वे कभी भी गरीब नहीं होते। वह ओदन पाचक [यमे आस्ते] यममें स्थित होता है, [देवान् उपयाति] देवों को प्राप्त होता है और [सोम्येभिः गन्धर्वैः] सोम्य गंधर्वों के साथ [संमदते] आनन्दित होता है।

विष्टारी ओदन पाचक की यममें स्थिति होती है, ऐसा यहां दर्शाया गया है।

एवं इस मंत्रमें विष्टारी ओदनकी महिमाका वर्णन किया गया है। यहां यमका अर्थ योगशास्त्रोक्त अहिंसादि पञ्चयम प्रतीत होता है। परन्तु इससे अगले मंत्र अर्थात् ४।३४।४ में यम उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है। वह मंत्र इस प्रकार है—

> विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः। रथीह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति॥ अथर्व० ४।३४।४॥

(ये) जो (विष्टारिणं ओदनं पचन्ति) विस्तृत ओदनको पकाते हैं (एनान् रेतः यमः न परिमुष्णाति) उनका वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता। (ह) निश्चयसे वह ओदन पाचक (रथी भूत्वा) रथ पर सवार होकर (रथयाने) रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचरण करता है। अर्थात् वह रथादि यानों से संपन्न हुआ हुआ सर्वत्र विचरण करता है। (पक्षी भूत्वा) पक्ष-पंखोंवाला होकर अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर (दिवः समेति) द्युलोक में विचरण करता है। वह आकाश, भूमि आदि सर्व स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है। उसके जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं।

यम जो सबका सामर्थ्य हरण कर लेता है, वह भी इसका वीर्य नहीं हरता। इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विष्टारी ओदनकी महिमा गाई गई है। यमको भी इसके पाचकके साम ने हार माननी पडती है ऐसा इस सारे का अभिप्राय व्यक्त होता है।

विष्टारी ओदन- विष्टारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात् जिसका परिमाण बडा विस्तृत है। ओदन शब्द यहांपर अन्न का उपलक्षण है। विष्टारी यज्ञ ओदन से किया जाता है। इस अन्नदानयज्ञकी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है।

यमका कर्ता अग्नि।

> अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम्॥ ऋ० १०।५२।३॥

(अयं यः होता) यह जो दान–आदान करनेवाली अग्नि है (स) वह (यमस्य किः) यमकी कर्ता है। वह (कं अपि ऊहे) अन्नका भी वहन करती है (यत्) जिस अन्न को (देवाः समञ्जन्ति) देव लोक खाते हैं। वह अग्नि (अहः अहः जायते), प्रतिदिन हवनके समय उत्पन्न होती है अर्थात् इसे प्रज्वलित किया जाता है। और वह (मासि मासि) प्रत्येक मासमें वा प्रत्येक पक्षमें मासिक व पाक्षिक यज्ञमें प्रकट होती है। (अथ) और (देवाः) देवगण

(हव्यवाहं) हव्यका वहन करनेवाली इस अग्निको (दधिरे) स्थापित करते हैं।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है। यहांपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु को शुद्ध करती है। प्रचण्ड अग्नि के उद्दीप्त होनेपर हवा खूब जोर से चलने लगती है। इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये।

क= अन्न। मास=मास तथा पक्ष।

यमकी बेडी।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥
॥ ऋ० १०।९७।१६॥ यजुः १२।९०॥
अथर्व. ६।९६।२॥ तथा ७।११२।२॥

(मा)मुझे औषधियां (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवालेपापसे (मुञ्चन्तु) छुडावें। (अथ उत) और (वरुण्यात्) वरुण संबन्धी किए गए पापसे छुडावें। [अथ] और [यमस्य] यमकी [पड्वीशात्] पैरोंकी बेडियोंसे छुडावें। [सर्वस्मात् देवकिल्बिषात्] सभी देवोंके संबन्धी पापोंसे औषधियां मुझे छुडावें। पड्वीश= पादबंधन, शृंखला=पैरों की बेडी।

उत् त्वाहार्षं पञ्च शलादथो दशशलादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥
अथर्व० ८।७।२८॥

[त्वा] तुझे [पंचशलात्] पंचभूतमें होनेवाले पापसे [अथ उत] और [दशशलात्] दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे [अथ] और [यमस्य पड्वीशात्] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [विश्वस्मात्] सारे [देवकिल्बिषात्] देवोंके प्रति किए गए पापोंसे [उत् आहार्षं] बचाकर ऊपर ले गया हूं।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है। यहांपर भी यम मारनेवाला ही है, यह स्पष्ट पता चल रहा है। आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पड्वीश आदिका खुलासा स्वयमेव हो जाएगा।

वैवस्वत यम।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० १०।५८।१॥

[ते] तेरा [यत् मनः] जो मन [दूरकं] बहुत दूर [वैवस्वतं यमं] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [जगाम] चला गया है, [ते तत्] तेरा वह मन पुनः [इह] इस लोकमें [क्षयाय] निवास करनेके लिए व [जीवसे] जीवन धारण करनेके लिए हम [आवर्तयामसि] लौटाते हैं।

यहांपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है। यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है। वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान् की संतान। इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लडका है। इसपर हम थोडासा प्रकाश आगे चलकर डालेंगे।

क्षयाय=निवास करनेके लिए, रहनेके लिये। 'क्षि निवासगत्योः

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥
ऋ० १०।६०।१०

[अहं] मैं [वैवस्वतात् यमात्] विवस्वान् के पुत्र यमसे [सुबन्धोः मनः आभरम्] सुबन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूं। किस लिए? [जीवातवे] इस लोकमें जीनेके लिए [मृत्यवे न] मरनेके लिए नहीं। [अथ] और [अरिष्टतातये] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है। यहांपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है। निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाको स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है। इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है। विव— स्वान् कौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा। मंत्र इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥
ऋ० १०।१७।१; अथर्व० १८।१।५३॥

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति इकठ्ठा होता है। (परि उह्यमाना) ब्याही जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम सरण्यू है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के साथ

विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-की पुत्री सरण्यू यमकी माता है व विवस्वान्की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम-का पिता वह विवस्वान् कौन है।

यास्काचार्य इस मंत्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि 'यमस्यमाता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते। ' अर्थात् यमकी माता व्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान्की जाया है नष्ट हो गई। 'जाये जाया विवस्वतो ननाश' का स्पष्टीकरण करते हैं कि ' रात्रि सूर्यकी जाया, सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है। '

इस प्रकार विवस्वान्का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुंचते हैं– यमकी माताका नाम सरण्यू है व पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है। अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमंत्रोंमें वैवस्वत'के नामसे पुकारा गया है। वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्यका नहीं, अत एव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उसीका ग्रहण होता है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें अकेले ' वैवस्वत ' शब्दकाही प्रयोग है।

> भद्रं वै वरं वृणते भद्रं युञ्जन्ति दक्षिणम्। भद्रं वैवस्वते चक्षुर्बहुत्रा जीवतो मनः ॥
>
> ऋ० १०।१६४।२ ॥

इस मंत्रमें दुष्ट स्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है। अर्थ इस प्रकार है–

सब लोक [वै] निश्चयसे [भद्रं वरं वृणते] कल्याणकारी वरको ही चाहते हैं। [दक्षिणं भद्रं] बढे हुए कल्याणसे ही अपना [युञ्जन्ति] योग रखना चाहते हैं [वैवस्वते भद्रं चक्षुः] विवस्वान् के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुको अर्थात् उसकी कृपादृष्टि को चाहता हूं, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न पहुंचावें। क्योंकि [बहुत्रा] बहुतसे विषयोंमें [जीवतः] जीते हुए अर्थात् लगे हुए मेरा [मनः] मन उनमें विचरण करता रहता है, अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व वातावरण रहनेसे दुःस्वप्न नहीं आसकता। दुःस्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है, यह उपरोक्त विवेचनासे तो पुष्ट हो ही रहा है, पर आगे चलकर ' यम व स्वप्न ' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना संबन्ध है। दुःस्वप्न यमका साधन है अर्थात् दुःस्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु। यहांपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

> वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति। मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ अथर्व० ६।११६।२॥

(वैवस्वतः) विवस्वान्का पुत्र (भागधेयं कृणवत्) भागको करे अर्थात् बँटवारा करे। [मधुभागः] उत्तम भाग करनेवाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे। अर्थात् हम भी उत्तम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वप्रिय बनें। (यत् एनः) जो पाप (मातुः नः आगन्) मातासे हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह (यद् वा) अथवा जिस पापसे (पिता अपराद्धः) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता (जिहीडे) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त शांत होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हमें यमके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है–

(१) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनोंका अपहरण करनेवाला है।

(२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है, अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

(३) उसकी माताका नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका रहनेका कोई स्थान है वा नहीं, वह प्राणियोंको मारकर कहां-पर लेजाता है, इत्यादि।

यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके संबन्धमें विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहांपर है, इसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। निम्न लिखित मंत्रमें यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है–

> उप्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनुदत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधि रज्जुरायात् ॥ अथर्व० ६।११८।२॥

हे [उग्रंपश्ये] तीव्रदृष्टिवाली तथा हे [राष्ट्रभृत्] राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाली अप्सराओ ! [किल्बिषाणि] सर्व पाप व (यत् अक्षवृत्तं) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुंचे इस प्रकारसे दो, उस पापको दूर करो । और (ऋणात् ऋणं एत्संमानः) ऋणसे ब्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (अधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता । मरनेवाला यदि ऋण विना चुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पडेगा । उत्तमर्ण वहांपर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुंचेगा । ऋण लेना कितना कष्टप्रद है यह इससे पता चलता है ।

> यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥
>
> अथर्व० १२।११।३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें लेना चाहिए । पूर्व मंत्र इस प्रकार है—

> ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनु संदह ॥
>
> अथर्व० १२।११।२॥

हे [अघ्न्ये] अहिंसा करनेके अयोग्य ! हे देवी ब्रह्मगौ ! [ब्रह्मज्यं] ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घातकको [आमूलात्] जडसे लेकर ऊपरतक [अनुसंदह] संपूर्ण जला दे ॥ १२।११।२ ॥ [यथा] जिससे कि वह ब्रह्मघातक [यमस्य सादनात्] यमके सदनसे भी [परावतः] दूर स्थित (पापलोकान्) पापियोंके लोकको [अयात्] जावे ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंको यमलोकमें स्थान नहीं मिलता, वे उस यमलोकसे भी परें स्थित पापलोक में जाते हैं । इसके उलट यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त अन हैं । अतः यमलोक निकृष्ट स्थान नहीं है ।

> इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते ।
>
> इयमस्य धमते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः ॥
>
> ऋ० १०।१३५।७ ॥

(इदं यमस्य सादनं) यह यमका घर है । (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार कहा जाता है । (अस्य इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है । (अयं) यह यम (गीर्भिः) स्तुतियुक्त वाणियोंसे (परिष्कृतः) शोभित होवे ।

इन मंत्रोंसे हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है । निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहांका राजा है । उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पडा है । अतएव वह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे प्रसिद्ध है ।

> पुमान् पुंसोऽधितिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते । यावन्तावग्ने प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥ अथर्व० १२।३।१ ॥

(पुमान् पुंसः अधितिष्ठ) हे पुरुष ! पुरुषोंका अधिष्ठाता बन अर्थात् उच्चाधिकार को प्राप्त कर । (चर्म) सुखको (इहि) प्राप्त कर । (तत्र) उस सुखमें (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है उसे (ह्वयस्व) बुला । (अग्रे) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरनेसे पूर्व की आयु में(समेयथुः)प्राप्त किया है (तत् वां वयः) वह तुम्हारा अन्न वा आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो ।

इस मंत्रमें बडे महत्वका उपदेश है । सबसे पूर्व मनुष्य को उन्नति करनेके लिए कहा गया है । तदनंतर सुख प्राप्त करके अपने अनुसार पत्नीके चुननेके लिए कहा गया है । इसीको स्वयंवर कह सकते हैं । इस प्रकारके विवाहके बाद दम्पती मिलजुलकर अपने भविष्यको उज्ज्वल बनानेका प्रयत्न करें । जितना वे इस लोकमें कमावेंगे उतना यमलोकमें मिलेगा यह ' वां वयः यमराज्ये समानं ' से दर्शाया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्रियां भी पतिके साथ यमलोकमें जाती हैं । अर्थात् जितना मृत पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य है, उतना ही मृत माभी, दादी आदि स्त्रीवर्गके लिए भी है ।

> समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु । पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद् यद् रेतो अधि वां संबभूव ॥ अथर्व० १२।३।३ ॥

(अस्मिन् लोके) इस लोकमें (सं) अच्छी तरह या साथ साथ तुम पतिपत्नी (एतं) विचरण करो। (उ) और (देवयाने) देवोंके मार्गमें (सं) मिलकर विचरण करो। (यमराज्येषु) यमराज्योंमें (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो। (यत् यत् रेतः) जो वीर्य (त्वां अधि संबभूव) तुम दोनोंमें उत्पन्न हुआ है, (तत्) उस वीर्यको (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतौ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उप-ह्वयेथां) अपने पास बुलाओ, अर्थात् पवित्र कार्योंमें ही वीर्यका उपयोग करो, व्यर्थ नष्ट मत करो।

इस मंत्रमें वीर्यके सदुपयोगके लिए गृहस्थ दंपतीको उप-देश दिया गया है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात यह दर्शाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिये कि वे सर्वत्र साथ ही रहें। चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोकमें या अन्य किसी लोकमें। उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सके। यह वैदिक आदर्श यहां स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्त्वका है। इसका मनन करना चाहिए।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥
अथर्व० १२।४।३६ ॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यमके राज्य में (प्रददुषे) प्रकृष्टके दानीके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार की कामना-ओंको (दुहे) पूर्ण करती है। (अथ) और (याचितां) मांगी हुई के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशाको मांगे और उसको यदि न दी जावे तो न देने-वालेका (लोकं) लोकको (नारकं) महाकष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है।

इस मंत्रमें वशा गौकी महिमाका वर्णन है। वशा गौको दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं होता। उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिकूल वशाको न देनेवालेको नरक मिलता है।

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥
अथर्व० १८।४।३१ ॥

हे पुरुष! (सविता देवः) प्रेरक देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पहिननेके लिए (एतत् वासः) यह वस्त्र (ददाति) देता है। (तत् तार्प्यं) उस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्यमें (चर) विचरण कर।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुंच गया है, उसको वस्त्र देनेका विधान है।

निम्न लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुषको तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है, तथा यमराजासे इनको उस पुरुषके देनेके लिए अनुमति मांगी गई है-

यास्ते धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तूद्भ्वीःप्रभ्वीः तास्ते यमो राजानुमन्यताम्॥
अथर्व० १८।४।४३ ॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः धानाः) जिन तिलोंसे मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूं, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उद्भ्वीः) उदय करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रामें (सन्तु) होवें। (ताः) उन्हें (ते) तुझे देनेके लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुमन्यतां) अनुमति देवे। यमके राज्यमें विना यमकी अनुमितिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है।

इस मंत्रमें यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है। ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किस रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है-

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥
अथर्व० १८।४।३२॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) तृप्त करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है। (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (वत्सः) बछडा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है। (वै) निश्चयसे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गायपर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीता है।

यहां पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किस स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है। इन दोनों मंत्रा-नुसार धान व तिल यमलोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए

क्योंकि उसके जीनेके वे एकमात्र आधार हैं।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है। यमराज्यसे भी यमलोकका ही ग्रहण है। वहाँ पर यम मृतोंको ले जाकर रखता है।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

> ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह। यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उपतिष्ठतामिह॥ अथर्व० १८।२।३७॥

(अस्मै) इस मृत पुरुषके लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूं। क्योंकि (एषः यः) यह जो है वह (आगन्) यमलोकमें आया है और (इह) यहांपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहां आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूं, अपने राज्यसे नहीं निकालता। इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यस्मै' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है। और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम राये) मेरे धनके लिए (इह) यहां यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग ले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है। अबतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यमका यमलोकमें राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है। अब हम यह देखेंगे कि यमलोक कहांपर है अर्थात् इसकी स्थिति कहां है।

यमकी दक्षिण दिशा।

> इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः॥ अथर्व० ९।७।२०॥

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है। और (यमः) यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें ठहरा हुआ है।

इस मंत्रसे हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशा में रहता है, यानि यमलोक दक्षिण दिशामें है।

द्युलोकमें यमलोक।

> नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा। सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना॥ ऋ० १०।६४।३॥

(नरा शंसं, पूषणं, अगोह्यं, देवेद्धं अग्निं) नरोंसे प्रशंसा करने योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसी अग्निकी (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुतियुक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है। (सूर्यामासा चन्द्रमसो) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) द्युलोकमें विद्यमान यमकी, (त्रितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उषसं) उषाकी, (अक्तुं) रात्रिकी व (अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनौ की भी स्तुति कर।

यहां पर इतना बताया गया है कि यमकी द्युलोक में स्थिति है। पूर्व मंत्रसे यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है। इसका मतलब यह हुआ की द्युमें दक्षिणकी ओर कहीं पर यमलोक है।

हमें पितृलोकके प्रकरणमें 'उदन्वती द्यौरवमा' इत्यादि मन्त्रसे पता चला था कि तीन द्यु हैं। उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं।

अब हमने यह देखना है कि इन तीनोंमेंसे यमकी द्यु कौनसी है। इसके निर्णयके लिए हमें पितृलोकमें आया हुआ 'तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां' इत्यादि मंत्र सहायता देता है। इस मंत्रमें यह कहा गया है कि, तीन द्युलोक हैं, जिनमेंसे दो सूर्यके समीप हैं। ये दो सूर्यके समीपकी द्यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली है। बीचमें सूर्य है और उसके ऊपर नीचे ये दोनों द्यु हैं। आगे चलकर इसी मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो द्यु है, वह यमलोकमें है, जिसमें वीरगण निवास करते हैं। इसी द्युको लक्ष्यमें रखते हुए संभवतः गीतामें कहा है, कि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'। वीर लडाईमें मरनेपर स्वर्गमें जाता है और वह स्वर्ग यही यमलोकमें विद्यमान द्यु है। जैसा कि 'विराषाट्' विशेषणसे प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार इन दोनों मंत्रोंका अभिप्राय यह हुआ कि यमलोकमें जो द्यु है, वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है। परिशेष न्यायसे जो तीसरी

बच गई वह यमलोकमें है, यह मानना पडेगा। तीसरी द्युमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं इस परिणामको निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥
यजुः १९।४५ ॥

(यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः समनसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एक संकल्पवाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्थ दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञः) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विफल न हों।

इस मंत्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी द्यु है। अतः वह द्यु यमके राज्यमें ही है, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी द्युमें है और उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है यह निम्नलिखित मंत्र बता रहा है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥
ऋ० ९।११३।८॥

(यत्र) जहांका (वैवस्वतः राजा) विवस्वान् का पुत्र यम राजा है, जहां कि (दिवः अवरोधनं) द्युलोककी समाप्ति है, वहां तथा जहां (अमूः) ये (यह्वतीः आपः) बडे बडे जल हैं, (तत्र) वहां (मां अमृतं कृधि) मुझे अमृत बना। (इन्दो) हे इन्दु ! (इन्द्राय) ऐश्वर्यके लिए (परिस्रव) चारों ओरसे बह अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे।

इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न लिखित परिणाम पर पहुंच सकते हैं— यमलोक जहां कि यमका राज्य है, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित तृतीय द्युमें है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं। यह बात ' पितर व यमके सहकार्य ' नामक शीर्षकमें और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी। निम्न मंत्रमें अलंकार रूपमें उस विराट्का वर्णन प्रतीत होता है। उस विराट्को बैलकी कल्पना करके उसका वर्णन किया गया है-

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो।
अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ अथर्व० ९।७।१॥

उस विराट् बैलको (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो सींग हैं यानि शृङ्गस्थानीय हैं। (इन्द्रः शिरो) इन्द्र उसका सिर है अर्थात् इन्द्र शिरः स्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका ललाट (माथा) है और (यमः) यम उसकी (कृकाटं) गर्दनका भाग है।

यमको विराट्की रचनामें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकरणसे हमें यमलोक, यमराज्य तथा उसकी स्थिति का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजाके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान्॥
अथर्व० ८।२।११॥

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपानको (कृणोमि) स्थिर करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुको तथा (स्वस्ति) कल्याणको भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढापे व मृत्युको दूर भगाता हूं। (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान्के पुत्र यमद्वारा भेजे हुए संसारमें विचरण करते हुए सब यमके दूतोंको (अपसेधामि) दूर भगा देता हूं।

इस मंत्रमें यमदूतोंका उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियोंको ले आनेके लिए संसारमें भेजता है। उन दूतोंको दूर भगानेका निर्देश यहां है।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। परः
सहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
अथर्व० ८।८।११॥

(मृत्युदूताः) हे मृत्युके दूतो ! (अमून्) इन शत्रुओंको (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यमके दूतो ! (अप उम्भत) इन्हें कसकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न जावें। (परः सहस्राः) हजारोंकी संख्याओंसे भी अधिक (हन्यन्ताम्) मार डालो। (एनान्) इन शत्रुओंको (भवस्य

मर्त्यं) सबकी मुष्टी अर्थात् घूंसा (तृणेढु) चूर चूर कर डाले ।

इस मंत्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंसे कहा गया है। मारना यमदूतोंका कार्य है, यह यहां पर स्पष्ट हो रहा है । इस प्रकार इन मंत्रोंमें यमदूतोंका उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है ।

यमदूत--श्वान (कुत्ते)

> अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितॄन्त्सुविदत्रॉं उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ इस प्रकार है—

> अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितॄन्त्सुविदत्रॉं अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥ अथर्व० १८।२।११॥

(सारमेयौ) सारमेय, (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले, (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बचकर (साधुना पथा) उत्तम मार्गसे (द्रव) जा। (अथ) और (सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम ज्ञान वा धन से उपेत–युक्त पितरोंके (उप इहि) समीप जा । (ये) जो कि पितर (यमेन सधमादं मदन्ति) यमके साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं ।

सारमेयौ--सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है, उसके बच्चे। सरमा शब्द सृ गतौ धातुसे बाहुलकसे अम करने पर बनता है । जिसका अर्थ है ' बहुत दौडनेवाली ' । उसका पुत्र सारमेय । लौकिक साहित्यमें सारमेयका अर्थ कुत्ता प्रचलित है । अस्तु । तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौडनेवाला ऐसा कर सकते हैं ।

इस मंत्र में प्रेतको कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जा' जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं । यद्यपि इस मंत्रमें यमके कुत्तोंको यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आनेवाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है । यहां पर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहां है ।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ । ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥ अथर्व० १८।२।१२

(यम) हे यम ! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आंखोंवाले (पथिरक्षी) यमलोक में जानेके रस्तेकी रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (एनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देहि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुंचावें ऐसा कर । (च) और (अस्मै अनमीवं धेहि) इसके लिए नीरोगिता–रोगरहितता दे । इसे कभी रोग न सतावें ।

इस मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अकल्याण न होने देवे, सर्वदा कल्याण व आरोग्य देता रहे ।

> उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु । तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ ऋ० १०।१४।१२॥ अथर्व० १८।२।१३॥

(उरूणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणों के भक्षणसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत-.उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनुचरतः) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं । ताकि अवसर मिलते ही उनके प्राणोंसे अपनी तृप्ति करें । (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (सूर्याय दृशये) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीनेके लिए (अद्य) आज (इह) यहां (भद्रं असुं) कल्याणकारी प्राणको (पुनः) फिर (दातां) देवें । वे हमारे प्राणोंको छीनकर हमें मार न डालें, अपितु उलटा प्राणों को देवें ताकि हम यहां जीवित रह सकें ।

इस मंत्रमें पूर्व मंत्रोक्त यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है । वे लम्बी लम्बी नाकवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं । उनसे प्राणोंकी भिक्षा उत्तरार्धमें मांगी गई है ।

> श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ । अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ अथर्व० ८।१।९॥

(श्यावः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे रंगबिरंगी (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं वे (त्वा) तुझे (मा प्रेषितौ) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानेकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं, उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकबरा है। इस मंत्रमें जो काला व चितकबरा करके यमके दूत कुत्तोंका वर्णन है, वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्ता रात है और शबल कुत्ता दिन है। वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हरण करनेके लिये लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। अतः संभव है ये दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया? कुत्तेके लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर की कल्पनाको और भी दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे उपरोक्त शंका स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णनका महत्त्व प्रतीत होने लगता है। श्वानका अर्थ है (श्वा = श्वः = कल, न = नहीं) जो आनेवाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न रहेगा। जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर दुबारा लौटकर नहीं आते। अब पाठक श्वान शब्द के महत्त्वको समझ गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको श्वानके नामसे कहा गया है और उससे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जावे तबतक निश्चयसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस पर विचार करेंगे ऐसी आशा है। उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धके भावको नीचे लिखे मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है

> इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह।
> दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि॥
> अथर्व० ५।३०।६॥

हे पुरुष! (सर्वेण मनसा सह) संपूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर (इह) यहां इस संसारमें रहता हुआ (एधि) वृद्धिको प्राप्त कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों दूतोंके [मा अनुगाः] पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा। [जीवपुराः] जीवोंके पुरोंको अर्थात् शरीरोंको [अधि इहि]प्राप्त कर शरीर को छोडकर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्धका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपोषण किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

(१) यमके दूत दो कुत्ते हैं।

(२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले हैं।

(३) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकबरा है।

(४) उनकी तृप्ति प्राणोंके भक्षण से होती है। वे मनुष्योंके पीछे सर्वदा प्राणापहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत ' मृत्यु '।

> अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परिग्रामादितः
> मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयांचकार॥ अथर्व० १८।२।२७॥

प्राणधारी लोगोंने इस शवको घरोंसे बाहर कर दिया है। उसको तुम लोग इस ग्रामसे बाहर अंत्येष्टि संस्कारके लिए श्मशानभूमिमें ले जाओ; यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके प्राणोंको पितरोंके पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है, इस वास्ते इसके शवको ग्राम से बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, वह मृतके प्राणोंको पितरोंके पास पहुंचाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्र भी पूर्वोक्त निम्न लिखित परिणामों को पुष्ट करता है।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है ।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है; क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है ।

पाठकगण यमके दूतों संबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं । और भी अनेक दूत हैं । पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है । हम इस प्रकरण के प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं । उनका निर्देश मात्र है । विशेषों का मात्र विगतवार वर्णन है । उस यमके अनेक दूत बतानेवाले मंत्रको मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन कराते हैं-

> यमतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत । परः सहस्राः हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥
>
> अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं, जिनमें यमके अनेक दूत होनेका उल्लेख है ।

यमका पितृयाणमार्ग जानना ।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥ ऋ० १०।१४।२॥
>
> अथर्व० १८।१।५०॥

(प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है । (एषा गव्यूतिः) यह मार्ग किसीसे भी (अपभर्तवै न) अपहरण नहीं किया जा सकता । (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वे पितरः) हमारे पुरातन पितर (परेयुः) गए हुए हैं । (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी-मात्र (स्वाः पथ्याः) अपने अपने पथ्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं ।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं यह दर्शाया है ।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति ।

> यमः नु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् । यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाके अधि रोहयेमम् ॥
>
> यजुः १२।६३॥

हे [निर्ऋते] निर्ऋति ! [ते नमः] तेरे लिए नमस्कार है । [तिग्मतेजः] उत्कट तेजवाली तू [अयस्मयं एतं बन्धं] लोहेके इस बन्धनको [विचृत] काट डाल । [त्वं] तू [यमेन यम्या संविदाना] यम व यमके साथ मिलकर [इमं] इसको [उत्तमे नाके] उत्तम स्वर्गमें [अधिरोहय] पहुंचा ।

इस मंत्रमें निर्ऋतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है । अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए ।

यमका दीर्घायु देना ।

> ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्माऽन्नानामाधिपत्यं जगाम । तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥ अथर्व. १८।४।५४ ॥

[यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अन्नानां आधिपत्यं] अन्नोंके स्वामित्वको प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे [विश्वमित्रा] सबके मित्रो ! [हविर्भिः] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो । [सः] वह [यमः] यम [नः] हमें [प्रतरं जीवसे धात्] बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा ।

> सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥
>
> अथर्व० १६।४।४॥

[सूर्यः] सूर्य [अह्नः] दिनसे अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टोंसे [मा पातु] मेरी रक्षा करे । [अग्निः] अग्नि [पृथिव्याः] पृथिवीसे, [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अंतरिक्षसे, [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्यों से तथा [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ।

यमकी मृत्युसे रक्षा ।

> अपन्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः । सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परिपातु मृत्योः ॥ अथर्व० १९।२०।१॥

[यं पौरुषेयं वधं] जिस पुरुषसंबन्धी वधको अर्थात् पुरुष के वधको शत्रुओंने [अपन्यधुः] छिपकर किया है, उस वध के कारण होनेवाली [मृत्योः] मृत्युसे [इन्द्राग्नी]

इन्द्र और अग्नि, [धाता] धारण करनेवाला, [सविता] प्रेरणा करनेवाला,[बृहस्पतिः]ज्ञानियोंका अधिपति,[सोमः राजा] सौम्य स्वभाववाला राजा, [वरुणः] वरुण, [अश्विना] देवों के वैद्य अश्विनौ, [यमः] यम तथा [पूषा] पोषक देव [अस्मान्] हमारी [परि पातु] रक्षा करें ।

मंत्रोक्त प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है । सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिये कहा गया है । यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठकोंको यमके प्रकरणसे पता चलेगा । यहां पर सिर्फ थोडेसे मंत्रों का जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सका है, दर्शाए गए हैं ।

यमके प्रति हमारे कार्य ।

यमके लिए हवि ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥ ऋ० १०।१४।१॥

[प्रवतः] प्रकृष्ट, उत्तम तथा निकृष्ट योनिगत प्राणियोंका [अनु] लक्ष्य करे [महीः परेयिवांसं] पृथिवीपर आए हुए तथा [बहुभ्यः] बहुतोंके लिए [पन्थां] यमलोकके मार्ग को [अनुपस्पशानं] दर्शाते हुए [जनानां संगमनं] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [वैवस्वतं] विवस्वान् के पुत्र [यमं राजानं] यम राजा की [हविषा दुवस्य] हवि देकर पूजा कर ।

हमने पहिले देखा है कि यम के दूत मनुष्योंके पीछे सर्वदा लगे हुए हैं । यहांपर उसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है । यम सबके पीछे लगा हुआ है । जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है ।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः ।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥
ऋ० १०।१४।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।
यमं यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥
अथर्व० १८।२।१॥

[यमाय सोमं सुनुत] यमके लिये यज्ञमें सोम को निचोडो । [यमाय हविः जुहुत] यमके लिये यज्ञ में हवि दो । [ह] निश्चयसे [अरंकृतः अग्निदूतः यज्ञः यमं गच्छति] शोभता करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ यमको जाता है ।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है ।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे ॥
ऋ० १०।१४।१४॥

अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है-

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।
स नो जीवेष्वा यमद्दीर्घायुः प्रजीवसे ॥
अथर्व० १८।२।३॥

(यमाय) यमके लिये (घृतवत् हविः) घीसे परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो । और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ । (सः) वह यम (नः) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (दीर्घायुः आयमत्) दीर्घायुष्यको देवे ।

इस मंत्रमें यमके लिये घीसे परिपूर्ण हविके देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है ।

यमके लिये अन्नकी हवि

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया । वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् अथर्व० ६।११६।१॥

(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् कृषि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्नकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्षीवणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यत् यामं चक्रुः) जो यमसंबंधी अपराध किया अथवा[अन्नविदः न] अन्नोंको प्राप्त करनेवालोंकी तरह [यत् यामं चक्रुः] जो कृषिसंबन्धी नियमसमूह बनाया [तत्] उस उत्पन्न अन्नको [वैवस्वते राजनि] वैवस्वत राजा यममें [जुहोमि] देता हूं [अथ] और तब [नः] हमारा [यज्ञियं अन्नं मधुमत् अस्तु] यज्ञके योग्य जो अन्न है, वह मधुरतावाला होवे ।

इस मंत्रमें नवीन उत्पन्न अन्नका अंश यमके लिये देनेका निर्देश है।

यमकी पूजा।

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्ररोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥ ऋ० १०।९२।११॥

(ते भूरिरेतसा द्यावापृथिवी) वे बहुत जलवाली द्यु और पृथिवी, (यमः) यम, (अदितिः) अदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव, (द्रविणोदाः) अग्नि, (ऋभुक्षणः) ज्ञानी या कारीगर गण, (रोदसी) रुद्रकी पत्नी, (मरुतः) देवगण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरङ्गः) नराशंस चतुरंग यज्ञमें (अर्हिरे) पूजे जाते हैं। यहां अन्योंके साथ यमकी भी पूजाका उल्लेख है।

यमके लिये घर बनाना।

यथा यमाय हर्म्यमवपन् पंचमानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥
अथर्व० १८।४।५५ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपन्) बनाया है, (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूं (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें।

पंचमानवाः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पांचवा निषाद। अथवा देवमनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा है- 'सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां पितॄणां च। एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यम्' इति। ऐ. ब्रा. ३।३१॥

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं।

यमके लिये स्वधा-नमः।

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।४।७४ ॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वधा और नमस्कार है। यहां यमके लिए स्वधाका निर्देश है।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबन्ध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंकी चर्चा होगी।

स्वप्नका पिता यम।

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि
स्वप्न। वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥
अथर्व० ६।४६।१॥

हे स्वप्न! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है। (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है। (अररुः नाम असि) तू अररु नामवाला है।

देवानां—यहां देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है। स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है। क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे वह उत्पन्न होता है। हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहां अमृतगर्भसे कहा गया है।

अररुः— पीडा देनेवाला, हिंसक। 'ऋगतिहिंसनयोः' से बना है। तै. ब्रा. ३।२।९।४ के अनुसार अररु नामवाला असुर।

वरुणानी—वरुण अर्थात् अंधकार की पत्नी।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है। अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है। अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाता है।

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्
प्रयुनक्षि धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान्
स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥
अथर्व० १९।५६।१॥

हे स्वप्न! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (अधि आ बभूविथ) प्रकट हुआ हुआ है। (धीरः) धीठ तू (प्रमदा) बडे अभिमानसे (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्यों-को (प्रयुनक्षि) अपने साथ संयुक्त करता है- अर्थात् अपने

प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है। (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू (असुरस्य योनौ) आत्माके उपलब्धि के स्थान हृदय में (स्वप्नं मिमानः) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ (एकाकिना) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्युके साथ [सरथं] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [यासि] विचरण करता है।

पूर्व मंत्र में यमको स्वप्नका पिता दर्शाया गया है। इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यहांपर संसार में आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

स्वप्न, यमका करण।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि
यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं
त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्व-
प्न्यात् पाहि॥ अथर्व० ६।४६।२॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [देवजामीनां पुत्रोऽसि] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [यमस्य करणः] यमके कार्योंका साधक है। तू [अंतकः असि] अंत करनेवाला है। [मृत्युः असि] तू मारनेवाला है। हे स्वप्न! (तं त्वा) उस तुझको [तथा] वैसा उपरोक्त जैसा [सं विद्म] हम जानते हैं। [सः] वह तू स्वप्न! [नः दुष्वप्न्यात्] बुरे स्वप्न से हमारी [पाहि] रक्षा कर।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है। पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है। उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में 'देवजामीनां पुत्रः असि' से की गई है। देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं। स्वप्न उनका पुत्र है। यहां पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है। पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— 'साधकतमं' (अष्टा. १।४।४२) अर्थात् जो कार्यसाधनमें समीपतम साधन है, वह करण है। कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है। इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विशेषण से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं।

इसी मंत्र के भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्रहिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥ अथर्व० १९।५७।३॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भ) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे। (यः पापः) और जो तेरा पापी--अनिष्टकारी अंश है [तत्] उस अंशको [द्विषते] द्वेष करनेवालेके प्रति [प्रहिण्मः] हम भेजते हैं। [तृष्टानां] तृषितों--लोभियों-क्रूरोंके बीचमें [कृष्णशकुनेः] काले पक्षीके [कौएके] [मुखं] मुखकी तरह तू [मा असि] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंको वा क्रूरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः॥ अथर्व० १६।५।१॥

हे स्वप्न! [ते जनित्रं विद्म] तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं। तू [ग्राह्याः पुत्रः असि] ग्राही का पुत्र है और [यमस्य करणः] यम के कार्योंका साधक है।

इस मंत्र में स्वप्नको ग्राही का बेटा कहा गया है। गठिया आदि शरीरके जकडनेवाले रोग 'ग्राही' कहलाते हैं। उन रोगोंके कारण शरीर में पीडा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसी अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको ग्राहीका पुत्र कहा गया है। यमका करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ अथर्व० १६।५।२;
१६।५।१॥

हे स्वप्न! तू (अन्तकः असि) प्राणान्त करनेवाला है। तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगडकर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको यहां अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥

अथर्व० १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । वहां पर ऐसा ही मंत्र आया है । इस मंत्र में स्वप्न को निर्ऋतिका पुत्र कहा गया है । निर्ऋति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्ऋति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ निद्राका अभाव होता है । और कष्टादि की दशामें मनुष्य को गाढ निद्रा नहीं आती । इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्ऋतिका पुत्र कहा है । शेष मंत्रकी व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० इत्यादि अथर्व. १६।५।४ वत्॥

अथर्व० १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य दारिद्र्य का पुत्र कहा है । दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्यको निद्रा नहीं आती । इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न (वास्तविक निद्राके न आने) की उत्पत्ति है । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० । इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व० १६।५।६ ॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्न को निर्भूति का पुत्र कहा गया है । निर्भूतिका अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निकल जाना, नष्ट हो जाना । संपत्तिशाली की संपत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती । वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता । इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि० । इत्यादि ॥

अथर्व० १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को पराभूतिका पुत्र कहा गया है । पराभूतिका अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना, तिरस्कार को प्राप्त होना । पराभवसे वा तिरस्कारसे मनुष्य को इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिये निद्रा हराम हो जाती है । और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति होती है ।

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ अथर्व० १६।५।८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी पत्नियों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है । इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं । देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस प्रकार है, यह वहां विशदरूपसे दर्शा आए हैं ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है इस सूक्तसे व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है । स्वप्न यमलोकमें रहता है, वहांसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ है, उसका पिता यम है, वरुणानी उसकी माता है । वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है । इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है तथा उससे क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका उल्लेख इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने को मिला है । इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र भी यमके स्वरूप दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं । यमविषयक पूर्व स्थापना को ये मंत्र भी पुष्ट कर रहे हैं, यह पाठक विवेचनसे समझ सके होंगे ।

अब यहां यम विषयक वे मंत्र दिए जायंगे जो कि निर्धारित प्रकरणोंमें से किसी में भी शामील नहीं किए जा सके हैं । इस प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यमसे ही संबन्ध रखते हैं, यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए । और यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद यम अन्य अर्थोंवाला हो । अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे अंतमें ' भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम' नामक शीर्षकमें देंगे ।

यम कौन है ?

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ अथर्व० १८।३।१३

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय) इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संगमनं) जनों के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्के पुत्र यमराजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो ।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पडा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता, है वह इस कल्पमें यम बनता है ।

संगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी आकर जमा होते हैं। यमराजकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहां निर्देश है। अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिये ।

यम व विवस्वान् ।

यमः परोवरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किंचन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥
अथर्व० १८।२।३२॥

(यमः परः) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस यम से परे मैं (किंचन न अति पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूं वा नहीं समझता हूं। (यमे मे अध्वरः अधिनिविष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ स्थित है । (विवस्वान् भुवः अनु आततान) सूर्यने द्युलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है।

इस मंत्र में पिता पुत्र, यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना की गई है। यम का स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है। हमने यमलोक नामक प्रकरणमें देखा था कि तीन प्रकारकी द्युमेंसे दो सूर्यके समीप हैं तथा तीसरी यमके राज्यमें है । उसको दृष्टिमें रखते हुए इस मंत्रके यम विवस्वान्से परे हैं, इस कथनका अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस द्युमें है वह सबसे परे है अर्थात् वह द्युलोककी समाप्तिपर है। उसके आगे द्युलोक समाप्त हो जाता है । हमारी समझमें यहां पर स्थान की दृष्टिसे ही तुलना है । परका अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अपर का अर्थ अधम भी हो सकता है, परन्तु ऐसा अर्थ करनेसे उसका भाव ध्यानमें आना कठिन है। उपरोक्त अर्थकी पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टिसे इस मंत्रका अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है। भुवः- इसका अर्थ द्युलोक है जैसा कि 'भू-र्भुवः-स्वः' इसमें भुवः का अर्थ है ।

इषुमान् यम ।

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह संभवेम ॥ अथर्व० १२।३।५६॥

[दक्षिणायै दिशे अधिपतये] दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए [तिरश्चिराजये रक्षित्रे] कीट पतङ्गादि तिर्यक् गमन करनेवालोंसे रक्षा करनेवाले [इषुमते इन्द्राय यमाय] बाण-धारक ऐश्वर्यशाली यमके लिए [एतं त्वा] इस तुझको [परिदद्मः] सौंपते हैं। [अस्माकं ऐतोः] हमारी गतिसे [तं] उसकी तथा [नः] हमारी [गोपयत] रक्षा कर। (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेषत्) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् नसीब हमें यहां बुढापे तक पहुंचावें । (नः) हमें (जरा) बुढापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको सौंपे अर्थात् वृद्धावस्थासे पूर्व हमारी मृत्यु न हो । (अथ) मरनेके बाद (पक्वेन सह संभवेम) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें ।

यम और ऋण ।

अपमित्यमप्रतीतं यदस्मि यमस्य येन बलिना
चरामि । इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्
विचृतं वेत्थ सर्वान् ॥ अथर्व० ६।११७।१॥

(यत) क्योंकि मैं (अपमित्यं) जो देना है पर वह (अप्रतीतं) नहीं दिया है ऐसा ऋण हूं अर्थात् मेरे पर वह ऋण है। (यमस्य येन बलिना) यमके जिस बलवान् ऋणसे मैं ऋणी हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूं, [अग्ने] हे अग्नि! [तत्] वह उपरोक्त जो ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनृणः) ऋणरहित होऊं । क्योंकि (त्वं) तू [सर्वान् पाशान्] सब पाशोंको [विचृतं वेत्थ] काटना या खोलना जानती है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि अग्निकी सहायतासे यमके ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है अग्नि सर्व प्रकारके बंधनोंको काटना जानती है ।

यमका अग्निको स्थिर करना।

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥
अथर्व० १२।२।५४॥

[इन्द्रः] इन्द्रने [जरतीं इषीकां] जरती इषीकासे [इष्ट्वा] याग करके और [तिल्पिञ्जं] तिल्पिञ्ज, [दण्डनं] दण्डन व [नडं] नडको [इध्मं] समिधा बना करके [यमस्य] यमकी [तं अग्निं] उस अग्निको [निः आदधौ] निश्चयसे स्थापित किया।

जरती इषीका = बूढे अर्थात् सूखे हुए कानें।

तिल्पिञ्ज– तिलोंके गुच्छे। दण्डन- यह भी एक प्रकारकी कानेकी जातकी वनस्पति है। नडनडे जिसकी कलमें बनती हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन चीजोंसे याग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवी वर्चो अस्मासु धत्त। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये ॥ अथर्व० १०।५।१२ ॥

हे जलो! तुम [यमस्य भाग स्थ] यमके भाग हो। [देवीः आपः] हे दिव्य जलो! [अपां शुक्रं वर्चः अस्मासु धत्त] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [वः] तुम्हें [प्रजापतेः धाम्ना] प्रजापतिके तेजसे [अस्मै लोकाय सादये] इस लोकके लिए स्थित करता हूं।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज मांगनेकी प्रार्थना की गई है।

...यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३५ ॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है, ऐसे (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण दिशा में बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

... .. ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३५ ॥

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता है ऐसे तथा (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशमें बैठनेवाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

... यमस्य त्रयोदशी... ॥ यजु० ६५।७ ॥
यमकी त्रयोदशी है।

...यमाय कृष्णः यजुः २४।१० ॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है; यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वत्स आसीद्
रजतपात्रं पात्रम् ॥

[तस्याः] उस विराटरूपी गौका [यमः राजा] यम राजा [वत्सः आसीत्] बछडा था व दूध दोहने के लिए [पात्रं] बरतन [रजतपात्रं] चान्दीका बरतन था।

यहांपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहां दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर व्यक्त नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अबतक के विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबन्धसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकोंके ध्यानमें सहज आगया होगा। यम व पितरों के संबन्ध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। उसीका नाम पितृलोक भी है।

इन्हीं उपरोक्त परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः पितृणामधिपतिः स मावतु। अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठा-

यामस्यां चित्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां
देवहूत्यां स्वाहा ॥ अथर्व० ५।२४।१४॥

[सः पितृणां अधिपतिः) वह पितरोंका स्वामी [राजा] [यमः] यम [मा अवतु] निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा करे । (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें । (अस्मिन् कर्मणि] इस श्रेष्ठ कर्ममें । [अस्यां पुरोधायां] इस पुरोहिताईके काम में । (अस्यां प्रतिष्ठायां) इस प्रतिष्ठाके कार्य में । [अस्यां चित्यां] इस चेतनायुक्त कार्योंमें । [अस्यां आकूत्यां] इस संकल्पमें । [अस्यां आशिषि] इस आशीर्वादके कार्यमें । [अस्यां देवहूत्यां] इस देवोंके आवाहनके कार्योंमें ।

इस मंत्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है । पितरोंके ऊपर यमके अधिकारको यहां पर स्पष्ट किया गया है । यह अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह स्वामी है, यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है-

स यत् पितॄननुव्यचलद् यमो राजा भूत्वाऽ-
नुव्यचलत् स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥
अथर्व० १५।१४।१३॥

(सः) वह व्रात्य (यत्) जब [पितॄन् अनुव्यचलत्] पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब [यमः राजा भूत्वा] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के लिए [स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा] स्वधा करके दिए हुए को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ [अनुव्यचलत्] उस व्रात्यके पीछे पीछे पितरों में आया ।

व्रात्य नाम अतिथि का है । यहांपर यम पितरोंका राजा बनकर उनमें रहता है, यह दर्शाया गया है ।

पितरोंका यम राजा है, इस बातकी निम्न मंत्रभी पुष्टि कर रहे हैं ।

मा त्वा वृक्षः संबाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही ।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥
अथर्व० १८।२।२५ ॥

[त्वा वृक्षः] मा संबाधिष्ट] तुझे वृक्ष अर्थात् वनस्पतियां बाधा मत पहुंचावें । वृक्ष यहां वनस्पतियोंका उपलक्षण है । [देवी मही पृथिवी मा] और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे बाधा मत पहुंचाए । [यमराजसु पितृषु लोकं वित्त्वा] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके [एधस्व] वृद्धिको प्राप्त हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया गया है । पितर यमकी प्रजा हैं । यमराज्यमें भी पितर रहते हैं, इसका यहांपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है । यह मंत्र प्रेतको लक्ष्य करके कहा गया है । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी उपरोक्त मंत्रके भावको पुष्ट किया गया है ।

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥
अथर्व० १८।२।४६ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (व्यानः) व्यान, (आयुः) आयु और (चक्षुः) आंख (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे प्रेत ! तू [अपरिपरेण पथा] अकुटिल मार्ग द्वारा [यमराज्ञः पितॄन्] यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको (गच्छ) जा, प्राप्त हो ।

अपरिपरः - परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरः=अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपर ।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है, वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है ।

यम--श्रेष्ठ पितर ।

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
अथर्व० ११।६।११ ॥

[सप्त ऋषीन्] सात ऋषियोंको [इदं ब्रूमः] यह कहते हैं । (देवीः अपः) दिव्य जलोंको हम कहते हैं । [प्रजापतिं] प्रजापतिको हम कहते हैं और [यमश्रेष्ठान् पितॄन्] यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम [ब्रूमः] कहते हैं कि [ते] उपरोक्त सब [नः] हमें [अंहसः मुञ्चन्तु] पापसे छुडावें ।

यहांपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है । यहांपर यमका अर्थ योगमें कहे गए अहिंसा, अस्तेय आदि भी हो सकता है । जो इन पञ्च यमोंके पालनेसे श्रेष्ठ हुए हैं । वे यमश्रेष्ठ ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है । अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ है ऐसा भी होगा ।

अस्तु । उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं।

यम व पितरोंके सहकार्य ।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं ।

यमके साथ हवि खाना ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ऋ० १०।१५।८॥ यजु० १९। ५१ ॥

(ये पूर्वे सोम्यासः वासिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानको (अनु ऊहिरे) किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) यथेच्छ (अत्तु) खावे ।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ अथर्व० १८।३।४६ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त ऋ० १०।१५।८ के साथ सर्वथा मिलता है ।

(नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-संपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनुजहिरे) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ० इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मंत्रोक्त बातको ही पुनः कहा गया है । इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि लेनेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं ।

यम व पितरोंके साथ जाना ।

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृहाँ उपजुजुषाण एहि । सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपवान्तु शग्माः ॥ अथर्व० १८।२।२१ ॥

(ते मनः मनसा ह्वयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूं । (इह) यहां (इमान् गृहान्) इन घरोंसे (उपजुजुषाणः एहि) प्रीति करता हुआ अन्दर आ । तू (पितृभिः) पितरोंके साथ [सं गच्छस्व] विचरण कर । (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर । [स्योनाः] सुखदायक, [शग्माः] शक्तिशाली [वाताः] वायु [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहें ।

यहांपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं ।

पितर व यमका मिलकर सुख देना ।

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् । तस्मिन् वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात् ॥ अथर्व० १२।३।८ ॥

[दक्षिणा दिशं] दक्षिण दिशाकी [अभिनक्षमाणौ] ओर जाते हुए तुम दोनों [एतत् पात्रं अभि] इस पात्रकी ओर [परि आवर्तेथाम्] लौट आओ । [तस्मिन्] उस पात्रमें [पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नियच्छात्) देवे ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है । यहां पात्र शब्दसे किसका अभिप्राय है, यह व्यक्त नहीं होता ।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् । यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधिरोहयेमम् ॥ अथर्व० ३।६३।२ ॥ ६।८४।४॥

(इह) यहां [अभिहितः] सर्वत्र स्थित हुई हुई हे निर्ऋति ! तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्युभिः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये द्रुपदे) लोहमयी लकडी की बनी हुई बेडीमें (बेधिषे) बांधती है । (त्वं) तू [यमेन पितृभिः संविदानः] यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमतिसे

[इमं] इसको [उत्तमं नाकं अधिरोहय] उत्तम स्वर्गमें पहुंचा।

निर्ऋतिसे यहां प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोंसे मिलकर स्वर्गमें पहुंचावे। परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किस प्रकार स्वर्गको पहुंचाती है, इसका स्वर्गसे क्या ताल्लुक है यह विचारणीय है।

पितरोंका स्थूणा धारण करना व यमका स्थान देना।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु ॥ ऋ० १०।१८।१३॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है।

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्। एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ अथर्व० १८।३।५२॥

(ते) तेरे लिये (पृथिवीं) पृथिवीको (उत् स्तभ्नामि) ऊपरको उठाकर रखता हूं। फिर (त्वत् परि) तेरे पर उस (लोगं) मिट्टीके ठेलोंको जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो अहं रिषम्) मैं मत नष्ट होऊं। (एतां स्थूणां) इस खंभेको तेरे लिये (पितरः धारयन्तु) पितर धारण करें। (अत्र) और उस आधारस्तंभपर (ते) तेरे लिये (यमः) यम (सादना घरोंको (मिनोतु) बनावे।

अङ्गिरस् पितर व यम।

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।३॥

यह मंत्र पाठान्तरसे अथर्ववेदमें है—

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ अथर्व० १८।१।४७॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्य खानेवाले पितरोंसे, (यमः) यम (अङ्गिरोभिः) आङ्गिरस् पितरोंसे तथा (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ऋक्वभिः) ऋचाओंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देव बढाते हैं (ये च) और जो (देवान्) देवोंको बढाते हैं, (अन्ये) उनमेंसे अन्य मातली, यम और बृहस्पति तो (स्वाहा मदन्ति) वषट्कारसे दी हुई हविसे प्रसन्न होते हैं और (अन्ये) इनसे भिन्न दूसरे कव्य आङ्गिरस् आदि (स्वधया) स्वधाकारसे प्रसन्न होते हैं।

अथर्ववेदमें जो थोडासा पाठभेद है वह इस मंत्रके अर्थको अधिक स्पष्ट करता है। उसके अनुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है–

इन्द्र कव्य पितरोंसे, यम आङ्गिरस् पितरोंसे तथा बृहस्पति ऋचाओंसे स्तुति करनेवाले पितरों से बढता है। जिन पितरोंको ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको ये उपरोक्त पितर बढाते हैं ऐसे वे पितर बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम अङ्गिरस् पितरोंसे बढता है यानि यशस्वी होता है।

इमं यम प्रस्तरं मा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१४।४
अथर्व० १८।१।६०॥

हे यम ! (अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) आङ्गिरस् पितरोंसे मिला हुआ तू (इमं प्रस्तरं) इस फैलाए हुए आसन पर (आसीद) बैठ। (त्वा कविशस्ताः मंत्राः) तुझे कविशस्त मंत्र (आ वहंतु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

कविशस्त मंत्र– कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोकोंसे जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मंत्र, प्रशंसनीय मंत्र। इस मंत्रमें प्रशंसापरक मंत्रोंद्वारा यमके आङ्गिरस् पितरोंके साथ बुलाकर यज्ञमें विस्तृत आसन पर बैठानेका उल्लेख है।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना।

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५॥

यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है–

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरागहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषद्य ॥
अथर्व० १८।१।५९॥

हे यम ! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियेभिः) पूजनीय यज्ञके योग्य (अंगिरोभिः) अंगिरस् पितरोंके साथ (इह आगहि) इस यज्ञमें आ। और (मादयस्व प्रसन्न) हो। (विवस्वन्तं हुवे)

मैं विवस्वान् को भी बुलाता हूं (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है। वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (बर्हिषि आ निषद्य) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करें।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है। इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है। विस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहां निर्देश है।

अबतक के इन मंत्रोंसे अंगिरस् पितर व यमके संबन्धका व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है। ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं। यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है। इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोडासा प्रकाश अवश्य पडता है।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं। पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह ग्रहण करे। अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

१ नियमन अर्थ में यम।

इस विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

> एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु
> मनसे हृदे च। शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि
> श्रवो देवभक्तं दधानाः॥ ऋ० १।७३।१०॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ! (एता उचथानि) ये वैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों। (देवभक्तं श्रवः दधानाः) देवोंसे सेवित अन्न वा मन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शकेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्र्यका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें। श्रवः=अन्न। निघण्टुः-२। ७॥श्रवः धन। निघ० २।१०

> यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा
> वेन आजनि। आ गा आजदुशना काव्यः सचा
> यमस्य जातममृतं यजामहे ऋ० १।८३।५॥

(अथर्वा) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पथः तते) मार्ग का विस्तार किया। (ततः) तब (व्रतपाः वेनः सूर्यः) व्रतरक्षक चमकीला सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ। और फिर (उशनाः काव्यः सचा) कामना करते हुए कविके पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किरणोंको फेंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया। (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं। यहां सूर्योदयका वर्णन है। सचा—सह। निघ० ४।२॥

> यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो
> अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्
> सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ ऋ० १।१६३।२॥
> यजु०२९। १३॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है। (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोडे को बनाया यानि उत्पन्न किया। फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोडेको (त्रितः) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोडा (इन्द्रः एनं प्रथमः अध्यतिष्ठत्) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ। (गन्धर्वः अस्य रशनां अगृभ्णात) गन्धर्वने उस घोडेको लगाम पकडी। रशना = घोडे बांधनेके रस्सी।

२ जीवात्मा अर्थ में यम।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनुवेनति॥
> ऋ० १०।१३५।१॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोंपेत इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) सांसारिक सुखदुःखों का उपभोग करता है, (अत्र) उस संसाररूपी वृक्षपर [विश्पतिः] मनुष्य प्रजाका रक्षक [पिता] उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भक्ति करते आए हुए हमारे (अनुवेनति) अनुकूलतासे कामना करता है।

३ ज्ञानेन्द्रियां—यम।

> इदं सवितर्विजानीहि षड् यमा एक एकजः।
> तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥
> अथर्व० १०। ८।५॥

हे (सवितः) सविता! (इदं विजानीहि) इस बातको तू भली प्रकार समझ कि (षट् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषां यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मामें ये छः मनसहित ज्ञानेन्द्रियां (ह) निश्चयसे (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

४ आचार्य यम।

> मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥ अथर्व० ६।१३३।३॥

(यत्) क्योंकि (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूं, अतः (भूतात् पुरुष) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) मांगता हुआ आया हूं। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा, श्रमेण श्रमद्वारा तथा (अनया मेखलाया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बांधता हूं।

५ वायु-यम।

> यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा।
> स्वाहा घर्माय। स्वाहा घर्मः पित्रे॥ यजुः ३८।९॥

इस मंत्रकी शतपथ १४।२।२।११ में व्याख्या है। वहां पर यमका अर्थ निम्नलिखित किया गया है-'यमाय त्वांगिरस्वते पितृमते स्वाहेति। अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह यमायत्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमत इति...॥' तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ (पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय त्वा स्वाहा) पितृमान् अंगिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा कर के दी गई आहुति हो। (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा। (घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा।

६ सूर्य-यम।

> यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे। देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सँ स्पृशस्पाहि अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि यजुः ३७।११॥

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है-'स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदं सर्वं यमयत्येतेनेदं सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति॥ श० १४।१।३।४॥ शतपथके इस वचनानुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-(यमाय त्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय त्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः त्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे। तू (पृथिव्याः संस्पृशः पाहि) पृथिवीके संस्पृश् अर्थात् उपद्रव्यजन्य संस्पर्शोंसे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान(अग्नि)है। (शोचिः असि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है। (तपः असि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इस प्रकार यहांपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विषयक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितरविषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेंगे इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे, जिससे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोंके सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुंचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त।

अब हम यम और पितरोंसे संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहिले विचार किया जा चुका है, तथापि यहांपर पूर्वापर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कहांतक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कहांतक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मन्त्रोंकी संगति लग सकती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इसीलिए पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थोंकी कसौटीके लिए हम यहां साधन उपस्थित नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहां विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक बडा भारी महत्त्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ लगातार इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद मं० १० । सू० १४

१–१६ यम ऋषिः। देवताः–१–५, १३–१६ यमः। ६ लिङ्गोक्ताः। ७–९ लिङ्गोक्ताः पितरो वा। १०–१२ श्वानौ।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ ऋ० १०।१४।१

(प्रवतः) प्रकृष्ट कर्म करनेवालोंको, उत्तम कर्म करनेवालोंको तथा निकृष्ट कर्म करनेवालोंको (महीः) भूमिप्रदेशोंको (अनुपरेयिवान्सं) प्राप्त कराते हुए तथा (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखलाते हुए और (जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वतं) विवस्वान्‌के पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर। " प्रवतः महीः अनुपरेयिवान्सं " इसका अभिप्राय यह है कि सबको उनके कर्मानुसार उचित स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र। भारतवर्षमें भी जीव स्वकर्मानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है ऐसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यूं भी किया जा सकता है– (प्रवतः अनु महीः परेयिवान्सं) प्रकृष्ट, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट योनिस्थ जीवोंके उद्देश्यसे पृथिवी पर आए हुए यमको .. इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिस्थ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे 'जनानां संगमन' यह कर रहा है।

" बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम् " इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिस्थ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है, उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

> यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ। यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः॥ ऋ० १०।१४।२॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। (एषा गव्यूतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं-- (यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः) जहांपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणीमात्र (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोक्त 'जनानां सङ्गमनं यमं राजानं'का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियोंके आनेके लिये जो मार्ग है उसका यहां निर्देश है। यम हमारा यमलोकमें आनेका मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि

वह उस मार्गका अधिष्ठाता है। इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही। इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और आज प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके आनेके मार्गका वर्णन है। उस मार्गसे सबको आना होगा। कोई भी इससे बच नहीं सकता। अतएव यमको पूर्व मंत्रमें ' जनानां संगमनं ' कहा है। यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है।

अगले तृतीय मंत्रसे छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरु होता हुआ प्रतीत होता है। इन चार मंत्रोंमें यम व आङ्गिरस् पितरोंकी चर्चा है।

> मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।३॥

(मातली) इन्द्र (कव्यैः) कव्योंसे, (यमः अङ्गिरोभिः) यम अङ्गिरसोंसे और (बृहस्पतिः ऋक्वभिः) बृहस्पति ऋचाओंसे अर्थात् ऋचासंबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता है। (यान् देवाः वावृधुः) जिनको देवोंने बढाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बढाते हैं, उनमें से (अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, यम तथा बृहस्पति (स्वाहा) वषट्कार से दी गई हविद्वारा (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं और अन्ये दूसरे कव्य, आङ्गिरस् तथा ऋक्व (स्वधया) स्वधाकार से दी गई हविद्वारा प्रसन्न होते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४७) में है। वहां पर जो चतुर्थ पाद है वह इस मंत्रके चतुर्थ पादसे भिन्न है। अथर्ववेदके पाठानुसार कव्य, अङ्गिरस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में आए हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है– 'ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु।' अर्थात् मंत्रोक्त कव्य, आङ्गिरस् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें।

कव्य— पितरोंको प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा गया है। और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका नाम ' कव्य ' है। देवोंके लिये दी जाती हवि ' हव्य ' के नामसे कही जाती है। दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए पितरोंकी हविको कव्यके नामसे कहा गया है तथापि कई स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है ही। यहां पर कव्य शब्दसे कव्य खानेवाले पितरोंका ग्रहण है।

> इमं यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः संविदानः। आ त्वा मंत्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१४।४॥

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम! तू (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत फैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ। (त्वा) तुझे (कविशस्ताः मंत्राः) कान्तदर्शीयों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ वहन्तु) बुलावें। (एना) इस (हविषा) हविद्वारा (मादयस्व) प्रसन्न हो।

इस मंत्रमें यमका अंगिरस् पितरोंके साथ यज्ञ में विस्तृत आसनपर बैठजानेका वर्णन है। उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है। ये अङ्गिरस् पितर कौन हैं इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे। इन तीन चार मंत्रोंसे उनका व यमका संबन्ध दिखाया गया है। उपरोक्त मंत्रके भावको अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है–

> अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः यम वैरूपैरिह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० १०।१४।५॥

हे यम! [वैरूपैः] विविध स्वरूपवाले, [यज्ञियेभिः] यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] अंङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ। यज्ञमें आकर दी गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हों। [विवस्वन्तं हुवे विवस्वान्(सूर्य)को मैं बुलाता हूं [यः] जो कि विवस्वान् [ते पिता] तेरा पिता है। वह विवस्वान् [अस्मिन् यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी हुई हविको खाकर आनन्दित होवे।

यज्ञमें यम व अंगिरस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी जाती है, यमका पिता विवस्वान् [सूर्य] है, उसे भी साथ में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है। अंगिरस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद [१८।१।५९] में भी आया है।

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० १०।१४।६॥

(नः नवग्वाः अथर्वाणः भृगवः सोम्यासः अंगिरसः पितरः) हमारे नवग्व, अथर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले अंगिरस् पितर हैं। (तेषां यज्ञियानां) उन यज्ञार्ह आंगिरस् पितरों की (सुमतौ) उत्तम सलाहोंमें तथा (भद्रे सौमनसे) शुभसंकल्पों में (स्याम) होवें

वेदमें नवग्व तथा दशग्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं। निरुक्तकार यास्काचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवग्व शब्दोंके निर्वचन निम्न लिखित किए हैं-

नवग्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा।

नि० ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात् मक्खन की तरह गतिवाले। सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं- 'नवग्वाः नवभिर्मासैः सत्रम नुतिष्ठवन्तः।' अर्थात् नव मासका सत्र याग करने से इनका नाम नवग्व है।

अथर्वा- अथर्वाणोऽथर्वण्वन्तः, थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः। निरु० ११।२।१८॥

अथर्वा स्थिर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है। चलनार्थक थर्व धातुसे थर्वन् शब्द बनता है। जिसका अर्थ है। अस्थिर - चलायमान। इससे उलटा अथर्वा-निश्चल।

भृगुः- आर्चिषि भृगुः संबभूव। भृगुः भृज्यमानः, न देहे। निरु० ३।३॥ भृगु अग्निकी ज्वालाओंमें पैदा हुआ था भृगुका अर्थ है जो आगमें भुना हुआ हो, जिसकी शरीरमें आस्था न हो। सोम्यासः--सोमसंपादिनः। निरु० ॥ जो यज्ञमें सोमरस तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मंत्रोक्त 'वैरूपैरिह मादयस्व' में अङ्गिरस् पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें स्पष्टीकरण करके दिखाना है कि आङ्गिरस् पितर वैरूप किस प्रकारसे हैं। मंत्रके उत्तरार्धमें उनकी नेक सलाहमें रहने को कहा गया है। यह मंत्र अथर्व (१८।१।५८)में तथा यजुर्वेद (१९।५०) में भी आया हुआ है। यहांपर तीसरे मंत्र से अङ्गिरस् पितरका जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त होता है।

अब अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी प्रकरणका निर्देश करते हुए मृत पुरुषकी आत्माको यमलोकमें जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन करनेके लिए कहा गया है।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ऋ० १०।१४।७॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्वज पितर (परेयुः) गए हुए हैं, उस लोकमें (पूर्व्येभिः पथिभिः) पहिलेके मार्गोंद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधासे आनन्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए (उभा राजाना) दोनों राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पश्यासि) देख।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्योंकि यम उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्ध में कहा है। दूसरी बात यम भी स्वधासे तृप्त होता है, यह यहांपर स्पष्ट होती है। तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है। चौथी बात यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं। इस प्रकार प्रथम दो मंत्रोंके भावको जिस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया है. यह पाठक स्वयं देख सकते हैं। यह मंत्र थोडेसे पाठान्तरके साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है।

सं गच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः

ऋ० १०।१४।८॥

हे मृत पुरुष ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा। (यमेन सं) यमके साथ जा। (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा। (अवद्यं हित्वाय) निन्दित कर्मोंका त्यागकर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं एहि) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—कान्तिसे युक्त हुआ हुआ तू (तन्वा सं गच्छस्व) शरीरको धारण करके

स्थानमें विचरण कर।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्णरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से यमलोक उत्कृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा यमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टापूर्तके साथ जानेका कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

> अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
> आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
> वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च।
> अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८।३।५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है।

> अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक-
> मक्रन्। अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसान-
> मस्मै ॥ ऋ० १०।१४।९॥

(अप इत) हे विघ्नकारी जनो! यहांसे चले जाओ। (वीत) भाग जाओ। (वि सर्पतातः) सर्वथा यह स्थान छोडकर हट जाओ। (अस्मै) इस प्रेतके लिए (पितरः) पितरोंने (एतं लोकं अक्रन्) यह स्थान किया है। (अस्मै) इस मृतके लिए (यमः) यमने (अहोभिः) दिनोंसे व (अद्भिः) पेय जलोंसे तथा (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है।

इस मंत्रमें शवकी अंत्येष्टि क्रिया के लिए स्थान को पितर निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है। यहां शरीरसे प्राणोंके निकल जानेके बादका वर्णन है। उत्तरार्धमें यह स्पष्ट कहा है कि इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है अर्थात् यह मर गया है। अब पूर्वार्धानुसार मरने पर पितर इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते हैं— [१] या तो जो पितर स्थान बनाते हैं वह स्मशान भूमिका हो सकता है अथवा [२] वह यमलोकका हो सकता है। यदि दूसरा विकल्प माना जाए तो इससे यमलोकपर थोडासा प्रकाश अवश्य पड सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्धमें दर्शाया है यमलोकमें दिन व रात नहीं होते और वहां जल भी नहीं है।

अवसान = समाप्ति। यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।५५] में भी है।

अब यमके दूत दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है।

> अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना
> पथा। अथा पितॄन्त्सुविदत्रां उपेहि यमेन ये सध-
> मादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव! [सारमेयौ चतुरक्षौ] सारमेय, चार आंखोंवाले [शबलौ] चितकबरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा। [अथ] तब [सुविदत्रान् पितॄन्] उत्तम धन या ज्ञानसे युक्त पितरोंको [उप इहि] प्राप्त हो। [ये] जो कि पितर [यमेन सधमादं मदन्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं।

सारमेय— सायणाचार्यने सारमेयका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है। उसका बच्चा सारमेय। सरमा शब्द सृगतौ धातुसे अम करनेपर बनता है, जिसका अर्थ है बहुत दौडनेवाली। उसका पुत्र सारमेय। सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौडनेवाली का पुत्र। लौकिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है। यमके कुत्तोंका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है। उनकी चार आंखें हैं, तथा चितकबरे रंगके हैं। इस मंत्रमें यम व पितरोंका संबन्ध भी व्यक्त हो रहा है। अगले मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वे इस जीवको उन कुत्तोंसे कल्याण तथा आरोग्य प्रदान करें।

> यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्ष-
> सौ। ताभ्यामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति चास्मा
> अनमीवं च धेहि ॥ ऋ० १०।१४।११॥

हे यम! [ते] तेरे [यौ] जो [रक्षितारौ] रक्षा करनेवाले [चतुरक्षौ] चार आंखोंवाले [पथिरक्षी] यमलोक में जानेके मार्गको रक्षा करनेवाले तथा [नृचक्षसौ] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानौ] दो कुत्ते हैं, हे राजन्! [ताभ्यां] उन दोनों कुत्तों द्वारा [एनं] इस जीवको [स्वस्ति] कल्याण [देहि] प्रदान कर। [च] और [अस्मै] इस जीवके लिए [अनमीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [धेहि] धारण कर। इसे नीरोगी बना।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए यमके कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मांगा गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।१२) में है।

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥
ऋ० १०।१४।१२

(उरुणसौ) लम्बी नाकवाले, (असुतृपौ) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनाँ अनु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दृशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिए (अद्य) आज (इह) इस संसारमें (भद्रं असुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातां) देवें।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोडासा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यंत बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुनर्जन्मका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दृशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः इस लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अन्यत्र नहीं। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।१३) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व० ८।१।९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वानविषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी
श्वानौ। अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ।।
अथर्व ८।१।९॥

(श्यामः) काला (च) और (शबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरक्षी) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (श्वानौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अर्वाङ् एहि) तू हमारे सन्मुख आ। (मा विदीध्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोडकर चले जानकी कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थिर हो। अर्थात् संसारसे उदासीन वृत्ति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२ वें मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें भी यमके श्वानोंके विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रात का वर्णन इन मंत्रोंमें है। यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायेंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनान् अनुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन व रात श्वान भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। वे शबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है, व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर शबल हैं। ये नृचक्षस अर्थात् मनुष्योंको देखनेवाले भी हैं। ये असुतृप अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे वे प्राण मिले कि उस मनुष्यको दिन रातसे पीछा छूटा। यहां पर एक और भी शंका उठ सकती है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं? परंतु पाठकोंको यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पनाको विशेष दृढ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंकाका तो उत्तर मिल ही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वानका अर्थ है-(श्वा = श्वः = कल न-नहीं) जो आनेवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज हैं वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आयंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके श्वानविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने, यज्ञ करने आदिका निर्देश है।

परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है । यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है । जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता । परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है । कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तियोंसे भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्तके अंतमें इस शंका के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार कहते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है । इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है, पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है । हमारे ख्यालमें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्तके साथ संगति है । यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है, सूज्ञ पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

प्रथम मंत्र ।

१ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है ।
२ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है ।
३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं ।

द्वितीय मंत्र ।

४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना ।
५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकते । अर्थात् प्रत्येक को यम लोक में अवश्य जाना पडता है ।
६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं ।

तृतीय मंत्र ।

७ यम अङ्गिरस् पितरों से बढता है ।

चतुर्थ व पंचम मंत्र ।

८ यमको अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है ।
९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं ।
१० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है ।

षष्ठ मंत्र ।

११ अङ्गिरस् पितरोंके नाना रूप नवग्व, अथर्वन्, भृगु आदि हैं ।

सप्तम मंत्र ।

१२ प्रेत पितृलोक (यमलोक) में भेजा जाता है ।
१३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है ।
१४ यम व वरुण स्वधासे आनन्दित होते हैं ।

अष्टम मंत्र ।

१५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं । वह अपने इष्टापूर्त को साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है ।
१६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है ।

नवम मंत्र ।

१७ श्मशानभूमिसे विघ्नकारियों को भगाया जाता है ।
१८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते ।

दशम मंत्र ।

१९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आंखें हैं तथा वे स्वयं चितकबरे हैं ।
२० मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है ।
२१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं ।

एकादश मंत्र ।

२२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं ।
२३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं ।

द्वादश मंत्र ।

२४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं ।
२५ प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं ।
२६ ये श्वान यमके दूत हैं ।
२७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं ।
२८ यमके दोनों श्वानोंमेंसे एक काला व दूसरा चितकबरा है ।
२९ संभवतः ये यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं ।

त्रयोदश मंत्र ।

३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोडा जाता है व हवि दी जाती है ।

३१ अग्निको अपना दूत बनाकर वह यमके पास पहुंचता है।

चतुर्थंश मंत्र।

३२ यमके लिए घीमिश्रित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है।

३३ यम देवोंमें जीनेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है।

पंचदश मंत्र।

३४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिये।

३५ पूर्वज सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए।

षोडश मंत्र।

३६ छहों उर्वियोंको अकेले ही उस महान् ब्रह्मने व्याप्त कर रखा है।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम (सर्व नियामक-परमात्मा) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं।

२ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमे जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदिका वर्णन है। किस मंत्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है।

> उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यामाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ऋ० १०।१५।१॥

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवरे) निकृष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मध्यमाः) मध्यम (पितरः) पितरो ! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ। [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं [ते] वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [रक्षन्तु] रक्षा करें।

निरुक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले।

अवृकाः—अनमित्राः-शत्रुरहित।

उदीरतां= उत् ईरताम्। उत् उपसर्गपूर्वक ईर गतौ धातु। ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना।

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें। हमारे सहायतार्थ बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें।

' असुं य ईयुः ' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४४) में तथा यजुर्वेद (१९।४९) में भी आया है।

> इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः। ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ ऋ० १०।१५।२।

[अद्य] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [इदं नमः अस्तु] यह नमस्कार हो। किन पितरों के लिए ? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निषत्ताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चय से [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं।

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधान्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है।

विश् शब्द निघण्टुमें मनुष्यवाची नामोंमें पठित है। देखो निघण्टु २।३ वृजनका अर्थ निघण्टुमें बल ऐसा किया गया है। निघण्टु २।९॥ इस मंत्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित,मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है। पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस वक्त मृत ही हैं। जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे ही जीवितोंमें गिने जा सकते हैं। अतः इसके सिवाय शेष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है ।

> आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अविरित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितॄन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अविरित्सि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूं । (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूं । (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साथ (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आवें ।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूं । स्वधाके साथ पक्व अन्न को खानेवाले पितरो! इस यज्ञमें आओ ।

सुविदत्रः—सुविदत्रः कल्याणविद्यः । नि० अ० ६। पा० ३। खं० १४। सुविदत्रका अर्थ निघण्टुमें धन भी है । निघ० ७।१०॥ पित्वः = पितु+अस् = पित्वः = अन्नका । नपात = न पातयति = जो न गिरावे ।

' आहं सुविदत्रान् पितॄन् आविरित्सि ' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं । क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि उनके यहां उनसे जन्म लिया जावे । और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है । यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।४५] में तथा यजुर्वेद [१९ । ५६] में आया है ।

> बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आ गतावसा शन्तमेनाऽथा नः शं योररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥

(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषद् पितरो ! (अर्वाक्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ । (वः) तुम्हारे लिए (हव्या) हव्यों को (चकृम) करते हैं, उनका (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो । (ते) वे तुम (शंतमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आगत) आओ । (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापरहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुखवियोग (दधात) दो ।

बर्हिषद् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका हव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें । वे हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ।

बर्हिषदः– बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले । निघण्टु में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है । अंतरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पड गया ऐसा प्रतीत होता है । बर्हिष् = अंतरिक्ष । निघण्टु १।३॥ बर्हिष् = जल । निघण्टु– १।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आए हैं) पता चलता है। तदनुसार ' बर्हिषदः ' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर । निघण्टु–३।३। में बर्हिषद्, महत् वाची नामों में भी पठित है । तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है । बर्हिष् कुशाघास का भी नाम है । तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है । वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं । प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए । बर्हिषद् पितरोंके विषयमें विशद विवरण हम अन्यत्र प्रकाशित करेंगे ।

शंयोः– शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ अरपः – रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निरुक्त० ४।३।२४॥ न रपः = अरपः— पापरहित । यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है ।

> उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु । त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ऋ० १०।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (पितरः) पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें (उपहूता) बुलाए गए हैं (ते) वे पितर (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आवें । (ते अभिश्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान देकर सुनें, (अधिब्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे बुलाए जानेपर आवें । आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ।

बर्हिष्य– बर्हिष् नाम यज्ञका है । उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी । सोम्यासः– यास्काचार्यने निरुक्तमें ' सोम्यासः ' का अर्थ ' सोम का संपादन करनेवाले ' ऐसा किया

है। निधिः – निधिः शेवधिरिति। निरु० अ० ४। पा० १। खं० ४। अर्थात् सुख का भण्डार।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।३।४५) में है।

> आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ऋ० १०।१५।६॥

(विश्वे) तुम सब पितरो ! (जानु आच्य) दांयां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषद्य) दाईं ओर बैठकर (इमं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो। (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः आगः) जो तुम्हारा अपराध (पुरुषता कराम) पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंसा मत करो।

हे पितरो ! दाईं ओर दांयां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो।

जानु आच्य– इसका अर्थ हमने ' दांयां घुटना टेककर ' ऐसा किया है, जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण का निम्न वचन है— ' अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीत्... ' इत्यादि। शतपथ २।४।२।२ ॥

इस मंत्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा ' आच्याजानु ' से प्रतीत होता है। मृत पितर देहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते। देहधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और देहधारी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है।

> आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ऋ० १०।१५।७ ॥

(अरुणीनां उपस्थे आसीनासः) यज्ञ में प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल लाल ज्वालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुषे मर्त्याय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो। (तस्य) उस दानीके (पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो। (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके पुत्रोंके लिए (ऊर्जं) अन्नसे (दधात) पुष्ट करो।

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें पुष्ट करो।

अरुणी– यद्यपि निघण्टु १।१५ में उषाकी किरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहांपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्तवर्ण ज्वालाओंसे ही अभिप्राय है। ऊर्जः— अन्न। निघण्टु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८। ३। ४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है।

> ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० १०।१५।८ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीथं) सोमपान को यज्ञमें (अनु ऊहिरे) प्राप्त किया था, (तेभिः) उन (उशद्भिः) यमके साथ सोमपान करने वा हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशन्) सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवींषि) हवियोंको (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अत्तु) खावे।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खावे। हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्याप्त मात्रामें हवि देनी चाहिए।

वसिष्ठके विषयमें निम्न लिखित ब्राह्मणोंके वचन हैं—

(१) यद्वै नु श्रेष्ठः तेन वसिष्ठो अथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः॥ श० ८।१।१।६ (२) येन वै श्रेष्ठः तेन वसिष्ठः॥ गो. उ. ३।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः ॥ श० २।४।४।२ (४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः॥ श० ८।१।१।६ (५) सा ह वागुवाच (हे प्राण !) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति ॥ श० १४।९।२।१४ (६) अग्निर्वै देवानां वसिष्ठः॥ ऐ० १।२८ यह वचन ऋ० २।९।१ पर है। (७) वाग्वै वसिष्ठा ॥ श० १४।९।२।२॥

इन वचनानुसार वसिष्ठ का अर्थ उत्तम वास करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थभी किया जा सकता है। वसु नाम धनका भी है। तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है।

इस मंत्रके वर्णन से यहां मृत पितरोंका उल्लेख है। यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५१) में आया है।

निम्न दो मंत्रों (११।१२) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है—

> ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः। आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।९॥

(देवत्रा जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमतष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृषुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए है ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः, कव्यैः घर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी [कव्यैः] कव्यनाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविका, उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर वैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ।

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं।

घर्म—यज्ञ। निघण्टु ३।१८॥

अर्क-- मंत्र, स्तोत्र। अर्कके अनेक अर्थ हैं- ' अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति। अर्को मंत्रो भवति यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति, संवृत्तः कटुकिम्ना। निरुक्त ५।१।५ ॥ सुविदत्रः-- सुविदत्रः कल्याणविद्यः। निरुक्त ६।३।१४॥ इसका अर्थ धन भी है। निरुक्त ७।३।९ ॥

इस मंत्रके ' देवत्रा जेहमानाः ' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है। उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंका ही आवाहन किया गया है।

> ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।१० ॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविरदः) हविके खानेवाले, (हविष्पाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं, ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (परैः पूर्वैः) पुरातन तथा अर्वाचीन (घर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ।

देवोंके साथ एकरथारूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते। इसके सिवाय यहां एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं ही लेते। दूसरे शब्दोंमें इसे यूं भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकवासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है। वे इस लोकमें आकर यहांके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं। उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है। अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सत्कार करना चाहिए, ऐसा इसका अभिप्राय हुआ। इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रको मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है। उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है।

> अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः। अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ० १०।१५।११ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले [अग्निष्वात्ताः पितरः] अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] इस यज्ञमें [आगच्छत] आओ। [सदः सदः सदत] घर घरमें स्थित होओ। [अथ] और [बर्हिषि प्रयतानि हवींषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ और हमें [सर्ववीरं रयिं दधातन] सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो।

हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घरमें आओ। यज्ञोंमें तुम्हारे

स्वधासे दी गई हवियोंको खाओ, तथा उसके बदलेमें वीर संतति का प्रदान करो।

सुप्रणीति- जिसकी नीति उत्तम है अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है। यह मंत्र यजुर्वेद [१९। ५९] में तथा अथर्ववेद [१८।३।४४] में भी आया हुआ है।

> त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड् ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी। प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ऋ० १०।१५।१२॥

हे [जातवेदः अग्ने] जातवेदस् अग्नि! [ईळितः त्वं] स्तुति किया गया तू [हव्यानि] हव्योंको [सुरभीणि कृत्वी] सुगंधित बनाकर [अवाट्] वहन कर [पितृभ्यः] उन हव्योंको पितरोंके लिए [प्रादाः] दे। [ते] वे पितर [स्वधया अक्षन्] उन हव्योंको स्वधाके साथ खावें। [देव] हे प्रकाशमान अग्नि! [त्वं] तू भी [प्रयता हवींषि] दी गई हवियोंको [अद्धि] खा।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हविको सुगंधित बनाकर ले जाती है। और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है। अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती, अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं। स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है। इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा की गई सूक्ष्मरूप हविसे तृप्त नहीं हो सकता, यह बात निर्विवाद ही है। इसके प्रतिकूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके ग्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है, पर सूक्ष्म शरीरके अवशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं। जीवित दशामें स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है। स्थूल शरीरकी खौराकमेंसे सूक्ष्म शरीरको थोडा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग हो जानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो खौराक उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है। अन्नके बिना देहकी स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको खौराक पहुंचाई जाती है। और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्निको सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए, उनको हवि खानेके लिये ले जाए, इत्यादि। हमारी समझमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे। मृत पितरोंकी स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविकी आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनेका उल्लेख है ऐसा हम मान सकते हैं। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४२)में तथा यजुर्वेद(१९।६६)में भी आया हुआ है।

> ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३ ॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्म) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान च न प्रविद्म) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (त्वं) तू (वेत्थ) जानती है। (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं, तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहिले इस लोकसे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविकी आवश्यकता क्यों है यह दर्शाते हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है। इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है। अतएव वही एक ऐसी है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है। यह दूसरा हेतु है जिसके कि

कारण अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निसंबन्धी विशेष विवेचन हम पाहिले अग्नि व पितरमें कर आए हैं, वहांसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६०) में है।

> ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते । तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१४॥

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) द्युलोकके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेभ्यः) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशं) कामनाके अनुसार (एतां असुनीतिं तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जानेवाले शरीरको बना।

जिनका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे द्युलोकमें रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है।

असुनीति-- जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है। यह शरीर असुनीति है; क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध।

['ये निखाता ये परोप्ताः' इत्यादि अथर्व. १८।२।३४ में जो प्रेतके अंत्येष्टिसंस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं उनमेंसे दग्ध को छोडकर शेष तीन संस्कार अर्थात् गाडना, बहाना और हवामें खुला छोडना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टिसंस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं, तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्निसे हुई है, वे अग्निदग्ध हैं।

अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त।

प्रसंगवश थोडासा यहांपर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१५। १४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है। वहांपर जो थोडासा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके अर्थ-निर्णय को स्वयमेव कर देता है। ऋग्वेदका पाठ ऊपर हम दे आए हैं। यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है=

> ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः
> स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराळसुनीतिमेतां
> यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ यजुः १९।६० ॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकती है। ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहां 'अग्निदग्धाः' पद है वहां पर यजुर्वेदस्थ मंत्र में 'अग्निष्वात्ताः' ऐसा पद है। और इसी प्रकार ऋग्वेदके मंत्र में जहां 'अनग्निदग्धाः' है, वहां-पर यजुर्वेदके मंत्रमें 'अनग्निष्वात्ताः' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सर्वथा समान है। थोडासा लकार व पुरुषभेद अंतिम पदमें है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें 'कल्पयाति' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें 'कल्पयस्व' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्निष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्निष्वात्तका। अग्निदग्धका अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो। अत. अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो।

'अग्निष्वात्ताः' का विग्रह इस प्रकार है- 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः।' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है, जिनको अग्निने चखा है अर्थात् जिनको अग्निने जलाया है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्तके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

> यानग्निरेव दहन्त्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्ताः।
> श० २।६।१७ ॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई स्वाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टि संस्कार के विना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मणानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिनका अंत्येष्टिसंस्कार अग्नि से हुआ है और
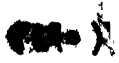
अनग्निष्वात्तका अर्थ हुआ जिसका अंत्येष्टिसंस्कार अग्निसे नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार उपरोक्त मंत्रमें मृत पितरों का ही उल्लेख है, यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संग्रामोंमें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषद् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषद् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषद् पितर हमारे रोग, भयादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में दांयां घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उसके पुत्रोंको धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवत्वको प्राप्त किए हुए गह्वादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं, हवियां खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हव्योंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यहां हैं व जो यहां नहीं हैं, जिन पितरोंको हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते इत्यादि सर्व प्रकारके पितरोंको अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ द्युलोकके मध्यमें स्वधासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अंत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तकी देवता अग्नि है।

> मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं
> चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा शृतं कृणवो
> जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्यः॥
>
> ऋ० १०।१६।१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (एनं मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रतीत हो। (मा अभि शोचः) इसे शोकाकुल मत कर। (अस्य त्वचं मा चिक्षिपः) इसकी त्वचा अर्थात् चमडीको मत फैंक। इसके शरीरमें विद्यमान त्वचा मांस आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी भाग अवशिष्ट न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि! (यदा शृतं कृणवः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अथ) तब (एनं) इस प्रेतकी आत्माको (पितृभ्यः प्रहिणुतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे।

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारकी प्रार्थना करनी

चाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धसे एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहको छोडकर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देहके आसपासही मंडलाती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे शीघ्र मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुंचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहनके सिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चल रहा है कि मृतात्मा शरीरसे पृथक् होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोडेसे पाठभेदके साथ है। (अथर्व० १८।२।४)

> शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात् पितृभ्यः।
> यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥
> ऋ० १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा शृतं करसि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पक्व अर्थात् दग्ध कर दे, (अथ) तब (एनं पितृभ्यः परि दत्तात्) इसको पितरोंके लिए सौंप दे। (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छाति) इस प्राणोंके नयनको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत (मृत-शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।५) में भी आया है। इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। आत्मासे युक्त शरीरके, जिस समय आत्मा शरीरसे पृथक् होती है जिसे कि हम लौकिक भाषामें मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहां कहां जाते हैं वह बात इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, यह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या होता है यह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें कही गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है। यहांपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है-

> सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमो-षधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१६।३ ॥

हे प्रेत ! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे। (आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे। और हे प्रेत ! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्मसे अथवा पार्थिवादि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि प्रकारसे (द्यां च पृथिवीं च) द्यु व पृथिवी लोकको जा अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिले और जो द्युलोकका अंश हो वह द्युलोकमें जा मिले। जहां जहांसे जो जो अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश चला जावे। (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलीय अंश जावे। (यदि तत्र ते हितं) यदि वहांका कोई अंश तेरेमें विद्यमान हो। और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरांशोंसे स्थित हो अर्थात् ओषधिका अंश ओषधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहांसे आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन उनमें वापिस चले जाते हैं। हरेक देव अपना अपना अंश शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें तृतीय मंत्रके चतुर्थ पाद ' अथ देवानां वशनीर्भवाति ' का स्पष्टीकरण किया गया है। यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।७) में भी आया हुआ है।

> अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥
> ऋ० १०।१६।४ ॥

हे अग्नि ! इस प्रेतका जो (अजः भागः) अज अर्थात्

न जन्म लेनेवाला भाग (आत्मा) है (तं) उसको तू (तपसा तपस्व) अपने तपसे तपा। (तं) उस अज भागको (ते शोचिः) तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपतु) तपावे। (तं) उस अज भागको (ते अर्चिः) भासमान तेरी ज्वाला (तपतु) तपावे। और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते शिवाः तन्वः) जो तेरे कल्याणकारी ज्वालायें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं (ताभिः) उन शरीरों द्वारा इस अज भागको (सुकृतां लोकं) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें (वह) प्राप्त कर।

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नानागुणविशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा।

जैसा कि हम ऊपर दर्शा आए हैं कि मरनेपर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अज आत्मा है। मृत शरीरको क्या करना चाहिए तथा अग्निदाहके अनन्तर वह किस किस रूपमें कहां कहां जाता है, यह तृतीय मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है। द्वितीय मंत्रमें संकेतरूपसे अज भाग आत्माके लिए भी निर्देश किया जा चुका है। इस मंत्रमें उसीका विशदरूपसे वर्णन वा स्पष्टीकरण है। वस्तुतस्तु तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण हैं। इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतात्माको सुकृतोंके लोकमें ले जाती है। यह मंत्र भी अथर्ववेदमें (१८।२।२८) में पाया जाता है।

> अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
> आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥
> ऋ० १०।१६।५॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति) स्वधाओंसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (पितृभ्यः) पितरोंके लिए लाकर छोड अर्थात् वह पुनर्जन्म ले। अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लाकर इस संसारमें छोड। दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है। दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (शेषः) अपत्य संतान (उपयातु) कुटुंबियोंको प्राप्त करे, तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) वह अपत्य शरीरसे भली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरोत्पत्तिसे संपन्न बने।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है।

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड। क्योंकि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निका मृत को पितृलोकमें पहुंचानेका उल्लेख है, अतः यह अर्थ भी हो सकता है। यहां शेष अर्थात् पीछे शेष रह गई मृतकी संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए। वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे। इस अर्थानुसार मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषकी जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदिकी प्रार्थनाका उल्लेख है। शेष नाम संतानका है। 'शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते इति'। निरुक्त ३।२॥ इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्यका पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुंचानेका कार्य भी अग्निका ही है। यह मंत्र थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१८।२।१०) में भी आया हुआ है।

> यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः। अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥ ऋ० १०।१६।६॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यत्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले अनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोद) पीडा पहुंचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीडी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हिंसक पशुने तुझे पीडा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उस तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोगरहित करे। (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नीरोग करे। (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणान् आविवेश) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है।

काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीडी मकोडे आदि जन्तु, सर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पहुंचाए गए कष्टको अग्नि व सोम दूर करें। जिनकी मृत्यु सर्पादि मंत्रोक्त प्राणियोंसे होती है उनकी अंत्येष्टिमें इस मंत्रका विनियोग होता है ऐसा इस मंत्रका अभिप्राय प्रतीत होता है।

मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट हैं। इन प्राणियोंसे काटे गए अंगोंको अग्नि नीरोग करती है,इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वह उन प्राणियोंके विषसहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता। उस शवकी भस्ममें इन प्राणियोंके विषके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते। इस मंत्रमें सर्पादि विषैले प्राणी व जंगली हिंसक जानवरोंसे आक्रांत देह सोमसे भी नीरोग की जा सकती है ऐसा कहा गया है।

> अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च। नेत्त्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग् विधक्ष्यन् पर्यङ्खयाते ॥ ऋ० १०।१६।७ ॥

हे प्रेत! (गोभिः) घृतसे उत्पन्न हुई हुई (अग्नेः वर्म) अग्निकी ज्वालारूपी कवचसे (परि व्ययस्व) अपनेको चारों ओरसे ढक ले। अर्थात् अग्निकी ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। (सः) वह तू (पीवसा मेदसा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे (प्रोर्णुष्व) अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे (हरसा धृष्णुः) अपने तेजसे घर्षण करनेवाला, (दधृक्) प्रगल्भ, (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विधक्ष्यन्) तुझ प्रेतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वा) तुझे (नेत्) नहीं (पर्यङ्खयाते) इधर उधर बखेरेगा अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावशेष कर डालेगा।

मुरदेको जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले। उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावे।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि! तू 'मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्' अर्थात् इस प्रेतकी चमडी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संपूर्णतया इसे जला दे। यहां पर उसी संपूर्ण दहनको लक्ष्यमें रखते हुए मुरदेसे कहा गया है कि तू अग्निकी ज्वालारूपी कवचको पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बीसे अपने आपको लपेट ले, जिससे कि अग्नि तुझे पूर्णतया जला दे। मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृतका उपयोग करना चाहिए। गो = घी। वेदमें गौसे उत्पन्न पदार्थोंके नामभी गो शब्दसे कहे गये हैं। देखो, निरुक्तमें गो शब्दकी व्याख्या। नि० अ० २। पा. २॥

> इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥ ऋ० १०।१६।८ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर। क्योंकि वह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (प्रियः) प्यारा है। (एषः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं। (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरणशील देव (मादयन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है। यह देवोंका प्रिय है। इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि! इस शरीरकी दुर्दशा मत कर।

चमस– चमचा। यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है।

हम इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख आए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है। इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है। अथर्ववेद १० काण्ड सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है।

अबतकके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबंधी वर्णन किया गया है। अगले तीन मंत्रोंमें क्रव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है। इस अंत्येष्टि-संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम क्रव्याद् अग्नि है। क्रव्याद् अग्निका अर्थ है मांसभक्षक अग्नि। और यह मांसभक्षण अंत्येष्टिमें शवदहनद्वारा अग्निको करना पडता है। जैसा कि अबतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है। इस प्रकार शवके खानेसे मांसभक्षक (क्रव्याद् अग्नि) इस अग्निका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मन्त्र प्रकाश डाल रहे हैं।

> क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
> इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्।
> ऋ० १०।१६।९॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर भिजवाता हूं। (रिप्रवाहः) पाप का वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) जहांका यम राजा है, उस प्रदे-

लोकमें चली जावे। (इह) यहांपर (अयं इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रव्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः हव्यं वहतु) देवोंके लिए हव्योंका वहन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे।

यह शव दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (क्रव्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूं, वह यमलोकमें चली जावे। यहांके कार्य संपादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है। वही देवोंके लिए हव्योंका वहन करती रहे।

इस मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है। इससे ऐसा पता चलता है कि शवदहनान्तर वह क्रव्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है। प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, शवदाहके अनन्तर यह क्रव्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है। एकवार जिस अग्निसे शवदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके वहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्म के लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। क्रव्यात्-क्रव्य=मांस, उसका भक्षक क्रव्यात्। निरुक्त अ. ६। पा. ३। खं. १२॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पापं तस्य वोढा। निरुक्त अ० ४। पा. ३। खं. २१॥ यह मंत्र यजुर्वेद (३५।१९) में तथा अथर्ववेद (१२।२।८) में भी आया हुआ है।

> यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्। तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात् परमे सधस्थे॥ ऋ० १०।१६।१०॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (वः गृहं प्रविवेश) तुम्हारे घरमें घुस गई है, (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान क्रव्यात् अग्निको (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूं, हटाता हूं। (सः) वह क्रव्यात् अग्नि (परमे सधस्थे) परम सधस्थमें (घर्मं) यज्ञको (इन्वात्) प्राप्त करे।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो क्रव्यात् अग्नि घुस गई है, उसे मैं दूर करता हूं ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको। यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें क्रव्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है। उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवं' इस तृतीय पादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि 'पितृयज्ञ करनेके लिए उस क्रव्यात् अग्निको हटाता हूं'। अर्थात् यह क्रव्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनुपयुक्त है। यह तो परम सधस्थ जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने भागको प्राप्त करती रहे। इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति की जा सकती है। क्रव्यात् अग्निका घरोंमेंसे निकालनेका व उसे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनतामेंसे मृत्यु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है। 'परम सधस्थ' - वह बडा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं। यहांपर पूर्व मंत्रके साहचर्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है। वैसे तो यमलोक भी परम सधस्थ है ही। यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२।२।७) में आया है।

इस प्रकार यहांपर क्रव्यात् अग्निका विषय समाप्त हो जाता है। अब आगेके मंत्रोंमें अग्निके प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है।

> यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः॥
> प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥
> ऋ० १०।१६।११॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) कव्यका अर्थात् पितरोंकी हविका वहन करनेवाली है और जो (ऋतावृधः) यज्ञ या सत्यसे बढनेवाले (पितॄन्) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति) देवों और पितरोंके लिए हव्योंका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि 'मैं तुम्हारे लिए यह हवि ले आई हूं'।

अग्नि पितरोंका कव्यसे सत्कार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हवियोंका वहन करती है।

कव्य—उस हव्यका नाम है जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दिया जाता है। ऋतावृधः-ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका। जो यज्ञ व सत्यके बढानेवाले अथवा जो सत्य व यज्ञसे बढनेवाले हों। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।६५) में भी है।

> उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि।
> उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥
> ऋ० १०।१६।१२॥

हे अग्नि! (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं। और (उशन्तः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रदीप्त करते हैं। [उशन्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू [हविषे अत्तवे] हविके खानेके लिए [उशतः पितॄन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ।

हे अग्नि! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रकाशित करें। तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानेके लिए ले आया कर।

इस मंत्रमें अग्नि- पितरोंको यज्ञादिमें हवि भक्षणार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलता है। यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद [१८।१।५६] में भी आया हुआ है। अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिके उस स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहां कि मुरदा जलाया गया हो।

> यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
> कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥
>
> ऋ० १०।१६।१३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (यं) जिस प्रेतको तूने (समदहः) जलाया है (तं उ) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) बुझा डाल। (अत्र) इस मुर्देके जलनेके स्थानपर (कियाम्बु) कितना जल छिडकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास [रोहतु] उगे।

शवके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगको बुझा डालना चाहिए व वहांपर इतना पानी छिडकना चाहिए कि जिससे फिरसे वहांपर दूर्वा घास निकल आवे।

शवाग्निको इतना पानी डालकर बुझाना चाहिए कि उस आगसे जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उसपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन वैसी की वैसी ही फिरसे हरीभरी हो जावे। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि, जिस स्थानपर एक शवको जलाया गया हो वहांपर पुनः दूसरा शव नहीं जलाना चाहिए। इस मंत्रसे स्मशानभूमिसंबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और कल्पनाके अनुसार वर्तमान समयकी स्मशान-भूमियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं व स्मशानभूमिके वास्तविक स्वरूपको समझ सकते हैं। इस प्रकार यह मंत्र अंत्येष्टि-कियाकी समाप्ति किस प्रकारसे होनी चाहिए, इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है।

> शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
> मण्डूक्या ३ सु संगम इमं स्व १ ग्निं हर्षय ॥
>
> ऋ० १०।१६।१४॥

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त! [शीतिकावति] हे शैत्यगुण-संपन्न ओषधियोंवाली! (ह्लादिके) हे हर्षित करनेवाली (ह्लादिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूलयुक्त वृक्षोंवाली पृथिवी! [मण्डूक्या] मेंडकीके साथ [सु सङ्गम] अच्छी तरह संगत हो अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेण्डक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें। मेंडक पानीवाली जमीनमें रहता है। अतः मेण्डकीके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो। [इमं अग्निं सुहर्षय] इस अग्निको आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रज्वलित हो सके।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिडकनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्रमें दर्शाया गया है। इस प्रकार यह सूक्त यहांपर समाप्त होता है। सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्ये-ष्टिपर विचार किया गया है, यह पाठक स्वयं जान सके होंगे

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में भेजती है।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तबतक उसकी आत्मा भी वहीं रहती है।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस लौटा लेता है। आंख सूर्यमें चली जाती है, प्राण वायुमें जा मिलते हैं इत्यादि।

मंत्र ४

४ शरीरका जो अज भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी नानाविध अर्चियोंसे शुद्ध करके सुकृतों के लोकमें ले जाती है।

मंत्र ५

५ अग्नि फिर जीवात्माको पितृलोकसे वापिस लौटा लाती है व हृदस्थ पितरोंको सौंपती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है।

मंत्र ६

६ कालें पक्षीसे, चींटीमकोडे आदि छोटे छोटे जन्तुओंसे, सर्पादिसे तथा जंगली हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है।

७ सोम भी यही कार्य करता है।

मंत्र ७

८ शवके पूर्ण दहनके लिए घृतकी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निकी बडी ज्वालाएं निकले व शवको शीघ्र ही भस्मावशेष कर डालें।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका रसपान करनेका चमस है। इसीमें ये देव अपने अपने अंशसे आकर बसते हैं।

मंत्र ९

१० क्रव्यात् अग्नि पापका वहन करनेवाली है। उसका वासस्थान यमलोक है।

११ वह यज्ञादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है।

मंत्र १०

१२ क्रव्यात् अग्निको घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। उसे घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिये।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविका वहन करती है। वह देवों व पितरोंकी हविद्वारा पूजा करती है।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले आती है।

मंत्र १३

१५ शवके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको बुझा डालना चाहिये।

१६ वहांपर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना-शाखाओंवाली दूर्वाघास उग आवे।

१७ और इसके लिए जहांपर एक शवका दहन किया गया हो वहांपर दूसरेका नहीं करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थान पर घास न उग सकेगी।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भके अंदर मण्डूक निवास कर सकें।

---

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है। यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है। यास्काचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है। निरुक्त १२।२९॥ परन्तु इस स्थापनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है। यहां सायणाचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है।

> यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
> अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥
>
> ऋ० १०।१३५।१॥

(वृक्षे) यह लुप्तोपमा है। वृक्षकी तरह (सुपलाशे) शोभन वयःनसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें। इस प्रकारके वृक्षका मूल जिस प्रकार गरमी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः) परिजनभूत देवोंके साथ (यमः) नियंता वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है। (विश्पतिः) प्रजाओंका अधिपति (नः पिता) मुझे नचिकेताका जनक वाजश्रवस् (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणान्) यहांपर चिरकालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) समीप यह नचिकेता रहे इस प्रकारकी मेरे लिए कामना करता है। 'नः' यहांपर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है। नचिकेता नामके कुमारको वाजश्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था। वहांपर वह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था। यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है। अथवा कुमार नामवाला नचिकेतासे भिन्न दूसरा कोई ऋषि था। उसने यम (यच्छतीति यमः आदित्यः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्तद्वारा स्तुति की—उत्तम पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुंदर स्थानमें

(यमः) आदित्य (देवैः संपिबते) रश्मियोंके साथ गमन करता है। उपसर्गके साथ आनेसे ' पिबति ' यहांपर गत्यर्थक है। व्यत्ययसे आत्मने पद हुआ हुआ है। (अत्र) इस स्थानमें स्थित [विश्पतिः] प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि देनेसे पालक और प्राणरूपसे सबका जनक वह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकोंकी (अनुवेनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है। अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी [अनुवेनति] अनुक्रमसे कामना करता है।

वृक्षः = जहांपर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मोंकी थकान्दको दूर करनेके लिए विश्रान्ति लेती हैं।

पिता = यम।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः॥

ऋ० १०।१३५।२॥

(पुराणान् अनुवेनन्तं) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन करूं यानि यमलोकमें जाऊं इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अमुया पापया चरन्तं) इस पापपूर्ण निकृष्ट बुद्धिके साथ वर्तमान पिता वाजश्रवसको (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए मुझको पिताने ' मृत्युके पास जा ' इस प्रकार कहा अतः) (असूयन्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकेताने) सबसे पहिले देखा। अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था, ऐसी हालत में जब पिताने मुझे यह कहा कि ' मृत्युके पास जा ' तो मैंने बड़ी दुःखभरी निगाहसे उसकी ओर देखा और फिर (तस्मै अस्पृहयम्) पिताकी आज्ञानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की। [आदित्यके पक्षमें] अथवा [पुराणान्] पुरातन स्तुति करनेवाले पितरों की अनुक्रमसे कामना करते हुए [चरंतं] उदय और अस्त के रूपमें द्युलोकमें परिभ्रमण करते हुए आदित्य की ओर [अमुया पापया] इस निकृष्ट बुद्धिद्वारा [असूयन्] निन्दा करता हुआ कि वह आदित्य सामान्यसी वस्तु है इस प्रकारसे [अभ्यपश्यं] मैंने दृष्टिपात किया। असूयागुणोंमें दोषारोपण करना। [पुनः] अब फिर उस आदित्यकी महिमा को जानता हुआ [तस्मै अस्पृहयं] उस आदित्य को, स्तुतियोंद्वारा व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता हूं।

यं कुमार नवं रथमचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि॥

ऋ० १०।१३५।३॥

नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस ऋचासे व अगली ऋचासे ललचानेका प्रयत्न करता है— हे कुमार! [नवं] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तूने कभी नहीं देखा और जो [अचक्रं] पहियोंसे रहित व [एकेषं] एकेष है तो भी [विश्वतः प्रांचं] सर्वत्र प्रकर्ष रूपसे गति करता है ऐसे [यं रथं] मेरे पास आनेके लिए अध्यवसाय रूपी जिस रथको तूने [मनसा अकृणोः] मन से बनाया और बनाकर [अपश्यन्] कर्तव्य अकर्तव्य विभाग को न जानता हुआ उस रथपर तू [अधितिष्ठसि] सवार हुआ हुआ है। आदित्यके पक्षमें-अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिको आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्मा के विवेकको बतला रहा है-हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेषं) एक प्राण ईषास्थानीय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा तूने किया है, उस शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगायतन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है संकल्पात्मक मनसे काम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है। कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक वा अपुण्यात्मक कर्म किया जाता है। और उस कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरंभ होता है। इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिष्पादकत्व है।

एकेष--एक है ईषा जिसकी। ईषा---धुरा।

इस मंत्रमें कुमारके प्रति यमकी उक्ति है ऐसा म० ग्रिफित का कथन है।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितं॥

ऋ० १०।१३५।४॥

हे कुमार नचिकेता! [यं रथं] जिस पूर्वोक्त अधिष्ठित रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है, (विप्रेभ्यः परि) मेधावी-ज्ञानी लोकों के ऊपर से अर्थात् अंतरिक्ष में से मेरे पास (प्रावर्तयः) ले आया है, (तं) उस रथका जो कि रथ [नावि सं आ हितं] नौका की तरह तारनेवाली बुद्धिमें स्थित है, उसका [साम] पिताद्वारा की गई सान्त्वनाने (अनु

[illegible] अनुकरण किया है। अर्थात् जब तू भूलोकके संकल्प [illegible] आकर आता तब तेरी रक्षार्थ तेरा अनुकरण पिता [illegible] किया।

आदित्य के पक्षमें--अथवा हे कुमार ऋषि! तूने जिस [illegible] रथ को उसपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेधावियों के बीचमें साम अर्थात् ऋक् सामादि सब स्तोत्र व [नावि] नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करते हैं।

> कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
> कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्॥
> ऋ० १०।१३५।५॥

[कः कुमारं अजनयत्] किस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया? निन्दा अर्थमें किं शब्द है। इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है? अच्छा, यह बात जाने दो। [कः] किस पुरुषने इस बालक-को यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको [निरवर्तयत्] प्रवृत्त किया? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है। [यथा] जिस प्रकारसे यह कुमार [अनुदेयी अभवत्] अनुदेयी होता है [तत्] इस बातके कथनको [अद्य] इस कालमें [नः] हमें [कः स्वित् ब्रूयात्] भला कौन कहेगा? पहिले यमके पास जाकर फिर वहांसे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है। [आदित्यके पक्षमें] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताको असंभवता को निन्दावाची किं शब्दसे दिखलाता है-- मुझ कुमारको किस पिताने पैदा किया? किसीने भी नहीं। 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति श्रुत्युक्तरूप मैं हूं। और किसने शरीरात्मक रथका संचालन किया? मेरे सिवाय दूसरा संचालक नहीं है और वैसेही अन्यनिर्वर्त्य (संचालन करने योग्य) का होना भी असंभव है। इस समय सर्वात्म्यानुभव दशामें उस प्रकारको कौन भला हमें कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे? वह प्रकार भी दुर्वचनीय है ऐसा इसका अर्थ है।

> यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत। पुरस्ताद्बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्॥ ऋ० १०।१३५।६॥

(अनुदेयी) पिताको पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस वाजश्रवस् पितासे [अग्रं] यमके पास जा इस प्रकारके वचनके आगे वर्तमान वचन कि नचिकेताको यमके साथ जानना चाहिए 'तं वै प्रवसंतं गन्तासीति होवाच' इत्यादि [तै० ब्रा० ३।११।८] ब्राह्मणमें कहा गया वचन उत्पन्न हुआ। (पुरस्तात्) उससे पहिले (बुध्नः) उक्त अग्रका मूलभूत 'यमके घरको जा' यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था। अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोडकर (निरयणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया। (आदित्यपक्षमें) अथवा [अनुदेयी] अपनेको अनुदातव्यआत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार (ततः) उस मायाविशिष्ट आत्माका [अग्रं] सृष्टव्यविकारका आद्य मनस्तत्त्व उत्पन्न करनेकी इच्छाका कारण उत्पन्न हुआ। [पुरस्तात्] सृष्टिसे पहिली अवस्थामें [बुध्नः] मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था। [पश्चात्] तमस् की उत्पत्तिके बाद [निरयणं] तद्गत कार्योंका उस कारणसे निर्गमन अर्थात् घटपटादिभेदसे स्वरूपका आलंभन ब्रह्माने किया। अर्थात् कारण-जगत्को कार्य जगत्के स्वरूपमें लाया। तथा मिट्टीका विकार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्य के अनुग्रहसे ब्रह्मभावको प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारसे व्यतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है।

> इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
> इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥
> ऋ० १०।१३५।७॥

यह [यमस्य] नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रका [सदनं] स्थान है। जो कि सदन [देवमानं उच्यते] देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-साधन कहा जाता है। इस यमकी प्रीत्यर्थ [इयं नाळीः]यह वाद्यविशेष वंश-बजाया जाता है। अथवा नाळी यह वाणीका नाम है। यह स्तुतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है। इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतियोंसे परिष्कृत अर्थात् शोभायमान होता है। 'परिष्कृतः संपर्युपेभ्यः' इत्यादिसे सुडागम होता है। 'परिनिविभ्यः' इत्यादिसे षत्व हुआ है। 'गतिरनंतर' इत्यादिसे गतिका प्रकृतिस्वरत्व।

—०—

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। म्रियमाण यजमानादियोंका वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।१॥

[एकेभ्यः] कईयोंके लिए [सोमः पवते] सोम रस बहता है। और [एके] कई [घृतं उपासते] आज्यका उपभोग करते हैं। इनको व [येभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिए मधु धारारूपसे बहता है, [तान् चित् अपि] हे प्रेत! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो आज्यका उपभोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत! तू प्राप्त हो।

शवदहनादि अंत्येष्टिक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदियोंका कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचांद्रायणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किसी भी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययु) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे।

हे प्रेत! जो तपके कारण किसीभी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हुए हैं, तथा जिन्होंने महान् तप किया है, उनको तू वहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्रमें यज्ञादि कर्मकाण्डका माहात्म्य दर्शा कर प्रेतको तत्कर्म करनेवालोंमें जानेको कहा है व इस मंत्रमें तपःप्रभाव दिखलाकर तपस्वियोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत! (ये शूरासः) जो शूरवीर गण (प्रधनेषु) संग्रामोंमें (युध्यंते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो उन संग्रामों में (तनूत्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सहस्रदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जो शूर वीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोकों को हे मृतात्मा! तू प्राप्त हो- तेरे लिये सद्गति होवे।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानी व शूरवीर गण भी मृत्युके पश्चात् सद्गति को प्राप्त करते हैं। गीतामें ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' आदि युद्ध में मरनेसे सद्गति होती है, ऐसे द्योतक वाक्योंकी यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शूरवीरतासे युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलता है यह आर्य लोकोंका बडा पुराना दृढ विश्वास चला आता है, उस विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।४॥

[ये चित्] और जो [पूर्वे] पूर्व पुरुष [ऋतसापः] सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नित्य नियमपूर्वक करनेवाले, [ऋतावानः] सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिये [ऋतावृधः] सत्य व यज्ञ के वर्धक थे, तथा [तपस्वः] तपसे युक्त [पितॄन्] पूर्व पितरोंको [तान् चित् अपि] इन सबको भी हे [यम] नियमवान् प्रेतात्मा! तू प्राप्त हो।

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नित्यनियमसे करनेवाले हैं, तथा तपस्वी हैं, ऐसे पितरोंको हे मृतात्मा! तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥
ऋ० १०।१५४।५ ॥

(ये) जो (कवयः) क्रांतदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीथाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपायन्ति) इस सूर्यका रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः ऋषीन्) तपसे युक्त ऋषीयोंको जो कि (तपोजान्) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसों को भी हे नियममें स्थित प्रेतात्मा ! तू यहांसे जाकर प्राप्त हो।

जो क्रान्तदर्शी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा ! तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो । निकृष्ट लोकोंमें मत जा ।

इस सूक्तके मंत्रोंपर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अर्थात् किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है। इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं। पांचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मासे कहा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर । अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो । इनसे हीन इतरोंको प्राप्त मत हो । ये पांच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु परलोकके हैं, ऐसा मंत्रों से पता चलता है । अतः 'तान् चित् अपि गच्छतात्' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले । सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञादि करना, तप करना, लडाईमें पराक्रमके साथ शरीर-त्याग करना, नानाविध दान करना, सत्याचरण इत्यादि साधन बताए गए हैं । यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद (काण्ड १८ सूक्त २ मंत्र १४ से १८) में ऐसा का ऐसा है ।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

मंत्र १

१-यज्ञ करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है ।

मंत्र २

२ -तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है।

मंत्र ३

३-जो संग्रामोंमें युद्धकर शरीर छोडते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है ।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

मंत्र ४

५-तपस्वी सत्यरक्षक उत्तम गतिका लाभ करते हैं ।

मंत्र ५

६-हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक ऋषिगण स्वर्ग-को प्राप्त करते हैं ।

उपसंहार ।

पितृलोक।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार है- [१] पृथिवी [२] अंतरिक्ष [३] द्युलोक [४] पिताका कुल वा घर [५] पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व पितर रहते चल आए हैं वह देश । इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है ।

पितृयाण ।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम पितृयाण है । इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है [देखो ऋ० १०।२।७] और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें सर्वदा तत्पर रहता है । जो मनुष्य देवहिंसक है वह कभी भी पितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता । यह पितृयाणमार्ग 'सूर्य-किरणें' भी हैं ऐसा ऋ० ११।०९।७ से पता चलता है । अर्थात् अन्तरिक्ष व द्युलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पडता है । ऊपर जो ५ पितृलोक दर्शा आए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व द्युमें जानेका मार्ग सूर्यकिरणें होनी चाहिए। हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृयाणमार्गको जानती है । हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों वा अदृश्य हों, किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है; उनके लिए हवि पहुंचाती है । इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो पितृयाणमार्ग है, वह

पृथिवीकी हद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है।

पितरों के कार्य।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं-[१] शत्रुओंसे, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, [२] सूर्यप्रकाश देना, [३] पापसे छुडाना, [४] सुख देना व कल्याण करना, [५]गर्भ धारण करना, [६] मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना, [७] नाना प्रकारके स्तोत्र बनाना, [८] दीर्घायु देना, [९] मृतका पुनरुज्जीवित करना, [देखो अथर्व० १८।२।२६] इत्यादि।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरोंके प्रति जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं- [१] नित्य प्रति पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए। [२] उनको स्वधा देनी चाहिए। [३] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए। किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता है। मंत्र इस प्रकार है-

> ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
>
> तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती॥

अर्थ स्पष्ट है। यहांपर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है। [४] पितरोंके शर्म का विस्तार करना। हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्यमें लगे रहें। पराधीन होकर न रहें। इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं।

पितर और यज्ञ।

बुलानेपर पितर यज्ञमें आते हैं और दांया घुटना टेककर बैठते हैं। वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं, हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं। पितरोंके लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए। यज्ञमें 'अग्निष्वात्त' पितर भी आते हैं। स्वधाके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं। यजु० अ०३५।२० तथा अथर्व० १८।४।२० तथा अ० १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं, क्योंकि इनमें पितरोंके लिए वपा व मांसवाले चरु देनेका विधान पाया जाता है। अस्तु। तथापि इस प्रकरणसे इतना पता अवश्यमेव लगता है कि सर्व प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविसे तृप्त करना चाहिए। इसके सिवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अथर्व० ८।१२।३ व ४ से पता चलता है।

अग्नि और पितर।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है-[१] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है। [२] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अत एव अग्निका नाम कव्यवाहन भी है। पितरोंके निमित्तसे दी गई हवि कव्य कहलाती है। [३] अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती हैं इतनाही नहीं अपितु जो यहां हैं व जो यहां नहीं हैं और जिनको हम जानते हैं वा नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है। [४] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है। [५] अग्नि प्रेतात्माको पितरोंके पास पहुंचाती है। [देखो ऋ० १०।१७।३ और १०।१६।१) [६] अग्नि उषा देती है, जीवितोंकी आयु बढती है और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं। [अथर्व० १२।२।४५] [७] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट शातिमुख दस्युओंको यज्ञसे भगाती है। [८] अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है।

क्रव्यात् अग्नि।

संभवतः जिस अग्निका अंत्येष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निका नाम क्रव्यात् अग्नि है। इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है—

क्रव्यात् अग्निको यमके राज्यमें भेज दिया जाता है, क्योंकि वह देवोंकी हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है। क्रव्यात् अग्निका संबंध यम-लोकसे है। उसका शवदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है। क्रव्यात् अग्निपर शासन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है। पितर क्रव्यात् अग्निके साथ दक्षिण दिशामें जाते हैं। पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है।

अग्निष्वात्त पितर।

अग्निष्वात्त पितर व पितर हैं जिनका कि अंत्येष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है, जैसा कि हमें शतपथ ब्राह्मण २।६।१।७से पता चलता है। इसी बातको यजु. अ० १९।६० व ऋ० १०।१५।४ भी पुष्ट करते हैं। अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, हवि खिलाई जाती है व उनसे धन मांगा जाता है। अग्निष्वात्त पितर यज्ञमें आकर स्वधासे तृप्त होते हैं व उप-

देश करते हैं । उनको यज्ञमें सोमपान करनेके लिए बुलाया जाता है ।

प्रेत व अंत्येष्टि ।

इस प्रकरणमें हमें निम्न बातें मिलती हैं -- (१) मरनेसे पूर्व मरणासन्नके दांये हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहिनाया जाता है । (२) प्राण निकलनेपर शवको जल-स्नान कराया जाता है । (३) स्नानके बाद स्मशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है । (४) स्मशान ग्रामसे बाहिर होना चाहिए । (५) शवको बैलगाडीसे लेजाया जाता है । (६) स्मशान—भूमिसे विघ्न-कारियोंको दूर भगाना चाहिए । (७) प्रेतको जलाया जाता है । (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है । (९) प्रेतको जमीनमें गाडा जाता है । (१०) हवामें खुला छोड दिया जाता है । (११) अंत्येष्टि की समाप्तिपर प्रार्थनायें की जाती हैं ।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर ।

उत्पन्न करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमें भी बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है- (१) हिंसा अर्थमें, (२) ज्ञानी अर्थमें, (३) राजसभाके सभासद के अर्थमें, (४) सैनिक अर्थमें, (५) प्राण अर्थमें, (६) पालक रक्षक आदि अर्थोंमें, (७) इषु अर्थमें, (८) ऋतु अर्थमें ।

यम ।

इन प्रकरणोंको देखने से हमें यमके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका पता चलता है । (१) यम मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् प्राणियोंके प्राणापहरण का कार्य यम करता है । (२) विष्टारी ओदन पाचक का यम कुछ भी बिगाड नहीं सकता । (३) अग्नि यमका वर्ता है। पर इस मंत्रमें यम संभवतः वायुके लिए आया है । (देखो ऋ० १०।५२।३)। (४) यम विवस्वान् का पुत्र है । (५) यमकी माता का नाम सरण्यू है जो कि त्वष्टा की पुत्री है । (देखो ऋ० १०। १७।१)

यमलोक व यमराज्य ।

इस प्रकरण में यमलोक के विषयमें जहां कि यमका राज्य है निम्नलिखित बातोंका पता चलाता है- (१) यमलोकमें यमका राज्य है अर्थात् वह वहां का राजा है । (२) मृत पितर कहने से मृत नानी, दादी, माता आदिका भी ग्रहण होता है। (३) वशा गौके दान से यमके राज्यमें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता । (४) यमलोकस्थके लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८।४।३१ व १८।४।४३ से पता चलता है । (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है । (६) पितरोंकी तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है ।

द्युलोकमें यमलोक ।

यमलोक कहांपर है इस बातपर यह प्रकरण प्रकाश डालता है ।(१) अथर्व० ९।७।२० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है। (२) यमलोक द्युलोकमें दक्षिणकी ओर है। [३] पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है । (४) पितृलोक यमके राज्यमें हैं । [५] यमलोक दक्षिणकी ओर द्युलोककी समाप्तिपर है ।

यमदूत ।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुत्ते जैसे हैं । ये दोनों कुत्ते लम्बी लम्बी नाकवाले व चार आंखोंवाले तथा लोकके मार्गरक्षक हैं। इनमेंसे एक कुत्ता काला है व दूसरा चितकबरा । ये दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगे हुए हैं । ये प्राणोंसे तृप्त होनेवाले हैं । संभवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात हैं । आलंकारिक वर्णनसे दिन व रातका यह वर्णन है। यमके कुत्तोंके प्रायः बहुतसे विशेषण दिन व रातमें पाए जाते हैं। (देखो अथर्व० ८।१।९) मृत्यु भी यमका दूत है ऐसा इस प्रकरणमें आए हुए अथर्व० १८ । २ । २७ ॥ से पता चलता है ।

यमके कार्य ।

यमका मुख्य कार्य तो प्राणियोंके प्राणापहरणका ही है, पर इसके अतिरिक्त और भी छोटे मोटे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है। यम पितरोंका राजा है व पितृलोक यमलोकमें है यह हम ऊपर देख आए हैं। यहांपर हमें एक नई बात ज्ञात होती है कि यम पितृयाणमार्गको जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं। स्वर्गमें जानेके लिए यमकी अनुमति लेनी पडती है । यम हमें दीर्घायु देता है और मनुष्योंसे हमारा रक्षण करता है। यम मृत्युसे भी हमारी रक्षा करता है ।

यमके प्रति हमारे कार्य ।

यमके लिए हवि देनी चाहिए । यमको सोमपान करना चाहिए । यमके लिए यज्ञ करना चाहिए । यमके लिए किया हुआ यज्ञ अग्निको दूत बनाकर यमके पास पहुंच जाता है ।

(ऋ० १०।१४।१३) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४।५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकरणको पढनेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहांसे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व भयंकर रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी रूप है।

यम कौन है ?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर वहांसे मृत्युलोकमें गया और वहांका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध

हम पहिले भी इस विषय पर थोडीसी नजर डाल आए हैं। वहांपर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है-

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्यद्योतक मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उसके साथही यत्र तत्र विचरण करते है। यम पितरोंकी सहमतिसे स्वर्ग मिलता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोडकर निम्न--लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है- [१] युगल अर्थमें। [२] नियम अर्थमें। [३] जीवात्मा अर्थमें। [४] ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। [५] आचार्य अर्थमें। [६] वायु अर्थमें और [७] सूर्य अर्थमें।

॥ समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची।